भारतीय कृषि-अर्थशास्त्र

हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की मध्यमा-परीक्षा में
'अर्थशास्त्र' के अध्ययन के लिये निर्धारित

हरीगोविन्द गुप्त एम० ए० (अर्थशास्त्र); एम० एस-सी० (कृषि-अर्थशास्त्र)
भूतपूर्व लेक्चरर, एग्रीकल्चरल इन्स्टीट्यूट, नैनी तथा लेक्चरर राधारमण
इन्टर कालिज, इलाहाबाद

बुकलैंड लिमिटेड
कलकत्ता : इलाहाबाद

हेड आफिस
बुकलैंड लिमिटेड,
१, शंकर घोष लेन,
कलकत्ता ६ ।

शाखाएं
बुकलैंड लिमिटेड
२११।१, कार्नवालिस स्ट्रीट,
कलकत्ता ६ ।
४४, जौन्स्टनगज, इलाहाबाद ।

प्रथम संस्करण जून, १९५[illegible]
मूल्य आठ [illegible] मात्र

प्रकाशक—श्रीजानकीनाथ बसु, एम० ए०, बुकलैंड लि०, १, शंकर घोष लेन, कलकत्ता ६ । मुद्रक—कानाईलाल दे, बि० जि० प्रिण्टर्स एण्ड पब्लिशास लि०, ८०/६, ग्रे स्ट्रीट, कलकत्ता ६ ।

निवेदन

भारतवर्ष एक कृषि-प्रधान देश है। यहाँ के लगभग ८७ प्रतिशत निवासी इसी व्यवसाय पर अपनी आजीविका के लिए आश्रित रहते हैं। ऐसी दशा में गांवों के इन निवासियों और उनके मुख्य व्यवसाय—खेती-बारी के विषय में जानना अत्यन्त आवश्यक है। किसी देश की सुख-समृद्धि अन्ततः इन किसानों और उनके व्यवसाय खेती-बारी पर ही निर्भर रहती है। हमें खेद के साथ लिखना पड़ता है कि हमारे देश में इस ओर बहुत ही कम प्रयत्न किये गये हैं।

अब तक की जाँचों के अनुसार तो यही पता लगता है कि हमारा देश अत्यन्त ही निर्धन है। अधिकांश किसानों को कठिन परिश्रम करने पर भी रूखा-सूखा भोजन पर्याप्त मात्रा में नहीं मिल पाता है। हमारी यह दशा इतनी शोचनीय हो चुकी है कि आज हमें अपने भो... के वास्ते आस्ट्रेलिया, अमेरिका, आर्जेन्टाइना और रूस आदि विदेशी देशों के सम्मुख हाथ फैलाना पड़ रहा है। यह स्थिति वास्तव में क्षोभ और लज्जाजनक है। इन कठिनाइयों के कारण केवल आर्थिक हैं, जिनकी विदेशी सरकार द्वारा सदा उपेक्षा की गई थी।

किन्तु; बारह वर्ष बाद तो घूरे के भी दिन फिरते हैं। हमारे सौभाग्य से अब देश स्वतंत्र है और शासन की बागडोर उन लोकप्रिय नेताओं के हाथ में है, जो इस बात को भली-भाँति अनुभव करते हैं कि देश की निर्धनता मिटाना आवश्यक है और वास्तविक सुख और शान्ति इन गाँवों की दशा सुधारने में ही है। किसानों को उन्नत और सुखी बनाने के लिए वे अपनी रचनात्मक योजनाओं को कार्यान्वित कर रहे हैं। कृषि-सम्बन्धी शिक्षा प्रसार की योजना उन्हीं का एक अंग-विशेष है। आज इन डेढ़ वर्षों में अपने इस प्रान्त के लगभग प्रत्येक जिले में एक विद्यालय ऐसा अवश्य खुल गया है, जहां कृषि की शिक्षा आधुनिक ढंग से दी जाती है। अर्थशास्त्र उनके अध्ययन का एक आवश्यक विषय है।

कृषि-अर्थशास्त्र और साधारण अर्थशास्त्र में काफी अन्तर है। हमारे कालिजों में वाणिज्य और कला के विद्यार्थियों की तरह कृषि के विद्यार्थियों को भी वे सब बातें पढ़ाई जाती हैं, जिनका उनसे किञ्चित्मात्र भी सम्बन्ध नहीं रहता है। कृषि

के विद्यार्थियों को कला और वाणिज्य के विद्यार्थियों की अपेक्षा 'खेती के प्रैक्टिकल कार्य' के अतिरिक्त और भी कई अन्य आवश्यक विषय पढ़ने पड़ते हैं। ऐसी दशा में उन पर यह अनावश्यक बोझ डालना अनुचित ही है। इस अभाव की पूर्त्ति के लिए ही मेरा यह विनम्र प्रयास है।

इस पुस्तक के लिखने में मैंने कोई नवीनता रखी होगी, यह मैं नहीं कहता। हाँ, विद्यार्थियों की सुविधा के लिए—उनकी आवश्यकताओं को ध्यान में रख कर ही—यत्र-तत्र से कुछ लाभदायक सामग्री मैंने इस पुस्तक में इकट्ठी कर दी है। साधारण अर्थशास्त्र के अनावश्यक प्रकरणों को हटा कर, वे सब आवश्यक प्रकरण जो अन्य पाठ्य-पुस्तकों में नहीं मिलते हैं, इसमें जोड़ दिए गए हैं। कृषि-अर्थशास्त्र और ग्राम्य-अर्थशास्त्र, भारतवर्ष के कृषि-विभाग, सिंचाई, खेती में काम करने वाले, खेती का मूलधन, खेती-बारी की व्यवस्था पैदावार और फसलों का विनियोग, उनकी उत्पत्ति का खर्च अथवा खेती-बारी का बही-खाता आदि प्रकरण इस पुस्तक की अपनी विशेषताएँ हैं। परिशिष्ट में अब तक मिलने वाले सभी कृषि-अङ्कों और विभाजन के बाद भारत की खेती-बारी में जो परिवर्तन हुए हैं, इसका भी दिग्दर्शन कराया गया है।

प्रस्तुत पुस्तक, उत्तर-प्रदेश के लगभग प्रत्येक ज़िले (और उनके गाँवों की जानकारी) तथा भारतवर्ष के देहातों के विषय में जो जानकारी मैंने स्वयं प्राप्त की है, तथा जो अन्य विद्वानों द्वारा की गई है, उसी का फल है। मैं उन सब प्रतिष्ठित विद्वानों का, जिनकी कृतियों का उपयोग मैंने किया है, परम आभारी हूँ। इस प्रकार इस पुस्तक को बी० एस-सी० के विद्यार्थियों के लिए भी उपयोगी और लाभदायक बनाने का प्रयत्न किया गया है। पुस्तक को रुचिकर बनाने के लिए यथासम्भव चित्रों और रेखा-चित्रों का भी समावेश कर दिया गया है। आशा है, यह पुस्तक जिनके लिए लिखी गई है, उन्हें उपयोगी सिद्ध होगी।

मैं इस पुस्तक के भूमिका-लेखक अर्थशास्त्र के धुरन्धर विद्वान् श्रीयुत् पं० दयाशङ्करजी दुबे, एम० ए०, एल-एल० बी० का विशेषरूप से आभारी हूँ, जिन्होंने अर्थशास्त्र का विषय सरस और सुरुचिपूर्ण ढंग से उन्नत करने में सर्व-प्रथम पथ-प्रदर्शक का काम किया है। अपने सहयोगी मित्र श्री ठा० सूबेदार सिंहजी एम० ए० तथा श्री जगमोहन जी नागर एम० ए०, एम० कॉम०

तथा श्री बी० बी० भट्टाचार्य मैनेजर बुकलैण्ड को भी धन्यवाद देता हूँ, जिन्होंने इस पुस्तक को लिखने के लिए मुझे उत्साहित किया।

अन्त में मैं अपने पाठकों से अनुरोध करूँगा कि वे पुस्तक के सुधार तथा इसकी त्रुटियों के लिए मुझे अवश्य सूचित करें।

प्रयाग
१७ अक्टूबर, १९४८
शरत्-पूर्णिमा, संवत् २००५

हरीगोविन्द गुप्त

Lovely faces देखकर के Attraction हो ही जाता है।
eyes four होती हैं। Love तो हो ही जाता है।

विषयानुक्रमणिका

अध्याय	विषय	पृष्ठ
२३	भारतवर्ष की जमीनें	२४३
२४	भारतवर्ष की कृषि	२५४
२५	भारतवर्ष के जंगल व पशु	२७९
२६	सिंचाई	२८८
२७	भारत की खनिज सम्पत्ति	३०५
२८	शक्ति के साधन	३१०
२९	श्रम	३१६
३०	श्रमिकों की संख्या	३२२
३१	भारतवर्ष की जनसंख्या	३३२
३२	श्रम की कुशलता	३४६
३३	खेती में काम करने वाले	३५२
३४	पूँजी	३५९
३५	खेती का मूलधन	३६७
३६	भारतवर्ष में खेती का मूलधन	३७६
३७	श्रम विभाग तथा विशिष्ट प्रकार की मशीनें	३९५
३८	खेती-बारी की व्यवस्था	४०४
३९	उत्पत्ति के नियम	४२०
४०	फसलों की पैदावार का खर्च या खेती का बही-खाता	४२८
४१	विनिमय	४४३
४२	मूल्य और उसका निर्णय	४४९
४३	मंडी	४५६
४४	भारतवर्ष में पैदावार का विनियोग	४६१
४५	मुद्रा	४८१
४६	प्रतीक मुद्रा (कागजी-मुद्रा)	४९१
४७	विदेशी विनिमय और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार	४९९
४८	खेती-बारी में साख और सहकारिता	५०९

पहला अध्याय

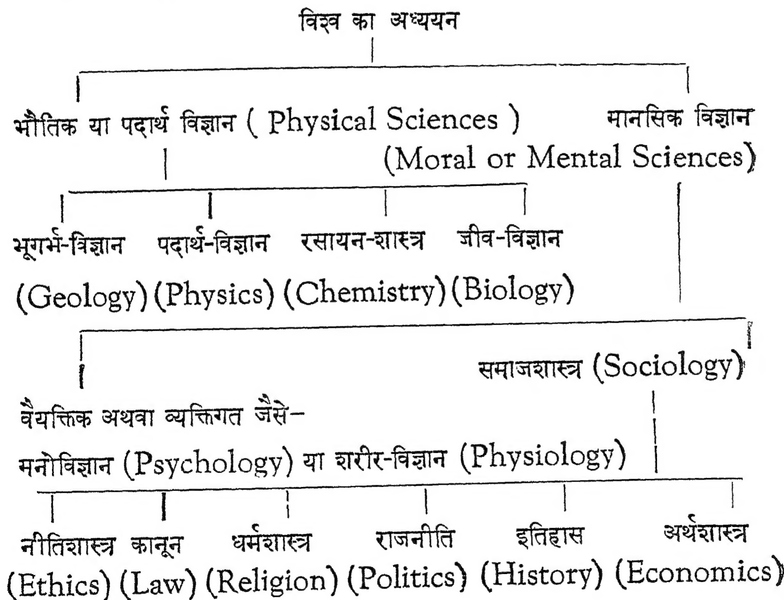
अर्थशास्त्र का विषय

अर्थशास्त्र किसे कहते हैं

आपने अपनी विगत कक्षाओं में इतिहास, भूगोल, विज्ञान, अंकगणित, ज्यामिति आदि अनेक विषय पढ़े होंगे। इस विश्व में अध्ययन के ऐसे और भी बहुत से विषय हैं[१]। अर्थशास्त्र भी उनमें से एक है; परन्तु आपमें से बहुतों ने आज से पहले कभी इसका नाम भी न सुना होगा। अतः प्रत्येक नई वस्तु की भाँति इसके विषय में जानने के लिए कौतूहल उत्पन्न होना स्वाभाविक है। किन्तु अर्थशास्त्र को समझना और समझाना अत्यन्त सरल है।

हम आपसे पूछते हैं कि आपका इस विद्यालय में आने का क्या प्रयोजन है ?

१—जॉन स्टुअर्ट नामक विद्वान् ने विश्व का अध्ययन करने के लिए शास्त्रों का विभाजन निम्न प्रकार से किया है :—



यदि गंभीरता पूर्वक इस प्रश्न पर सोचें तो आप यही उत्तर देंगे कि पढ़-लिखकर हम डाक्टर, इन्जीनियर, जज, वकील इत्यादि बनेंगे। अर्थात् धन कमाने योग्य बनेंगे, ताकि सुखी रह कर जीवन व्यतीत कर सकें। निदान अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए आप पढ़ते हैं।

इसी प्रकार यदि संसार के अन्य व्यक्तियों पर भी दृष्टि डालें तो विदित होगा कि हममें से प्रत्येक मनुष्य एक न एक व्यवसाय में लगा हुआ है। गाँव में किसान अपने हल-बैलों को लेकर बड़े सबेरे ही खेत पर चले जाते हैं। खेत-हीन मजदूर (Landless labourer) जंगल से लकड़ी काटकर या घास छीलकर लाते हैं। बेचारे तेज़ धूप, शीत या वर्षा की तनिक भी चिन्ता नहीं करते हैं। इसी प्रकार बड़े-बड़े नगरों में श्रमिक प्रातः छः बजते ही अपने घर-द्वार छोड़कर कल-कारखानों में पहुँच जाते हैं। दिन भर कठिन से कठिन परिश्रम करते हैं; मशीनों और कलों में अपनी बुद्धि और शक्ति व्यय करते हैं; सड़कें कूटते हैं और बोझा ढोते हैं। डाक्टर और वैद्यों को भी मोटर या ताँगों में बैठकर जाते हुए देखा होगा। वे अपने रोगियों का उपचार करते हैं। वकील कचहरी में अपने मुवक्किलों की पैरवी करते हैं। स्कूल और कालिजों में शिक्षक विद्यार्थियों को पढ़ाते हैं। कोलाहलपूर्ण बाज़ारों में दुकानदार सबेरे से रात के नौ-दस बजे तक दुकानदारी करते हैं। फल-मेवा, मिठाई, मिर्च-मसाले, साबुन-तेल, पुस्तक, वस्त्र इत्यादि बेचते हैं। दर्जी, लुहार, बढ़ई, नाई, धोबी आदि सभी अपना-अपना धन्धा करते हैं। ये सब उद्योग-धन्धे केवल मनोरंजन की भावना से नहीं किये जाते हैं, किन्तु इनका मूल कारण द्रव्य-उपार्जन करके अपनी आवश्यकताओं को पूरा करना होता है।

संसार में प्रत्येक मनुष्य की कुछ ऐसी आवश्यकताएँ (Wants) होती हैं, जिन्हें पूरा करना उसके लिए नितान्त आवश्यक होता है। जैसे, बिना भोजन किये हम विकल हो जाते हैं। इसके बिना जीवन दुर्लभ है। इसी तरह कठिन शीत और ताप से बचने के लिए वस्त्र और आँधी तथा वर्षा से सुरक्षित रहने के लिए मकान चाहिये। अस्वस्थ होने पर वैद्य अथवा डाक्टर को बुला कर उपचार कराना पड़ता है। अनवरत परिश्रम के बाद श्रान्त और क्लान्त हो जाने के कारण हमें मनोरंजन

के साधन, चित्रपट, संगीत, खेल-कूद-की आवश्यकता होती है। अपने आराम के लिए तथा कार्य-क्षमता बढ़ाने के लिए मोटर, साइकिल, घड़ी, आराम-कुर्सी इत्यादि खरीदनी पड़ती है। अतः अपनी विविध आवश्यकताओं (Wants) को पूरा करने के लिए हम अनेक प्रकार के प्रयत्न (Efforts) करते हुए दीख पड़ते हैं। हमारे ऐसे प्रयत्न 'आर्थिक प्रयत्न' (Economic efforts) कहलाते हैं; और जिस शास्त्र में इन मानवीय आवश्यकताओं (Human wants) और उनकी पूर्ति (Satisfaction) के लिए किये गये प्रयत्नों का अध्ययन किया जाता है, उसे हम अर्थशास्त्र (Economics) कहते हैं।

अर्थशास्त्र एक सामाजिक विद्या है

किन्तु अर्थशास्त्र में सभी मनुष्यों की आवश्यकताओं का विचार नहीं किया जाता है। जो आदमी हिमालय आदि पर्वतों की कन्दराओं में रहकर तप करते हैं, अथवा जो जंगलों में एकान्तवास करते हैं, जिन्हें दूसरे व्यक्तियों से कोई सम्बन्ध नहीं रहता है, ऐसे व्यक्तियों का अध्ययन अर्थशास्त्र के अन्तर्गत नहीं होता है। इस शास्त्र में केवल उन्हीं व्यक्तियों का विचार होता है जो समाज में रहते हैं और जिन्हें अपनी आवश्यकताओं के लिए अन्य व्यक्तियों पर आश्रित रहना पड़ता है और उनके विविध प्रकार के सम्बन्ध रहते हैं। इसलिए यह एक सामाजिक (Social) विद्या है।

अर्थशास्त्र में केवल आर्थिक प्रयत्नों का ही विचार किया जाता है

अर्थशास्त्र में मनुष्यों के उन्हीं प्रयत्नों और कार्यों का विवेचन किया जाता है, जो 'पेट की खातिर' किये जाते हैं अथवा जिन प्रयत्नों के द्वारा हम उन वस्तुओं को प्राप्त करते हैं जो खरीदी जा सकती हैं, अर्थात् जो विनिमयसाध्य (Exchangeable) हैं, और धन या सम्पत्ति (Wealth) कहलाती हैं। अतः चित्त की शान्ति के लिए भगवद्-भजन, गंगा-स्नान और कथा-वार्त्ता सुनना अथवा केवल मनोरंजन के लिए गेंद, बल्ला, ताश या शतरंज खेलना, हारमोनियम, तबला या सितार आदि बजाना, या मन-बहलाव और घर की सुन्दरता-वृद्धि के लिए बाग-बगीचों में फल-फूल और तरकारी लगाकर उन्हें सींचना, अर्थशास्त्र के अध्ययन के विषय नहीं हैं। इसी प्रकार देश-रत्न डाक्टर राजेन्द्र प्रसाद, आचार्य

कृपलानी, बिनोवा भावे, श्री० पुरुषोत्तम दास टंडन की भाँति बहुतों को लोक-सेवा का चाव होता है। अनेक धर्मानुरागी सज्जनों का धार्मिक संस्थाओं से सम्बन्ध रहता है और वे उन सभा-संस्थाओं का कार्य-सञ्चालन अवैतनिक रूप से ही करते हैं। घरों में स्त्री और बच्चे भी बहुधा ऐसे कार्य करते हैं जिनसे हमारी अनेक इच्छाएँ (Desires) पूर्ण हो जाती हैं। किन्तु इन सब में प्रतिफल की कोई भावना नहीं रहती है। अस्तु; प्रेम, स्नेह, मित्रता के नाते या धार्मिक, सामाजिक अथवा देश-सेवा से प्रेरित होकर जितने भी कार्य किये जाते हैं और जिनमें पुरस्कार, वेतन या प्रतिफल की तनिक भी भावना नहीं रहती है, उनका विचार अर्थशास्त्र के अन्तर्गत नहीं किया जाता है। यहां तो केवल समाज में रहनेवाले मनुष्यों के धन सम्बन्धी अर्थात् आर्थिक प्रयत्नों (Economic efforts) का ही क्रमवद्ध विवेचन होता है।

अर्थशास्त्र की परिभाषा

अतः संक्षेप में अर्थशास्त्र वह विद्या है जो समाज में रहनेवाले व्यक्तियों के आर्थिक साधन सम्बन्धी प्रयत्नों का विवेचन करती है। इनमें मनुष्य के उन दैनिक कार्यों पर विचार होता है जिनका सम्बन्ध समाज के हित और सम्पत्ति से रहता है।

"अर्थशास्त्र मनुष्य के ऐसे व्यक्तिगत जीवन और सामाजिक कार्यों की जाँच करता है जिनका घनिष्ठ सम्बन्ध उसके कल्याण (Well-Being) के भौतिक साधनों को प्राप्त करने और उपयोग करने से रहता है।"

— प्रोफेसर मार्शल।

"अर्थशास्त्र मनुष्य के भरण-पोषण सम्बन्धी प्रयत्नों की जांच करनेवाली विद्या है।"

— सीज़र ।

"अर्थशास्त्र मनुष्य के धन विषयक समस्त प्रयत्नों का अध्ययन करनेवाली विद्या है।"

— चैपमैन ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बीसवीं शताब्दी से पूर्व विद्वानों ने इस विद्या को केवल धन तक ही सीमित माना था। धन की वृद्धि और धनोपार्जन ही उनके

अध्ययन का एक मात्र ध्येय था। कारलाइल, रस्किन आदि अनेक पाश्चात्य साहित्यिकों ने ऐसे संकुचित विचारों की समय-समय पर बड़ी तीव्र आलोचना की। इसको "मक्खन-रोटी वाली विद्या' बताकर उन्होंने इसका उपहास किया। चूँकि उस समय उन देशों के अधिकांश निवासियों की दशा अत्यन्त शोचनीय थी; एक ओर तो वहां के निवासी निर्धनता के कारण पिसे जा रहे थे, अनवरत परिश्रम करते थे, किन्तु फिर भी दरिद्र थे; दूसरी ओर मुट्ठी भर मनुष्य धन को सींच कर उसकी उपासना में मग्न थे। अतः ऐसी तीव्र और कटु आलोचनाओं का परिणाम अच्छा ही हुआ। तब से अर्थशास्त्र का महत्व अपने व्यापक रूप में आया। अर्थशास्त्र का वर्तमान रूप में विकास विशेष कर इङ्गलैण्ड में हुआ। प्रोफेसर रौबिन्स अर्थशास्त्र को केवल आर्थिक सुधार के लिए पथ-प्रदर्शन वाली विद्या नहीं मानते हैं। उनके अनुसार 'अर्थशास्त्र वह विज्ञान है जो मनुष्य के उन कार्यों का अध्ययन करती है, जो इच्छित वस्तु (Ends) और उसके ऐसे परिमित साधनों (Scarce-means) के सम्बन्ध के रूप में उपस्थित होते हैं, जिनका उपयोग वैकल्पिक (Alternative) या कम से कम दो प्रकार से किया जा सकता है।

यद्यपि अनेक दृष्टिकोणों से प्रोफेसर रौबिन्स की परिभाषा औरों की अपेक्षा अच्छी है, किन्तु फिर भी दोषपूर्ण है। इनकी उपरोक्त परिभाषा के अनुसार अर्थ-शास्त्र मनुष्य के प्रत्येक कार्य के सम्बन्ध में विचार करता है। यह परिभाषा इतनी व्यापक हो जाती है कि इसके अनुसार मनुष्य के प्रत्येक कार्य, फिर चाहे वह राजनीतिक, सामाजिक अथवा धार्मिक ही क्यों न हो, अर्थशास्त्र के अन्दर आ जाते हैं। अतः इस परिभाषा को स्वीकार कर लेने पर समाजशास्त्र, राजनीति, धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र की सीमाओं का स्पष्टीकरण बराबर नहीं हो पाता है। इसके अतिरिक्त वे मार्ग-दर्शन को अधिक महत्व नहीं देते हैं जो उनकी परिभाषा में सबसे बड़ा दोष है। इस प्रकार इसका अध्ययन जनता को लाभदायक सिद्ध नहीं हो सकता है। किन्तु जैसा कि हम ऊपर स्पष्ट कर चुके हैं, आज अर्थशास्त्र का ध्येय केवल धन तक ही सीमित नहीं है किन्तु उपार्जित धन द्वारा मनुष्य का कल्याण (Well Being) है। अब अर्थशास्त्र में कुटुम्ब, समाज, राष्ट्र, सभी का ध्यान रखा जाता है। हमारा दृष्टिकोण उनमें सार्वभौमिक (Universal), समूचे विश्व के कल्याण का, रहता है।)

अर्थशास्त्र, विज्ञान और कला दोनो ही है

विज्ञान में निर्धारित नियम होते हैं और उन्हीं के अनुसार प्रत्येक कार्य प्रतिपादित होता है। भौतिक शास्त्र (physics) के गुरुत्वाकर्षण (Law of gravitation) के अनुसार पृथ्वी अपने केन्द्र की ओर प्रत्येक वस्तु को खींचती है। यह नियम जितना सत्य अमेरिका में उतरेगा उतना ही भारतवर्ष में भी। इसी प्रकार शोरा को गर्म करने पर प्रत्येक स्थान पर प्राणवायु (Oxygen) निकलेगी तथा इस प्राणवायु को यदि हाइड्रोजन के साथ मिला दिया जाता है तो सदैव पानी ही बनता है। विज्ञान में प्रयोगशाला (Laboratory) में पदार्थों पर प्रयोग किये जाते हैं और तभी किसी निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचा जाता है। विज्ञान की दृष्टि में न तो कोई वस्तु बुरी और न कोई भली ही होती है। भला होने पर किसी कार्य को करने का आदेश विज्ञान द्वारा नहीं मिलता है और न बुरा होने पर मनाही की जाती है। विज्ञान से हमें 'क्या है' और 'क्या होना चाहिये' इन बातों का ज्ञान होता है।

अर्थशास्त्र में भी इसी प्रकार समाज में रहनेवाले व्यक्तियों का निरीक्षण और उनपर अनुभव किये गये है। उन्हींके आधार पर अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों और नियमों की रचना हुई है। माँग और पूर्त्ति के नियम, उपयोगिता के नियम, ब्याज, कर और लगान आदि नियमों की रचना विज्ञान की भाँति अर्थशास्त्र में भी बहुत ही परख और अनुभव के बाद हुई है। इनका उद्देश्य भी वैज्ञानिक नियमों की भाँति सामाजिक व्यक्तियों को परिणाम से सूचित कर देना ही है।

कला में व्यावहारिक सत्य होते हैं और साथ ही वर्णनात्मक भी है। इसके द्वारा हमें किसी कार्य के करने की विधि ज्ञात होती है। कला द्वारा हमें उचित और अनुचित बात का ज्ञान होता है। अतः जिस प्रकार संगीत, नृत्य, चित्रकारी आदि कला के सीखने और उनमें उन्नति करने के उपाय हमें कला से ज्ञात होते हैं, ठीक उसी प्रकार से अर्थशास्त्र द्वारा हमें अपनी उन्नति के साधनों का और अपने दोषों का ज्ञान होता है। हमारा देश निर्धन क्यों है, देश में मूल्य-वृद्धि क्यों हो रही है, अन्न-संकट के कारण और उन्हें दूर करने के उपाय हमें अर्थशास्त्र के अध्ययन से ज्ञात होते हैं।

अर्थशास्त्र का आधार मनुष्यों का आपसी व्यवहार है और मनुष्य एक परिवर्तनशील प्राणी है। उसके आचार-विचार, रहन-सहन के ढंग, रीति-रस्म, धार्मिक कृत्य, खान-पान आदि सब बातें देश, समय और परिस्थितियों के अनुसार बदलती रहती हैं। इसीसे अर्थशास्त्र के सब नियम सभी आदमियों पर प्रत्येक अवस्था में लागू नहीं हो सकते हैं। उदाहरण के लिए, आज से लगभग १०० वर्ष पूर्व भारतवर्ष में मुद्रा का प्रचलन बहुत कम था। पदार्थों का क्रय-विक्रय न होकर उनका केवल अदल-बदल ही हुआ करता था। गाँवों में केवल अपनी आवश्यकता के अनुसार भोजन-सामग्री उत्पन्न की जाती थी। विदेशी वस्त्रों और कल-पुर्जों का नाम तक किसीने नहीं सुना था। किन्तु आज समय के अनुसार चारो ओर परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है। क्या गाँव और क्या नगर, सभी परिवर्तित दीख पड़ते हैं। गाँवों में खेती का ढंग ही बदल गया है। नवीन रीतियाँ अन्य देशों की माँग के अनुसार आज खेती होती है। इसी प्रकार नगरों में बड़े-बड़े कल-कारखाने खुल गये हैं। अनेक कार्य, जो अत्यन्त ही कष्टसाध्य होते थे और जिनको करने में काफ़ी समय व्यय होता था, आज सरलता पूर्वक कुछ क्षणों में ही सम्पन्न हो जाते हैं। अतः अब यहाँ प्राचीन अर्थशास्त्र सम्बन्धी नियमों का व्यवहार होना सम्भव नहीं है।

अर्थशास्त्र के नियमों का व्यवहार

किन्तु यह बात केवल अर्थशास्त्र के सम्बन्ध में ही सत्य कही जाय, सो बात नहीं है। नीतिशास्त्र, राजनीति, औषधि-विज्ञान आदि सभी जिनका सम्बन्ध परिवर्तनशील मनुष्य से है, उन सब को ऐसी ही कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। परिस्थिति बदल जाने पर उनके सिद्धान्तों में भी परिवर्तन हो जाता है। सच पूछा जाय तो सभी शास्त्रों और विज्ञानों के सिद्धान्त केवल उसी दशा में पूर्ण रूप से लागू होते हैं जब सभी बातें पूर्ववत चलती रहें और उनमें किसी तरह का कोई परिवर्तन न हुआ हो। विज्ञान की आकर्षण-शक्ति के उदाहरण को ही ले लीजिये। इस नियम के अनुसार प्रत्येक पदार्थ को, जो हवा से भरी है, किसी आधार के बीच में न आने पर पृथ्वी पर गिर जाना चाहिये। किन्तु हवाई जहाज़, पतंग, गुब्बारे, पक्षी, नीचे न गिर कर आकाश में उड़ जाते हैं। इन सबका कारण यह है कि कुछ ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं जो उन्हें भूमि पर गिरने

से रोकनी हैं। इसका यह अर्थ नहीं है कि आकर्षण-शक्ति का सिद्धान्त गलत है, किन्तु इस नियम के लागू होने में पूर्ववत् परिस्थितियों में परिवर्तन हो गया। यही सिद्धान्त अर्थशास्त्र में, जो कि परिवर्तनशील स्वभाव वाले मनुष्यों से सम्बन्धित है, सत्य उतरता है। इन सब बातों को अच्छी तरह समझ लेने पर यही मानना पड़ेगा कि अर्थशास्त्र के सिद्धान्त उसी तरह निश्चित अथवा अनिश्चित माने जाने चाहिये जिस तरह कि किसी अन्य शास्त्र और विज्ञान के।

दूसरी बात यह है कि अनेक ऐसे विज्ञान हैं जिनमें सिद्धान्तों की परीक्षा करते समय विरोधी बातों को सर्वथा दूर रखा जा सकता है और इस बात की परीक्षा की जा सकती है कि अमुक कारण उपस्थित होने पर परिणाम क्या निकलेगा। अर्थ-शास्त्र में इसके विपरीत न तो कोई ऐसी प्रयोगशाला ही सरलता से मिल सकती है और न आसानी से वे विरोधी परिस्थियाँ और बाधाएँ ही दूर हो सकती हैं। इसका कारण यह है कि अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों का सम्बन्ध मानवीय इच्छाओं से रहता है जिनका रोकना अत्यन्त कठिन है। अतः अर्थशास्त्र के सिद्धान्त उतने स्थिर नहीं माने जा सकते जितने स्थिर अन्य विज्ञान और शास्त्रों के होते हैं। किन्तु ऐसी बाधाओं और विरोधी परिस्थितियों के न रहने पर वे भी पूरी तरह लागू हो जाते हैं।

अर्थशास्त्र के अध्ययन का उद्देश्य

किसी विद्या का अध्ययन या तो केवल ज्ञान की वृद्धि के लिए किया जाता है अथवा इसलिए कि उससे हमें अपने दैनिक जीवन में अनेक लाभ होते हैं। बहुत-से सज्जन वैद्यक अर्थात् डाक्टरी का अध्ययन अपने आराम के समय किया करते हैं। इसमें उनका प्रयोजन कदाचित अर्थ-सिद्धि नहीं होता है, वरन् उनका ध्येय जन-सेवा और लोक-कल्याण का रहता है। इसी प्रकार आध्यात्मिक उन्नति के लिए स्मृति और पुराणों का अवलोकन किया जाता है। किन्तु प्रायः ऐसा देखा जाता है कि ज्ञान की खातिर पढ़े गये शास्त्र और विज्ञानों से भी व्यावहारिक जीवन में बहुधा लाभ उठा लिया जाता है। बहुत-से शास्त्रों के पढ़ने से तो ज्ञान की अभिवृद्धि अधिक होती है और किन्हीं से व्यावहारिक लाभ उठाने की।

अर्थशास्त्र की परिभाषाओं में हम देख चुके हैं कि इस शास्त्र में सामाजिक मनुष्य के धन सम्बन्धी प्रयत्नों की जाँच की जाती है। वह किस प्रकार जीवि-

कोपार्जन करता है और किस प्रकार अपने उस अर्जित धन से देश और समाज का कल्याण करता हुआ अपनी भी सुख-सांवृद्धि करता है। अतः इसका उद्देश्य व्यक्तिगत न रह कर व्यापक रूप में लोक-कल्याण का है। पाश्चात्य देशों में अर्थशास्त्र की इतनी अधिक प्रगति होने का एक मुख्य कारण है। जो अवस्था आज हमारी है, लगभग वैसी ही अवस्था आज से तीन-चार सौ वर्ष पूर्व यूरोप की थी। सर्वत्र अशान्ति थी। जन-साधारण की अवस्था अत्यन्त ही दरिद्र और शोचनीय थी। वे नाना प्रकार की यातनाओं में जीवन व्यतीत कर रहे थे। विद्वानों ने बड़े प्रयत्नों के बाद उनकी शारीरिक, मानसिक और नैतिक अवनति का कारण उनकी निर्धनता को बतलाया। इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि किसी देश की आर्थिक स्थिति सुधारने, वहाँ की सुख-समृद्धि के बढ़ाने में अर्थशास्त्र के अध्ययन का प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप में बहुत बड़ा हाथ रहता है।

आजकल तो विशेष रूप से इस विषय के अध्ययन की आवश्यकता है। हमारी दैनिक आवश्यकताएँ बहुत बढ़ गई हैं। सारा संसार ही आर्थिक संकटों और चिंताओं में निमग्न है। रहन-सहन के साधन अब सरल नहीं रहे। इनकी पूर्ति में ही बहुत अधिक शक्ति व्यय करनी पड़ती है और इन्हीं आर्थिक गुत्थियों को सुलझाने में हमारा अधिकांश जीवन व्यतीत हो जाता है। ऐसी अवस्था में अर्थशास्त्र के व्यावहारिक ज्ञान की आवश्यकता स्वयं-सिद्ध है।

अर्थशास्त्र में सम्पत्ति के उत्पादन, उपभोग, वितरण और विनिमय के सिद्धान्तों का अध्ययन करके यह जाना जा सकता है कि समाज के कल्याण के लिए किस प्रकार सम्पत्ति (Wealth) की अधिक से अधिक वृद्धि की जाय और किस प्रकार विनिमय (Exchange) तथा वितरण (Distribution) की प्रणाली में सुधार करके जनता का हित किया जाय। इसके अध्ययन का उद्देश्य अब सार्वभौमिक है। देश, समाज, कुटुम्ब, सबके सुख को बढ़ाना है। अर्थशास्त्र का विद्यार्थी ऐसी अनेक बातों का अध्ययन करता है जिनमें हमारा काल्यण निहित है। उदाहरण के लिये भारतवर्ष को ही ले लीजिये; अब यहाँ के अर्थशास्त्री (Econcmist) देश की बढ़ती हुई जन-संख्या और उनके अनुपात में घटते हुए भोजन की समस्या पर गंभीर विचार कर रहे हैं। वे एक ओर तो बढ़ती हुई जन-संख्या

के विषय में देश को सचेत कर रहे हैं और उसे अधिक बढ़ने से रोकने के उपाय बताते हैं और दूसरी ओर वे उत्पत्ति को बढ़ाने के साधन बताते हैं। उसी प्रकार निर्धनता को दूर कर रहन-सहन के स्तर को बढ़ाने के लिए भी सतत् प्रयत्न किये जा रहे हैं। बहुत-सी ऐसी ही और भी समस्याएँ हैं जिनका समाधान बिना अर्थशास्त्र के ज्ञान के हो ही नहीं सकता।

अर्थशास्त्र के अध्ययन से होनेवाले लाभ

उपरोक्त वर्णन से यह भली भाँति विदित हो गया होगा कि यह व्यावहारिक विषय हमारे लिए कितना उपयोगी है और इसका अध्ययन कितना आवश्यक है। यहाँ हम इस शास्त्र से होने वाले लाभ उद्धृत करते हैं।

१—व्यावहारिक लाभ :—

(क) गृहस्थ को—पारिवारिक आय-व्यय का विवरण रख कर प्रत्येक गृहस्थ के व्यर्थ के खर्च दूर किये जा सकते हैं। अनावश्यक और कम उपयोगी पदार्थों से धन बचाकर स्वास्थ्य, शिक्षा अथवा अन्य उपयोगी मदों पर खर्च किया जा सकता है।

(ख) व्यापार और व्यवसाय में—जहाँ बड़ी मात्रा में उत्पत्ति की जाती है, बिना अर्थशास्त्र के ठोस ज्ञान के सफलता मिलनी सम्भव नहीं है। श्रम-विभाजन, पूंजी के सदुपयोग, साहस और प्रबन्ध आदि विषयों में अर्थशास्त्र के व्यावहारिक ज्ञान की आवश्यकता होती है। इस शास्त्र का उचित ज्ञान होने पर वह उचित परिमाण में किसी पदार्थ को उत्पन्न करेगा। समय आने तक अपने गोदामों में भरकर रखेगा और अवसर पाते ही वह उसे अन्तर्राष्ट्रीय बाज़ार में बेच देगा।

(ग) श्रमिक-वर्ग को—अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों को जान लेने के बाद प्रत्येक श्रमिक सम्पत्ति और श्रम के अन्योन्य सम्बन्ध के अनुसार आचरण करेगा। पूंजी-पतियों से अपने को सुरक्षित रखने के लिए वे श्रमिक-संघ या मज़दूर-संघ की स्थापना करेंगे और समय आने पर वे अपने अस्तित्व को स्थिर रखने के लिए और अपनी न्यायपूर्वक मांगों की पूर्ति के लिए हड़ताल करेंगे, किन्तु साथ ही विवेक और बुद्धि के साथ वे असामयिक और असंगत हड़तालों को रोकने के लिए भी विवश कर सकते हैं।

(घ) राजनीतिज्ञ को—देश की बेकारी की समस्या, संसार-व्यापी तेज़ी-मंदी, व्यापारिक और औद्योगिक विश्रृंखलता और अव्यवस्था को सुलझाना, आयात-निर्यात सम्बन्धी विशेष करों द्वारा देश की समृद्धि को बढ़ाना, उद्योग-धन्धों में वैयक्तिक और सामूहिक कार्य के उचित सम्बन्ध का प्रश्न आदि ऐसी अनेक सामाजिक समस्याएँ हैं, जिन्हें सुलझाना अर्थशास्त्र के व्यावहारिक ज्ञान होने पर ही सम्भव है। अतः कुशल राजनीतिज्ञ को विद्वान अर्थशास्त्री भी होना आवश्यक है।

२—सैद्धान्तिक लाभ :—

अर्थशास्त्र में मनुष्य-जीवन और समाज के जीवित तथ्यों का विचार होता है। अतः इस शास्त्र में इन सब बातों का बहुत ही गंभीर विवेचन किया जाता है। तात्कालिक और दूरवर्ती, सभी प्रकार के कारणों और उनके फलों का निरीक्षण करना पड़ता है और तभी किसी निश्चित निष्कर्ष पर पहुंचा जाता है। सामाजिक जीवन के आर्थिक अभ्युत्थान और मानवीय शक्तियों के शिक्षण में इस शास्त्र का एक महत्वपूर्ण स्थान है।

—:*:—

दूसरा अध्याय

अर्थशास्त्र के विभाग

अर्थशास्त्र में मनुष्य की आवश्यकताओं और उन आवश्यकताओं की पूर्ति के निमित्त किये गये उद्योगों पर विचार किया जाता है। आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उत्पत्ति की जाती है। उत्पन्न वस्तुओं के उपभोग द्वारा आवश्यकताओं की पूर्ति करके सन्तोष और सुख प्राप्त होता है। किन्तु प्रत्येक मनुष्य अपनी आवश्यकता की सब वस्तुएँ स्वयं पैदा नहीं कर पाता, अतः विभिन्न मनुष्य अपने-अपने उद्योगों द्वारा उत्पन्न वस्तुओं का आपस में विनिमय (अदल-बदल) करते हैं। इसी प्रकार एक ही साथ मिल कर उत्पादन करनेवाले अनेक व्यक्ति उन उत्पन्न वस्तुओं का आपस में वितरण करते हैं (बांटते हैं)।

इसी प्रकार प्राचीन पंडितों ने अर्थशास्त्र का विवेचन करने के लिए इसको इन चार भागों में विभक्त किया था :—१–उत्पत्ति (Production), २–उपभोग (Consumption), ३–विनिमय (Exchange) और ४–वितरण (Distribution)।

किन्तु ज्यों-ज्यों सभ्यता और समाज की आर्थिक अवस्था में विकास हुआ, अर्थशास्त्र के विभाग भी उन्हींके अनुसार बदलते चले गये। उपर्युक्त प्रधान चार भागों को अनेक अंगों और उपांगों में विभाजित किया जाने लगा। प्रत्येक नवीन अंग और उपांग पर खोज हुई, उनका गहरा अध्ययन किया गया और अन्त में उनका स्वतंत्र शास्त्रीय रूप भी दे दिया गया। उदाहरण के लिए हम देखते हैं कि जब वस्तुओं के क्रय-विक्रय में बाधाएँ उपस्थित होने लगीं तो समाज को उन्हें दूर करने की आवश्यकता प्रतीत हुई। इन बाधाओं के निवारण के लिए मुद्रा-प्रचलन हुआ। इस युग में मुद्रा का रूप इतना बढ़ गया, उसमें ऐसे अनेक परिवर्तन हुए कि अर्थशास्त्रियों ने उसे भी एक नवीन भाग बना दिया। इसी प्रकार आज अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, औद्योगिक संगठन, राजस्व, क्रय-विक्रय आदि अनेक विभाग अर्थशास्त्र के अन्तर्गत माने जाते हैं। अतः अर्थशास्त्र को कितने विभागों में बांटा जाय, यह प्रायः लेखक की अपनी रुचि पर ही निर्भर है। फिर भी आज अधिकांशतः अर्थशास्त्र के निम्न पाँच भाग माने जाते हैं :—

(१) धन की उत्पत्ति, (२) उपभोग, (३) विनिमय, (४) वितरण और (५) राजस्व (Public finance)।

इस अध्याय में हम केवल इन विभागों का अर्थ बतलाकर उनका महत्व स्थापित करेंगे। पहले उत्पत्ति को लीजिये।

उत्पत्ति

साधारण तौर पर उत्पत्ति का अर्थ उत्पन्न करना या पैदा करना समझा जाता है। किन्तु वैज्ञानिक दृष्टिकोण से मनुष्य न तो किसी भौतिक पदार्थ को उत्पन्न ही कर सकता है और न उसमें उसे नष्ट करने की क्षमता है। वह तो केवल अपनी बुद्धि और शक्ति लगाकर उस भौतिक पदार्थ के रूप या बनावट के क्रम में इस प्रकार का कोई परिवर्तन उपस्थित कर देता है कि उस पदार्थ की उपयोगिता में वृद्धि हो जाती है। अतः प्रकृति-दत्त

पदार्थों की उपयोगिना में वृद्धि करना ही अर्थशास्त्र में उत्पत्ति माना जाता है।

दृष्टान्त के लिए एक किसान अपने खेत से कपास बीन कर लाता है। उसकी स्त्री ओट कर उससे बिनौले अलग कर देती है। अब वही कपास साफ और सुन्दर हो जाना है। उसका यह सुन्दर परिवर्तित रूप रुई कहलाता है और उसकी उपयोगिता में वृद्धि हो जाती है। मनुष्य उसके लिए अधिक मूल्य देने को तत्पर रहते हैं। अर्थशास्त्र में हम इसीको उत्पत्ति कहते हैं। आगे चल कर यही रुई धुन दी जाती है। फिर कताई के बाद जुलाहा उसे बुन कर कपड़े में बदल देता है। यह भी उत्पत्ति का एक रूप है। अन्त में दर्जी काट-छाँटकर उसके वस्त्र बनाता है, जो असली कपास से सर्वथा भिन्न है। अतः कपास से कुरता बनने तक की जितनी क्रियाएँ हुई। उन्हें हम उत्पत्ति कहते हैं। प्रत्येक क्रिया उत्पाद्य पदार्थ के उस असली रूप में कोई ऐसा परिवर्तन उपस्थित कर देती है जिससे कि उसकी उपयोगिता और मूल्य में वृद्धि हो जाती है।

इसी प्रकार खेती-बारी में भी हम कोई सर्वथा नवीन वस्तु उत्पन्न नहीं कर सकते हैं, जैसा कि बहुतों का विचार होता है, इस व्यवसाय में हम बीज को ऐसे समय में और ऐसे स्थान तथा परिस्थतियों में डाल देते हैं कि प्रकृति अपनी शक्तियों द्वारा उसे एक नवीन पेड़ या पौधे का रूप दे देती है। यहाँ पर कृषक के निराई, गुड़ाई, जुताई और कटाई आदि के परिश्रम को, जिससे प्राकृतिक शक्तियों को अपने कार्य-संचालन में सहायता मिलती है, उत्पत्ति कहते हैं।

अर्थशास्त्र में उत्पत्ति के दो प्रधान भेद माने गये हैं—(१) भौतिक और (२) अभौतिक। भौतिक उत्पत्ति में पदार्थ के रूप, आकार, स्थान और समय आदि में परिवर्तन करके उसकी आर्थिक उपयोगिता बढ़ाई जाती है। कुर्सी-मेज़ बनाना, कपड़े सीना, उद्योग और व्यवसाय, इसके कुछ उदाहरण हैं। अभौतिक उत्पत्ति में कोई ऐसा उद्योग अथवा कार्य किया जाता है जिससे मनुष्य की आवश्यकताओं में अंशतः अथवा पूर्णतः सन्तोष और तृप्ति होती है। इसमें हम 'उत्पादक-श्रम' की गणना करते हैं। इस कोटि में गृह-सेवक, अध्यापक, डाक्टर आदि की गणना होती है।

उत्पत्तिके विविध साधनों (Factors of production), भूमि (Land),

श्रम (Labour), पूँजी (Capital), साहस (Enterprise), तथा प्रबन्ध (Organisation) और उत्पत्ति के नाना प्रकार के भेदों का वर्णन विस्तार-पूर्वक हम आगे करेंगे।

उत्पादन का ठीक उलटा उपभोग है। अर्थशास्त्र की दृष्टि में वस्तुओं के सभी प्रकार के उपयोग को उपभोग नहीं माना जाता। यहाँ केवल पदार्थों की उपयोगिता (Utility) का उपभोग होता है। जिस वस्तु के प्रयोग से मनुष्य की इच्छा की तृप्ति (Satisfaction) होती है और जिससे उसे सुख और शान्ति का अनुभव होता है, उसीको हम उपभोग कहते हैं। उपभोग में भी हम वैज्ञानिक नियमों के आधार पर किसी वस्तु को नष्ट नहीं कर सकते, किन्तु उसकी उपयोगिता को नष्ट करते हैं। इस प्रकार उपयोगिता के उपयोग में हम वस्तु की बनावट के क्रम को इस तरह बदल देते हैं कि उसकी उपयोगिता नष्ट हो जाती है। कभी-कभी उपभोग में मनुष्य उसकी बनावट आदि के क्रम में अधिक परिवर्तन नहीं करता किन्तु उसके उपभोग के अवसर में काल या समय उसकी बनावट तथा उपयोगिता नष्ट कर देता है।

उपभोग

उदाहरण के लिए एक मनुष्य एक सेव को खा लेता है, और दूसरा एक सेव उठा कर रख देता है। इस प्रकार कुछ दिनों के उपरान्त दूसरी सेव सड़ कर सूख जायेगी। प्रत्येक दशा में सेव खर्च हो गई और उसकी उपयोगिता नष्ट हो गई। किन्तु पहली दशा में सेव खानेवाले को सन्तुष्टि हुई, अतः इस दशा में सेव का उपभोग होना माना जायगा। इसके विपरीत दूसरी दशा में सेव के सड़ कर सूख जाने से किसी मनुष्य की सन्तुष्टि अथवा तृप्ति नहीं हुई। अतः उसका उपभोग होना नहीं माना जायेगा।

कभी-कभी सेवाओं से भी मनुष्य की इच्छाओं की तृप्ति हो जाती है, अतः अर्थशास्त्र के दृष्टिकोण से ऐसी सेवाएँ भी उपभोग की गणना में आ जायेंगी। उदाहरण के लिए एक वैद्य की उपचार सम्बन्धी सेवाओं, शिक्षक की विद्या सम्बन्धी या वकील की पैरवी सम्बन्धी सेवाओं से भी समाज के मनुष्यों की आवश्यकताएँ पूर्ण हो जाती हैं, अतः उनका भी उपभोग होता है।

अर्थशास्त्र के इस विभाग में हम मनुष्य के नाना प्रकार के उपभोग के पदार्थों

के विषय में विचारते हैं। वे कहां तक देश और समाज के लिए हितकर हैं अथवा किन दशाओं में उनके उपभोग से हानि की संभावना हो सकती है। हम परिवारों के आय-व्यय, रहन-सहन के स्तर सम्बन्धी प्रश्न तथा आवश्यकताओं के लक्षण आदि बातों पर अर्थशास्त्र के इसी विभाग में विचार करते हैं।

कोई भी व्यक्ति अपनी आवश्यकता के सभी पदार्थ स्वयं पैदा नहीं कर सकता है। हमें प्रायः अपनी आवश्यकताओं के लिए अन्य पर भी आश्रित रहना पड़ता है। यही क्रम सर्वत्र चला करता है। आधुनिक काल में एक मनुष्य दूसरे पर और दूसरा तीसरे पर अपनी आवश्यकता के पदार्थों के लिए निर्भर रहता है। हम दूसरों की वस्तुओं को उसी अवस्था में प्राप्त कर सकते हैं जब उन्हें बदले में कुछ अपने परिश्रम या मिहनत का प्रतिफल दें। निदान अदल-बदल समाज में रहनेवाले व्यक्तियों के लिए अत्यन्त आवश्यक है। इसके बिना किसी का काम चल सकना असम्भव है। पदार्थों का अदल-बदल भी इसलिए होता है कि हर पक्ष को समान लाभ और सुभीता हो। किसी पक्ष का लाभ घटते ही यह कार्य बन्द हो जाता है। जब दो वस्तुओं में अदल-बदल होती है तो उनके परिमाण, मात्रा अथवा राशि में कुछ अनुपात-सम्बन्ध आवश्यक रहता है। यदि पाँच सेव के बदले दस केले मिलें तो पाँच सेव का मूल्य १० केला हुआ, अर्थात् एक सेव का मूल्य दो केला हुआ।

विनिमय

आधुनिक काल में पदार्थों का विनिमय दो वस्तुओं के अनुपात सम्बन्धी मूल्य (Value) पर निर्भर रहता है। जब किसी वस्तु की एक इकाई का मूल्य मुद्रा में बताया जाता है तो उसे हम उस वस्तु की कीमत (Price) कहते हैं। उपरोक्त उदाहरण में यदि एक सेव की कीमत दो आना प्रति हो तो केला की कीमत एक आना होनी चाहिये। प्राचीन काल में जब मुद्रा का प्रचलन नहीं था तब पदार्थों का विनमय अदल-बदल से होता था।

किस प्रकार एक मनुष्य अपनी बचत (आय के अतिरिक्त भाग) को दूसरे की बचत से, जो कि उसके लिए अधिक उपयोगी है, बदलता है; कीमत, मूल्य, ऋण, साख आदि बातों का विचार अर्थशास्त्र के इसी विभाग में किया जाता है। सरकारी व्यापार-नीति तथा देश का आयात-निर्यात तथा व्यापार सम्बन्धी कठिनाई का विचार भी विनिमय में किया जाता है।

धनोत्पत्ति के विविध साधनों के मालिकों को उनका प्रतिफल मिलने को अर्थ-शास्त्र में हम वितरण कहते हैं। भूमि के मालिक को लगान (Rent), श्रमिक को वेतन (Wages), पूँजीपति को ब्याज (interest), व्यवस्थापक को लाभ (Profit), इन सभी बातों का विचार वितरण में किया जाता है। इसी भाग में राष्ट्रीय आय को उत्पत्ति के विविध साधनों (भूमि, श्रम, पूँजी, प्रबन्ध और साहस) में किस प्रकार बाँटा जाता है आदि प्रश्नों पर भी विचार किया जाता है।

वितरण

आज कल प्रायः उत्पादकों को उत्पन्न वस्तु का भाग न देकर केवल एक ऐसी रकम दे दी जाती है जो उनके भाग की वस्तु के मूल्य के बराबर होती है। किसी वस्तु की कुल उपज से प्राप्त धन में से उस पदार्थ में लगे हुए कच्चे माल का मूल्य तथा टूट-फूट, सँभाल, बीमें आदि का भाग निकाल कर जो शेष भाग बचता है, उसे हम वास्तविक उपज-धन कहते हैं। उत्पादक साधनों के मालिकों अथवा संरक्षकों में इसी धन का वितरण होता है। किसी-किसी व्यवसाय में एक ही मनुष्य या कुछ मनुष्यों का समूह दो अधिक उत्पादक साधनों के प्रतिफल के पाने का अधिकारी हो जाता है। ऐसी अवस्था में प्रत्येक के प्रतिफल का हिसाब अलग-अलग लगाया जाता है और एक मोटी धन-राशि उसे दे दी जाती है।

वितरण करते समय इस बात पर विशेष रूप से ध्यान दिया जाता है कि उत्पा-दक साधनों में किसी प्रकार की असमानता न हो। व्यवस्थापक या पूँजीपति इतना न हड़प लें कि बिचारे श्रमिकों को थोड़ा मिले और उत्पादन का कार्य रुक जाये। अतः समान धन-वितरण, असन्तोष और आन्दोलनों को रोकना अर्थशास्त्र के इस भाग का मुख्य ध्येय है।

अर्थशास्त्र में मुद्रा तथा बैंक के सम्बन्ध में यह विचार किया जाता है कि देश में मुद्रा किस धातु की और कितनी चाहिये तथा उसका विदेशी मुद्राओं से क्या विनिमय-दर होना चाहिये। कागज़ी मुद्रा का प्रचलन किस सीमा तक उचित है और उसके विषय में किन-किन नियमों का पालन होना आवश्यक है। बैंकों के खोले जाने के उद्देश्य क्या हैं, उनका संचालन किस प्रकार हो तथा दिवाला निकलने पर क्या किया जाय।

मुद्रा और बैंक

आज की भारतीय आर्थिक दुरवस्था का बहुत-कुछ सम्बन्ध अर्थशास्त्र के इस विभाग पर अवलम्बित है। कागज़ी मुद्रा का प्रचलन अधिक बढ़ गया है तथा स्वराज्य मिलने के बाद इङ्गलैण्ड से हमारी आर्थिक नीति क्या होनी चाहिये, ये सब प्रश्न इसी से सम्बन्धित हैं।

राजस्व

राजस्व का अर्थ है राज-धन अथवा राजकीय आय-व्यय। सरकार को राज्य-संचालन तथा व्यवस्था में कितने धन की आवश्यकता होगी तथा किस प्रकार वह इस धन को एकत्रित करेगी तथा एकत्रित धन किन-किन भागों पर कितना व्यय होगा आदि प्रश्नों पर विचार अर्थशास्त्र के राजस्व विभाग में किया जाता है। इनके अतिरिक्त देश-रक्षा, करों के भेद, कर सम्बन्धी नीति आदि विषयों पर भी विचार राजस्व में ही किया जाता है।

अर्थशास्त्र के ये भाग आपस में एक दूसरे से सम्बन्धित रहते हैं और एक का प्रभाव दूसरे पर अवश्य पड़ता है। किसी देश में उत्पत्ति कम होने पर वहाँ के निवासियों की आय घट जायगी; फलतः उनका रहन-सहन भी गिर जायगा। रहन-सहन का स्तर गिर जाने पर उत्पत्ति में बाधा पड़ेगी और राज-कोष की आय भी कम हो जायगी। राज-कोष की आय के कम होने पर देश-रक्षा, राज्य-प्रबन्ध, शिक्षा आदि सभी आवश्यक विषयों पर घातक प्रभाव पड़ेगा। अतः जो देश अपनी आर्थिक उन्नति चाहता है, उसे इन सभी भागों पर समान रूप से ध्यान देना आवश्यक है।

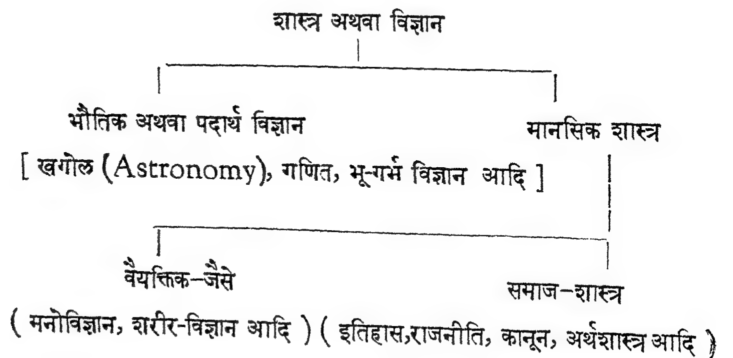
अर्थशास्त्र के इन भागों—उत्पत्ति, उपभोग, विनिमय, वितरण, मुद्रा-बैंकिंग, राजस्व का वर्णन हम आगे चल कर विस्तृत रूप से करेंगे।

तीसरा अध्याय

अर्थशास्त्र का अन्य विद्याओं से सम्बन्ध

पहले अध्याय में हम चित्र द्वारा यह स्पष्ट कर चुके हैं कि इस संसार के समस्त विज्ञान और शास्त्रों को दो बड़े भागों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम भाग में ऐसे विज्ञान और शास्त्र आते हैं जिनका सम्बन्ध भौतिक पदार्थों से रहता है। उदाहरण के लिए गणित, खगोल, रसायन और भौतिक शास्त्र आदि। दूसरे भाग का सम्बन्ध मनुष्य से रहता है, और इसे हम मानसिक शास्त्र या मानसिक विज्ञान कहते हैं। मनुष्य का विचार दो प्रकार से किया जा सकता है, एक तो वैयक्तिक रूप में और दूसरे समाज के सदस्य के रूप में। व्यक्तिगत मनुष्य से सम्बन्ध रखने वाले विज्ञानों में मनोविज्ञान और शरीर-विज्ञान मुख्य हैं। समाज के एक सदस्य के रूप में मनुष्य से सम्बन्ध रखनेवाले अनेक विज्ञान हैं, अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र, राजनीति, इतिहास, कानून आदि। ये सब शास्त्र समाज-शास्त्र के अन्तर्गत माने जाते हैं। अतः संसार के इन विज्ञानों और शास्त्रों का विभाजन हम निम्न चित्र द्वारा स्पष्ट करते हैं।

विभिन्न शास्त्र और विज्ञान



धनोपार्जन और अपनी आवश्यकता के पदार्थों को प्राप्त करने के लिए मनुष्य को समाज के अन्दर रह कर कार्य करना पड़ता है। उसे अनेक मनुष्यों से व्यवहार पड़ता है। अतः कुछ से वह मैत्री करता है और कुछ से घनिष्ठ सपर्म्क स्थापित करके रहता है। जिस सीमित क्षेत्र में वह अपनी घनिष्ठता को बढ़ाता है, वह प्रायः उसकी जाति कहलाती है। वहाँ उसके बन्धु-बान्धव और निकट सम्बन्धी होते हैं। उस समाज के नियमों के अनुसार वह आचरण करता है। उन्हींके रीति-रस्म, खान-पान, वेश-भूषा को वह अपनाता है। उसके विपरीत आचरण करने पर वह अपने समाज से वहिष्कृत तक किया जा सकता है। इसी प्रकार जिस देश में वह रहता है उसके तथा वहाँ के निवासियों के प्रति उसके कुछ कर्त्तव्य रहते हैं। वहां के कुछ नियम और प्रतिबन्धों को उसे हमेशा पालन करना पड़ता है। इनके पालन न करने पर या किसी प्रकार की अवज्ञा अथवा अवहेलना करने पर उसे राजकीय नियमों के अनुसार दंड भुगतना पड़ेगा। वह देश, प्रान्त, नगर और गाँव की व्यवस्था और संचालन में भी प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से सहायता करता है। वह धारा-सभा (Lagislative Assembly), नियम-निर्मातृ-परिषद (Constituent Assembly), चुँगी, पंचायतों का या तो स्वयं एक सदस्य रहता है अथवा अपने प्रतिनिधियों के चुनने का उसे अधिकार रहता है।

समाज में मनुष्य का कर्त्तव्य

अतः उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि समाज में रहकर मनुष्य को अनेक नियमों का पालन करना पड़ता है। उसके अनेक कर्त्तव्य होते हैं जिनका पालन करना उसका धर्म होता है। समाज में रहनेवाले मनुष्य की इन गति-विधियों को हम निम्न चार भागों में बाँट सकते हैं :—

अर्थशास्त्र और अन्य समाज-शास्त्र

(१) उसके धन विषयक प्रयत्न, जिसमें मनुष्य के जीविकोपार्जन सम्बन्धी कार्य और अपनी विविध आवश्यकताओं को पूर्ण करनेवाले उपायों का सम्बन्ध रहता है। इनका अध्ययन अर्थशास्त्र के अन्तर्गत किया जाता है।

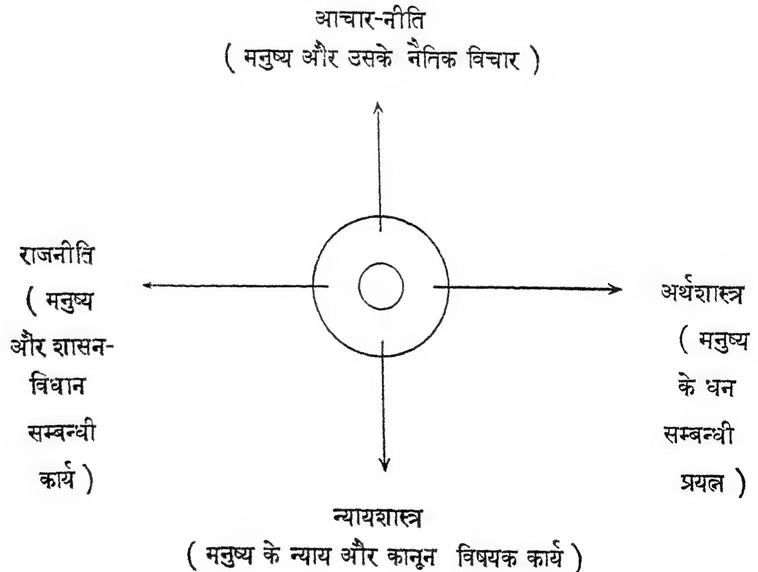
(२) आचार-नीति सम्बन्धी क़र्त्तव्य—सत्य बोलना, दया के भाव रखना, सच्चरित्र होना, ये सब बातें नीतिशास्त्र के अन्दर रहती हैं।

(३) धार्मिक कृत्य (न्याय) — अपराधी को दंड देना, हत्यारे को फाँसी देना, नियम के विरुद्ध आचरण करने पर दंड का भागी होना, इन सब बातों का सम्बन्ध न्याय से है।

(४) राजनीति (Politics)—राज्य के प्रति भी हमारे कुछ कर्त्तव्य होते हैं। उनका पालन करना भी आवश्यक है। देश की सुव्यवस्था के लिए कभी-कभी हमें राज्य-कार्य में क्रियात्मक सहयोग देना पड़ता है, कभी प्रतिनिधि चुनने पड़ते हैं। ऐसे ही और भी बहुत-से ऐसे शासन-विधान के कार्य होते हैं जिनसे मनुष्य को सम्बन्ध रखना पड़ता है।

अस्तु; आचार-नीति, धार्मिक सिद्धान्त, न्याय-कानून, शासन-विधान के अनुसार ही समाज में मनुष्य के कार्य, व्यवहार और उद्योग के धन्धे होंगे। इन सब बातों का मनुष्य के सामाजिक और आर्थिक जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ता है। इस कारण किसी भी आर्थिक पहलू पर विचार करते समय अन्य सभी सामाजिक बातों का विचार सामने रखना पड़ता है। ऐसी अवस्था में आज जो अर्थशास्त्र हमारे सामने उपस्थित है, वह एक सामाजिक विद्या है और समाज-शास्त्र की एक शाखा मात्र है। इसे हम निम्न चित्र से व्यक्त करते हैं:—

अर्थशास्त्र और समाज-शास्त्र



मनुष्य का ईश्वर के प्रति जो सम्बन्ध होना चाहिये, इसका विचार धर्मशास्त्र में किया जता है। धर्म का मुख्य उद्देश्य होता है कल्याण-प्राप्ति। यही ध्येय अर्थशास्त्र का भी माना जाता है। निस्सन्देह धर्म में धन को इतना महत्व नहीं दिया जाता। उसमें सच्चरित्रता और सद्भावों पर ही अधिक जोर डाला जाता है। हिन्दू धर्मशास्त्र के आदर्शों के अनुसार जिस काम के करने में धर्म और अर्थ का विरोध हो या जिसमें व्यक्तिगत लाभ होने पर समाज का अहित हो उस रीति से धनोपार्जन करना निषिद्ध है। किन्तु आज समाज के अधिकांश व्यक्ति माया-मोह में पड़ कर ये सब धार्मिक सिद्धान्त भूल जाते हैं। वे अपने स्वार्थ में दूसरे का हानि-लाभ नहीं देखते। इस प्रकार व्यक्तिगत स्वार्थ-पूर्ति के कारण ही आज देश और समाज में अशान्ति छायी हुई है। वर्ग-संघर्ष हो रहे हैं, प्रति दिन स्वास्थ्य गिर रहा है और नाना प्रकार की आधि-व्याधियों से मनुष्य समाज ग्रस्त है।

धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र

उदाहरण के लिए एक पूँजीपति गरीब मज़दूर से काम तो डट कर लेता है किन्तु पारिश्रमिक देते समय उसे इनना भी नहीं देता कि वह रूखा-सूखा भोजन भी भर पेट कर सके। ज़मींदार अपने किसान से लगान लेते समय यह भूल जाता है कि बिचारा अपना पेट काट कर उसे रुपया अदा कर रहा है। इसी प्रकार दुष्ट महाजन अत्यधिक ब्याज की दर लेकर निर्धन व्यक्तियों का शोषण करते हैं। दूसरी ओर व्यापारी धन के मोह में अशुद्ध पदार्थों का सम्मिश्रण करते हैं। समाज के प्रति उनका क्या कर्तव्य है, इसे वे एक क्षण के लिए भुला देते हैं। आज आपको नगरों में कदाचित शुद्ध घी-दूध के दर्शन नहीं हो सकते। ये सब बातें धर्म के विरुद्ध हैं। अर्थशास्त्र भी इनका समर्थन नहीं करता। अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों के अनुसार ये सब बातें वर्जित हैं। सूद, लगान, इन सब के लिए अर्थशास्त्र के नियम धर्म की मर्यादा का कहीं भी उल्लंघन नहीं करते। न्याय, समानता और सत्य के आधार पर ही ये सब नियम अवलम्बित हैं।

इतिहास से यह भली भाँति सिद्ध हो चुका है कि जो देश आर्थिक दृष्टिकोण से समृद्धिशाली होते हैं वहीं पर आध्यात्मिक और धार्मिक जागृति सब से अधिक होती है। हमारा अतीत का इतिहास भी इस बात का साक्षी है। आज हमारे अधः

पतन और धार्मिक अवनति का मूल कारण हमारी अपनी आर्थिक दुरवस्था ही है।

नीतिशास्त्र में रीति-नीति और अच्छे और बुरे पर विचार किया जाता है। कौन-सा कार्य अच्छा है और कौन-सा बुरा है, मनुष्य को क्या करना आवश्यक है और किस कार्य के करने में बुराई है, इन सब बातों का ज्ञान हमें नीतिशास्त्र से होता है।

नीतिशास्त्र और अर्थशास्त्र

जैसा कि हम बता चुके हैं, अर्थशास्त्र में कैसे धन की उत्पत्ति की जाती है और किस प्रकार उपयोग होता है, इन बातों पर विचार किया जाता है। अतः उचित रीति से धनोपार्जन और उसका उपयोग करना नीति के अनुसार आचरण करना है। जो उसके विरुद्ध कार्य करता है, वह नीति और अर्थशास्त्र, दोनों ही के नियमों की अवहेलना करता है। अर्थशास्त्र के नियमों के अनुसार श्रमिक को अपना पारिश्रमिक अथवा वेतन मिलना चाहिये, पूँजीपति को ब्याज और ज़मींदार को लगान। किन्तु अब प्रश्न यह उठता है कि प्रत्येक को कितना दिया जाय। इसका उत्तर भी अर्थशास्त्र में हमको मिलता है। नीति के अनुसार प्रत्येक को न्यायपूर्वक उसने जितना कार्य किया है, उसीके अनुसार दिया जाय। अर्थात् अगर दिन भर किसी मज़दूर से कार्य लिया गया है तो उसे छः घंटे का पारिश्रमिक देना नीति और अर्थशास्त्र, दोनों के सिद्धान्तों के विरुद्ध है।

नीति के अनुसार यदि धन के वितरण में समानता और न्याय पर समुचित ध्यान दिया जाय तो अवश्य ही वह देश समृद्धिशाली होगा। वहां के निवासी सन्तुष्ट रहेंगे और उत्पत्ति में भी वृद्धि होगी। इस प्रकार सुख और शान्ति बढ़ेगी। इन सब का प्रभाव मनुष्य के चरित्र पर पड़ना भी स्वाभाविक है। वे अधिक ईमानदार और सत्य-प्रिय होंगे। अस्तु, जिस प्रकार अर्थशास्त्र का उद्देश्य समाज का हित करना है, उसी प्रकार नीतिशास्त्र का भी है। अतः दोनों में कुछ न कुछ सम्बन्ध होना आवश्यक है और एक दूसरे से पृथक नहीं किये जा सकते।

राजनीति में राज्य के प्रबन्ध के नियमों का विवेचन किया जाता है और मनुष्य का राज्य के साथ जो सम्बन्ध रहता है उसका अध्ययन किया जाता है। राज्य-प्रबन्ध के लिए सरकार को धन की आवश्यकता होती है और यह धन उसे विविध प्रकार के करोंसे प्राप्त होता है, जैसे आयात-निर्यात-कर, आय-कर आदि। ये कर किस प्रकार के हैं, इनका विचार

अर्थशास्त्र और राजनीति

अर्थशास्त्र में किया जाता है। चूँकि राज्य की नीति पर ही देश की आर्थिक प्रगति अवलम्बित रहती है; यदि उसकी नीति व्यवसाय के पक्ष में रही तो देश के लिए हितकारी सिद्ध होगी, किन्तु अगर विरुद्ध पड़ गई तो महान् क्षति पहुँच सकती है; अतः राज्य-प्रबन्ध में किसी प्रकार का परिवर्तन हो जाने पर उत्पत्ति और व्यवस्था, दोनों में अन्तर आ जाता है। अनुकूल नियमों के रहने पर जनता शान्तिपूर्वक जीवन व्यतीत कर सकती है। सम्पत्ति और धन-रक्षा के साधन रहने पर उत्पत्ति में वृद्धि होती है और आर्थिक अवस्था भी उन्नत हो जाती है।

कानून और अर्थशास्त्र

कानून और अर्थशास्त्र का सम्बन्ध स्पष्ट करने के लिए आजकल के कुछ दृष्टान्त अपने सम्मुख रखिये। जब से स्वराज्य मिला है, सरकार की नीति भी बदल गई है। ब्रिटिश सरकार का उद्देश्य शासन करना था। अतः उन्होंने अपनी शासन-व्यवस्था कुछ मुट्ठी भर पूँजी-पतियों के हाथ में सौंप रखी थी। निर्धन अथवा मध्यम वर्ग के मनुष्यों के हितों पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता था। फलतः भारतवासी क्रमशः निर्धन होते चले गये। इतिहास उठाकर देखलें, हमारी जो आर्थिक अवस्था अंग्रेजों के आने से पूर्व थी, वह अब नहीं रही। जनता की इच्छा के विरुद्ध उन्होंने ऐसे नियमों का निर्माण किया जो हमारे देश की सभ्यता और परिस्थितियों के सर्वथा प्रतिकूल थे। उदाहरण के लिए हम कृषि विषयक भूमि-कानून ही लेते हैं। पैतृक धन-सम्पत्ति का विभाजन हमारे यहाँ यों तो परम्परा से चला आ रहा है; किन्तु आज से १०० वर्ष पूर्व तक भी वह धन संयुक्त कुटुम्ब की प्रथा प्रचलित रहने के कारण छोटे-छोटे टुकड़ों में कभी विभाजित नहीं होता था। आज अवस्था कुछ भिन्न ही दिखलाई पड़ती है। संयुक्त कुटुम्ब-प्रणाली छिन्न-भिन्न हो चुकी है और प्रत्येक मनुष्य अपना व्यक्तित्व अलग मानता है। अतः जिन खेतों का क्षेत्रफल आज से पचीस वर्ष पूर्व बारह बीघा था, वे आज आपस के बँटवारे के नियम के कारण छोटे-छोटे टुकड़ों में विभाजित हो गये हैं। इसका परिणाम बहुत ही भयावह हुआ। हमारी उत्पत्ति प्रति वर्ष कम होती जा रही है; हम निरन्तर निर्धन हो रहे हैं और अन्य देशों पर अपनी आवश्यकताओं के लिए आशा लगाये देख रहे हैं।

दूसरी ओर अब भूमि सम्बन्धी कानूनों में क्रमशः सुधार हो रहा है। जमींदारी-प्रथा का अन्त समीप ही है, लगानों में भी बहुत-कुछ सुधार हो चुका है। इसीसे किसानों पर होने वाले अत्याचार अब ओझल होते जा रहे हैं। भूमि भी क्रमशः एकचक होती जा रही है, आदि। इसी प्रकार असंगत हड़तालों को रोकने के कानून, मिल-मालिकों के अत्याचारों से श्रमिकों को बचाने के कानून, निम्नतम वेतन की समस्याओं पर भी कानून बन चुके हैं। जहाँ आवश्यक सुधार की आवश्यकता है, वहां उनमें परिवर्तन किये जा रहे हैं।

अतः कानून और अर्थशास्त्र का भी बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है। देश के कानून भी आर्थिक अवस्था को सुधार अथवा बिगाड़ सकते हैं।

अर्थशास्त्र और इतिहास

इतिहास द्वारा हमें प्राचीन परिपाटियों, घटनाओं और प्राचीन राज्य-प्रबन्ध आदि विषयों का ज्ञान होता है। उनसे हम अपनी आधुनिक परिस्थितियों और घटनाओं की तुलना कर सकते हैं। यही अवस्था आर्थिक घटनाओं के इतिहास के सम्बन्ध में है।

हम इतिहास पढ़ कर यह बात भली भाँति मालूम कर सकते हैं कि प्राचीन काल में कोई आर्थिक आपत्ति आने पर तत्कालीन सरकार ने उन्हें दूर करने के लिए किन उपायों का प्रयोग किया था। उदाहरण के लिए दुर्भिक्ष ही ले लीजिये। भारतवर्ष में दुर्भिक्ष सदा से चलते हैं, और समय तथा देश की परिस्थिति के अनुसार उन्हें रोकने के उपायों तथा सहायता के सिद्धान्तों में भी भेद रहा है। अतः जहाँ सम्भव हो उनमें से परिस्थितियों के अनुसार हम ऐसे उपायों का प्रयोग कर सकते हैं, जिनसे हमें लाभ होने की आशा हो। एक दूसरा दृष्टान्त लीजिये, प्राचीन काल में भारत में लगान की प्रथा आज से सर्वथा भिन्न थी। उस काल में लगान का सिद्धान्त प्राकृतिक नियमों के अनुसार था, अर्थात् जिस प्रकार सूर्य पृथ्वी से जल का शोषण करता है और पुनः उसका अधिकांश वर्षा के जल के रूप में पृथ्वी को दान दे देता है। इसी प्रकार राजा जनता से केवल उतना ही धन लेता था जितना कि राज्य-प्रबन्ध के लिए आवश्यक होता था। शेष को अथवा अधिक को वह प्रजा के हित में व्यय करता था।

अतः अर्थशास्त्र के अध्ययन में इसका महत्वपूर्ण स्थान है। इतिहास के द्वारा

हमें अपनी भूतकाल की गलतियाँ विदित हो जाती हैं, जिनसे हम् सचेत रह सकते हैं। पुरानी परिपाटी के अगर कोई लाभ रहे हों तो उन्हें अपनाकर हम सुधार कर सकते हैं।

अर्थशास्त्र और भूगोल

देश की आर्थिक उन्नति के लिए भूगोल के उचित ज्ञान की भी आवश्यकता होती है। किसी देश की स्थिति, प्रकृति आदि का वहां के निवासियों पर क्या प्रभाव पड़ता है, इन सब बातों का ज्ञान हमें भूगोल के अध्ययन द्वारा ही होता है। किसी देश की उत्पत्ति पर वहां की भौगोलिक अवस्था का बहुत प्रभाव पड़ता है। अर्थशास्त्र में उत्पत्ति के पाँच साधनों में भूमि का स्थान मुख्य है। इसके अन्तर्गत हम देश की भौगोलिक अवस्था का आर्थिक दृष्टिकोण से विचार करते हैं। देश की उन्नति के लिए यह परम आवश्यक है कि वहां के निवासी अपने देश की प्राकृतिक धन-सम्पत्ति, नदी, पहाड़, जंगल, समुद्र, आकाश, भूगर्भ-सम्पत्ति, जलवायु का पूरा-पूरा उपयोग कर लें; और अन्य देशों से आनेवाले पदार्थ किसी प्रकार कम हो जायं।

इसीलिए अर्थशास्त्र के अध्ययन में इसका उचित समावेश रहता है। अर्थशास्त्र में आर्थिक भूगोल के विषय का विशेष महत्व है, और इसीके ज्ञान के फल-स्वरूप देश की आर्थिक सफलता बहुत-कुछ निर्भर रहती है।

अर्थशास्त्र और भौतिक विज्ञान

अब तक हमारा ध्यान केवल उन शास्त्र और विज्ञानों पर केन्द्रित था, जिनका सम्बन्ध मनुष्य और समाज से था। दूसरे शब्दों में हम यों कह सकते हैं कि अब तक हमने समाजशास्त्र के अंग और उपांगों के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में ही विचार किया था। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि अर्थशास्त्र का समाजशास्त्र के अतिरिक्त अन्य विज्ञानों या शास्त्रों से कोई सम्बन्ध नहीं है। अगर ध्यान पूर्वक देखा जाय तो भौतिक विज्ञान का, जिसमें रसायन और भौतिकशास्त्र मुख्य हैं, मनुष्य के आर्थिक जीवन से बड़ा ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। विज्ञान के विविध प्रकार के आविष्कारों के फल-स्वरूप ही उन्नीसवीं शताब्दी में योरप में औद्योगिक क्रान्ति हुई। उत्पत्ति के तरीकों में एक विचित्र परिवर्तन होना आरम्भ हो गया और सभ्यता का विकास भी एक नये सिरे से आरम्भ हुआ। उत्पत्ति की अनेक बाधाएँ आज दूर हो चुकी हैं। संसार का

प्रत्येक भाग आज एक दूसरे के समीप है। एक स्थान के परिवर्तन, रीति-रस्म और आचार-विचारों का दूसरों पर भी प्रभाव पड़ने लग गया है।

जिस प्रकार भौतिक विज्ञान के रसायन और भौतिकशास्त्र का प्रभाव मनुष्य के आर्थिक जीवन पर पड़े बिना न रह सका, उसी तरह अर्थशास्त्र और गणित का भी सम्बन्ध है। आज गणित के उपांग सांख्यशास्त्र अथवा परिगणन-विद्या (अंकशास्त्र Statistics) के बिना तो समाज की प्रगति ही रुक सकती है। अर्थशास्त्र के अध्ययन में गणित के इस अंग की सहायता से बड़ी महत्वपूर्ण खोज की जाती है। पाश्चात्य देशों की उन्नति में गणित की खोजों का विशेष हाथ है। जिन बातों के वर्णन करने के लिए हमें बहुत शक्ति, समय और साधनों की आवश्यकता होगी उन्हें अंकशास्त्र की तालिकाएँ, रेखा-चित्र आदि संक्षेप में और शीघ्रतापूर्वक समझा देते हैं।

गणित और अर्थशास्त्र

इसी प्रकार अन्य विद्याओं का भी सम्बन्ध हमारे अर्थशास्त्र से है। उदाहरण के लिए शरीर-विज्ञान के आहार सम्बन्धी सिद्धान्तों का समाज और देश के स्वास्थ्य, जन्म और मरण, आयु पर प्रभाव पड़ता है। इसी प्रकार वनस्पति-विज्ञान और जीव-विज्ञान का सम्बन्ध भी अर्थशास्त्र से समान रूप से है। वनस्पति-विज्ञान और अर्थशास्त्र, दोनों के सम्मिलन से ही हमारे कृषि-अर्थशास्त्र की रचना हुई है। इसका वर्णन हम अगले अध्याय में करेंगे।

—:*:—

चौथा अध्याय

कृषि-अर्थशास्त्र[1] और ग्राम्य अर्थशास्त्र[2]

प्रथम अध्याय में हम यह बता चुके हैं कि अर्थशास्त्र में समाज में रहनेवाले व्यक्तियों के आर्थिक या धन सम्बन्धी प्रयत्नों और सिद्धांतों का विवेचन किया जाता है। इसके अन्तर्गत विविध प्रकार के व्यवसाय-व्यापार, कला-कौशल, खेती आदि के करनेवाले व्यक्तियों के प्रयत्न सम्मिलित रहते हैं। गत अध्याय में हमने यह भी स्पष्ट करने का प्रयत्न किया था कि यद्यपि भिन्न-भिन्न सामाजिक विद्याएँ मनुष्य के भिन्न-भिन्न पहलुओं को लेकर अध्ययन करती हैं, फिर भी उनका आपस में एक दूसरे से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसका कारण यह है कि प्रत्येक पहलू अन्य पहलुओं से इस प्रकार मिला रहता है कि उसके पूर्व ज्ञान के लिए हमें अन्य पहलुओं के ज्ञान का आश्रय लेना आवश्यक हो जाता है। अस्तु; विभिन्न सामाजिक विद्याओं का परस्पर सम्बन्ध इतना घनिष्ठ रहता है कि एक को दूसरे की सहायता लेने की आवश्यकता अवश्य होती है। यह कह देना नितान्त कठिन है कि मनुष्य के कार्यों से सम्बन्ध रखनेवाली कोई एक बात एक शास्त्र के अन्तर्गत ही आती है और दूसरे के नहीं।

अर्थशास्त्र में सभी पहलुओं का समान रूप से अध्ययन होता है

अर्थशास्त्र के अन्तर्गत मनुष्य के विभिन्न पहलुओं का अध्ययन किया जाता है; चूँकि उसका कार्य चाहे जिस दृष्टिकोण से भी क्यों न किया गया हो, उसका आधार कुछ न कुछ आर्थिक अवश्य होगा और उस कार्य से उसके आर्थिक जीवन पर कुछ न कुछ प्रभाव अवश्य पड़ेगा। अन्तर केवल इतना ही रहता है कि अपनी निजी विशेषताओं के कारण अनेक विद्याओं का अध्ययन अलग-अलग किया जाता है। अस्तु; जिस प्रकार राजनीति, धर्मशास्त्र, इतिहास, कानून आदि, समाजशास्त्र के अंग होते हुए भी समाज में रहनेवाले व्यक्ति का विविध दृष्टिकोण से अध्ययन करते हैं, उसी प्रकार अर्थशास्त्र के अन्तर्गत भी अनेक ऐसे उपांग (Sub-

---

1. Agricultural Economics. 2. Rural Economics.

Divisions) हैं जो मनुष्य के नाना प्रकार के आर्थिक प्रयत्नों की जाँच करते हैं। अपनी अनेक विशिष्टताओं (Special Features) के कारण उनका अध्ययन भी अलग ही होता है। कृषि-अर्थशास्त्र और ग्राम्य अर्थशास्त्र भी अर्थशास्त्र के ऐसे ही उपांग हैं जो हर प्रकार से अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों और नियमों पर आश्रित रहते हुए भी अलग-अलग अध्ययन किये जाते हैं।

ग्राम्य अर्थ-शास्त्र क्या है ?

खेती संसार का प्राचीनतम व्यवसाय है। आज भी इस औद्योगिक युग में विश्व की दो-तिहाई से अधिक जनसंख्या केवल इसी व्यवसाय पर अपनी जीविका के लिए आश्रित है। अस्तु; खेती-बारी से सम्बन्धित व्यक्तियों, उनके वातावरण, उनके रहने के स्थान गाँवों और उनके दैनिक कार्यों का जिस शास्त्र में विवेचन किया जाता है, उसे हम ग्राम्य अर्थशास्त्र कहते हैं। इस परिभाषा का अर्थ यही है कि इस शास्त्र के अन्तर्गत हम किसानों के उन वैयक्तिक और सामाजिक प्रयत्नों का अध्ययन करते हैं, जिनका सम्बन्ध मनुष्य-जाति के कल्याणकारी उपायों, उनकी प्राप्ति और उपयोगों से है। यहां यह बता देना असंगत न होगा कि सार्वजनिक अर्थशास्त्र और ग्राम्य अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों में कोई वास्तविक भेद नहीं है। अन्तर केवल इतना ही है कि ग्राम्य अर्थशास्त्र में ग्राम्य जीवन की विशेषताओं को दृष्टि में रखते हुए वहाँ के निवासियों, उनके उद्यम, वातावरण तथा परिस्थितियों का अध्ययन अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों के अनुसार किया जाता है।

अतः गांवों की उत्पत्ति, उनकी व्यवस्था और संगठन, वहाँ के निवासियों का व्यवसाय, रहन-सहन का स्तर, आवागमन के साधन, रीति-रस्म, खान-पान, जाति-भेद, जन-संख्या का विवरण आदि विविध पहलुओं का अध्ययन हम अर्थशास्त्र के इस उपांग में करते हैं। इनकी समस्याएँ नगर-निवासियों अथवा मिल-मजदूरों, व्यापारी, अन्य व्यवसायियों से सर्वथा भिन्न होती हैं। गाँव के किसान और नगर-निवासियों की परिस्थिति, वातावरण तथा जीविकोपार्जन के प्रयत्नों में बहुत अन्तर रहता है। यही कारण है, ग्राम्य अर्थशास्त्र का अध्ययन भी अब अलग ही होने लग गया है।

गाँवों के अधिकांश निवासियों का मुख्य उद्यम खेती-बारी ही रहता है। लगभग ८५ से ९५ प्रतिशत मनुष्य गाँवों में इसीपर अपनी जिविका के लिए निर्भर रहते हैं। अतः खेती-बारी जैसे आवश्यक और मुख्य व्यवसाय के बारे में समुचित ज्ञान होना परम आवश्यक है। खेती-बारी की अपनी कुछ ऐसी विशेषताएँ होती हैं जो उसे व्यापार और कला-कौशल आदि अन्य उद्योग-धन्धों से अलग कर देती हैं और कुछ एसी भिन्न अवस्थाएँ उत्पन्न हो जाती हैं, जिसके कारण इसका अध्ययन भी सार्वजनिक अर्थशास्त्र से पृथक ही होता है। खेती-बारी की इन विशिष्टताओं का वर्णन हम आगे चलकर बतायेंगे।

और कृषि-अर्थशास्त्र ?

खेती-बारी की सफलता प्रधाननः प्रकृति पर ही अवलम्बित है। अतः कृषि–अर्थशास्त्र के अध्ययन में भूमि तथा अन्य प्रकृति-दत्त साधनों (Natural gifts) को ही प्रधानता दी जाती है। खेती-बारी में भूमि ही उत्पत्ति का मुख्य साधन है। किसान उत्पत्ति के इस मुख्य साधन में ही अपनी पूँजी और परिश्रम लगाते हैं। अपनी योग्यतानुसार उसकी उचित रूप से व्यवस्था करते हैं और अन्त में अपनी सफलता और फल की कामना प्रकृति से करते रहते हैं। प्रकृति पर इतनी पराधीनता अन्य किसी उद्योग-धन्धे और व्यवसाय में नहीं रहती। अतः इसका अध्ययन हमें अलग करने की आवश्यकता होती है।

अर्थशास्त्र के इस उपांग में हम किसानों के उन प्रयत्नों पर विचार और अध्ययन करते हैं जिनका सम्बन्ध भूमि तथा अन्य प्रकृति-दत्त साधनों से रहता है और अन्त में जिनपर खेती-बारी की सफलता निर्भर रहती है। किसान किन-किन उपायों का अनुकरण कर अपने इन प्रकृति-दत्त साधनों का प्रबन्ध तथा संचालन करता है और वह किस प्रकार अपने को, अपने समाज और राष्ट्र को समृद्धिशाली बनाता है। श्री जोज़ीयर नामक एक प्रसिद्ध विद्वान् ने कृषि-अर्थशास्त्र की व्याख्या निम्न प्रकार से की है :—

"कृषि–अर्थशास्त्र वह विज्ञान है जिससे हमें खेती-बारी के साधनों के व्यवस्थापन और संचालन का ज्ञान होता है। किसान किस प्रकार अपने इस व्यवसाय से लाभ उठाकर अपने को सुखी बनाता है।"

इस शास्त्र में राज्य द्वारा दिये गये वे प्रोत्साहन भी सम्मिलित रहते हैं जिनसे राष्ट्रीय सम्पत्ति में अभिवृद्धि होती है। संक्षेप में इस शास्त्र में, हम भूमि के विभाजन, सिंचाई की समस्या,फसलों की उत्पत्ति, उनपर जलवायु का प्रभाव, भूमि का सुधार (Reclamation of land); मूल्य-नियन्त्रण (Price Control), आदि समस्याओं पर विचार करते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कृषि-अर्थशास्त्र अन्य शास्त्रों से सम्बन्ध रखते हुए भी भिन्न है। उसकी अपनी निजी विशेषताएँ रहती हैं जिनपर पृथक विचार करना आवश्यक होता है।

खेतीकी आर्थिक विशेषताएँ

खेती-बारी अवश्य ही अर्थशास्त्र के अन्यान्य पहलुओं पर निर्भर है, फिर भी उसकी कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जो उसे अन्य उद्योग-धन्धों से अलग कर देती हैं और कुछ ऐसी भिन्न अवस्थाएँ पैदा हो जाती हैं, जिनके नीचे सार्वजनिक अर्थशास्त्र के नियम और सिद्धान्त चालू हुआ करते हैं। खेती-बारी की कुछ विशेषताएं निम्नलिखित हैं :—

फसलों की उत्पत्ति

(१) जैसा कि ऊपर हम संकेत कर चुके हैं खेती-बारी की अन्य उद्योग-धन्धों से सब से बड़ी विशेषता तो यह है कि यह व्यवसाय अधितर प्रकृति की कृपा पर ही निर्भर है। भूमि अगर ऊसर है तो एक तिनका भी पैदा नहीं हो सकता (ऊसर भूमि तृण नहीं जामे), शुष्क और मरुस्थली जलवायु में अच्छी उपज का होना असम्भव है। यों तो समय, जलवायु, ऋतु और स्थान का प्रत्येक व्यवसाय पर थोड़ा-बहुत प्रभाव अवश्य पड़ता है ; किन्तु खेती से इन सबका सम्बन्ध इतना घनिष्ठ रहता है कि उसे कोई भी अलग नहीं कर सकता है। इन प्रकृति-दत्त साधनों में अधिक परिवर्तन कर लेना मनुष्य की क्षमता से परे है। कभी अतिवृष्टि तो कभी अनावृष्टि; कभी ताप-क्रम में विषमता तो कभी हवा की गति की अनिश्चितता और कभी टिड्डी-दल, कीड़ों और ढोरों के कारण खेती की उपज बहुत ही अस्थिर और अनिश्चित रहती है। विस्तृत और गहरी खेती करने पर कुछ अंश तक हम इन

बाधाओं को विजय कर सकते हैं, किन्तु इन अड़चनों से सर्वथा मुक्ति पा लेना मनुष्य की सामर्थ्य से बाहर है।

(२) खेती में भूमि का महत्व प्रधान है। किन्तु भूमि का विस्तार और क्षेत्र-फल परिमित रहने के कारण उसमें हम अपने आवश्यकतानुसार वृद्धि नहीं कर सकते हैं। किसी देश की पैदावार को बढ़ाने के दो उपाय हैं। या तो खेती योग्य भूमि में विस्तार किया जाय अथवा वैज्ञानिक ढंग से खेती की जाय। परन्तु जैसा हम ऊपर बता चुके हैं, प्रकृति ने भूमि हमें परिमित मात्रा में ही दे रखी है; अतः उसमें एक सीमा से आगे वृद्धि करना सम्भव नहीं है। दूसरे उपाय से उपज में वृद्धि करने के लिए हमें खेती के मूलधन—हल-बैल, खाद, पानी, आदि—और श्रम में वृद्धि करनी होगी। किन्तु कालान्तर में ही 'उपज बढ़ाने में खर्च बढ़ता है' के नियमानुसार (क्रमागत ह्रास नियम के अनुसार) हमें सिर झुका देना पड़ेगा। व्यापार तथा अन्य उद्योग-धन्धों की अवस्था ऐसी नहीं है।

(३) खेती-बारी में अन्य उद्योग-धन्धों से कलों (मशीनों) का प्रयोग अपेक्षाकृत कम होता है। अन्य व्यवसाय चूँकि प्रकृति पर इतने आश्रित नहीं रहते, अतः वहाँ उत्पत्ति बढ़ाने के लिए मशीनों का व्यवहार सरलतापूर्वक किया जा सकता है। खेती की व्यवस्था में यह अधिक सम्भव नहीं है। यद्यपि अमेरिका, इङ्गलैण्ड और रूस आदि अनेक देशों में खेती की अधिकांश क्रियाएँ मशीनों द्वारा ही प्रतिपादित होती हैं; फिर भी प्रकृति को सर्वथा वशीभूत नहीं कर सके हैं और न व्यवसायों की भाँति मनचाही फसलें ही पैदा कर सकते हैं। कपड़े, कागज़ आदि किसी भी व्यव-साय को ले लीजिये, आवश्यकतानुसार हम मूलधन और श्रम को बढ़ा कर अच्छी मशीनों का प्रयोग कर अधिक कारखाने खोलकर उत्पत्ति बढ़ा सकते हैं। खेती-बारी में उपरोक्त जैसा कि बताया गया है, दो नियमों में यह सब उस अवस्था तक सम्भव नहीं है। न तो भूमि के क्षेत्रफल को ही हम अपने आवश्यकतानुसार बढ़ा सकते हैं और न 'क्रमागत ह्रास' नियम पर किसी प्रकार प्रतिबन्ध लगा सकते हैं। अतः खेती में मूलधन के बढ़ाने पर भी हम और व्यवसायों की भाँति उपज में बहुत अधिक वृद्धि नहीं कर सकते हैं।

(४) अन्य व्यापार और व्यवसायों के विपरीत खेती में मूलधन एक स्थान से दूसरे स्थान पर बहुत कम ले जाया जाता है। व्यापार और व्यवसायों में 'स्टाक-एक्सचेञ्ज' में थोड़ा-सा भी अन्तर आने पर खरीदे या बेचे जा सकते हैं, किन्तु खेती की अवस्था कुछ भिन्न ही है। एक तो भूमि से मूलधन उठा लेना कोई सरल बात नहीं है, उसमें बहुत ही झंझट और हानि उठानी पड़ती है। दूसरी बात यह है कि भूमि—एक गाँव के किसान की भूमि और एक शहर में रहनेवाले की ज़मीन में भी बड़ा अन्तर रहता है। तीसरी बात यह है कि भूमि ही किसान का सर्वस्व होती है। चाहे कितनी भी हानि क्यों न उठानी पड़े परन्तु फिर भी वह अपने भाग्य और ईश्वर पर विश्वास और भरोसा रखता हुआ, उसीपर अधिक परिश्रम करता है।

(५) खेती में संगठन और व्यवस्था की भी यही दशा है। अन्य व्यवसायों की भाँति यहां हमें एक साथ ही बहुत बड़ी पूँजी की आवश्यकता नहीं हुआ करती है। थोड़ा-थोड़ा करके कई बार पूँजी लगानी पड़ती है।

(६) व्यापार और अन्य व्यवसायों में जहाँ अधिक मात्रा में उत्पत्ति की जाती है, श्रम-विभाजन का बड़ा महत्व है। इस प्रथा से एक तो श्रमिक की कुशलता बढ़ जाती है और उसे अपने कार्य के करने में बहुत आनन्द अनुभव होता है; और दूसरी बात यह है कि उत्पत्ति की लागत में भी कम खर्च होता है। किन्तु, खेती का व्यवसाय प्रायः छोटे और दूर-दूर के खेतों में होता है, अतः यहाँ श्रम-विभाजन का अधिक महत्व नहीं है। अमेरिका, रूस आदि पाश्चात्य देशों में जहाँ मशीनों का प्रचलन अधिक है; किन्तु अन्य व्यवसायों की तुलना के बराबर वहाँ भी नहीं है। फलतः फसलों का लागत-मूल्य प्रायः (मशीनों की अपेक्षा) अधिक रहा करता है।

(७) खेती की उत्पत्ति एक ही समय हुआ करती है—अर्थात् किसान प्रायः अपनी फसल को एक ही समय बोते हैं और एक ही समय काटते हैं। उदाहरण के लिए गेहूं क्वार या कार्तिक (अक्टूबर-नवम्बर) के महीने तक बो दिया जाता है और बैसाख (मार्च-अप्रैल) के महीने से काटना आरम्भ कर देते हैं। फल-स्वरूप कभी तो मंडी में अनाज की मात्रा बढ़ जाने पर दाम एकदम गिर जाते हैं; और

जब उसकी मात्रा धीरे-धीरे घटने लगती है तो उसका मूल्य भी उसीके अनुसार बढ़ने लगता है। अतः बिना सरकारी सहायता के किसान का अपनी उपज के मूल्य पर अपना कोई वश नहीं है। इसके विपरीत व्यापारी बहुधा अपनी उपज का मूल्य अपने वश में ही रखते हैं। वे जब चाहें किसी वस्तु को उत्पन्न करें और आवश्यकता पड़ने पर उत्पत्ति को कम भी कर सकते हैं अथवा सर्वथा बन्द कर सकते हैं।

(८) खेती में उपज की कीमत घट जाने पर भी किसान अपने इस व्यवसाय को नहीं छोड़ता है। यह बात अन्य उद्योग-धन्धों में नहीं मिलती है। जो- व्यवसायी जब लागत मात्र पर भी अपनी वस्तु को नहीं बना सकता है तो हानि के भय से तुरन्त ही उस व्यवसाय से अपना हाथ खींच लेता है। खेती में लागत से अधिक खर्च में फसल को पैदा करनेवाला किसान, व्यवसायी की अपेक्षा काफी समय तक रुक सकता है और अपना धन्धा चला सकता है। इसका कारण यह है कि खेती-बारी के व्यवसाय में मूलधन और श्रम में बहुत कम अन्तर रहता है। यही कारण है कि इस व्यवसाय पर आश्रित मनुष्यों की संख्या—दो-तिहाई से अधिक—अब भी संसार में सबसे अधिक है।

(९) खेती और व्यापार में आखिरी विभिन्नता श्रम अथवा मज़दूरी के विषय में पाई जाती है। अधिकांश किसान अपने धन्धे को स्वयं अपने बाल-बच्चों सहित ही किया करते हैं। केवल कुछ अवसरों पर—जैसे निराई, निकाई, कपास का बीनना, फसलों का काटना अथवा मिट्टी चढ़ाना—बाहर से कुछ मज़दूर अपने काम में लगाते हैं। और अगर वह अपने व्यवसाय को आधुनिक रीति और कलों द्वारा करता है तो बाहर के मज़दूरों की संख्या भी उसी अनुपात में घट जाती है। बड़े-बड़े ज़मीन्दार अथवा उच्च वर्ग के मनुष्य इसके अपवाद हैं। खेती-बारी के लिए उन्हें प्रायः मज़दूरों पर ही आश्रित रहना पड़ता है।

फसलों के विक्रय में

(१) खेती की उपज बहुधा शीघ्र नष्ट हो जाने वाली (Perishable) होती है। दूसरी बात यह है कि यह उपज प्रायः अव्यवस्थित किसानों के छोटे-छोटे खेतों में उत्पन्न होती है, अतः मात्रा में बहुत थोड़ी हुआ करती है। इतनी थोड़ी मात्रा की उपज को उपभोक्ता तक पहुँचाने में बहुत व्यय होता है। अतः खेती के

व्यवसाय में फसलों को बेचने के लिए व्यापारी, आढ़ती, दलाल आदि कई व्यक्तियों का आश्रय लेना होता है, जिससे लागत के मूल्य में और भी वृद्धि हो जाती है। निर्धन किसानों के पास सामान को गोदामों में रखने की ठीक व्यवस्था नहीं होती, अतः वे खलिहान पर ही या कुछ दिनों के अन्दर अपनी फसल को सस्ते मूल्य पर उपरोक्त किसी व्यक्ति के हाथ बेच देते हैं।

अन्य व्यवसायों में उत्पत्ति अधिकतर बड़ी मात्रा में की जाती है। व्यवसायी साधन-सम्पन्न होते हैं। वे काफी समय तक अपने गोदामों में उस माल को सुरक्षित रख सकते हैं। बने हुए माल के व्यापार में उपभोक्ता तक पहुंचाने के लिए इतनी बड़ी शृंखला की आवश्यकता नहीं होती है। अतः लागत मूल्य में भी विशेष परिवर्तन नहीं होता है।

(२) खेती की उपज प्रायः तोल में भारी और आकार में बड़ी होती है, अतः काफ़ी स्थान घेरती है। इनको एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाने में बने हुए माल की अपेक्षा अधिक असुविधा रहती है और भाड़े (किराये) में काफी दाम खर्च हो जाते हैं। यद्यपि सरकार ने अब कुछ ऐसे नियम बना दिये हैं जिसमें खेती की उपज को काफ़ी सुविधाएँ प्राप्त हो गई हैं और जिनके ले जाने में अधिक मूल्य नहीं लगता, फिर भी उपभोक्ता उस वस्तु का जो मूल्य देता है, उसमें अनुपात की दृष्टि से मूल्य का अधिक भाग उस पदार्थ के आने-जाने में ही व्यय होता है।

(३) अन्य व्यवसायों की अपेक्षा खेती में सहयोग और सहकारिता की भावना इतनी जागृत नहीं है। बहुत-से देशों में तो—जैसे, भारतवर्ष, चीन, बरमा—संघशक्ति बहुत ही कम है अथवा बिल्कुल ही नहीं है। अतः किसानों को अपनी फसलों को बेचने में पग-पग पर कठिनाई उठानी पड़ती है। व्यापार में ऐसी बात नहीं है। यहाँ संघ-शक्ति द्वारा ही प्रत्येक कार्य किया जाता है।

खेती-बारी को हम दूसरे शब्दों में वनस्पति की उत्पत्ति भी कह सकते हैं।

कृषि-अर्थशास्त्र भी कला और विज्ञान, दोनों ही है

वनस्पति-विज्ञान (Botany) के अनेक निर्धारित नियम होते हैं। उदाहरणके लिए, सूर्य के प्रकाश के बिना वनस्पति का उगना कठिन ही नहीं असम्भव भी है। ये नियम प्रयोगशाला (Laboratories) में सिद्ध किये जा चुके हैं। इनकी

परीक्षा हम व्यावहारिक जीवन में खेती तथा प्रकृति में भली भाँति कर सकते हैं। हम सब को दैनिक जीवन का यह अनुभव है कि साये (Shade) में कोई वनस्पति अच्छी तरह नहीं पनपती है। इसी तरह भूमि को सुधारने के लिए शोरे का प्रयोग (Molasses) रसायनशाला (Chemical Laboratories) में सिद्ध किया जा चुका है; और दलदली भूमि (Swamps) में हल चलाना हानिकर है तथा रेतीली और चिकनी मिट्टी की भूमि को सुधारने के लिए हरे खाद (Green manuring) और चूने (Lime) का प्रयोग उपयोगी रहता है, ये बातें भी सर्व-विदित हैं और विज्ञान की सहायता से सिद्ध की जा चुकी हैं। इस प्रकार के नियम ही हमारे इस शास्त्र के आधार-स्तम्भ हैं। अतः सार्वजनिक अर्थशास्त्र की अपेक्षा यह कई अंशों में बिल्कुल ही विज्ञान की कसौटी पर (प्रयोगशाला में बैठ कर) सही उतरता है।

कला की दृष्टि से भी हमें इस शास्त्र में अपनी भूमि, फसल की उत्पत्ति, पशुओं की नस्ल-सुधार, कीड़ों और रोगों से बचने और उन्नति करने के उपाय मिलते हैं। इन उपायों को प्रयोग में लाकर अनेक देशों ने आशातीत उन्नति कर दिखाई है। भूमि सम्बन्धी नियमों में परिवर्तन और संशोधन करके आज पाश्चात्य देशों में भूमि को एकचक (Consolidation of Holdings) किया जा रहा है। वैज्ञानिक रीति और कलों की सहायता से वहाँ विस्तृत खेतों (Large farms) में खेती-बारी होती है। उन्नतिशील हल, बैल और बीजों का प्रयोग कर भारत में भी कई स्थान पर कई गुनी अधिक उत्पत्ति बढ़ा ली जाती है। अतः इस शास्त्र में रसायन-शाला के प्रयोगों और अनुभवों को व्यवहार में लाने का और उनसे सुख-संवृद्धि करने का हमारे व्यावहारिक जीवन में विस्तृत क्षेत्र है।

कृषि-अर्थशास्त्र का महत्व

कृषि-अर्थशास्त्र सम्बन्धी आर्थिक विशेषताओं को जान लेने के बाद हमें यह भली भाँति ज्ञात हो जाता है कि खेती-बारी में और अन्य व्यवसायों में कई विभिन्नताएँ हैं। इस व्यवसाय में किसान को सदा-सर्वदा प्रकृति पर ही आश्रित रहना पड़ता है। अब तक वह उसमें कोई आशाजनक अथवा विशेष परिवर्तन नहीं कर सका है। भविष्य में भी खेती अन्यान्य रूप से प्रकृति के अधीन रहेगी, इसमें

किंचित भी संशय नहीं है। हम यह भी बता चुके हैं कि संसार के अधिकांश मनुष्य अब भी इस धन्धे से अपना भरण-पोषण करते हैं। ऐसी अवस्था में इसका कितना अधिक महत्व है, यह लिखने की बात नहीं है। इसकी उपेक्षा करने से कितनी क्षति होगी, यह भी अनुमान करने का विषय है।

इसके अध्ययन के उद्देश्य

इस शास्त्र के अध्ययन के दो प्रधान उद्देश्य हैं। प्रथम काल्पनिक और दूसरा व्यावहारिक है। काल्पनिक उद्देश्य इस शास्त्र से सम्बन्धित वैज्ञानिक नियमों का अन्वेषण करना और किसी सत्य को ढूँढ़ निकालना है। किन-किन कारणों के होने से फसलों की उत्पत्ति, भूमि की उर्वराशक्ति इत्यादि को हानि पहुँच सकती है और उन कारणों का निराकरण किस रीति से किया जा सकता है। कितनी उपज होनी चाहिये और उतनी उत्पत्ति किन उपायों से बढ़ाई जा सकती है। अपनी उपज को कब, कहाँ और कैसे बेचा जाये, ये सब काल्पनिक अध्ययन के विषय हैं।

व्यावहारिक क्षेत्र में इस शास्त्र के अध्ययन का उद्देश्य देश और राष्ट्र की सम्पत्ति में वृद्धि करना है। इस सम्पत्ति के बढ़ाने में फसलों की उपज से लेकर उपभोक्ता तक पहुँचाने वाली जितनी भी क्रियाएँ हैं, उन्हें सरल करना है। राष्ट्रीय सम्पत्ति (National wealth) की वृद्धिप्रति एकड़, प्रति मनुष्य, प्रति जान–वर तथा प्रत्येक मशीन द्वारा आय के बढ़ाने या यातायात के साधनों में सुधार करके व्यापार के खर्च को कम करने तथा खेती के व्यवसाय के सुधार पर ही निर्भर है।

यातायात और संवाद-वाहन के साधनों में सुधार हो जाने के कारण आज एक देश दूसरे देश के बहुत ही समीप आ गया है। खेती के ढंग भी वस्तुतः बदल रहे हैं। अब किसान अपने खाने के अतिरिक्त भी उत्पत्ति करता है और उस उपज को वह अच्छे मूल्य पर अन्तर्राष्ट्रीय बाज़ारों में भेजता है। इस प्रकार अधिक आय हो जाने पर वह अपनी उपज को भी बढ़ाता है तथा अपनी विलासिता के पदार्थों को भी खरीदता है। अतः अगर इस शास्त्र की व्यावहारिक बातों का ज्ञान किसानों को भली भाँति करा दिया जाये तो यह निश्चय है कि वे भी अन्य व्यवसाय वालों के समान सुखी और सम्पन्न हो सकते हैं।

भारतवर्ष में इस कृषि-अर्थशास्त्र के अध्ययन की विशेष आवश्यकता

भारतवर्ष जैसे कृषि-प्रधान देश में, जहाँ की लगभग ८७ प्रतिशत जनसंख्या का भरण-पोषण केवल खेती-बारी से होता है, और जहाँ के अधिकांश निवासी सात लाख गाँवों में निवास करते हैं, इस शास्त्र के अध्ययन की आवश्यकता स्वयंसिद्ध है। वर्तमान परिस्थितियों में जब देश की आर्थिक अवस्था निरन्तर शोचनीय होती चली जा रही है, उनके नित्य के व्यवहार में आनेवाले इस शास्त्र का समुचित ज्ञान होना उनके लिए परम आवश्यक है।

आज अगर हम अपनी जनसंख्या के विषय में विचारें तो हमें यह विदित हो जायेगा कि गत पचास वर्षों में हमारी संख्या में अत्यन्त वृद्धि हुई है और उसमें बड़ी तीव्र गति से निरन्तर वृद्धि होती जा रही है। सन् १९०१ में हमारी संख्या २९.५ करोड़ थी जो सन् १९४१ में बढ़ कर लगभग ३८.८३ करोड़ हो गई और सन् १९४७ तक इस संख्या का अनुमान लगभग ४२ करोड़ था। हमारी संख्या में प्रतिवर्ष लगभग ५.० लाख की वृद्धि होती है। दूसरी ओर भोजन का प्रश्न सामने आता है। हमारे भोजन की अवस्था दिन-प्रतिदिन शोचनीय होती चली जा रही है। खेती के योग्य भूमि में वृद्धि अवश्य हुई है, किन्तु वह अधिक नहीं हुई है। क्षेत्रफल में जो वृद्धि हुई है उसमें अधिकांश जंगल भी काट दिये गये हैं। इस प्रकार यह वृद्धि एक राष्ट्रीय क्षति करने के बाद ही हुई है। अतः बढ़ती हुई जनसंख्या के अनुपात में हमारी भोजन-सामग्री की उपज नहीं बढ़ रही। हमें आज अपने भोजन के लिए दूसरे देशों के आगे हाथ फैलाना पड़ रहा है और इधर कई वर्षों से अनाज का आयात डेढ़ सौ करोड़ रुपयों से भी अधिक हो रहा है। भारत जैसे खेतिहर देश के लिए यह लज्जा की बात है। इस अधोगति का कारण हमारी अशिक्षा और निर्धनता है। देश के विभाजन के बाद अब हमारी आर्थिक अवस्था और भी अधिक दयनीय हो गई है।

इतना ही नहीं; हमारे देश की और भी कई आर्थिक समस्याएँ हैं जिनका सम्बन्ध सीधे कृषि-अर्थशास्त्र से है। निर्धनता और अशिक्षा के कारण हमारे देश के रहन-सहन का स्तर तो गिरा हुआ है ही; इसके साथ ही हमारी भूमि सम्बन्धी अनेक नई समस्याएँ उठ खड़ी हुई हैं। भूमि की उत्पादन-शक्ति में निरन्तर ह्रास

हो रहा है। यहां के खेत छोटे-छोटे और विभाजित हैं। वे गाँव में चारों ओर बिखरे हुए रहते हैं। अतः हमारे किसान उनका समुचित प्रबन्ध नहीं कर पाते। इन दुष्प्रबन्धों के कारण वर्षा, पानी और हवा के वेग के साथ उपजाऊ भूमि व्यर्थ ही बह जाती है, जिसे हम भूमि का बहाव (Soil Erosion) कहते हैं ।

सिंचाई संबन्धी हमारी समस्याएँ अलग हैं। कहीं तो सिंचाई का उचित प्रबन्ध न होने के कारण किसान मानसूनी वर्षा की ओर टकटकी लगाये देखते हैं, तो दूसरी ओर जहाँ नहरों से सिंचाई का प्रबन्ध है वहां वे अपनी फसलों में बहुधा अधिक पानी दे देते हैं। दोनों ही दशाओं में फसलों की हानि हो रही है। जिन भागों में नहरें खोली गई हैं, वहाँ पर पानी के निकास का उचित प्रबन्ध नहीं है, अतः वहाँ की भूमि ऊसर और क्षार-युक्त होती जा रही है।

खेती का मूल धन (स्थायी मूलधन और अस्थायी मूलधन दोनों ही) भी समय को देखते हुए बहुत पुराने ढंग का है। उनमें भी अब समयानुकूल परिवर्तन की आवश्यकता है। उत्पत्ति के साधनों और क्रियाओं, दोनों में ही सुधार की जरूरत है।

सरकार द्वारा भी अब तक यह व्यवसाय उपेक्षित रहा है। जिस राष्ट्र की नींव खेती और खेती करनेवालों पर निर्भर है, उस देश के व्यवसाय पर केवल ९ पाई प्रति एकड़ खर्च होता आया है, इतनी आश्चर्यजनक बात कदाचित इस धरातल के किसी सभ्य देश में न मिलेगी। अतः इन सब बातों के अध्ययन, उनके निराकरण के उपाय सोचने और विचारने के लिए भारत जैसे कृषि-प्रधान देश में अर्थशास्त्र के इस उपांग के व्यावहारिक ज्ञान की परम आवश्यकता है। हमारी निर्धनता का मूल कारण कृषि-अर्थशास्त्र की उपेक्षा मात्र ही है।

पाँचवाँ अध्याय

आर्थिक जीवन का विकास[1]

हममें से प्रत्येक मनुष्य की कुछ न कुछ आवश्यकनाएँ होती हैं। अपनी इन आवश्यकताओं की पूर्ति के निमित्त ही मनुष्य सतत् उद्योग करता रहता है, जिनके परिणाम-स्वरूप उ-से सुख और संतोष की प्राप्ति होती है, अर्थात् उसकी आवश्यकताएँ तृप्त हो जाती हैं। अस्तु, यह स्पष्ट है कि आवश्यकताओं के कारण ही मनु को उद्योग करने पड़ते हैं, अर्थात् मनुष्य की विविध प्रकार की आवश्यकताएँ ही उसके उद्योग की जननी हैं और उनके परिणाम-स्वरूप ही उसे सन्तोष मिलता है। यही अर्थशास्त्र का मूल सिद्धान्त है।

अति प्राचीन काल में प्रत्येक मनुष्य अपनी आवश्यकता की पूर्ति स्वयं ही कर लिया करता था। अब भी कुछ देशों की बर्बर जातियाँ ऐसी हैं जिनकी बहुत ही परिमित आवश्यकताएँ होती हैं। अपनी उन आवश्यकताओं की पूर्ति वे स्वयं ही थोड़े-से उद्योग द्वारा कर लेते हैं। किन्तु वर्तमान काल में अधिकांश व्यक्तियों की आवश्यकताओं, उनके लिए किये गये उद्योग और उनसे मिलनेवाले सन्तोष में ऐसा सीधा सम्बन्ध नहीं दिखाई पड़ता। आज जब किसान को अपने मकान के बनाने के लिए चूना अथवा ईंट चाहिये तो वह अन्य उत्पादक साधनों पर इसके लिए आश्रित है। इसी प्रकार एक जुलाहा जो अन्न उत्पन्न नहीं करता, किन्तु कपड़ा तैयार करता है, अपने भोजन के लिए किसान अथवा महाजन पर आश्रित रहता है। आज प्रत्येक मनुष्य किसी उद्योग-विशेष में लगा हुआ है और अपनी विविध आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए वह अन्य व्यक्तियों के उद्योग पर आश्रित है। अतः आज वह अपनी आवश्यकता की सब वस्तुएँ स्वयं न बनाकर, अपनी बनाई हुई वस्तुओं से दूसरों की बनाई हुई वस्तु को अदल-बदल (Barter) कर सन्तोष प्राप्त करता है।

1. Development of Economic life.

अब हम प्रारम्भिक अवस्था से आज तक हमारे जीवन में जो आर्थिक परिवर्तन हुए हैं, उनका वर्णन करेंगे।

आरम्भ में मनुष्य की आवश्यकताओं, उनकी पूर्ति के लिए किये गये प्रयत्नों तथा उनसे होने वाले सन्तोष का सम्बन्ध बिल्कुल सीधा था। जब उसे भूख लगती थी तो वह अपनी क्षुधा को शान्त करने के लिये स्वयं ही प्रयत्न करता था। लकड़ी अथवा लम्बे बाँस की सहायता से वह फल-फूल तोड़ता था, उन्हें नुकीला बना कर उनसे वह पशुओं का और मछलियों का शिकार करता था। कहने का तात्पर्य है कि अपनी उदर-पूर्ति के लिए वह इन साधारण उपायों पर ही निर्भर रहता था। आखेट किया अथवा फल तोड़े और उनको खा लिया। भूख शान्त हो गई। इसी प्रकार उसकी अन्य आवश्यकताओं के सम्बन्ध में भी सीधे उद्योग और सन्तुष्टि का नियम लागू रहता था। आँधी, वर्षा, शीत और ताप से बचने के लिए वह स्वयं गुफा और झोंपड़ी का निर्माण करता था। वल्कल-वस्त्र पहनता था, अथवा बहुत हुआ तो मारे हुए जानवरों का माँस खाकर उन्हींके चमड़े को उतार कर पहन लेता था। आवश्यकताएँ अत्यन्त ही परिमित थीं; उनकी पूर्ति के लिए साधारण परिश्रम करना पड़ता था और सन्तोष प्राप्त कर लेता था। इस व्यतिक्रम को हम निम्न प्रकार स्पष्ट कर सकते हैं :—

पहली स्थिति— सीधा उद्योग
Direct Effort Stage

आवश्यकता — उद्योग — सन्तोष

मान लीजिये किसी दल का व्यक्ति-विशेष बीमार पड़ गया अथवा हिंसक पशु के वार से या पेड़ से गिरने के कारण उसे चोट लग गई। ऐसी स्थिति में वह अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कोई प्रयत्न नहीं कर सकता। अब उसे दूसरे व्यक्ति पर अपने भोजन के लिए आश्रित हो जाना स्वाभाविक ही है। यहां से अब कुछ अदल-बदल की भावना के अंकुर विकसित होते हैं। वह अपने दल के व्यक्तियों के लिए बैठे-बैठे शस्त्रास्त्र अथवा अन्य औज़ारों को बनाता था जिसके बदले में उसे वे लोग फल और माँस लाकर दिया करते थे। अतः उसके भोजन की व्यवस्था तो इस प्रकार औज़ारों और शस्त्रों द्वारा पूर्ण हो गई

दूसरी स्थिति— अप्रत्यक्ष उद्योग
Indirect effort Stage

धीरे-धीरे उनमें से कुछ ने अपना सारा श्रम एक ही प्रकार के कार्य के करने में लगाना आरम्भ कर दिया। अर्थात् श्रम-विभाजन की प्रणाली के अनुसार कार्य करना शुरू किया। इस प्रकार वे अपनी प्रत्येक आवश्यकता की पूर्ति के लिए स्वयं उद्योग न कर दूसरों के उद्योग पर आश्रित रहने लगे और विनिमय (अदल-बदल) की प्रथा द्वारा वे अपनी प्रत्येक आवश्यकताओं को पूर्ण करने लगे। अतः इस स्थिति में उद्योग और सन्तोष के बीच में एक भेद उपस्थित हो जाता हैं, जो एक वस्तु के लिए दूसरी वस्तु के विनिमय से पूरा किया जाता है। इस परिवर्तन को हम निम्न विधि से प्रगट कर सकते हैं :—

आवश्यकता — उद्योग — विनिमय — सन्तोष

अर्थात् आवश्यकता की पूर्ति के लिए प्रयत्न किया गया। उस उद्योग से कोई वस्तु उत्पन्न कर ली गई जो अपनी आवश्यकता के पदार्थ से बदली जा सके। इस प्रकार विनिमय से प्राप्त वस्तु द्वारा उसको सन्तोष प्राप्त हुआ। इसकी विशेष बात यह है कि एक दल के समस्त व्यक्ति मिल-जुल कर अपने दल के सभी व्यक्तियों की प्रत्येक आवश्यकता-पूर्ति के लिए उद्योग करते थे और प्रत्येक मनुष्य अपनी व्यक्तिगत आवश्यकताओं के तमाम पदार्थ स्वयं उत्पन्न नहीं करता था।

आर्थिक विकास की इस तीसरी स्थिति के आते-आते उनका मानसिक विकास काफी बढ़ चुका था। वे अब अनुभव करने लगे कि व्यक्तिगत प्रयत्नों की अपेक्षा सामूहिक प्रयत्नों से अधिक उत्पत्ति की जा सकती थी और फलतः अपनी अधिक आवश्यकताओं को सरलता और सुगमता पूर्वक पूर्ण किया जा सकता था। ऐसे विचारों के फल-स्वरूप वे मिल-जुल कर परस्पर सहयोग से काम करने लगे और विविध प्रकार के उद्योगों के करनेवालों के पृथक-पृथक संघ स्थापित हुए।

तीसरी स्थिति-औद्योगिक संघ

इस अवस्था में आकर श्रम–विभाग और भी सूक्ष्म हो जाता है। कोई एक व्यक्ति अपने हिस्से के काम को आदि से अन्त तक स्वयं न करता था। उदाहरण के लिए, अगर एक हल तैयार करना हो तो एक व्यक्ति केवल जंगल से लकड़ी लायेगा; दूसरा उसे काटेगा, तीसरा छीलेगा और चौथा उसके भिन्न-भिन्न भाग बनायेगा। इसी प्रकार एक मनुष्य भट्ठी गर्म करने और धौंकनी चलाने को नियत था, दूसरा हथौड़ा

चलाने के लिए और तीसरा हल की फाल बनाता था। अतः एक संघ के मनुष्य परस्पर मिलकर एक वस्तु को बनाने का बीड़ा लेते थे। यही अवस्था अन्य पदार्थों के लिए भी थी। एक संघ वस्त्र बनाने का कार्य करता था, तो दूसरा मिट्टी के और तीसरा धातु के बर्तन तथा अन्य सामान तैयार करता था। इस तरह वे आपस में अपनी आवश्यकता के सब सामान बना लिया करते थे। उनके बदले में जो पदार्थ या वस्तुएँ उन्हें मिलती थीं, उन्हें वे आपस में (जिन्होंने उस पदार्थ के बनाने में सहयोग दिया है) बाँट लेते थे।

अतः इस काल में उद्योग और सन्तोष के बीच में विनिमय के साथ-साथ वितरण सम्बन्धी एक और अन्तर जुड़ गया। सन्तोष होने से पहले विनिमय और फिर वितरण होगा तब अन्त में सन्तोष या तृप्ति होगी। इसे हम यों स्पष्ट कर सकते हैं :—

आवश्यकता —	उद्योग — विनिमय	(सन्तोष) —वितरण—	सन्तोष
(व्यक्तिगत)	दल के सदस्य के रूप में मिल-जुल कर	दल की आवश्यकताओं का	व्यक्तिगत आवश्यकता का

यहाँ व्यक्तिगत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जो प्रयत्न भिन्न-भिन्न व्यक्ति करेंगे वह दल अथवा संघ के सदस्य के रूप में होगा और परस्पर सहयोग की भावना रहेगी। इस पारस्परिक उद्योग के फल-स्वरूप जो पदार्थ उन्हें मिलेंगे उनका सामूहिक रूप से वितरण किया जायेगा। उनके विनिमय से जो पदार्थ अन्त में उन्हें प्राप्त होंगे वे उद्योग करनेवाले व्यक्तियों में बाँटे जायेंगे जिससे मनुष्य अपनी व्यक्तिगत इच्छाओं को तृप्त करेगा।

इस प्रकार उन्नति करते-करते समाज में वस्तुओं के परस्पर विनिमय का स्थान धन (रुपये-पैसे) ने ले लिया। वर्तमान काल इस चौथी स्थिति का ही दृष्टान्त है।

चौथी स्थिति-रुपये-पैसे का प्रयोग

अब वस्तुओं की अदल-बदल मुद्रा के माध्यम द्वारा होती है। प्रत्येक व्यक्ति अथवा समुदाय को उसके प्रयत्नों का पारिश्रमिक अब रुपये-पैसे में मिलता है। इस धन की सहायता से वह अपनी विभिन्न आवश्यकताओं को पूर्ण करता है। अतः इस वर्तमान स्थिति तक पहुंचने में प्रत्यक्ष रूप से तीन परिवर्तन हो गये हैं। मनुष्य

अपनी आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए प्रयत्न करता है। इसके बदले में उसे धन प्राप्त होता है। यह धन उसे अपने सहयोगियों में वितरित करने के उपरान्त ही मिलता है। अन्त में अपने इस भाग के धन से वह अपनी आवश्यकताओं को पूर्ण करनेवाले पदार्थों को खरीदता है और अपनी तृप्ति करता है। अतः अपनी इस वर्तमान स्थिति को हम निम्न प्रकार प्रदर्शित कर सकते हैं —

आवश्यकताएँ —	उद्योग —	आय —	आय —	सन्तोष
व्यक्तिगत	समाज के सदस्य के रूप में	समूह अथवा दल की सामूहिक आय	व्यक्तिगत	व्यक्तिगत आवश्यकताओं का

इस प्रकार व्यक्तिगत परिश्रम करने पर आय की प्राप्ति होती है और आय से प्राप्त इस धन को व्यय करके वे पदार्थ खरीदे जाते हैं, जिनकी आवश्यकता मनुष्य को होती है। आज हमारी प्रत्येक आवश्यकता की पूर्ति होने तक हमें इन सब स्थितियों से होकर गुज़रना पड़ता है। यही हमारे आर्थिक जीवन का विकास है। अतः जो सरल जीवन हमारे पूर्व पुरुषों का था, वह अब हमारा नहीं रह गया है। अब हम अपने समाज की आर्थिक व्यवस्था का वर्णन करते हैं।

समाज की आर्थिक व्यवस्था का इतिहास

हमारा आर्थिक जीवन सदैव एक-सा नहीं रहा। इस सभ्य संसार को अपनी इस अवस्था तक पहुंचने में कई शताब्दियों का समय लगा है। हमारे पूर्वज (आदिम निवासी) क्या थे, उनका आर्थिक जीवन किस प्रकार का रहा होगा, और आज हमारी दशा कैसी है, इन दो सीमाओं के बीच कई प्रकार परिवर्तन हुए हैं। मनुष्य के आर्थिक जीवन के इस विकास (Development of Economic life) में निम्न पाँच प्रकार के परिवर्तन हुए हैं :—

१—आखेटावस्था (Hunting Stage)

२—पशु-पालन-अवस्था (Pastoral Stage)

३—कृषि-कर्म की अवस्था (Agricultural Stage)

४—शिल्पी-जीवन (Handicrafts Stage)

५—व्यावसायिक जीवन (Industrial Stage)

इनके वर्णन करने से पूर्व यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि प्रत्येक देश में एक क्रम एक साथ ही आरम्भ तथा समाप्त नहीं हुआ, अथवा किसी देश में एक क्रम के समाप्त होते ही एक साथ दूसरा नहीं आ गया। हरेक देश के आर्थिक जीवन का विकास भिन्न-भिन्न रहा है।

आखेटावस्था (मांसाहारी अथवा कन्द-मूल सेवन करने वाले)—आदिम काल में मनुष्य निरा बर्बर और जंगली था। न तो वह एक दूसरे के साथ मिल कर ही रहता था; और न वह पशु-पालन और खेती-बारी का काम ही जानता था। प्रत्येक मनुष्य की सीमित आवश्यकताएँ (भोजन और तन को ढँकना) होती थीं जिन्हें वह स्वयं ही बिना किसीकी मदद के पूर्ण कर लेता था। अपने भोजन की तलाश में वह इधर-उधर घूमता-फिरा करता था, और जहाँ-कहीं उसे फल-फूल मिलते थे उन्हें तोड़ कर खा लेता था। कभी-कभी पत्थर, लोहे आदि के अस्त्रों से मछली या हिंसक पशुओं को मारता था, और अपनी भूख शान्त करता था। बानरों की भाँति या तो वह वृक्षों के खोखलों में रहता था, अथवा कन्दराओं और खोहों में जीवन व्यतीत करता था। बनैले पशुओं की चमड़ी अथवा वृक्षों की पत्तियों से वह अपना तन ढँकता था। अतः वह अर्द्ध-नग्न मारा-मारा इधर-उधर पशुओं का आखेट कर या जंगली फल-फूल खाकर जीवन-यापन करता था।

इस समय किसी की कोई वैयक्तिक धन या सम्पति नहीं थी और न कोई स्थिर घर-द्वार ही था। बचत का किसीको भी किंचित ज्ञान नहीं था। श्रम-विभाजन का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता था। जनसंख्या बहुत कम थी। इस काल को हम निराश्रित अवस्था भी कह सकते हैं। मनुष्य अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए थोड़ा-बहुत प्रयत्न कर उसे पूर्ण कर लेता था।

पशु-पालन-अवस्था (अस्थिर जीवन)—धीरे-धीरे जन-संख्या में वृद्धि होने लगी और उसने मिल-जुल कर टोली और जत्थों में रहना सीखा। बनैले पशुओं की हिंसा के स्थान पर अब उसने पशु-पालन आरम्भ किया। गाय, भैंस, भेड़, बकरी आदि के दूध से उसके भोजन की चिन्ता कम हुई। मछलियाँ पकड़ने के लिए अब उसने नाव और जाल बनाना आरम्भ किया। जीवन अब भी स्थिर नहीं था। चारे की खोज में उसे एक स्थान से दूसरे स्थान पर दौड़ना पड़ता था, फिर भी कुछ

समय तक वे एक ही स्थान पर तंबू अथवा डेरों में सम्मिलित जीवन व्यतीत करने लगे। भूमि पर अभी तक किसी का व्यक्तिगत अधिकार नहीं था, वह अब भी सम्मिलित सम्पत्ति मानी जाती थी; फिर भी पशु धन अवश्य माना जाता था। यही बड़प्पन का एकमात्र चिन्ह था। हालाँकि जन-संख्या बढ़ चली थी, तो भी न तो श्रम-विभाजन था, न बाज़ार और न किसी प्रकार का व्यापार ही था। अन्तर केवल इतना ही था कि कभी-कभी अदला-बदली द्वारा एक दूसरे की सेवा का उपयोग कर लेते थे। अगर कोई व्यक्ति बीमार पड़ने अथवा चोट लग जाने के कारण बाहर नहीं निकल सकता था या अपने काम करने में असमर्थ हो जाता था तो वह अपने स्थान पर ही रहकर कोई ऐसा उपयोगी काम या सेवा करता था—जैसे बैठे-बैठे अस्त्र बनाना, अथवा दूसरे के घर की रखवाली करना, आदि—जिसके बदले में उसे पेट भरने को भोजन मिल जाता था।

कृषि-कर्म का जीवन—अस्थिर जीवन का क्रम लगभग दसवीं शताब्दी तक चलता रहा। जनसंख्या में धीरे-धीरे और वृद्धि होने लगी। मनुष्य इधर-उधर घूम कर अधिक दिनों तक सुखी न रह सका। एक स्थान का चारा अथवा घास समाप्त होते ही उसे वह स्थान छोड़ कर चल देना पड़ता था। फल-स्वरूप धीरे-धीरे उसने अब एक स्थान पर ही रहकर अपने बैल और घोड़ों से खेती का काम करना सीखा। भूमि के जोतने और बोने के बाद जब फसल तैयार हुई तो उसे वहीं ठहरने की आवश्यकता अनुभव हुई। इस प्रकार उसके अस्थिर जीवन में स्थिरता आई। भूमि अभी तक नई थी, अतः प्रचुर मात्रा में भोजन वस्त्र आदि की सामग्री थोड़े-से परिश्रम करने पर ही मिल जाती थी। इस अतिरिक्त भोजन सामग्री में दूसरों का भी जीवन-निर्वाह हो सकता था। इस प्रकार खेती करनेवाले मनुष्यों के अतिरिक्त उनके व्यवसाय में सहायता देनेवाले और भी कुछ मनुष्य धीरे-धीरे वहां आकर बसने लगे। इन सहायकों में कुछ तो श्रमिक होते थे और शेष बढ़ई, लुहार, चमार आदि कारीगर होते थे, जो किसानों के व्यवहारोपयोगी वस्तुएँ बनाया करते थे। इस प्रकार के छोटे-छोटे जत्थे ही बाद में गाँवों में परिणत हो गये। इन व्यक्तियों की आवश्यकताएँ वैसे तो पहली अवस्था वाले मनुष्यों से अधिक थीं, किन्तु फिर भी बहुत अंशों में सीमित ही थीं। अपनी इन साधारण आवश्यकताओं की

पूर्ति यथा-सम्भव ये स्वयं ही कर लेते थे, किन्तु फिर भी जीवनोपयोगी और अन्य आवश्यक पदार्थ जो वहां नहीं मिलते थे, उन्हें व्यापारी बाहर से लाकर बेचते थे। इस प्रकार के स्वावलम्बी गाँव भारत में तो आज से पचास वर्ष पूर्व तक भी थे, और इङ्गलैण्ड आदि पाश्चात्य देशों में भी औद्योगिक क्रान्ति (Industrial revolution) तक रहे।

आर्थिक जीवन के इस युग में हम पिछले कालों से बहुत-कुछ भिन्नता देखते हैं। अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के निमित्त वे परिश्रम करते थे, उत्पत्ति को वे अपने सहायक व्यक्तियों में विभाजित करते थे (बदले में उनसे सेवा कराते थे) और अन्त में उनकी इच्छाएँ तृप्त होती थीं।

शिल्पी-जीवन—जैसे-जैसे जीवन स्थिर होता गया, मनुष्य की आर्थिक उन्नति भी क्रमशः होने लगी और फलस्वरूप अब उसकी आवश्यकताएँ भी पहले की अपेक्षा बढ़ने लगीं। कृषि-जीवन में उसकी मुख्य आवश्यकताएँ भोजन और वस्त्र ही थीं, किन्तु आय के बढ़ने के साथ-साथ ही उसकी अनेक नई-नई आवश्यकताएँ बढ़ने लगीं। ये वस्तुएँ जिन पदार्थों से बनती हैं, वे अधिकांश में खेती द्वारा ही उत्पन्न होते हैं; कुछ चीजें बाहर से मँगानी पड़ती हैं। अतः कारीगर बहुधा ऐसे स्थानों पर जाकर बसने लगे जहाँ उन्हें कच्चा माल सुगमता से मिल सके। खेती से उत्पन्न कच्चे माल को प्रयोग में लानेवाले तो बहुधा गाँवों में या गाँव के निकट ही रहते थे; शेष नदियों के किनारे, राजधानियों या ऐसे ही अन्य केन्द्रों और उपयोगी स्थानों में बस गये, जहाँ पर उन्हें अपनी कला के लिए उपयोगी माल सुगमता से मिल सके, तथा वे अपने तैयार किये हुए माल को भी सुगमता से बाहर के व्यापारियों को बेचदें। बहुधा ये व्यापारी आपस में मिलकर रहते थे। इनके इस समुदाय को 'संघ' कहते थे। भारतवर्ष में ऐसे 'संघ' या 'श्रेणी' प्रायः नदियों के किनारे, राजधानियों या अन्य इन केन्द्रीय स्थानों में ही पाये जाते थे, जो बाद में विख्यात नगर बन गये। बनारस, मिर्जापुर, प्रयाग, कानपुर, आगरा, मथुरा आदि अनेक स्थान इसके उदाहरण हैं। नगरों की उन्नति के इतिहास में इन 'संघों' ओर 'श्रेणियों' का उल्लेखनीय हाथ रहा है।

ये कारीगर अपने परिवार के साथ स्वतन्त्र रूप से परिश्रम करते थे। श्रम-

विभाजन होने पर कभी-कभी ये दूसरों की सहायता भी लेते थे। पूँजी की कमी रहने के कारण इनकी उत्पत्ति प्रायः कम मात्रा (Small Scale Production) में ही होती है। अपनी उत्पत्ति का स्वामी वह स्वयं ही रहता है (किन्तु जहाँ वह दूसरों की मदद लेता है, वहाँ उन्हें उनके श्रम के लिए पारिश्रमिक देना पड़ता है)। इस अवस्था में पदार्थों की अदल-बदल में सुविधा न रहने के कारण मुद्रा का प्रयोग किया जानेलगा।

व्यावसायिक जीवन--लगभग १८ वीं शतादब्दी तक इङ्गलैण्ड आदि देशों में भी खेती और दस्तकारी द्वारा ही अधिकांश लोग अपना जीवन-निर्वाह करते रहे। वे अपने सामूहिक प्रयत्नों द्वारा मिल-जुल कर पदार्थों की उत्पत्ति करते थे। अपनी आवश्यकता को पूर्ण कर लेने के बाद जो भाग शेष बच रहता था, वह अन्य देशों से व्यापार करने के काम में आता था। १८ वीं शताब्दी में अनेकों आविष्कार हुए जिनमें मुख्य सन् १७६० में जेम्सवाट द्वारा वाष्प-यन्त्र और हारग्रीव का उन्नतिशील सूत कातने का चर्खा था। इनके फल-स्वरूप अब छोटे-छोटे कारखाने स्थापित हो गये, जहाँ पहले की अपेक्षा अधिक मात्रा में सुन्दर वस्तुएँ तैयार की जाने लगीं। माँग की अपेक्षा उत्पत्ति अधिक हो रही थी जिनकी खपत के लिए उपनिवेश जीते जाने लगे। इस प्रकार विजेता राष्ट्र इन पराजित उपनिवेशों में अपने माल को जहाजों पर लाद कर बेचने ले जाने लगे और बहुत शीघ्र ही ये छोटे-छोटे देश समृद्धिशाली बन गये।

ज्यों-ज्यों शक्ति से चलने वाली मशीनों की वृद्धि हुई बड़े-बड़े कल-कारखाने भी स्थापित होने लगे। फल यह हुआ कि देश के छोटे-छोटे व्यवसायों को, जहाँ पर कारीगर छोटी मात्रा में अपने पुराने यन्त्रों से काम करते थे, बड़ा धक्का पहुँचा। वे अब नष्ट होने लगे। मशीन द्वारा कम लागत पर वस्तुएँ तैयार होने लगीं। इस प्रकार सहस्रों-लाखों की संख्या में कारीगरों की जीविका को ठेस पहुँची। वे बेचारे अब असहाय होकर इन्ही कल-कारखानों में एकत्रित हो कर एक व्यक्ति या संस्था के लिए माल तैयार करने लगे। उन्हें अब माल खरीदने और बेचने से कोई प्रयोजन न रहा। बने हुए माल में उनका कोई अधिकार नहीं था

और न उनके मूल्य और लाभ से ही उनका कोई सम्बन्ध या सरोकार था। उन्हें तो केवल निश्चित वेतन मिलता था।

आज अनेक देशों में मशीन द्वारा ही सब व्यवसाय होते हैं। हमारे प्रति दिन की आवश्यक वस्तुएँ अनेक माध्यमों से गुजर कर हमारे पास पहुँचती हैं। श्रम-विभाजन, विनिमय, वितरण, अधिक पूँजी, अन्तर्राष्ट्रीय बाज़ार, आपस में स्पर्द्धा इत्यादि ने जीवन को एक विचित्र पहेली बना दिया है। आज हम अपने को मूक पाते हैं। एक छोटी-सी सुई न जानें कितने हाथों से घूम कर हमारे पास पहुँचती है। इसका इतिहास बहुत ही विस्तृत है। यही हमारा 'कल-युग' 'मशीन-युग' अथवा 'अर्थ-युग' है।

—*—

छठवाँ अध्याय

भारतवर्ष की खेती और आर्थिक जीवन का संक्षिप्त इतिहास

प्राकथन

खेती-बारी का उद्देश्य जीवन की मौलिक आवश्यकताओं को पूर्ण करना है। इस व्यवसाय द्वारा हमें अपने जीवन-निर्वाह के लिए भोजन मिलता है और उद्योग-धन्धों के लिए कच्चा माल प्राप्त होता है। इस व्यवसाय की खास विशेषता यह है कि यही क्रम सहस्रों वर्ष तक बिना किसी प्रत्यक्ष हानि के चलता रहता है। अपनी इसी भूमि पर हम आदि काल से फसलें उगाते आये हैं, और आज भी उगा रहे हैं किन्तु अभी तक वह अपनी अविच्छिन्न अवस्था में वर्तमान है। ऐसा अन्य व्यवसायों में शायद ही कहीं दृष्टिगत हो।

भारतवर्ष अब तक सात लाख गावों में बसता था और अब भी प्रधानतः यहाँ के निवासी गाँवों में ही बसते हैं। खेती-बारी ही यहाँ का मुख्य धन्धा सदा से रहा है। अब भी लगभग ८७ प्रतिशत मनुष्य इसी व्यवसाय पर अपनी जीविकाके लिए निर्भर हैं।

बंगाल के मालगुज़ारी के कमीशन के अनुसार भारतवर्ष में खेती का क्रम ५००० वर्ष पूर्व से चला आ रहा है। यहाँ पर आर्यों के आने से पूर्व भी द्रविड़ जाति के लोग धान का व्यापार करते थे। अतः भारत में खेती-बारी का इतिहास मिश्र और यूनान से भी पुराना है। खेती के इतिहास को हम निम्न तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं :—

प्राचीन काल—ईसा के २,००० वर्ष पूर्व से १,००० वर्ष बाद तक

मध्यकालीन—सन् १,००० से सन् १,९०० तक

अर्वाचीन काल—सन् १,८०० से अब तक

प्राचीन काल में गाँवों की व्यवस्था, संगठन और न्याय का भार पंचायतों के हाथ में रहता था। ये पंचायतें जनसंख्या की वृद्धि, आवश्यकता, तथा जाति-पाँति के अनुसार भूमि का बंटवारा करती थीं। खेती पर हमारा अपना आधिपत्य था और उसमें सदा उन्नति करने का प्रयत्न होता रहता था। सिंचाई के लिए नहरों और कुँओं को बनवाया जाता था, तथा पशुओं लिये अलग क्षेत्र थे। खाद का समुचित प्रयोग किया जाता था, अतः पैदावार अच्छी होती थी। रहन-सहन का स्तर (Standard of Living) ऊँचा था, मनुष्य स्वस्थ और सम्पन्न थे। परस्पर सहयोग और प्रेम की भावना थी और सर्वत्र समानता दिखाई पड़ती थी ।

प्राचीन भारत

मेगस्थनीज़ ने एक स्थान पर लिखा है—"यहाँ की अधिकाँश भूमि की सिंचाई होती है और प्रतिवर्ष दो फसलें उगाई जाती हैं। गेहूँ, धान आदि अनाजों के अतिरिक्त यहाँ ज्वार-बाजरा भी खूब उगाया जाता है और इन फसलों की भी सिंचाई होती है। अनेक प्रकार की दालें उगाई जाती हैं और विविध प्रकार के फल-फूलों के सुन्दर बगीचे हैं। पशुओं के लिए काफी चारा पैदा किया जाता है………। यहाँ न तो कभी दुर्भिक्ष पड़ा है और न कभी अनाज की कमी हुई है। प्रत्येक मनुष्य को काफी और स्वास्थ्यवर्द्धक भोजन करने को मिलता है । (प्राचीन भारत का इतिहास आर०सी०दत्त पृष्ठ १३०)

इसी प्रकार ईसा से पूर्व के भारत की खेती के विषय में चीनी यात्री फाहियान लिखता है—"यह देश अत्यन्त ही समृद्धिशाली है। यहाँ की भूमि बहुत ही

उपजाऊ है और यहाँ के निवासी बहुत ही सम्पन्न हैं तथा प्रसन्न रहते हैं…… ।" (फाहियान की यात्राएँ—एच०ए०गाइल्स पृष्ठ २७)

लगभग ऐसी ही अवस्था दूसरे चीनी यात्री ह्वान-स्वाँग ने बतलाई है जो फाहियान के बाद भारत में आया था।

मध्यकालीन भारत की खेती की अवस्था का परिचय हमें 'आयने अकबरी' और 'अकबरनामा' से मिल सकता है। उनके पढ़ने पर हमें विदित होता है कि इस देश में आनाज, कपास, गन्ना, तिलहन, फल-फूल की खेती बहुतायत से होती थी। यहाँ के निवासी अत्यन्त ही समृद्धिशाली थे। यही कारण था कि अनेक पाश्चात्य देशों को भारत के भाग्य से डाह होता था और वे इस देश से व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करने के लिए सदा ही लालायित रहते थे। मध्यकालीन भारत की खेती की अवस्था के विषय में बर्नियर लिखता है—"सारा देश उपजाऊ बाग-बगीचों के सदृश दिखलाई देता है। नाना प्रकार की सुन्दर और उपजाऊ फसलों और वनस्पति से घिरे हुऐ यहाँ के गाँव स्वावलम्बी हैं। यहाँ पर गेहूँ, धान, सन, केशर, सेव, नाशपाती आदि फलों और शाक-सब्ज़ियों की खेती होती है। पैदावार की मात्रा पर्याप्त से भी अधिक है।" आगे चलकर वह फिर लिखता है—"बंगाल में धान और गन्ने की खेती बहुत होती है जो गोलकुंडा, कर्नाटक, अरब, मैसोपोटामिया और फारस तक भेजी जाती हैं।" (मुगल साम्राज्य की यात्रा–एफ०बर्नियर, पृष्ठ ३९७)

मध्यकालीन भारत

आधुनिक समय में सन् १७९४ तक भी भारतीय खेती-बारी की अवस्था बड़ी उन्नति पर थी और अनेक घरेलू उद्योग-धन्धे भी खेती के साथ-साथ ही चलते थे। उस समय की अवस्था का वर्णन जो कोलब्रुक ने दिया है वह इस प्रकार है:—"यहाँ का किसान अपने लाभ और आराम पूर्वक जीवन व्यतीत करने के लिए केवल अनाजों की खेती पर ही आश्रित नहीं रहता है। अनेक ज़िलों में पशु-पालन का धन्धा किया जाता है तो औरों में शहतूत, गन्ना, तम्बाकू, अफीम, नील, कपास, रेशम की भी खेती की जाती है जिन्हें ये

आधुनिक भारत

अन्य देशों से व्यापार के लिए उगाते हैं । किसान सुखी और सम्पन्न हैं ।" (बंगाल का इतिहास—कोलब्रुक)

दूर न जाकर आज से ५० वर्ष पूर्व डाक्टर वोल्कर ने यहां की खेती की व्यवस्था की अत्यधिक प्रशंसा की थी ।

"......मैं भारतवर्षसे विशेषतः यहाँ की खेती के ढंग से, बहुत अधिक प्रभावित हूं । जिन रीतियों से यहाँ खेती की जाती है वह आश्चर्यजनक रूप से अच्छी हैं । कई दृष्टिकोण से यहां का औसत किसान अंग्रेज किसान से अच्छा है और हर प्रकार वह उसकी (अंग्रेज किसान) समता कर सकता है । यहाँ के कृषकों का खेती-बारी सम्बन्धी ज्ञान बहुत ही उच्चकोटि का है । वे अपने खेत को साफ-सुथरा (खर-पतवार से) रखते हैं, सिंचाई की रीति वे जानते हैं और अपनी फसलों के बोने और काटने का उन्हें पूरा-पूरा ज्ञान है । सब से आश्चर्यजनक बात यह है कि वे फसलों के हेर-फेर, 'मिश्रित कृषि' (mixed Crops) और खेतों को आराम देने की प्रथा को बड़ी सावधानी के साथ चलाते हैं । मुझे इतने परिश्रमी उद्योगशील (किसान) अन्य कहीं देखने को नहीं मिले ।"

इसी प्रकार और भी अनेक कमीशन और समितियाँ भारतीय किसान के परिश्रम और खेती करने के ढंग से प्रभावित हुई हैं । किन्तु आज हमारी अवस्था अत्यन्त शोचनीय हो चुकी है, इसमें किसी को भी सन्देह नहीं है । इसके मुख्य कारण ये हैं--एक तो जनसंख्या में निरन्तर वृद्धि हो रही है और इस बढ़ती हुई जन-संख्या को खेती-बारी का ही एक सहारा बचा है । अंग्रेजों की कूटनीति के कारण (अपने व्यापार में वृद्धि करने तथा अपनी वस्तुओं को भारत में बेचने के लिए) भारतीय घरेलू उद्योग-धन्धे सब नष्टप्राय हो चुके हैं । अतः यह बढ़ती हुई संख्या अन्त में जाकर भूमि और खेती का ही आश्रय लेती है । संयुक्त कुटुम्ब-प्रणाली का लोप हो चला है; अतः खेतों का विभाजन निरन्तर बढ़ता ही जा रहा है । इस विभाजन के परिणाम-स्वरूप खेत छोटे-छोटे टुकड़ों में बँटकर इधर-उधर बिखर गये हैं । नवीन शासन-प्रणाली के आ जाने से पंचायत भी अदृश्य हो गई और अंग्रेजों की नवीन शासन-व्यवस्था ने खेती सम्बन्धी समस्याओं को और भी जटिल कर दिया । पाश्चात्य देशों में उन्नतिशील मशीनों और वैज्ञानिक उपायों से खेती

की जा रही है और उन देशों में निरन्तर उपज बढ़ाने के प्रयत्न किये जा रहे हैं। संक्षेप में—

(१) संयुक्त कुटुम्ब-प्रणाली (Joint family System) का लोप होना।

(२) पंचायतों के स्थान पर विदेशी नियमों के न्यायालयों का स्थापित होना।

(३) घरेलू उद्योग-धन्धों का नष्ट होना।

(४) जन-संख्या में निरन्तर वृद्धि होना। ये ही हमारी निर्धनता के प्रमुख कारणहैं। इन सब कारणों का फल यह हुआ कि हमारे किसानों की आर्थिक अवस्था बिगड़ने लगी। छोटे-छोटे खेतों से भली भाँति जीविकोपार्जन नहीं हो पाता। निर्धनता के साथ निरक्षरता ने भी जोर पकड़ा और फल यह हुआ कि हम वैज्ञानिक ढंग से खेती करने में अपने किसानों को असमर्थ पाते हैं।

भारत की आर्थिक उन्नति का इतिहास—जिस समय अंग्रेज भारत में आये, उसकी आर्थिक अवस्था संसार के अन्य देशों के समान ही थी। भारत गाँवों में ही बसता था और खेती ही यहाँ के निवासियों का मुख्य उद्यम था। प्रत्येक गाँव में अपनी आवश्यकता की सामग्री उत्पन्न होती थी, और वे प्रायः स्वावलम्बी ही थे। गाँव में तीन प्रकार के मनुष्य बसते थे। एक तो खेतिहर किसान, दूसरे शिल्पी, और तीसरे गाँव के मुखिया, पटवारी और चौकीदार आदि। किसान अपने छोटे-छोटे खेतों को ही जोतते और बोते थे। चतुर शिल्पकार अपना व्यवसाय करते थे तथा गाँव के कारीगर और मज़दूर इन सब की सेवा करते थे अथवा आवश्यक पदार्थ तैयार करते थे। मुद्रा का प्रचलन तब तक नहीं था और हर प्रकार का विनिमय वस्तुओं की अदला-बदली द्वारा ही होता था। गांव के प्रतिष्ठित पुरुष वहां की पंचायत के सदस्य होते थे और ये पंचायतें ही गांव के प्रत्येक झगड़े का न्यायपूर्वक फैसला करती थीं, तथा शासन आदि का प्रबन्ध भी इन्हींके हाथ में रहता था। गांवों के अतिरिक्त कुछ प्रसिद्ध स्थान भी थे, जो या तो तीर्थ थे अथवा किसी नदी के किनारे स्थित होने के कारण व्यापारिक मार्ग थे, या किसी राजा अथवा नवाब की राजधानी अथवा कला-कौशल और शिल्प के केन्द्र थे। भारत नाना प्रकार के शिल्पों में अन्य देशों से व्यापार करता था। इसके जहाज ईस्ट इन्डिया कम्पनी के भारत में स्थापित होने के समय तक भी इङ्गलैंड और

पुर्तगाल आदि पाश्चात्य देशों से अधिक मजबूत और सुन्दर होते थे। यहां की बनी वस्तुओं की ख्याति और प्रतिष्ठा जगत-व्याप्त थी।

स्वेज की नहर बन जाने के बाद भारत के आर्थिक जीवन में परिवर्तन होना आरम्भ हुआ। अब यह देश अन्य देशों के बिलकुल ही समीप हो गया। अन्य देशों को व्यापार करने का मार्ग खुल गया। इस देश में भी रेल, नई-नई सड़कें और नहरों का बनना शुरू हुआ। यातायात के इन साधनों के हो जाने से एक वस्तु प्रत्येक कोने तक पहुंचाई जाने लगी। यहां का कच्चा माल—सूत, रेशम, तिलहन, चमड़ा, चाय, जूट, गेहूं आदि—सरलता पूर्वक बन्दरगाहों तक पहुँचाया जाने लगा और वहाँ से वह इङ्गलैण्ड आदि देशों को भेजा जाता था। इनके बदले में भारत को वहाँ का मशीन से तयार हुआ माल मिलता था। कपास और रुई सस्ते मूल्य पर यहां से इङ्गलैण्ड जाती थी और मैन्चेस्टर तथा लंकाशायर की मिलों का बना हुआ सूती कपड़ा मँहगे दाम पर भारतवासियों को खरीदना पड़ता था। अंग्रेज़ों की इस आर्थिक नीति से भारत का शोषण आरम्भ हुआ। जैसा अन्य व्यावसायिक देशों में हुआ, भारत में भी रेल, तार, सड़क खुल जाने और मिल के सुन्दर और सस्ते (कारीगरों के बने माल की अपेक्षा) माल के मिलने से भारत के प्राचीन उद्योग-धन्धों पर बड़ा ही घातक प्रभाव पड़ा। यहाँ के अपने उद्योग-धन्धे क्रमशः नष्ट होने लगे और अब हमारे अभिमान को ऊँचा बनाये रखनेवाली कोई भी कला हमारे पास शेष नहीं बची। कातने और बुनने के अतिरिक्त शेष सब ही नष्टप्राय हो चुके हैं।

हमारे गाँव अब स्वावलम्बी न रह कर अन्य देशों पर आश्रित हैं। जहाँ केवल अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति भर को अनाज उत्पन्न किया जाता था, अब वहाँ अन्तर्राष्ट्रीय बाजारों के लिए कपास, जूट, चाय, तिलहन आदि भी पैदा किये जाते हैं, और उनके बदले में हमें विदेशी माल, जैसे जापानी रेशम के वस्त्र, दवा, कागज़, मशीनरी के सामान आदि, मिलता है। आज गाँवों से अदला-बदली की प्रथा का प्रायः लोप हो चला है और उसके स्थान पर अब मुद्रा में ही क्रय-विक्रय होता है। पहले की अपेक्षा खेती अब और भी छोटे-छोटे खेत के टुकड़ों में होती है। जन-संख्या में निरन्तर वृद्धि हो रही है, उद्योग-धन्धे सब नष्ट हो ही चुके हैं। अतः सब

भार अब खेती की ही वहन करना पड़ता है। आज हमारी दशा अत्यन्त ही हीन और शोचनीय हो चली है। जनसंख्या का केवल ११ प्रतिशत भाग नगरों में रहता है।

उन्नीसवीं शताब्दी में आकर बड़े-बड़े कारखानों और जमीन्दारियों में खेती करने की प्रथा आरम्भ हुई। इन कारखानों और जमीन्दारियों में विदेशी पूँजी का प्रयोग हुआ। नील, जूट, चाय, सूती वस्त्र आदि के कारखाने अनेक स्थानों पर स्थापित हुए। तब से आज तक इनमें निरन्तर वृद्धि हो रही है। भारत आज अपने को उद्‌बुद्ध और प्रगतिशील राष्ट्रों की भाँति बनाने की चेष्टा कर रहा है। किन्तु हमारे सात लाख गाँव अब भी दरिद्र हैं। उनकी आर्थिक दशा अत्यन्त शोचनीय होती जा रही है। भोजन, वस्त्र तथा अन्य जीवनोपयोगी पदार्थ अब दुर्लभ हो गये हैं।

भारतीय आर्थिक जीवन की कुछ विशेषताएँ—अब तक हमारी निर्धनता और पिछड़ने के सम्बन्ध में अनेक भ्रान्तियाँ फैलाई गई। पाश्चात्य देशों ने हमारी इस आर्थिक दुरवस्था का कारण बताने में जाति-भेद, हमारी संयुक्त कुटुम्ब-प्रणाली और धर्म-निष्ठा को ही प्रधानता दी है। चूंकि उन देशों में या तो ये बातें इतने व्यापक रूप में नहीं हैं, अथवा सर्वथा ही नहीं हैं; अतः यहाँ हम संक्षेप में इनके विषय में वर्णन करेंगे।

प्राचीन काल में यहाँ बहुत समय तक गुण-कर्मानुसार जातियाँ रहीं जो अपने-अपने निर्धारित कामों को नियमपूर्वक पालन कर के देश को सुखी और धन-सम्पन्न बनाती थीं। समय के प्रवाह से ये चार मुख्य जातियाँ सहस्रों उपजातियों में विभक्त हो गईं। अब इन उपजातियों के शादी-विवाह, मेल-जोल, और खान-पान, अपने सीमित क्षेत्र में ही होते हैं। और जन-साधारण के विचारों और कार्यों की सीमा भी परिमित हो गई। पिछली कुछ दशाब्दियों में राष्ट्रीय जागृति तथा रहन-सहन की कठिनाई के कारण इनमें कुछ परिवर्तन अवश्य हुए हैं।

जाति-भेद (Caste distinctions)

आर्थिक दृष्टि से जाति-भेद के प्रधान लाभ निम्न लिखित हैं:—

(क) अपने स्वजनों के साथ में रहकर बड़े लाड़-प्यार से वे काम देखते और सीखते हैं, अतः वंशानुगत कार्य-कुशलता की प्राप्ति होती है। इतनी शीघ्रता और प्रेम से वे कोई काम अन्यत्र नहीं सीख सकते।

(ख) हर जाति (पेशे) वालों का अपना एक संघ होता है जो परस्पर एक दूसरे की सहायता करता है। वे उन्हें लगातार काम दिलवाते हैं और बने हुए माल को बेचते हैं। उनके वेतन और वस्तुओं के भाव को गिरने से बचाने का भरसक प्रयत्न करते हैं।

(ग) इस प्रथा से श्रम-विभाजन में भी लाभ होता है। एक प्रकार के मनुष्य एक ही पेशे को अख्तियार कर अपनी कार्य-कुशलता बढ़ा लेते हैं।

जाति-भेद से होने वाली मुख्य हानियाँ ये हैं—

(च) अपने धन्धे को बदलने में कठिनाई होती है।

(छ) संगठन में जाति-भेद बाधक सिद्ध हुआ। एक जाति वाले दूसरी जाति के व्यक्तियों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित नहीं कर पाते।

(ज) अपव्यय—व्यर्थ की छूआछूत की भावना के कारण एक जाति के मनुष्य दूसरी जाति वाले के हाथ का बना भोजन नहीं खाते और न परस्पर मिल-जुल कर ही रहते हैं। नगरों में मजदूर तथा गाँवों के निर्धन किसान अगर चाहें तो बहुत अंशों में मिल-जुल कर रहने पर व्यर्थ के बहुत-से खर्च बचा सकते हैं। कुछ परिवार आपस में मिलकर और एक मकान में रहकर तथा एक ही जगह भोजन पकाकर अनेक प्रकार के व्यर्थ के खर्चों को दूर कर सकते हैं।

(झ) स्थान-परिवर्तन में जाति-भेद बाधक रहा है।

(ञ) गौरव तथा महिमा की हानि—बहुत-सी जातियाँ अस्पृश्य मानी जाती हैं। उनका समाज में उतना आदर नहीं है जितना और जातियों का है। अब बहुत-से मनुष्य इन दोषों को दूर करने की भरसक कोशिश कर रहे हैं।

संयुक्त कुटुम्ब-प्रणाली

संयुक्त कुटुम्ब-प्रणाली में बहुत-से निकट सम्बन्धी आपस में मिलकर धन कमाते हैं। इस प्रथा में सब की आवश्यकताएँ यथा सम्भव समान रूप से पूर्ण होती रहती हैं, और साथ ही वृद्ध, अनाथ और असहाय, जो धनोपार्जन नहीं कर पाते, उनका भरण-पोषण भी होता रहता है।

भारत की अपनी विशेष परिस्थितियों में संयुक्त कुटुम्ब-प्रणाली बहुत ही उपयुक्त रही है। खेती-बारी के व्यवसाय में तो आपस में मिल-जुल कर काम करना नितान्त आवश्यक है। अलग-अलग रहकर कोई भी किसान उतना परिश्रम नहीं कर सकता। आजकल के समाजवादी व्यक्तियों के सहकारी खेती का सिद्धान्त समयानुकूल है और हमारी प्राचीन संयुक्त कुटुम्ब-प्रणाली का केवल परिमार्जित रूप ही है। जब से इस प्रथा में विच्छेदन आरम्भ हुआ है तब से हमारी आर्थिक दुरवस्था निरन्तर बढ़ती जा रही है। इस प्रथा के टूट जाने से आज हमारे खेत कई टुकड़ों में विभाजित होकर गाँव के प्रत्येक कोने में फैल गये हैं। इस प्रथा के अन्य दोष निम्न हैं:—

(१) सबको भोजन और वस्त्र का भरोसा रहता है, अतः स्वावलम्बी होने की भावना नष्ट होने लगती है और वे आलसी भी बन जाते हैं।

(२) व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के विचारों के उचित विकास में बाधा पड़ती है।

(३) धनोपार्जन में विशेष उत्साह नहीं रहता; चूँकि वह जानता है कि उसकी बचत का सारा भाग अकेले उसकी सन्तान को नहीं मिलेगा।

इसी प्रकार हमारे धार्मिक विचारों की भी अन्य देश वाले आलोचना करते हैं। उनका विचार है कि भारतवासी अधिकांश में भाग्यवादी हैं। केवल ईश्वर और भाग्य के भरोसे वे सारा काम छोड़ निष्क्रिय बन गये हैं। अर्थ-कामना की भावना की कमी होने के कारण वे अन्य देशों के मनुष्यों की भाँति परिश्रम नहीं करते। ऐसे विचार निर्मूल और अत्युक्ति पूर्ण ही कहे जा सकते हैं। अपने सुख और परलोक की शान्ति के लिए परमेश्वर का ध्यान करना वे चाहे भले ही बुरा या असंगत मानें; किन्तु भारतवासी भाग्यवादी होने के कारण निष्क्रिय हैं, यह बात विचारने पर ठीक नहीं बैठती। हमारा देश सदा से ही कृषि-प्रधान रहा है और खेती-बारी के व्यवसाय से सदा ही यहाँ के अधिकांश मनुष्यों का भरण-पोषण होता रहा है। दूसरे अध्याय में हम यह बता चुके हैं कि खेती अधिकतर प्रकृति के अधीन है। कठिन से कठिन परिश्रम कर लेने पर भी कभी-कभी प्रकृति सन्तुष्ट नहीं होती। लहलहाती फसल पर तुषार-पात हो जाता है। समय पर वर्षा का न होना, टिड्डियों द्वारा खेती का नष्ट हो जाना, ये सब प्रकृति की क्रीड़ा हैं। ऐसी अवस्था

में वह प्रकृति और ईश्वर के अधीन अपने को न माने और उसकी पूजा न करे, तो क्या करे ? अगर भारत में भी अन्य देशों की भाँति उद्योग-धन्धों का उद्धार हो जाये, कला-कौशल में वृद्धि हो कर खेती पर से दबाव उठ जाय तथा पैदावार बढ़ाने के साधन उपलब्ध हो सकें तो शायद उसके निराशावादी और भाग्यवादी दृष्टिकोण में भी परिवर्तन हो जाय।

—*—

सातवाँ अध्याय

अर्थशास्त्र की कुछ आधारभूत परिभाषाएँ[1]

प्रत्येक शास्त्र में कुछ ऐसे शब्द होते हैं जिनका व्यवहार विशेष अर्थों में ही किया जाता है। अतः उस शास्त्र को भली भाँति समझने के लिए हमें उस शास्त्र के उन पारिभाषिक शब्दों का अर्थ जान लेना अत्यन्त ही आवश्यक हो जाता है। अर्थशास्त्र के अन्तर्गत भी कुछ ऐसे शब्द हैं जिनका प्रयोग विशेष अर्थों में ही किया जाता है। निम्न पंक्तियों में हम उन शब्दों की ही व्याख्या करते हैं।

वस्तु (Goods)

गत अध्याय में हम यह बता चुके हैं कि मनुष्य की अनेक इच्छाएँ होती हैं, जिन्हें पूर्ण करने के लिए वह निरन्तर उद्योग करता रहता है। इन उद्योगों के परिणाम-स्वरूप ही वह उन वस्तुओं को प्राप्त करता है जिनकी उसे आवश्यकता थी और जिनका उपभोग करने से अब उसकी इच्छाओं की तृप्ति होगी—उसे सन्तोष मिलेगा। अतः प्रायः जिन भौतिक पदार्थों पर मनुष्य का स्वत्व अथवा अधिकार होता है, उन्हींको वस्तु समझा और माना जाता है। लेकिन अर्थशास्त्र में इस शब्द का व्यवहार और भी व्यापक रूप में होता है। जिन पदार्थों के पा लेने की किसी मनुष्य को सदा उत्सुकता बनी रहती है और जिनको प्राप्त कर लेने अथवा उनका उपभोग कर लेने पर उसे सन्तोष मिलता है, उन सब पदार्थों को हम अर्थशास्त्र

1. Some Fundamental Concepts of Economics.

में 'वस्तु' कहते हैं। अतः भोजन, वस्त्र, मकान, पुस्तकें, मेज़-कुर्सी, हवा, जल, धूप, सूर्य का प्रकाश, मदिरा, तम्बाकू, भंग, गांजा, चरस, माता-पिता का स्नेह, बन्धु-बान्धवों और मित्रों का प्रेम, ये सब ऐसे साधन हैं जिनसे मनुष्य को सन्तोष मिलता है अथवा उसकी चाह पूर्ण होती है। अर्थशास्त्र में वस्तुओं के तीन प्रधान लक्षण होने चाहिये :—

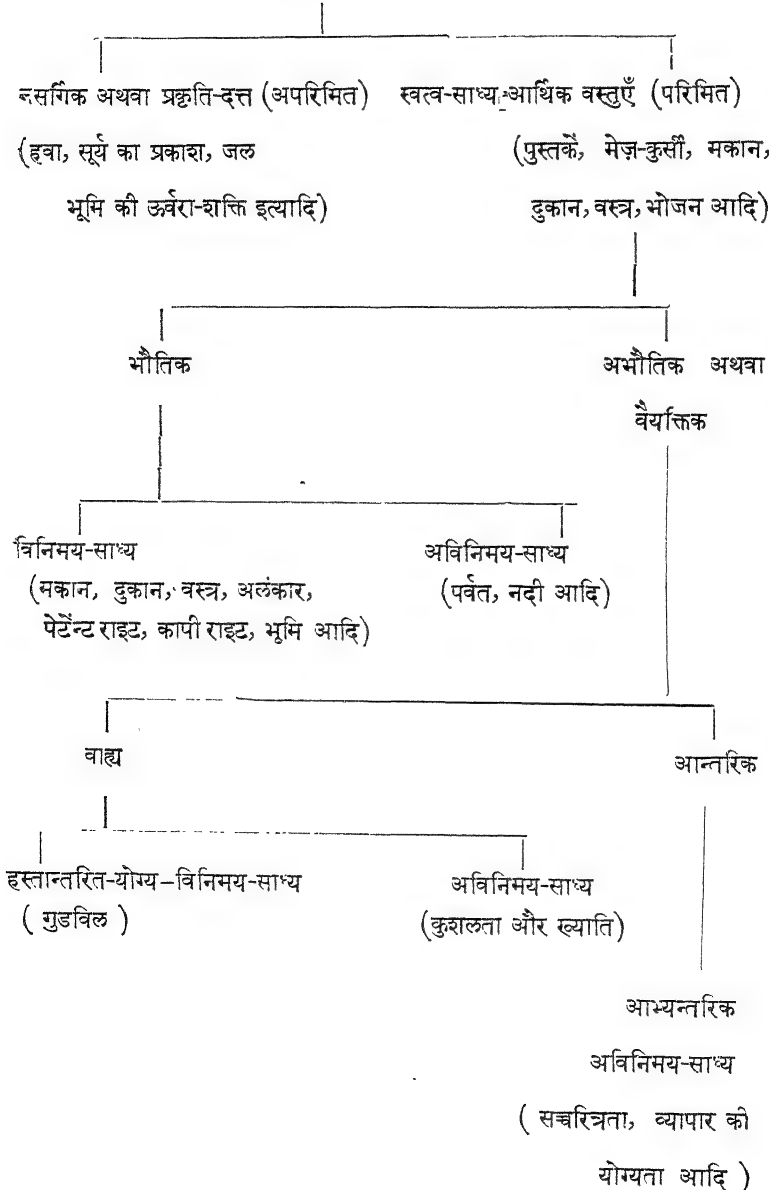
(१) उनसे हमारी चाह अथवा आवश्यकताएँ पूर्ण हो जायँ,

(२) उन्हें प्राप्त करने के लिए हमारी तीव्र अभिलाषा और उत्सुकता हो, और

(३) वे उपयोगी हों।

अर्थशास्त्र में वस्तुओं का विभाजन कई प्रकार से किया जा सकता है। ऐसे साधन परिमित तथा अपरिमित (प्रकृति-दत्त) हो सकते हैं। भौतिक और अभौतिक दृष्टिकोण से भी इसका विभाजन किया जा सकता है। ये विनिमय-साध्य और अविनिमय-साध्य, दोनो प्रकार के हो सकते हैं और कभी-कभी इनका विभाजन उपभाग और उत्पत्ति के प्रयोग में आने के अनुसार भी किया जाता है। अर्थशास्त्र में वस्तुओं का विभाजन जिस प्रकार किया जाता है, उसे हम एक चित्र द्वारा भी व्यक्त कर सकते हैं। (देखिये पृष्ठ ५९)

१—परिमित और अपरिमित वस्तुएँ :—जो पदार्थ हमें मनुष्य के बिना उद्योग के ही प्राप्त हो जाते हैं, उन्हें हम 'प्रकृति-दत्त' अथवा 'अपरिमिति वस्तुएँ' मानते हैं और उन्हें नैसर्गिक कहते हैं। उदाहरण के लिए भूमि की प्राकृतिक ऊर्वरा-शक्ति (राजपुताना की भूमि इतनी उपजाऊ नहीं है जितनी संयुक्तप्रान्त की, यह प्राकृतिक कारणों पर ही निर्भर है); मनुष्य के वंशानुगत गुण और कुशलता (जैसे एक जाट खेती के कार्य में निपुण होता है, ये गुण उसे अपनी जाति और वंश के परम्परागत गुणों से प्राप्त होते हैं, इसी प्रकार एक वैश्य व्यापार में बहुत ही प्रवीण होता है); व्यक्तिगत प्रवीणता, जंगलों के पेड़, नदी, तालाब और समुद्रों में मछली का होना, धूप, हवा, प्रकाश, जलवायु इत्यादि, सब प्रकृति की देन हैं और इन सब पर मनुष्य का न तो कोई अधिकार ही है और न इन्हें प्राप्त करने के लिए उसे कोई उद्योग ही करना पड़ता है। जहां और जिस व्यक्ति, स्थान अथवा देश पर प्रकृति की जैसी भी कृपा हो जाय, उसीसे सन्तुष्ट रहना पड़ता है। प्रकृति-दत्त इन


वस्तुएँ (Goods)
नैसर्गिक अथवा प्रकृति-दत्त (अपरिमित)
(हवा, सूर्य का प्रकाश, जल
भूमि की उर्वरा-शक्ति इत्यादि)
स्वत्व-साध्य-आर्थिक वस्तुएँ (परिमित)
(पुस्तकें, मेज़-कुर्सी, मकान,
दुकान, वस्त्र, भोजन आदि)
भौतिक
अभौतिक अथवा
वैयक्तिक
विनिमय-साध्य
(मकान, दुकान, वस्त्र, अलंकार,
पेटेंन्ट राइट, कापी राइट, भूमि आदि)
अविनिमय-साध्य
(पर्वत, नदी आदि)
वाह्य
आन्तरिक
हस्तान्तरित-योग्य-विनिमय-साध्य
(गुडविल)
अविनिमय-साध्य
(कुशलता और ख्याति)
आभ्यन्तरिक
अविनिमय-साध्य
(सच्चरित्रता, व्यापार की
योग्यता आदि)

पदार्थों के पाने के लिए किसी प्रकार के प्रयत्न करने की ज़रूरत नहीं पड़ती है।

इसके विपरीत जिन पदार्थों और वस्तुओं को प्राप्त करने के लिए मनुष्य को सतत् प्रयत्न करने पड़ते हैं, उन्हें हम 'परिमित अथवा आर्थिक वस्तु' कहते हैं, और ये स्वत्व-साध्य होती हैं। अतः धान और गेहूं को बो कर फसल उगाने, आम, जामुन, नीबू आदि के बाग लगाने, मकान, वस्त्र आदि बनाने में मनुष्य के प्रयत्नों की आवश्यकता होती है। दूसरे शब्दों में हम यों कह सकते हैं कि इन पदार्थों की उपयोगिता मनुष्य के श्रम पर ही अवलम्बित है। जल भी, जो प्राकृतिक वस्तु है, नलों द्वारा तालाब से जब शहर में पहुँचाया जाता है, आर्थिक वस्तु का रूप धारण कर लेता है; चूँकि उस अवस्था में मनुष्य के प्रयत्नों का उपयोग उसमें हुआ है।

२—भौतिक और अभौतिक वस्तुएँ:— जिन पदार्थों को हम देख अथवा छू सकते हैं और जो विनिमय-साध्य हैं, ऐसी वस्तुओं को हम 'भौतिक' कहते हैं। उदाहरण के लिए भूमि, मकान, दुकान, वस्त्र, अलंकार, फल, तरकारी अन्न, हल, बैल इत्यादि। किसी वस्तु के रखने, प्राप्त करने, खरीदने, बेचने, अथवा स्वत्व अथवा अधिकारमें आनेवाले पदार्थों की गणना भौतिक वस्तुओं में ही की जाती है। अस्तु, व्यापारिक वस्तुएँ, बना हुआ माल, कलें, रेहननामा, जायदाद-नामा, कम्पनियों के शेयर (हिस्से), पेटेन्ट-राइट, कापी-राइट, ठेके, अधिकार आदि सब भी भौतिक पदार्थों में सम्मिलित किये जाते हैं। जिन वस्तुओं को देख और छू नहीं सकते और जो प्रायः व्यक्तिगत गुणों में सम्मिलित होते हैं उनकी गणना 'अभौतिक' वस्तुओं में की जाती है।

इन अभौतिक वस्तुओं को हम दो भागों में बाँट सकते हैं—(१)वाह्य (२) आभ्यन्तरिक। जिन गुणों का सम्बन्ध व्यक्तिगत न रह कर दूसरों से रहता है, वे वाह्य वस्तुएँ मानी जाती हैं। इस कोटि में ऐसे अभौतिक पदार्थ और गुण सम्मिलित रहते हैं जिनका सम्बन्ध अन्य मनुष्य अथवा संस्थाओं से रहता है और उसके ऐसे सम्बन्ध अथवा गुण उसके लिए आर्थिक दृष्टिकोण से हितकर होते हैं। जैसे मित्रता, व्यापारिक सम्बन्ध (गुडविल) इत्यादि। आभ्यन्तरिक अभौतिक वस्तुओं का सम्बन्ध प्रायः व्यक्तिगत ही रहता है। इसमें ऐसे गुण और शक्तियों का समावेश रहता है जो प्रत्येक व्यक्ति में पाई जाती हैं और जिनके उपयोग से वह व्यक्तिगत लाभ

उठाता है। उदाहरण के लिए, जैसे डाक्टर और गायक की कुशलता, किसान की अपने व्यवसाय में प्रवीणता आदि।

अतः अभौतिक वस्तुओं में मनुष्य के वाह्य और आभ्यन्तरिक गुण और शक्तियों का समावेश रहता है जो व्यक्तिगत भी रहती हैं और अन्य मनुष्यों से भी सम्बन्ध रखती हैं।

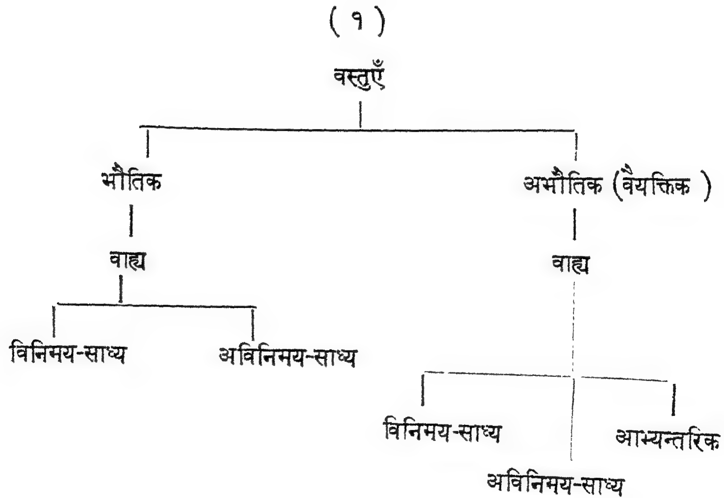
३—विनिमय-साध्य और अविनिमय-साध्य वस्तुएँ :—विनिमय की दृष्टि से भी हम वस्तुओं के दो भाग कर सकते हैं। प्रथम तो विनिमय-साध्य और दूसरी अविनिमय-साध्य होती हैं। जो वस्तुएँ खरीदी और बेची जा सकती हैं उन्हें विनिमय-साध्य कहते हैं। वे हस्तान्तरित की जा सकती हैं—अर्थात् स्वत्व और अधिकार में परिवर्तन किया जा सकता है। इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि उनमें स्थान–परिवर्तन भी आवश्यक है। उदाहरण के लिए, गाँव के एक ऋण-ग्रस्त किसान की भूमि प्रायः ऐसे महाजनों द्वारा खरीद ली जाती है जो नगरों में रहते हैं। विनिमय-साध्य वस्तुओं के अन्य उदाहरण, हल–बैल, खेती की उपज, किसान के बर्तन-आभूषण, व्यापार में कम्पनियों के हिस्से, गुडविल इत्यादि हो सकते हैं

अविनिमय–साध्य पदार्थ वे होते हैं जो खरीदे और बेचे नहीं जा सकते हैं। इन्हें हम फिर दो उपविभागों में बाँट सकते हैं:— (अ) भौतिक (ब) आभ्य–न्तरिक (व्यक्तिगत)। सड़क, रेल, पुल, सार्वजनिक बाग-बगीचे, उद्यान, और क्रीड़ा-स्थली आदि ऐसे साधन हैं जिनका उपयोग तो हम कर सकते हैं किन्तु विनिमय-साध्य नहीं हैं। व्यक्तिगत अथवा मनुष्य की आभ्यन्तरिक गुण और शक्तियाँ दूसरी श्रेणी में मानी जाती हैं और वे किसी प्रकार भी विनिमय-साध्य नहीं हैं।

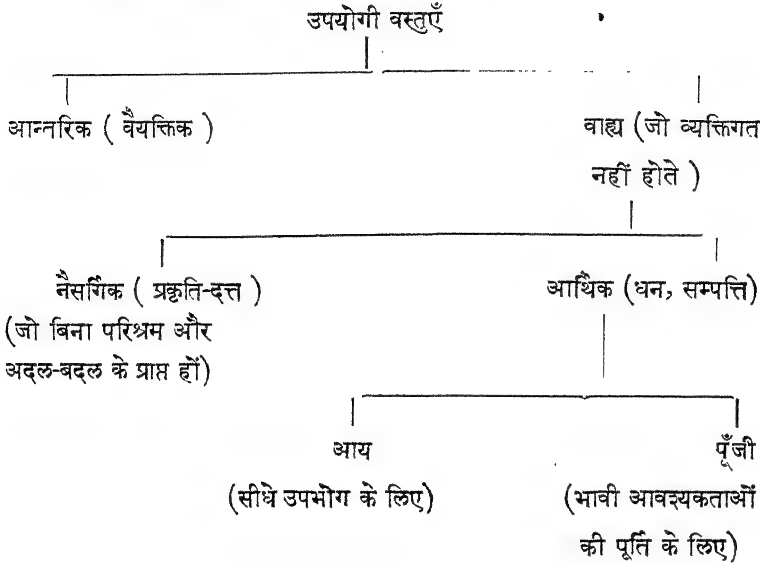
४—उत्पत्ति और उपभोग की वस्तुएँ :—ऐसे पदार्थ जिनके पाने की मनुष्य की सदैव बलवती इच्छा रहती है और जिनके प्राप्त होने पर उसकी इच्छाएँ परितोषित होती हैं और उसे सुख और सन्तोष मिलता है, 'उपभोग की वस्तुएँ' कहलाती हैं। उदाहरण के लिए, अन्न, वस्त्र, रहने के स्थान इत्यादि। इनके उपभोग करने पर सीधे हमारी इच्छाएँ पूर्ण हो जाती हैं और हमें सन्तोष मिल जाता है। किन्तु बहुत-सी ऐसी भी वस्तुएँ होती हैं जो हमारी इच्छाएँ स्वयं परितोषित न कर

हमारे लिए ऐसे पदार्थ उत्पन्न करनी हैं जिनका उपभोग करने पर हमारी इच्छाएँ पूर्ण होती हैं। अतः खेती में हल, बैल, खुरपी, कल्टीवेटर, हैरो इत्यादि; उद्योग-व्यवसायों में नाना प्रकार की कलें, कच्चा माल, जैसे रुई, जूट इत्यादि। इन सब वस्तुओं से हमारी आवश्यकताएँ सीधे पूर्ण न होकर ऐसी वस्तुएँ तैयार की जाती हैं जो हमें सन्तोष देती हैं। कभी-कभी इनके इस अन्तर पर निम्न सन्देह प्रगट किया जाता है। एक व्यवसायी के पास वस्त्र और भोजन गोदाम में भरा हुआ है। ये पदार्थ मजदूरों के लिए तो उपभोग की वस्तुएँ हैं किन्तु उस व्यवसायी के लिये ये ही पदार्थ धनोत्पत्ति के साधन हैं।

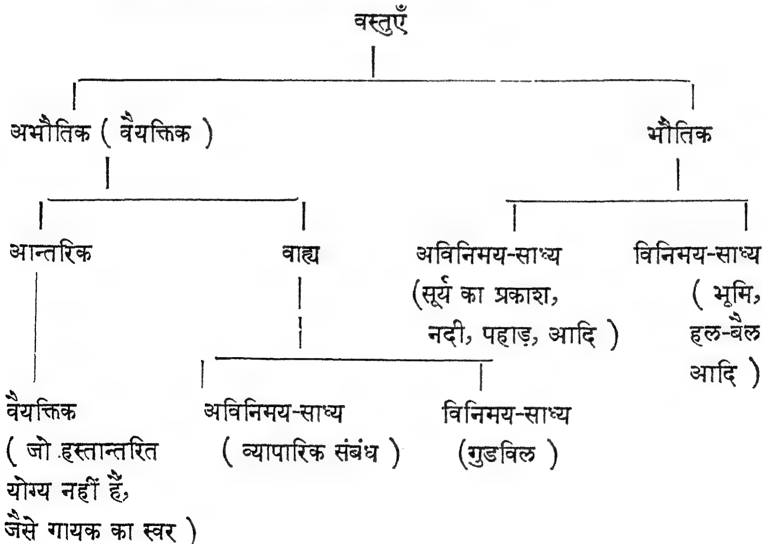
अभौतिक तथा भौतिक अवस्था और विनिमय-साध्य और अविनिमय-साध्य के गुणों के आधार पर बहुत-से विद्वानों ने वस्तुओं का विभाजन निम्न प्रकार से दि-खाया है :—



(२) श्री० जे० एस० निकॉलसनके अनुसार—



(३) सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्री मार्शल के अनुसार



धन-या सम्पत्ति

अर्थशास्त्र में यह शब्द ऐसा है जिसपर प्रायः अर्थशास्त्रियों में आपस में बड़ा मतभेद है। अतः इसकी व्याख्या कई प्रकार से की गई है। बहुत-से विद्वानों के अनुसार जिस वस्तु से हमारी आवश्यकता पूर्ण हो जाय और जो हमें सुख और सन्तोष दे सके 'धन या सम्पत्ति' कहलाती है। ऐसी अवस्था में वस्तु और धन में अन्तर ही क्या रहा? कुछ विद्वान उन सभी पदार्थों को, जो उपयोगी होते हैं—अर्थात् जिनसे आवश्यकताओं की तृप्ति होती है और जिनकी संख्या और परिमाण सीमित होता है, धन या सम्पत्ति मानते हैं। एक विचार-धारा वाले विद्वान् केवल उन्हीं वस्तुओं को धन मानते हैं जो मनुष्य के परिश्रम के फल-स्वरूप मिले; और कुछों के मतानुसार केवल उन्हीं वस्तुओं की गणना धन में की जाती है जो हस्तान्तरित हो सकती हैं। जो भी हो, प्रसिद्ध अर्थशास्त्री मार्शल की धन की परिभाषा हमें सबसे ठीक जँचती है। मार्शल के विचार से धन में दो प्रकार की वस्तुओं का समावेश होता है—(१) सभी भौतिक पदार्थ, और (२) सभी वाह्य अभौतिक पदार्थ। इसे हम निम्न प्रकार से व्यक्त कर सकते हैं:—

(१) धन=भौतिक पदार्थ+वाह्य अभौतिक पदार्थ

(२) धन=सभी वस्तुएँ—आन्तरिक अभौतिक पदार्थ

संक्षेप में, धन से हमारा अभिप्राय उन सभी वस्तुओं से रहता है, जो उपयोगी हों, जिनसे हमारी इच्छाएँ और आवश्यकताएँ तृप्त हो सकें और जिनकी संख्या और परिमाण परिमित हो तथा जो विनिमय-साध्य होती हैं।

इस प्रकार मूल्यवान धातुओं—सोना, चांदी—हीरा, जवाहिरात, विविध प्रकार क मोतियों के अतिरिक्त अन्य भौतिक पदार्थों की गणना भी धन या सम्पत्ति के अन्तर्गत की जाती है, जैसे तांबा, पीतल, शीशा, लकड़ी, पुस्तक, मकान, हल, खुरपी इत्यादि। हवा,धूप,सूर्य का प्रकाश, जल, यों तो मनुष्य और वनस्पति जीवन के लिए उपयोगी हैं किन्तु फिर भी अर्थशास्त्र में इनकी गणना धन या सम्पत्ति में नहीं की जाती है। ये सब पदार्थ प्रकृति ने सब के लिए समान रूप से प्रचुर मात्रा में दे रखे हैं। इनके प्राप्त करने के लिए हमें न तो किसी प्रकार का प्रयत्न अथवा परिश्रम

हीं करना पड़ता है और न ये विनिमय-साध्य ही हैं। किन्तु विशेष स्थानों में जहाँ ये परिमित मात्रा में मिलती हैं और इनको प्राप्त करने के लिए भी मनुष्य को कठिन परिश्रम और प्रयत्न करने पड़ते हैं अथवा इनके प्राप्त करने के लिए वह मूल्य भी देने को तैयार रहता है, उस समय इनकी गणना भी धन के अन्तर्गत की जाती है। उदाहरण के लिए, मरुस्थल में जल, अथवा खानों में काम करने वालों के लिए वायु। बड़े-बड़े नगरों में भी प्रायः पानी का अभाव रहता है, अतः वहाँ बड़े-बड़े जलाशयों में जल एकत्रित कर लेते हैं। यही जल नलों द्वारा मकानों तक पहुँचा दिया जाता है और चुंगी-विभाग इसके लिए उन निवासियों से जल-कर प्राप्त करता है।

धन या सम्पत्ति के लक्षण

किसी वस्तु का धन या सम्पत्ति होना निर्णय करने के लिए हमें धन के लक्षण जानना आवश्यक हो जाता है। हम यह ऊपर बता ही चुके हैं कि अर्थशास्त्रियों में प्रायः इस विषय पर परस्पर मतभेद है। अस्तु; मार्शल के अनुसार किसी वस्तु के धन या सम्पत्ति होने के लिए उसमें निम्नलिखित गुणों का होना अत्यन्त आवश्यक है :—

(१) उपयोगिता :—वे सभी वस्तुएँ जो उपयोगी हों उनमें मनुष्य की आवश्यकताओं को पूर्ण करने की क्षमता अवश्य होनी चाहिये। अस्तु; भोजन, वस्त्र, मकान, दुकान, वैद्य, गायक, अभिनेता, कलाकार, गृह-सेवक की सेवाएँ; नाई, धीवर, पंडित और पुरोहित की यजमानी; नदी-तालाब और कुँओं का जल जो सिंचाई के काम में आता है और जिससे मनुष्य की आवश्यकताएँ तृप्त होती हैं, सम्पत्ति मानी जाती हैं।

(२) दुर्लभता अथवा परिमितता :—हवा, जल, धूप और सूर्य के प्रकाश की भाँति प्रचुर मात्रा में पाई जाने वाली वस्तुएँ, जो उपयोगी भले ही हों, सम्पत्ति नहीं मानी जाती हैं। चूँकि इनके प्राप्त करने के लिए मनुष्य को किसी प्रकार के उद्योग करने की आवश्यकता नहीं होती है। किन्तु, जैसा हम बता चुके हैं, विशेष परिस्थितियों में जहां ये प्रचुर मात्रा में नहीं मिलतीं और जब इन्हें प्राप्त करने के लिए मनुष्य को प्रयत्न और द्रव्य खर्च करना पड़ता है, ऐसे पदार्थों की गणना भी सम्पत्ति में की जाती है। अतः बालू, जिसका नदियों और समुद्र के तट पर कोई

भी मूल्य नहीं है और जहां यह प्रचुर मात्रा में पाई जाती है, नगरों में सम्पत्ति मानी जाती है, चूँकि नगरों में इसका उपयोग मकानों के बनाने में होता है। इसी प्रकार हवा, जल आदि के लिए भी हम कह सकते हैं। तात्पर्य यह है कि सम्पत्ति कही जाने वाली वस्तुओं में उपयोगी होने के अतिरिक्त दुर्लभता का गुण होना भी आवश्यक है।

(३) हस्तान्तरितता (स्थानान्तर होने का गुण) :—सम्पत्ति कहलाने वाली वस्तुओं में इस गुण का होना आवश्यक है। इसका यह अर्थ नहीं है कि वह वस्तु वहां से उठा कर किसी अन्य स्थान पर ले जाने पर ही सम्पत्ति कहायेगी। भूमि को हम एक स्थान से दूसरे स्थान पर नहीं ले जा सकते हैं, किन्तु फिर भी वह सम्पत्ति है। यहां हमारे कहने का अभिप्राय यह है कि सम्पत्ति कहलाने वाले पदार्थों को इच्छानुसार अगर हम चाहें तो अन्य स्थान पर ले जाने का अधिकार अवश्य हो। भूमि, मकान आदि अचल सम्पत्ति के लिए अधिकार परिवर्तन (स्वामित्व-परिवर्तन) का हक होना चाहिये। वे हस्तान्तरित किये जा सकें।

(४) विनिमय-साध्य :—सम्पत्ति कहलाने वाले पदार्थों का विनिमय-साध्य होना आवश्यक है। केवल किसी पदार्थ के भौतिक और उपयोगी होने पर ही वह सम्पत्ति नहीं माना जा सकता है। उसमें अधिकार-परिवर्तन के साथ विनिमय-साध्यता का गुण होना भी परम आवश्यक है।

(५) स्वत्व-साध्य :—वे ही वस्तुएँ सम्पत्ति मानी जाती हैं जो भौतिक पदार्थ हों, उपयोगी तथा विनिमय-साध्य हों और साथ ही जिन पर मनुष्य का स्वत्व हो और जो अपने स्वामी से वाह्य हों।

वर्तमान युग में ये सब बातें विनिमय-साध्यता में ही सम्मिलित रहती हैं। अतः जो वस्तु विनिमय-साध्य होगी वही सम्पत्ति मानी जायेगी। जो उपयोगी नहीं होगी उसे कोई भी खरीदना नहीं चाहेगा और यदि वह स्वत्व-साध्य न हुई तो भी उन्हें कोई प्राप्त करना नहीं चाहेगा। यदि वह वाह्य न हुई तो भी कोई व्यक्ति उसे अपने से अलग करके हस्तान्तरित न कर सकेगा। इसी प्रकार वह यदि परिमित मात्रा में न हुई तो भी कोई मनुष्य उसके बदले में दूसरी वस्तु देने को तैयार न होगा।

सम्पत्ति में दो प्रकार के पदार्थ सम्मिलित रहा करते हैं :—

(क) जिन पर व्यक्तिगत स्वत्व हो अथवा स्वामित्व का अधिकार हो, जैसा वस्त्र, अन्न, घर-बार, कल-पुर्जे, ज़मीन-जायदाद, हीरा-जवाहिरात, कंपनियों के हिस्से आदि। ऐसे भौतिक पदार्थ जिनपर वह कानून और प्रथा के अनुसार व्यक्तिगत अधिकार कर सके।

(ख) ऐसे भौतिक पदार्थ जो व्यक्तिगत न हों अर्थात् वाह्य हों (व्यक्ति के आभ्यन्तरिक गुण न हों) और जो उसे भौतिक पदार्थों के पाने में प्रत्यक्ष रूप से सहायता करें, जैसे गुडविल।

व्यक्तिगत सम्पत्ति

व्यक्तिगत सम्पत्ति में मनुष्य की व्यवहार-कुशलता, कार्य-प्रवीणता, अच्छा स्वास्थ्य, सुन्दरता आदि गुण सम्मिलित रहते हैं। यद्यपि उसके ये गुण, स्वभाव, शक्तियाँ, योग्यता विनिमय-साध्य नहीं हैं, तथापि ये उसे औद्योगिक क्षमता प्रदान करते हैं। इन गुणों को वह दूसरों को हस्तान्तरित नहीं कर सकता, फिर भी इनकी सहायता से वह धन अर्जित कर सकता है; ऐसी वस्तुएँ बना सकता है जो अन्य मनुष्यों के उपयोग में आ सकें। अस्तु; उसके ऐसे गुण उपयोगी पदार्थों के उत्पादन के काम में भले ही सहायक सिद्ध होते हैं किन्तु फिर भी सम्पत्ति की गणना में नहीं आते हैं। इन गुणों को हम केवल व्यक्तिगत धन तक ही सीमित मान सकते हैं। जो वस्तुएँ सम्पत्ति मानी जाती हैं वे सदा वाह्य होती हैं, मनुष्य के अन्दर नहीं। व्यक्तिगत धन को समझने में चित्र बहुत ही सहायक सिद्ध होगा। (दे० पृ० ६८)

बहुत-से ऐसे पदार्थ हैं जो कई अवस्थाओं में तो धन माने जाते हैं, किन्तु कभी उनकी गणना सम्पत्ति में नहीं की जाती है, जैसे :—

(१) एक मनुष्य के लिए धन, किन्तु दूसरे के लिए नहीं—

एक कृषक के लिए उनके हल, खुरपी, कल्टीवेटर और हैरो इत्यादि अमूल्य निधि हैं। उसके लिए वह धन हैं किन्तु ये ही वस्तुएँ एक नगर-निवासी मज़दूर के लिए, जो किसी कारखाने में कार्य करता है, धन नहीं हैं। इसी प्रकार मदिरा और गाँजे के अभ्यस्त मनुष्य के लिए मदिरा और गाँजा भले ही धन माना जा सकता है, किन्तु अन्य के लिए उनका कोई महत्व नहीं है।

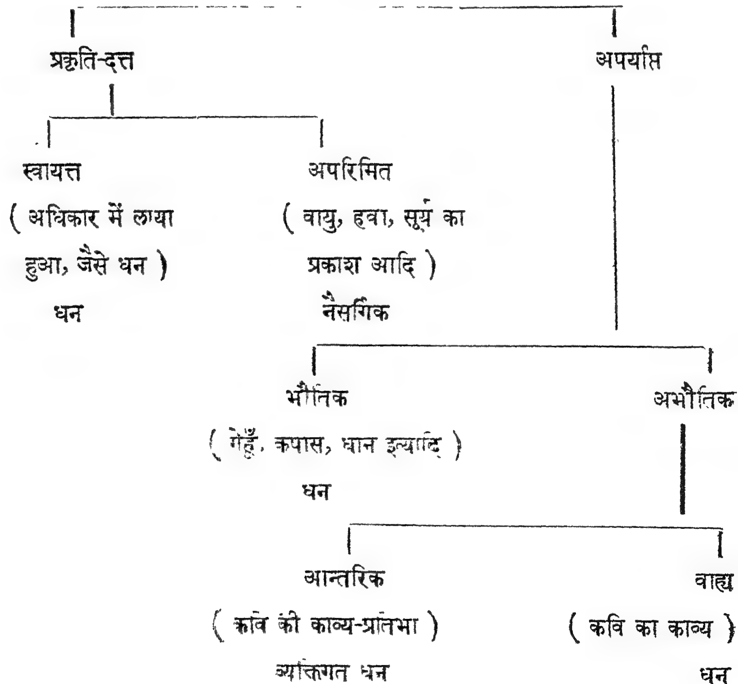
(२) एक स्थान पर धन, दूसरी जगह पर नहीं—

हवा का कोई महत्व नहीं है, किन्तु पनडुब्बियों में, गुब्बारों और खानों में उसकी गणना धन में की जाती है। नदी के तट पर बालू का विशेष महत्व नहीं होता परन्तु जब वही उठा कर शहरों में बेची जाती है तो धन कहलाती है। इसी प्रकार हिमालय की चोटियों पर बर्फ सम्पत्ति नहीं है किन्तु वही बर्फ अगर प्रयाग लाई जा सके तो अवश्य सम्पत्ति मानी जायेगी।

(३) रूप-परिवर्तन पर धन—

उपरोक्त उदाहरण में बताया था कि हिमालय की चोटियों पर बर्फ का कोई मूल्य नहीं है, किन्तु जब वही बर्फ अपने परिवर्तित रूप में नदियों में बह कर आती है तो उसके उस जल से हजारों नहरें निकाल ली जाती हैं। वही बर्फ अपने इस

(पृष्ठ ६७ का चित्र)



परिवर्तित रूप में धन या सम्पत्ति की गणना में आ जाती है। इसी प्रकार 'कवि बच्चन' की 'मधुशाला' के छन्द बहुधा यों ही लोग गाते सुने गये हैं किन्तु जब उनकी वे रुबाइयात मधुशाला में प्रकाशित हो गई तो धन हैं। शिक्षक के कक्षा में भाषण जब पुस्तकाकार बन जाते हैं तो धन हो जाते हैं। महात्मा गान्धी के प्रार्थना-सभा के भाषण सम्पत्ति नहीं थे, परन्तु जैसे ही पुस्तक में प्रकाशित हो गये, सम्पत्ति के रूप में परिवर्तित हो गये।

(४) एक समय सम्पत्ति किन्तु दूसरे समय नहीं—

बड़े-बड़े नगरों में गर्मी में बर्फ का मूल्य प्रति सेर आठ आना तक हो जाता है, किन्तु सर्दी में उसे बहुत कम बनता हुआ देखते हैं।

सम्पत्ति के भेद

सम्पति को हम निम्नलिखित चार भागों में विभक्त कर सकते हैं:— किसी मनुष्य के पास जो अपनी निजी सम्पत्ति होती है और जिसपर उसका व्यक्तिगत

वैयक्तिक अथवा निजी सम्पत्ति

स्वत्व अथवा अधिकार होता है और जिनपर उसके किसी भी पड़ोसी, मित्र अथवा सम्बन्धी का कोई भी अधिकार नहीं होता, वे सब भौतिक तथा अभौतिक पदार्थ उस मनुष्य की वैयक्तिक सम्पत्ति माने जायेंगे। उदाहरण के लिए एक किसान के पास दस बीघे भूमि, दो बैल और चार हल हैं, जो खुरपी, फावड़े, चरस, रस्सी, रस्से, गाय और भैंसें और घर के बर्तन, वस्त्र, स्त्री के अलंकार आदि हैं, वे सब उसकी सम्पत्ति माने जायेंगे। इसमें से उसपर जितने भी व्यक्तियों का ऋण है वह घटा दिया जायगा और उसका यदि किसी बैङ्क, पोस्ट आफिस में धन जमा हो अथवा जो धन उसने दूसरों को उधार दे रखा हो वह जोड़ दिया जायेगा। इस घटाने और जोड़ने के बाद जो योग आयेगा वही उस किसान की अपनी निजी सम्पत्ति कहलायेगी। इसी प्रकार कालिज के एक विद्यार्थी के पास उसकी पुस्तकें, कापी, फाउन्टेनपेन, पेन्सिल, तथा अन्य लिखने-पढ़ने का सामान, मेज़, कुर्सी, वस्त्र, और यदि बैङ्क में रुपया जमा हो अथवा उसपर जो कर्ज हो, इन सब को घटाने और जोड़ने के बाद जो शेष बचेगा वह उसकी सम्पत्ति कहलायेगी।

ऐसे भौतिक तथा अभौतिक पदार्थ जिनपर व्यक्तिगत अधिकार न होकर दूसरों

के साझे के साथ हों, सामूहिक सम्पत्ति माने जाते हैं। जिनका प्रबन्ध और संचालन

सामाजिक अथवा सामूहिक सम्पत्ति

जिनपर एकाकी स्वामित्व न रह कर समाज का होता है, ऐसे सब पदार्थ इस कोटि में आते हैं। उदाहरण के लिए, सार्वजनिक वाचनालय, औषधालय, विद्यालय, मन्दिर, पुल, सड़क, अजायबघर, श्मशान-भूमि, गावों में तालाब, बाग-बगीचे, चरने के स्थान सामूहिक सम्पत्ति माने जाते हैं।

किसी देश के निवासियों की भिन्न-भिन्न वैयक्तिक सम्पत्ति और जनता की

राष्ट्रीय सम्पत्ति

सम्मिलित सामूहिक सम्पत्ति मिलकर राष्ट्रीय सम्पत्ति कहलाती है। राष्ट्रीय सम्पत्ति में निम्न साधनों और वस्तुओं का समावेश रहता है :—

(१) वैयक्तिक सम्पत्ति—अर्थात् राष्ट्र के समस्त व्यक्तियों की वैयक्तिक सम्पत्ति का कुल योग।

(२) सामूहिक सम्पत्ति—राष्ट्र की प्रत्येक सार्वजनिक संस्था की सम्पत्ति, जैसे रेल, तार, सड़कें, आदि यातायात और संवाद-वाहन के साधन; चुंगी, गैस-वर्क्स, पानी के पहुँचाने के साधन, नहरें इत्यादि।

(३) राष्ट्र के सभी नैसर्गिक साधन, जैसे—नदी, पर्वत, समुद्र, वहाँ की जल-वायु, बन्दरगाह; खनिज संम्पत्ति इत्यादि।

(४) अन्य अभौतिक साधन और गुण; जैसे—व्यापारिक साख, व्यवसायिक और औद्योगिक सम्बन्ध आदि।

(५) राष्ट्रीय साहित्य; वैज्ञानिक अविष्कार।

राष्ट्रीय सम्पत्ति का कुल योग उसके अन्य देशों पर जो ऋण हैं अथवा जो उसे दूसरे देशों को देने हैं घटाने और बढ़ाने पर विदित होगा।

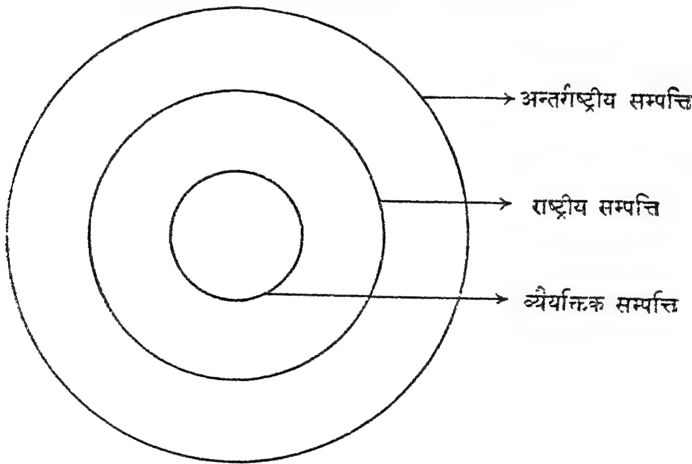
संसार के समस्त राष्ट्रों की सम्मिलित सम्पत्ति को हम अन्तर्राष्ट्रीय सम्पत्ति कहते हैं। इसमें पृथक-पृथक राष्ट्रों के साहित्य और आविष्कार भी सम्मिलित

अन्तर्राष्ट्रीय सम्पत्ति

रहते हैं जिनसे दूसरे राष्ट्र भी लाभ उठा सकते हैं। अतः मार्कोनी के बेतार के तार का अविष्कार अकेले इटली की सम्पत्ति न रह कर अन्तर्राष्ट्रीय सम्पत्ति है। इसी प्रकार, कालीदास, भवभूति,

तुलसीदास, शेक्सपियर, मिल्टन, गान्धीजी की कृतियों का संसार के प्रत्येक कोने में मान है, अतः ये भी अन्तर्राष्ट्रीय सम्पत्ति की गणना में आ जाते हैं। संसार के सब महासागर और खाड़ियों को भी इसी तरह प्रत्येक देश व्यापार के लिये प्रयोग में लाते हैं, इसलिये अन्तर्राष्ट्रीय सम्पत्ति के ही अङ्ग हैं।

सम्पत्ति के इन भेदों को हम निम्न चित्र द्वारा स्पष्ट करते हैं:—



उपयोगिता

वस्तुओं का वह गुण, जिससे मनुष्य की आवश्यकताएँ परितोषित होती हैं, उपयोगिता कहलाता है। किसी पदार्थ में उपादेयता के इस गुण के होने के कारण ही हमें उसकी आवश्यकता होती है। जिस वस्तु में जितनी अधिक मात्रा में यह गुण पाया जाता है उतनी ही अधिक हमें उस वस्तु की आवश्यकता होती है और इस चाह (इच्छा) के अनुसार ही उसके बदले में हम दूसरी वस्तु लेने को तैयार होंगे। पदार्थों की उपयोगिता ही उनके परस्पर विनिमय का माप-दण्ड है।

उपयोगिता दो बातों पर निर्भर रहती है। एक तो मनुष्य की इच्छा अथवा आवश्यकताओं की प्रकृति पर, दूसरे उस आवश्यकता को पूर्ण करने वाले साधनों की मात्रा (परिमाण) पर।

बहुत-से पदार्थ विष के समान घातक गुणवाले या समाज के स्वास्थ्य के लिए

हानिकारक होते हुए भी उपयोगी कहलाते हैं, जैसे-संखिया, तम्बाकू और मदिरा आदि। लेकिन यदि ध्यान पूर्वक देखा जाय तो ये औषधियों में भी प्रयुक्त किये जाते हैं और इनसे मनुष्य की आवश्यकताएँ और इच्छाएँ भी सन्तुष्ट हो जाती हैं। और उन्हें सन्तोष प्राप्त होता है, फलतः उपयोगी हैं।

अर्थशास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान सीज़र ने उपयोगिता की व्याख्या निम्न प्रकार की है :—

"जिस पदार्थ से कोई आवश्यकता पूर्ण और तृप्त हो जाती हो, उपयोगी है; फिर भले ही वह किसी व्यापारी की मदिरा हो अथवा एक धर्माचारी (पादरी) का स्तोत्र।"

अतः अर्थशास्त्र में उपयोगिता का अर्थ है—मनुष्य की आवश्यकताओं को पूर्ण करने की क्षमता का होना।

प्राचीन काल में वस्तुओं के परस्पर विनिमय में बहुत अड़चनों और बाधाओं का सामना करना पड़ता था। यदि किसान को अपनी भैंस बेचकर गाड़ी खरीदनी होती थी तो उसे ऐसे ही किसी व्यक्ति को ढूँढ़ना पड़ता था जो उसे गाड़ी दे दे और बदले में उससे भैंस ले ले। किन्तु यह सर्वदा सम्भव नहीं हो पाता था। और अगर भाग्य से मिल भी जाता था तो उन दोनों वस्तुओं का परस्पर विनिमय किस प्रकार हो? कौन-सी वस्तु किस अनुपात में दी जाय जिससे दोनों दल सन्तुष्ट रहें। अतः इन व्यावहारिक कठिनाइयों को दूर करने के लिये समाज ने विनिमय का माध्यम द्रव्य को निश्चित किया। द्रव्य द्वारा ही वस्तुएँ खरीदी जाने लगीं और वेचने पर भी उसीका व्यवहार होने लगा। फलतः कोई वस्तु कभी और किसी व्यक्ति से भी खरीदी या बेची जाने की सुविधा प्राप्त हो गई।

द्रव्य

आज-कल संसार के सब व्यापारिक, व्यावसायिक और व्यावहारिक कार्य द्रव्य के माध्यम द्वारा ही पूर्ण होते हैं।

ऊपर बताया जा चुका है कि प्राचीन काल में मुद्रा का प्रचलन नहीं था। अतः दो वस्तुओं में परस्पर अदल-बदल द्वारा ही विनिमय की क्रिया सम्पन्न होती थी। एक वस्तु के परिमाण में जब दूसरी वस्तु जिस परिमाण में मिलती थी, तो उन दोनों का वह अनुपात एक इकाई का मूल्य कहलाता था। उदाहरण के लिये अगर १० बकरियों के देने पर एक गड़ेरिये का दो भैंस प्राप्त

मूल्य

होती थीं; तो एक भैंस का मूल्य पाँच बकरियाँ हुआ। इसी प्रकार एक मकान के लिए यदि एक किसान तीन सौ मन धान या पचास गाय और भैंस अथवा एक बीघा भूमि देने को तैयार हो तो ये वस्तुएँ क्रमशः उस मकान का मूल्य कहायेंगी।

कीमत

उपरोक्त उदाहरण में जब एक किसान एक मकान को खरीदने क लिए तीन सौ मन धान, या पचास गाय-भैंस अथवा एक बीघा देने को तैयार था, तब वह समय था जब विनिमय का माध्यम केवल आपस की अदल-बदल ही थी। किन्तु अब मुद्रा का प्रचलन हो गया है। अतः वस्तु की एक इकाई की कीमत द्रव्य में प्रगट की जा सकती है। अस्तु; अब अगर एक मकान का मूल्य १,५००) रुपया है तो कहा जायगा की उसकी कीमत डेढ़ हजार रुपया है।

आय

धन अथवा सम्पत्ति को नापने की दो विधि हैं—(१) आय, और (२) पूंजी। आय का अर्थ है सन्तोष की मात्रा और पूंजी से हमारा तात्पर्य नाना प्रकार के सन्तोषों (के ढेर) से रहता है। हमारी जितनी आवश्यकताएँ तृप्त अथवा सन्तुष्ट हो जाती हैं उतनी ही हमारी आय है। आय मालूम करने के लिए सम्पूर्ण आय (जो किसी व्यवसायी को अपने व्यवसाय द्वारा होती है) में से व्यवसाय पर हुआ व्यय घटा दिया जाता है। उदाहरण के लिए, जब हम यह कहते हैं कि गजेन्द्र जमीन्दार की वार्षिक आय १०,००० रुपया है तो इससे हमारा अर्थ यही रहता है कि इतना धन उसके पास शेष बच रहता है। अपनी खेती-बारी क व्यवसाय की सम्पूर्ण आय में से लागत मूल्य घटाकर १०,०००) रुपया उसके पास बचा है। इसी धन को हम गजेन्द्र की आय कहेंगे।

राष्ट्रीय आय

राष्ट्रीय आय उस देश का वह धन है जो सरकार को विविध प्रकार के करों, लगानों आदि से प्राप्त होता है। प्रत्येक सरकार देश की राज्य-व्यवस्था, सैन्य-संगठन और संचालन, शिक्षा, कृषि, और व्यापार आदि की उन्नति के लिए कुछ कर और लगान वसूल करती है। यह धन आजकल रुपये-पैसों के रूप में ही लिया जाता है। इस प्रकार प्रत्येक व्यवसाय और व्यापार से सरकार को जो रुपया प्राप्त होता है, वह सम्पूर्ण धन उस देश या राष्ट्र की आय कहलाती है।

आठवाँ अध्याय

उपभोग

अगर कोष उठा कर देखा जाय तो उपभोग का अर्थ नष्ट होना अथवा प्रयोग में आना है। किन्तु क्या वास्तव में हम किसी पदार्थ को नष्ट कर सकते हैं ? वैज्ञानिकों का मत है कि मनुष्य न तो किसी पदार्थ को एकदम नये सिरे उत्पन्न ही कर सकता है और न उसमें उसे नष्ट करने की क्षमता है। हम तो केवल किसी पदार्थ में उपयोगिता ही उत्पन्न कर सकते हैं, और इसी प्रकार अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति में उस उत्पन्न की हुई उपयोगिता का प्रयोग करेंगे। अर्थशास्त्र में पदार्थों में उपयोगिता उत्पन्न करना 'उत्पत्ति' कहलाता है और उस उपयोगिता को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रयोग में लाना 'उपभोग' कहा जाता है।

उपभोग का अर्थ वस्तु की उपयोगिता का प्रयोग करना है

कल-करखानों में जब कोयला जलाया जाता है तो सहसा यह विचार उठता है कि वह नष्ट हो कर धुँआ और राख में परिणत हो रहा है। परन्तु वास्तव में यह बात नहीं है। जलाने में कोयला नष्ट नहीं हो रहा, किन्तु हम उसकी उपयोगिता का प्रयोग कर अपने व्यवसाय के लिए उससे गर्मी और रोशनी की शक्ति उत्पन्न कर रहे हैं। अतः अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए (उत्पत्ति) हमने कोयले का उपयोगिता का प्रयोग किया जिससे हमें सुख और सन्तोष मिला। यही कोयले का उपभोग है। इसी तरह जब हम मिठाई या फल खाते हैं, भोजन करते हैं, वस्त्र पहनते हैं, मकान में रहते हैं, खेतों में खाद डालते हैं तो इन सब क्रियाओं में हम उन वस्तुओं की उपयोगिता का सेवन या प्रयोग करते हैं। इन वस्तुओं की उपयोगिता के इस प्रकार के प्रयोग से हमारी आवश्यकताएँ तृप्त हो जाती हैं और ये हमें सुख और सन्तोष प्रदान करती हैं।

अतः संक्षेप में—उपभोग की क्रिया में हम अपनी तात्कालिक आवश्यकताओं की पूर्ति के निमित्त वस्तुओं की उपयोगिता का प्रयोग इस तरह करते हैं कि

उनकी वह उपयोगिता नष्ट हो जाती है और वे हमें सुख और सन्तोष देती है। हम पदार्थ को किसी प्रकार नष्ट नहीं कर सकते है, और न करते ही हैं, उनका तो इस क्रिया द्वारा केवल रूप-परिवर्तन ही होता है।

यहाँ पर यह बता देना भी आवश्यक है कि हम अपनी सम्पत्ति का उपभोग दो प्रकार से करते हैं—(१) प्रत्यक्ष, और (२) अप्रत्यक्ष उपभोग। जब हमें भूख लगती है तो हम रोटी खाकर उसे शान्त कर लेते हैं। प्यास लगने पर पानी पी लेते हैं। सर्दी आने पर गर्म कोट बनवा कर उसे पहन लेते हैं। गर्मी होती है तो बिजली पंखा और खस की टट्टी लगवाकर सुख-लाभ करते हैं।

प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष उपभोग

इन आवश्यकताओं की पूर्ति में व्यय की गई सम्पत्ति का उपभोग 'प्रत्यक्ष उपभोग' अथवा 'अन्तिम उपभोग' कहलायेगा; चूँकि इन सब उदाहरणों में सम्पत्ति द्वारा हमारी तात्कालीक आवश्यकताओं की पूर्ति और तृप्ति प्रत्यक्ष रूप में हुई।

किन्तु जब खेतों को जोत कर बोया जाता है और उनमें खाद डाली जाती है अथवा कल-करखानों में कोयला जलाया जाता है, तो यद्यपि इन सब के प्रयोग से हमारी आवश्यकताएँ अवश्यमेव पूर्ण होंगी, तथापि प्रत्यक्ष रूप में इन उदाहरणों में क्रमशः अनाज और बने हुए माल की उत्पत्ति होगी। अतः इन पदार्थों के प्रयोग से हमारी आवश्यकताओं की तृप्ति प्रत्यक्ष रूप में नहीं होती। यह सच है कि इस तरह के उपभोग से जो वस्तु प्राप्त होती है अथवा तैयार होती है उससे किसी न किसी आवश्यकता की पूर्ति (उत्पत्ति) होती है। अस्तु, इसे 'अप्रत्यक्ष उपभोग' अथवा 'उत्पादक-उपभोग' कहेंगे।

वस्तु के उस उपभोग को हम 'उत्पादक उपभोग' कहते हैं जो उत्पादक की उत्पादन-शक्ति और योग्यता को स्थिर रखने या उसमें वृद्धि करने में सहायक सिद्ध होती है। अतः खेतों में खाद का प्रयोग या मशीनों-कलों के पुर्जों में तेल और ग्रीज़ आदि चिकनाइयों का प्रयोग इसी दृष्टिकोण से किया जाता है। इन्हें हम उत्पादक-उपभोग कहेंगे। शेष जितने भी प्रकार के उपभोग होते हैं

उत्पादक और अनुत्पादक उपभोग

उत्पादक-उपभोक्ता एक ही साथ होता है, अतः इस बात के निर्णय करने में कि कौन-सा उपभोग उत्पादक है और कौन-सा अनुत्पादक है, कठिनाई होती है।

उपभोग की क्रिया शीघ्र ही समाप्त हो सकती है और कुछ काल तक भी चलाई जा सकती है। अतः भूख लगने पर जब हम रोटी खाते हैं अथवा प्यासे होने पर पानी पी लेते हैं तो उनसे हमारी आवश्यकताएँ अथवा इच्छाएँ उसी समय शान्त हो जाती हैं और वस्तु की उपयोगिता का प्रयोग भी तत्क्षण हो जाता है। इसीको हम 'तत्काल-उपभोग' कहेंगे। किन्तु जब हम एक कुर्ता पहनते हैं तो उसकी उपयोगिता तत्काल ही पूरी नहीं हो जाती है। कई महीनों तक उसे लगातार पहनते रहने के बाद उस कुर्ते की उपयोगिता को नष्ट कर पाते हैं। इस अवस्था में हम उसकी उपयोगिता का उपभोग क्रमशः करते हैं, अतः 'क्रमशः उपभोग' कहलायेगा। खेती के व्यवसाय में सम्पत्ति का क्रमशः उपभोग हम उसमें प्रयुक्त होने वाले यन्त्रों में देख सकते हैं। उदाहरण के लिये, हल एक या दो फसल की जुताई करने में ही अपनी उपयोगिता को नष्ट नहीं कर बैठता, किन्तु कई फसलों के लिए लगातार उसकी उपयोगिता बनी रहती है और वह क्रमशः ही नष्ट हुआ करती है।

क्रमशः और तत्काल उपभोग

जब किसी पदार्थ की उपयोगिता जिसके लिए वह आवश्यक थी उस पदार्थ के अदृश्य अथवा लुप्त होने पर, लुप्त या नष्ट हो जाती है, अथवा जब उस पदार्थ पर उपयोगिता करने की विधि और विचारों में कोई परिवर्तन आ जाता है, तो इन अवस्थाओं में उस पदार्थ की उपयोगिता का प्रयोग जिस विधि से होता है, उसे हम अभौतिक उपभोग कहते हैं।

अभौतिक उपभोग

उपभोग का महत्व

अर्थशास्त्र के इस विभाग का अध्ययन आज से कुछ वर्षों पूर्व से ही आरम्भ हुआ है। प्राचीन काल के अर्थशास्त्रियों ने न तो कभी इसे अधिक महत्व ही दिया और न इसकी ओर उनका ध्यान ही आकृष्ट हुआ। मिल, रिकार्डो आदि जितने भी प्रसिद्ध अर्थशास्त्री हुए उन सब का ध्यान केवल उत्पत्ति पर ही केन्द्रित और सीमित था। उनके दृष्टिकोण से उत्पत्ति ही अर्थशास्त्र का आधार-स्तम्भ और अध्ययन का मुख्य भाग था। उपभोग को व्यक्तिगत आवश्यकता और इच्छा का विषय बता कर वे सदा इसकी ओर से उदासीन रहे और स्पष्ट शब्दों में इसकी अवहेलना ही करते रहे। आधुनिक अर्थशास्त्रियों का ध्यान इस कमी की ओर खिंचा। उन्होंने इस कमी की ओर संकेत किया तथा इसके अध्ययन की वास्तविक महत्ता पर प्रकाश डाला। अतः यह उन्हींके प्रयत्नों का फल है कि आज यह भाग भी अर्थशास्त्र के अध्ययन का मुख्य अंग माना जाता है।

अध्ययन का एक नवीन विषय है

प्राचीन काल के अर्थशास्त्रियों की इस ओर की उदासीनता के दो प्रमुख कारण थे। एक तो उनका मनुष्य की आवश्यकताओं तथा अन्य उपभोग सम्बन्धी विषयों का ज्ञान अत्यन्त ही परिमित था। दूसरा कारण यह था कि सम्पत्ति के उपभोग और समाज के हितों का सम्बन्ध तब तक भली भाँति पुष्ट नहीं हो पाया था। किन्तु ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, विचारों की प्रगति तथा भौतिक विज्ञान और गणितशास्त्र आदि की नवीन खोजों और अन्वेषणों के पश्चात् उपभोग और मनुष्यों के हित सम्बन्धी सिद्धान्त स्पष्ट होने लगे, और इस भाग पर भी विचार किया जाने लगा। आज अब यह स्थिति पहुंच गई है कि इसका महत्व सबसे अधिक माना जाता है और अनेक अर्थशास्त्रियों ने इसका गम्भीर विवेचन करना आरम्भ भी कर दिया है।

जैसा कि ऊपर लिख चुके हैं, आज इस विभाग का अर्थशास्त्र के अध्ययन में विशेष महत्व है। सच पूछा जाय तो अब अर्थशास्त्र के अध्ययन का श्रीगणेश यहीं से होता है। यह भी बता चुके कि प्रत्येक मनुष्य की कुछ न कुछ आवश्यकताएँ होती हैं, जिन्हें पूर्ण करने के लिए वह निरन्तर उद्योग करता रहता है। अस्तु, प्रत्येक आर्थिक उद्योग का मूल कारण और प्रारम्भ उपभोग ही है। इस उद्योग के फल-स्वरूप जो पुरस्कार अथवा सेवाएँ (उत्पत्ति) हम को प्राप्त होती हैं। उनका उपभोग करने के उपरान्त ही हमें सन्तोष होता है। इस तरह हम देखते हैं कि हमारे आर्थिक उद्योगों का आदि और-अन्त उपभोग में ही है। अतः अर्थशास्त्र का सारा ढांचा इसी नींव पर स्थिर है।

अर्थशास्त्र में उपभोग का महत्व

वस्तुओं का उत्पादन, क्रय-विक्रय और वितरण केवल इसीलिये होता है कि अन्त में इन क्रियाओं के अनन्तर हमारी आवश्यकताएँ पूर्ण हो सकें। अतः इस विश्व के ये सारे प्रयत्न, उद्योग-धन्धे और व्यवसाय केवल उपभोग की नींव पर ही जमे हुए हैं—इसीपर आश्रित हैं। इसमें तनिक भी परिवर्तन आ जाने पर सारा का सारा ढाँचा कम्पित हो सकता है।

हमारे आर्थिक उद्योग का आदि अन्त उपभोग ही में है, इसे हम निम्न चित्र द्वारा स्पष्ट रूप से व्यक्त करते हैं।

उपभोग (आदि)

(१) आवश्यकताओं
को पूर्ण करने के
निमित्त ही पूँजी लगाकर और
श्रम-विभाजन द्वारा

|

(२) **उत्पत्ति होती है।**
इसके उपरान्त
उस उपज का

|

|

(३) **विनिमय होता है,**
जो सामूहिक परिश्रम का फल है।
इसे बांटने के लिए

|

(४) **वितरण होता है,**
जो व्यक्तिगत परिश्रम का
फल (आय) होता है।

|

इस आय का आवश्यकताओं
की पूर्त्ति के लिए

(५) **उपभोग होता है** (**अन्त**)

राष्ट्र का हित और उसकी उन्नति अथवा अवनति सम्पत्ति के उपभोग पर ही निर्भर है। किस मात्रा में कैसी वस्तुओं उपभोग उस राष्ट्र के व्यक्ति करते हैं, यह प्रश्न प्रत्येक देश और समाज के लिए अत्यन्त आवश्यक है। जिस समाज और देश के व्यक्ति जितनी अधिक मात्रा में सम्पत्ति का उपभोग करते है, वे उतने ही अधिक सन्तुष्ट, सुखी और सम्पन्न होते हैं। अगर उपभोग के पदार्थों को होशियारी के साथ चुना जाता है और उनमें स्वास्थ्य, कुशलता आदि पर विचार रखा जाता है तो समाज और राष्ट्र की उन्नति अवश्यम्भावी है।

चूँकि उपभोग के लिए ही संसार के व्यक्ति आर्थिक प्रयत्न करते दिखाई पड़ते हैं, अतः इसका अर्थशास्त्र में विशेष महत्व है। कुछ पुराने अर्थशास्त्रियों का विचार था कि उत्पत्ति के कारण ही पदार्थों का उपभोग होता है; अगर उत्पत्ति न होगी तो उपभोग वे किस वस्तु का करेंगे—अर्थात् वे उत्पत्ति को ही आर्थिक प्रयत्नों का मूल कारण मानते थे। यह उनकी सर्वथा भूल थी। हम ऊपर देख चुके हैं कि मनुष्य की जैसी और जितनी आवश्यकताएँ होती हैं उसीके अनुसार वह उतना ही आर्थिक प्रयत्न कर वस्तुओं की उत्पत्ति करता है। अतः धन की उत्पत्ति उसके उपभोग के लिए ही की जाती है। अगर किसी वस्तु का उपभोग ही न होगा तो उसे

उपभोग और उत्पत्ति

उत्पन्न किया ही क्यों जायगा। जितना ही अधिक सम्पत्ति का उपभोग बढ़ेगा, उसकी उत्पत्ति भी उसीके अनुसार बढ़ेगी। इस प्रकार उत्पत्ति की मात्रा और तीव्रता उसके उपभोग द्वारा ही निश्चित होती है। फलतः उपभोग ही हमारे आर्थिक प्रयत्नों का मूल कारण है।

उपभोग और वितरण

वितरण पर मनुष्य की आय निर्भर रहती है, और इस आय के अनुसार ही वह अपनी आवश्यकताओं पर व्यय करता है। जिस मनुष्य की आय जितनी ही अधिक होगी वह उतनी ही अधिक उपभोग की वस्तुओं को प्राप्त कर उनका उपभोग करेगा। अतः आय ही पदार्थों के उपभोग की मात्रा का निश्चय करती है जो दूसरे शब्दों में वितरण पर निर्भर रहती है।

अपनी आवश्यकताओं और उनकी पूर्ति के लिए उपभोग के पदार्थों के अनुसार ही सामाजिक व्यक्ति प्रयत्न करते हैं। इसका प्रभाव वितरण पर समान रूप से पड़ता है। जैसा उपभोग का आदर्श होता है उसीके अनुसार वितरण-क्रम चलता है। जब वितरण असमान होता है तो उपभोग भी उसीका अनुकरण करता है। जिस देश में जितने ही अधिक धनी व्यक्ति होंगे वहां उतनी ही अधिक विलासिता की वस्तुओं का उपभोग बढ़ेगा। इसके विपरीत जब निर्धन व्यक्तियों की संख्या में वृद्धि होगी तो इन पदार्थों का उपभोग भी उसीके अनुपात में कम हो जायेगा। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि वितरण द्वारा ही व्यक्तियों की आय का निर्णय होता है और इस आय की मात्रा पर ही उपभोग की सीमा निर्धारित होती है। अस्तु, उपभोग और वितरण में भी बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है।

उपभोग और विनिमय

सम्पत्ति का उपभोग विनिमय होने के बाद ही हो सकता है। मनुष्य जितने भी आर्थिक प्रयत्न करता है उनसे वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं। इन वस्तुओं का उपभोग वह स्वयं नहीं कर पाता है। अतः बिना विनिमय के उसकी आवश्यकताओं की सन्तुष्टि सम्भव नहीं है। इस वर्तमान युग में श्रम-विभाजन का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है, जिसके कारण विभिन्न व्यक्ति अपनी कार्य-क्षमता के अनुसार विभिन्न वस्तुएँ उत्पन्न करते हैं। इस तरह प्रत्येक व्यक्ति को एक दूसरे पर आश्रित रहना पड़ता है। अपने उपभोग

के पदार्थों को प्राप्त करने के लिए उसे विनिमय का आश्रय लेना पड़ता है।

ज्यों-ज्यों सभ्यता का विकास होता गया, आवश्यकताएँ भी बढ़ती गईं। परिणाम-स्वरूप उपभोग की मात्रा और प्रकार में भी समुचित विकास हुआ और इन्हींके अनुसार अधिकाधिक विनिमय की आवश्यकता हुई। अतः उपभोग की तीव्रता के कारण विनिमय में तीव्रता आई; उपभोग में शिथिलता आने पर विनिमय में भी शिथिलता का आना आवश्यम्भावी है।

उपभोग के लिए—वस्तुएँ **उत्पन्न** की जाती हैं—(उपभोग के लिए ही) सम्पत्ति का **वितरण** हुआ—(उपभोग के लिए ही) वस्तुओं और सेवाओं का **विनिमय** होता है—इसका फल **उपभोग** होता है।

अतः हमारे दैनिक आर्थिक प्रयत्नों का आदि और अन्त उपभोग में ही है।

उपभोग के व्यावहारिक लाभ

देश के सुप्रबन्ध और राज्य-व्यवस्था में उपभोग का महत्वपूर्ण सहयोग रहता है। राज्य-व्यवस्था के लिए धन की आवश्यकता होनी है जो उस देश को वहां के निवासियों से प्राप्त होती है। अगर निवासी निर्धन होंगे तो राष्ट्र की सम्पत्ति की मात्रा में कमी होगी और राज्य के संचालन और व्यवस्था में शिथिलता उत्पन्न हो जायेगी। इसके विपरीत निवासियों की सम्पन्नावस्था पर देश की सुव्यवस्था और संचालन निर्भर रहता है। अतः देश के सुसंचालन के लिए राजनीतिज्ञ को उपभोग के नियम और सिद्धान्तों का ज्ञान होना आवश्यक है।

राजनीतिज्ञको

यह हम उपर ही बता चुके हैं कि देश में जैसा उपभोग होगा उसीके अनुसार उत्पत्ति होगी। उपभोग ही आदि और अन्त है। अधिक उत्पत्ति,–विनिमय और वितरण की कुशलता और तीव्रता–पर ही श्रमिक की कार्य-क्षमता निर्भर रहती है। उत्पत्ति उपभोग की मात्रा और प्रकार के आदर्शों का अनुसरण करती है। अतः राजनीतिज्ञ को उपभोग सम्बन्धी ज्ञान का होना कितना आवश्यक है, यह अनुभव किया जा सकता है। राजनीतिज्ञ को बड़े ध्यान पूर्वक

यह देखना पड़ता है कि उस देश के रहनेवाले कैसे और किन पदार्थों का उपभोग कितनी मात्रा में कर रहे हैं। अगर वे सम्पत्ति के उपभोग में किसी प्रकार की कमी अथवा बुराई पाते हैं तो उन्हें यत्नपूर्वक दूर करने की चेष्टा करते हैं। ऐसे नियम निर्धारित करते हैं जिनसे सम्पत्ति के उपभोग का आदर्श उत्कर्षावस्था को पहुँच जाय।

अपनी बुरी आदतों के कारण उपभोक्ता अपने स्वास्थ्य को खराब कर देगा। उसकी इन आदतों का परिणाम समाज के अन्य व्यक्तियों पर भी पड़े बिना नहीं रह सकता। इन सब बातों का ध्यान एक कुशल राजनीतिज्ञ को रखना पड़ता है। उदाहरण के लिए अगर किसी समाज के व्यक्ति मदिरा, तम्बाकू आदि का उपयोग अधिक करते हैं तो इन वस्तुओं की उत्पत्ति में भी क्रमानुसार वृद्धि होगी। इसका परिणाम यह होगा की समाज का स्वास्थ्य बिगड़ता ही चला जायगा। स्वास्थ्य-वर्द्धक पदार्थों की मात्रा और सेवन घटेगा और अन्त में उत्पत्ति में बाधा पड़ेगी। इन सब बातों को रोकने के लिए राजनीतिज्ञ को कर में वृद्धि और नियमों में परिवर्तन करने की आवश्यकता पड़ती है, इत्यादि। आज संयुक्तप्रान्त तथा भारत के अन्य प्रान्तों में मदिरा-निषेधक नियम लागू है। स्वास्थ्य को हानि पहुँचाने वाले पदार्थों पर अधिक कर लगा दिया गया है, जैसे चाय, कहवा तम्बाकू, भंग, गांजा इत्यादि। सिनेमा घरों को भी अब अधिक कर देना पड़ता है।

इस तरह हम देखते हैं कि श्रमिक की कुशलता और कार्य-क्षमता को बढ़ाने तथा देश में उत्पत्ति की वृद्धि करने के लिए राजनीतिज्ञ को उपभोग सम्बन्धी नियमों में समय-समय पर परिवर्तन अथवा संशोधन करने की आवश्यकता होती है। इसके लिए उसे देश के उपभोग की मात्रा और प्रकार, दोनों पर ही यथोचित ध्यान देना पड़ता है।

व्यापार और व्यवसाय में वस्तुओं की उत्पत्ति मांग के अनुसार होती है। जिस प्रकार के उपभोग के पदार्थों की माँग होती है व्यापारी उसी प्रकार का माल तैयार करते हैं। अतः उत्पत्ति करने से पहले वे मांग पर ध्यान देते हैं, और अन्त में वे उन वस्तुओं की मात्रा को उत्पन्न करने का अनुमान लगाते हैं। अगर उनका अनुमान सही निकलता है

व्यापारी को

तो वे लाभ उठाते हैं। किन्तु यदि अनुमान अधिक या कम हो जाता है तो व्यापारिक मन्दी (Depression) और धूम की समस्याएँ उपस्थित हो जाती हैं। अतः उत्पादक और उत्पादक-संघ को उपभोग के सिद्धान्तों और नियमों के समुचित ज्ञान की आवश्यकता है और तभी वह वास्तविक लाभ उठा सकता है।

उपभोक्ता के दृष्टिकोण से तो इसके अध्ययन का महत्व सबसे अधिक है। जितना सरल सम्पत्ति या धन को पैदा करना है, उसका उचित उपभोग उतना ही कठिन है। अनेक गृहस्थों को पग-पग पर आर्थिक कठिनाइयाँ उठानी पड़ती हैं और पड़ रही हैं। इसका मुख्य कारण यही है कि उन्हें उपभोग के सिद्धान्तों का समुचित ज्ञान नहीं है।

उपभोक्ता को

अर्थशास्त्र के इस विभाग में कई ऐसे नियम और सिद्धान्त हैं जो हमारे दैनिक जीवन में बड़े काम के हैं। यदि उनका व्यवहार हम अपने जीवन में करें तो बहुत-सी कठिनाइयां दूर हो सकती हैं। परिवार के आय-व्यय का ठीक-ठीक हिसाब रख कर आवश्यकताओं के लक्षण पर विचार रखते हुए सम-सीमान्त नियम और अधिकतम तृप्ति के नियमों का पालन करके वे वास्तविक सुख और सन्तोष प्राप्त कर सकते हैं। इनका वर्णन हम अगले अध्यायों में विस्तार पूर्वक करेंगे।

——*——

नवाँ अध्याय

आवश्यकताएँ

आवश्यकता का अर्थ

अर्थशास्त्र और उपभोग के विषय की व्याख्या करते समय हम 'आवश्यकता' शब्द का प्रयोग अनेक बार कर चुके हैं। अतः यह शब्द अब बिल्कुल नया नहीं है, किन्तु फिर भी अन्य शब्दों की भांति अर्थशास्त्र में इसका प्रयोग विशेष अर्थों में ही किया जाता है। अनः यहाँ इस शब्द की पूरी-पूरी व्याख्या करेंगे।

हममें से प्रत्येक व्यक्ति सदा किसी न किसी वस्तु का व्यवहार करते हैं। इसका एक मात्र कारण यह है कि उसे इन पदार्थों के उपयोग और उपभोग से सन्तोष मिलना है। और यदि उसे वह वस्तु न मिले तो वह अधीर और व्याकुल हो उठना है--उसे विशेष कष्ट का अनुभव होता है। जैसे, एक अफ़ीमची नित्य-प्रति अफ़ीम खाता है अथवा एक शराबी मदिरा-सेवन करता है और तम्बाकू का आदी सुर्ती या जर्दा खाता है अथवा हुक्का या सिगरेट-बीड़ी पीता है। इन सब व्यक्तियों को इन पदार्थों के उपभोग अथवा व्यवहार से सन्तोष प्राप्त होता है। अगर उन्हें ये वस्तुएँ न मिलें नो वे एक क्षण के लिए अधीर हो उठेंगे और उन्हें प्राप्त करने के लिए वे हर प्रकार का प्रयत्न करेंगे। किसी प्रकार की कमी उठा न रखेंगे। और वे उस **अभाव** की पूर्ति को येन-केन-प्रकारेण पूरा करते हैं। हर प्रकार का त्याग इनके लिए कर डालते हैं। आपने सुना और देखा होगा कि जिन्हें किसी प्रकार का कोई व्यसन लग जाना है, उसे पूरा करने के लिए वे अपने आभूषण, मकान जायदाद, हर प्रकार की सम्पत्ति को बेच डालते हैं।

अतः अर्थशास्त्र की दृष्टि में, जब हम अपने किसी **अभाव** की पूर्ति के लिए वस्तुओं का उपभोग अथवा उपयोग करके सन्तोष लाभ करते हैं, तो इस भाव को व्यक्त करने के लिए **आवश्यकताएँ** शब्द का प्रयोग किया जाता है।

किन्तु; बोल-चाल की भाषा में **चाह, इच्छा** और **आवश्यकता** प्रायः एक ही अर्थ या भाव को प्रगट करने के लिए प्रयोग किये जाते हैं। ये पर्यायवाची शब्द हैं। लेकिन अर्थशास्त्र में इनका अर्थ भिन्न-भिन्न है। **इच्छा** और **चाह** से कुछ दूसरा ही अर्थ निकलता है और ये व्यापक अर्थ के लिए प्रयोग किये जाते हैं। अतः जब एक बालक दो आने पैसे लेकर बाज़ार में जाता है तो सहसा उसका हृदय मचल उठता है। वह उद्विग्न हो यह सोचता है कि मिठाई खरीदूँ, कि पतंग खरीदूँ, या गोली लूं अथवा नारंगी। इनमें से प्रत्येक वस्तु का मूल्य दो आना है। वह केवल एक ही वस्तु उस समय उन पैसों से खरीद सकता है। अन्य वस्तुओं के पाने की आशा उसे छोड़ देनी पड़ेगी। उसे उस वस्तु को पाने के लिए त्याग करना पड़ेगा।

इस छोटे उदाहरण से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि हमारी अनेक वस्तुओं के पाने की कामना रहती है, किन्तु उनमें से बहुत-सी चीजों को हमें त्यागना पड़ता है। इस प्रकार जब हम किसी वस्तु को पाने के लिए कुछ त्याग करते हैं तो हमारी ऐसी कामना अर्थशास्त्र में **आवश्यकता** कहलाती है। अन्य दूसरी वस्तु या वस्तु-समूह की कामना को हम केवल **इच्छा** अथवा **चाह** कहेंगे। इच्छा का क्षेत्र विस्तृत रहता है और आवश्यकता उसके अन्तर्गत रहती है।

किसी वस्तु की आवश्यकता के लिए तीन बातों का होना आवश्यक है। (१) उस वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा या कामना, (२) उसे पूर्ण करने की या तृप्त करने की क्षमता का होना या साधनों का होना और (३) उसको पाने के लिए अन्य उचित वस्तुओं को छोड़ने या त्याग करने की भावना का होना। **अपनी जिस इच्छा (आवश्यकता) को पूर्ण करने के लिए हमारे पास साधन, और क्षमता है और उसको प्राप्त करने के लिए हम हर प्रकार का स्वार्थ त्याग कर सकते हैं, तभी हम उस कामना या इच्छा को आवश्यकता कह सकते हैं,** अन्यथा वह पानी के बुद्-बुद् के समान निरी कामना या इच्छा ही कहलाती है। अतः एक राहगीर भिखमंगे की तख्तताऊस के पाने की इच्छा को हम आवश्यकता नहीं कह सकते और न एक साधारण किसान की एक हाथी पाने की इच्छा ही

आवश्यकता कही जा सकती है। अगर किसान को एक हाथी की सचमुच आवश्यकता है तो वह उसे प्राप्त करने के लिए निरन्तर और कठिन से कठिन प्रयत्न करेगा, हर प्रकार के उत्सर्ग करता हुआ धन-संचय करेगा और अन्त में कुछ काल उपरान्त वह अपनी उस आवश्यकता को पूर्ण कर सकेगा।

संक्षेप में—जिस इच्छा या चाह में किसी वस्तु के प्राप्त कर लेने के साधन और शक्ति होती है, उसे हम आवश्यकता कहते हैं।

आर्थिक प्रयत्नों और आवश्यकताओं में बहुत ही घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। यह हम बतला चुके हैं कि मनुष्य को अपनी आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए निरन्तर उद्योग करना पड़ता है। इस प्रकार उसकी आवश्यकताएँ ही एक ऐसी शक्ति हैं जिनके कारण उसे प्रयत्न करने के लिए बाध्य होना पड़ता है, और यह कहावत ठीक भी है—'आवश्यकताएँ ही उद्योग की जननी हैं।'

आवश्यकताएँ और उद्योग

किसान दिन-रात, अनवरत अपनी खेती के काम में संलग्न रहता है—उसे जोतता है, खाद डालता है, बोता है, सींचता, निराता, गुड़ाता और काटता है। बेचारा हर प्रकार की यातनाएँ सहन करता हुआ कठिन परिश्रम करता है। अनाज की मंडियों में देखो, एक आढ़ती प्रातः काल से ही अपनी दुकान खोल कर बैठ जाता है, भोजन के लिए भी कठिनता से समय निकालता है और शाम को अन्धकार होने तक वहीं बैठा रहता है। मज़दूर जेठ-बैसाख की कठिन धूप में भी नंगे बदन, नंगे पैर अनाज की बोरियों को उतारते और चढ़ाते हैं, ठेला चलाते हैं, पसीना निकलता है किन्तु उसे सहन करते हैं, कठिन धूप में जमीन पर पैर रखने वाली यातना की चिन्ता तक नहीं करते; केवल अपनी आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए और पेट की खातिर ही!

यदि मनुष्य की ये आवश्यकताएँ न होतीं तो आज हमें यह जटिल आर्थिक ढांचा देखने को न मिलता। चारों ओर शान्ति होती; हमारे ये जटिल आर्थिक प्रयत्न भी सब शान्त रहे होते। अतः यह निर्विवाद है कि हमारा प्रत्येक उद्योग केवल अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए ही किया जाता है। आगे चलकर इन उद्योगों के फल-स्वरूप ही नित नवीन वस्तुओं की उत्पत्ति होती है,

पुरानी आवश्यकताओं की तृप्ति होने पर उन नवीन वस्तुओं की आवश्यकता की सृष्टि होती है। इस प्रकार उद्योग से आवश्यकताएँ तृप्त होती हैं।

पुरानी आवश्यकताओं के स्थान पर फिर से नई आवश्यकताएँ आती हैं, जिसके लिए फिर नवीन प्रकार के उद्योग करने पड़ते हैं अथवा उसी व्यवसाय में अधिक उद्योग किया जाता है और इस प्रकार यह क्रम निरन्तर चलता रहता है। निम्न चित्र द्वारा हम आवश्यकताओं और उद्योग से सम्बन्धित इस चक्र को स्पष्ट करते हैं:—



उक्त चित्र से यह स्पष्ट है कि हमारी आवश्यकताओं की शुरुआत तो हो जाती है, किन्तु उनका कहीं अन्त नहीं होता। एक के बाद दूसरी; दूसरी के बाद तीसरी; और इसी प्रकार क्रम बना रहता है। आवश्यकताओं का आधिक्य और उनके लिए प्रयत्नशील होना ही आधुनिक सभ्यता का चिन्ह है।

अपने आर्थिक जीवन के विकास में हम यह भली भाँति देख चुके हैं कि आदिम काल में मनुष्य की आवश्यकताएँ अत्यन्त ही परिमित और न्यूनतम थीं।

उसकी जो थोड़ी-बहुत भोजन की आवश्यकताएँ होती थीं, उन्हें वह सीधे उद्योग करके ही परितोषित कर लेता था। उसकी आवश्यकताएँ केवल प्राणों को स्थिर और सुरक्षित रखने वाली होती थीं। इनको पूण करने के लिए ही वह उद्योग करता था। इसके बाद उसको प्रकृति पर विजय प्राप्त करने की लालसा हुई। चूँकि उस समय जीवन के साधन बड़े दुर्लभ थे, अतः उनको सुगम बनाने के लिए वह सदा प्रयत्न करने लगा। जानवरों के शिकार के लिए शस्त्रास्त्र, फल-फूल तोड़ने के लिए बाँस या गुलेल आदि की प्राप्ति का अनुभव करने लगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि उसके जीवन को सुरक्षित रखने के लिए जिन उपभोग के पदार्थों की आवश्यकता उसे सबसे पहले रहती थी, उनको पूरा कर लेने के बाद उसकी आवश्यकता उसे अपने उस कष्ट-साध्य जीवन को सुगम बनाने के लिए हुई।

आवश्यकताओं का ऐतिहासिक वृत्तान्त

इस प्रकार निरन्तर उद्योग करने के उपरान्त वह अपने उन प्रयत्नों में सफल हुआ। प्राकृतिक साधनों में से कुछ को, जिनकी उसे आवश्यकता रहती थी, अब आधीन कर लेने पर उसकी आवश्यकताएँ थोड़े से परिश्रम और समय में ही पूर्ण होने लगीं, और उसके समय में काफ़ी बचत होने लगी। इस समय को बिताने के लिए वह निरन्तर सोचता-विचारता रहता था। सहसा मनोरंजन के लिए उसने उत्सवों की रचना की। अपने भोजन को सुधारने, वस्त्र, मकान, सम्पत्ति को बढ़ाने के भाव भी अंकुरित होने लगे। इस प्रकार हमारी आवश्यकताओं में निरन्तर वृद्धि होती चली आ रही है और उद्योग तथा आवश्यकताओं का भी क्रमशः एक दूसरे पर प्रभाव पड़ता रहा है।

आवश्यकताओं की भिन्नता के कारण

जब यह कहा जाता है कि मनुष्य एक परिवर्तनशील प्राणी है, तो इससे हमारा तात्पर्य उसकी आवश्यकताओं के परिवर्तन से ही रहता है। मनुष्य की आवश्यकताएँ कई बातों पर निर्भर रहा करती हैं और देश, जाति, काल के अनुसार बदलती रहती हैं। उनपर धार्मिक नैतिक, शारीरिक, राजनैतिक और सामाजिक आदि अनेक शक्तियों का प्रभाव पड़ता है जिससे उनकी संख्या और प्रकार,

सभी में विभिन्नता उत्पन्न हो जाती है। इन्हीं सब शक्तियों के प्रभाव का वर्णन हम नीचे करते हैं।

जलवायु

किसी देश की जलवायु ही वहाँ के रहन-सहन के तरीके, खान-पान, वेश-भूषा का निर्णय करती है। जापानी लोग बाँस और लकड़ी के मकानों में रहते हैं। चावल, मछली, और माँस उनका मुख्य भोजन है। इन सबका कारण जापान की स्थिति और जलवायु है। वहाँ प्रायः भूकम्प आया करता है, अतः पत्थर या ईंट के मकान वहाँ के लिए सर्वथा अनुपयुक्त हैं। मानसूनी जलवायु के क्षेत्र में स्थित रहने और समुद्र से घिरा होने के कारण चावल और माँस-मछली ही वहाँ की मुख्य उपज है। अब इङ्गलैण्ड को लीजिये; ठंढे अक्षांशों में स्थित होने के कारण वहाँ के निवासी प्रायः वर्ष भर गर्म कपड़े पहनते हैं, कार्य-कुशलता बढ़ाने के लिए थोड़ी मात्रा में चाय, मदिरा, तम्बाकू आदि का भी प्रयोग करते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि किसी देश के निवासियों की आवश्यकताएँ उस देश की भौगोलिक स्थिति और जलवायु से विशेष रूप से प्रभावित होती हैं।

सामाजिक प्रथाएँ

सामाजिक प्रथाओं का भी हमारी आवश्यकताओं से घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। प्रत्येक समाज के अपने पृथक नियम होते हैं। हिन्दू समाज में प्रायः अतिथि का अभिवादन ताम्बूल (पान) से किया जाता है। कोई अधिक घनिष्ठ मित्र, सम्बन्धी या परिचित पहुँच गया तो पूरी-पकवान, मिठाई, दूध आदि विविध सामग्रियों द्वारा उसकी आवभगत की जाती है। शादी-विवाह, जन्म तथा उपनयन आदि संस्कारों के अवसर पर सामाजिक भोज की भी प्रथा प्रचलित है। इसके विपरीत अमेरिका आदि पाश्चात्य देशों में सामाजिक प्रथाएँ यहाँ से अनेक बातों में भिन्न हैं। वहाँ अतिथियों का स्वागत चाय-बिस्कुट आदि से होता है। पान खाना और खिलाना तो वे जानते ही नहीं। इसी प्रकार बड़े उत्सवों और संस्कारों पर इतने वृहत रूप में कहीं भी भोज नहीं दिया जाता है। अतः प्रत्येक देश और समाज की भिन्न-भिन्न प्रथाएँ होती हैं।

जलवायु और सामाजिक प्रथाओं के अतिरिक्त मनुष्य की अनेक आवश्यकताएँ

धार्मिक विचारों तथा आचार-नीति पर भी अवलम्बित रहती हैं। एक वैष्णव या जैन कदाचित् कभी भी अण्डे और मछली खाने को तैयार न होगा। राजपूत अथवा कायस्थों की और जैन या वैष्णव की आचार-नीति में भेद रहता है। एक पक्ष तो हिंसा से डरता है किन्तु दूसरे को ऐसा कोई भय नहीं है।

धार्मिक आचार-विचार

इसी प्रकार जो मनुष्य सादा जीवन, और उच्च विचारों के पक्षपाती होते हैं, उनकी आवश्यकताएँ अत्यन्त ही परिमित रहती हैं। वे तड़क-भड़क से दूर रह कर आध्यात्मिक उन्नति पर अधिक ध्यान देते हैं। दूसरी ओर ऐसे भी व्यक्ति मिलेंगे जो आवश्यकताओं की संख्या में वृद्धि करने को उन्नति का चिन्ह समझते हैं।

मनुष्य की आय और आवश्यकताओं का जो सम्बन्ध हैं, वह तो सर्व-विदित है। निर्धन व्यक्तियों की आवश्यकताएँ परिमित होती हैं। पेट भरने को भोजन, पहनने को वस्त्र और रहने को घर, और बहुत हुआ तो विशेष उत्सवों पर वे सादा पकवान और कुछ नये वस्त्र पहन लेते हैं। इसी जीवन से उन्हें बरबस सन्तुष्ट रहना पड़ता है। मध्यम-वर्ग के व्यक्ति जो उनसे कुछ अधिक शक्त और सम्पन्न होते हैं, प्रायः कुछ आराम-दायक आर निपुणता के पदार्थों का उपभोग करते हैं। घर में दो-एक मेज़ और कुर्सी होंगी। अधिक घी या मक्खन का व्यवहार किया जायेगा। दो-एक शाक-भाजी नित्य बनेगी। वे बच्चों की शिक्षा, स्वास्थ्य, अच्छे वस्त्रों पर ध्यान देते हैं, इत्यादि। अब धनिक-वर्ग को देखिये, उनको आप विलासिता की अनेक वस्तुओं को व्यवहार करते हुए देखेंगे। घर में रेडियो, मोटर कार, बग्घी-घोड़ा, अनेक गद्दीदार कुर्सियाँ, फ़र्श, कालीन, नानाप्रकार के चित्र, दो-चार सुन्दर कुत्ते और न जानें क्या-क्या उपभोग करते हैं। इस प्रकार मनुष्य की आय का आवश्य-कताओं पर अत्यधिक प्रभाव पड़ता है।

आर्थिक अवस्था

बहुत-सी आवश्यकताएँ अनेक व्यसनों या दिखावट के कारण उत्पन्न होती हैं। भारत का श्रमिक-वर्ग प्रायः निर्धन होता है, किन्तु फिर भी उनमें से अधिकांश को हम मदिरा का व्यसनी पाते हैं, ऐसा क्यों? उनके पास इसके

लिए धन कहां से आ जाता है। वे एक बार भोजन करेंगे, किन्तु शराब के बिना उनका कार्य नहीं चलता। इसी प्रकार कोई, भंग, कोई गांजा या चरस, अन्य को तम्बाकू तथा बहुतों को पान अथवा चाय की लत पड़ जाती है। बहुतों को व्यसन तो बचपन में ही लग जाते हैं और कुछ मनुष्यों को करते हुए देखने के कारण आ जाते हैं। ऐसे व्यक्ति अपनी आय में से इन पदार्थों के लिए अवश्य धन बचा कर रखते हैं।

व्यसन अथवा दिखावट से प्रेम

इसी तरह बहुत-से व्यक्तियों को दिखावट से प्रेम होता है, अतः वे अपनी इन आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए अनेक आवश्यक पदार्थों का उपभोग करना ही छोड़ देते हैं।

मनुष्य के स्वास्थ्य के कारण भी आवश्यकताओं में परिवर्तन होता रहता है। जो मनुष्य स्थूल-काय (मोटा और बादी से फूला हुआ) होता है उसके लिए घी-दूध या उर्द की दाल हानिकारक होगी, किन्तु ये ही पदार्थ कमज़ोर अथवा दुबले-पतले व्यक्ति को लाभदायक होंगे। इसी प्रकार क्षय से पीड़ित मनुष्य के लिए भोजन की मात्रा और प्रकार में साधारण व्यक्तियों से अन्तर रहेगा। और भी ऐसे अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि स्वास्थ्य के अनुसार भी आवश्यकताओं में परिवर्तन होता रहता है।

स्वास्थ्य सम्बन्धी आवश्यकताएँ

भारतीय कृषक की आवश्यकताएँ

अब हम भारतीय कृषक की आवश्यकताओं पर विचार करेंगे। भारतीय कृषक की अधिकांश आवश्यकताएँ उसकी सामाजिक स्थिति, वातावरण, जलवायु और आर्थिक अवस्था पर निर्भर रहती हैं। पहले हम जलवायु के दृष्टिकोण से उनकी आवश्यकताओं पर विचार करेंगे।

भारतवर्ष एक विस्तृत देश है जहाँ ठंडी, गर्म तथा समान (मौतदिल), हर प्रकार की जलवायु मिलती है। जलवायु के अनुसार खान-पान, रहन-सहन

और वस्त्रादि की आवश्यकताओं में एक कोने से दूसरे कोने तक विभिन्नता पाई जाती है। बंगाल, आसाम, बिहार, पूर्वी संयुक्तप्रान्त के गांवों के मकान प्रायः खपरैल के होते हैं। उनके भोजन में अधिकांश भाग चावल का रहता है। यही अवस्था मद्रास और बम्बई प्रान्त के कुछ भागों की है। किन्तु ज्यों-ज्यों उत्तर-पश्चिम की ओर बढ़ते हैं, इनमें परिवर्तन होता चला जाता है। मिट्टी और छप्परों के मकान मिलते हैं और उपज में (जौ, चना, ज्वार, बाजरा, मक्का और गेहूं) मौसम के अनुसार परिवर्तन होता जाता है। अतः भारत के जिन भागों में वर्षा अधिक होती है और जलवायु उष्णार्द्र रहती है वहाँ खपरैल के मकान और भोजन में चावल की प्रधानता रहती है तथा अन्य भागों में इनमें कमी होती चली जाती है।

सामाजिक स्थिति और वातावरण में उनकी जाति और निर्धनता आदि पर विचार किया जाता है। प्रायः उच्चजाति के लोगों की स्थिति मान तथा धन के विचार से अच्छी होती है। अतः इन सम्पन्न परिवारों के मकान अच्छे होते हैं, प्रायः पक्के ही होते हैं; तथा प्रतिष्ठा के अनुसार भोजन की मात्रा और प्रकार में भी भेद होता है। मोटे अनाज का व्यवहार न होकर गेहूं, धान, घी-दूध खाया-पीया जाता है। वस्त्र भी अच्छे पहनते हैं। गो-धन मुख्य होता है। इनके अतिरिक्त कोई-कोई बड़े जमीन्दार घोडे, ऊँट, हाथी, रथ आदि भी रखते हैं। इस कोटि में ब्राह्मण, वैश्य, राजपूत और जाट प्रधान होते हैं। आमोद-प्रमोद के साधन भी इनके पास रहते हैं जिनमें हारमोनियम, ढोलक, तबला, ग्रामोफोन मुख्य हैं।

मध्यम स्थिति के किसानों के मकान तो प्रायः कच्चे ही होते हैं, किन्तु कभी-कभी एक या दो कमरे पक्के बनवा लेते हैं। भोज़न में मोटे अनाजों का व्यवहार भी होता है। गाय, भैंस और बैल अपनी आवश्यकतानुसार इनके पास होते हैं। सामान लाने-लेजाने के लिए बैलगाड़ी होती है। वस्त्र साधारण होते हैं। किसी-कसी के पास ढोलक और सारंगी भी रहती है।

निम्न स्थिति वालों में प्रायः मज़दूरों की गणना ही होती है। इनकी आवश्यकताएँ अत्यन्त परिमित रहती हैं। साधन सीमित होते हैं और दशा

शोचनीय रहती है। गांव में अधिक संख्या इन्हीं लोगों की रहती है। रहने के घर छोटे और टूटे-फूटे रहते हैं। उसीमें परिवार महित वे रहते हैं और अपने एक दो पशुओं को भी बाँध लेते हैं। भोजन रूखा-सूखा और प्रायः मोटे अनाजों (ज्वार-बाजरा और मक्का सर्दियों में तथा सांवा, कोदों मोटा चावल, चना, जौ इत्यादि गर्मियों और वर्षा में) का होना है। दोनों शाम भर पेट भोजन पाने का अवसर बहुत कम मिल पाता है। वस्त्रों की संख्या परिमित रहती है। वे प्रायः मोटे-गाढ़े के होते हैं। घर के बर्तन अधिकांश मिट्टी के रहते हैं, तथा चौपायों में गायों की संख्या अधिक होती है। अधिक से अधिक दो गाय अथवा बकरियों की संख्या इस श्रेणी के लोगों के पास होती है। तम्बाकू का व्यवहार काफी होता है। आमोद-प्रमोद के लिए ढोलक इत्यादि ही रहता है।

अतः उच्च परिवार और मज़दूरों की आवश्यकताओं में काफी अन्तर रहता है। वस्त्र, भोजन, शिक्षा साधन आदि सब उच्च जाति वालों के अच्छे तथा अधिक होते हैं।

व्यवसाय के अनुसार भी आवश्यकताएँ भिन्न होती हैं। जिन जमीन्दार और किसानों के पास भूमि काफ़ी होती है उनकी खेती-बारी सम्बन्धी आवश्यकताएँ भी अधिक होती हैं। जिनमें अच्छे सुन्दर और मजबूत बैल, और हल प्रधान रहते हैं। खाद भी स्थिति को देखते हुए ठीक ही समझे जाने चाहिये (आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टिकोण से नहीं किन्तु आज के गाँवों की अवस्था देखते हुए); वे अच्छे बीजों को बोने का अपना भरसक प्रयत्न करते हैं। इनके अतिरिक्त उनके पास नित्य के व्यवहार में आनेवाली लगभग प्रत्येक वस्तु मिल जाती है।

मध्यम श्रेणी वालों के पास ज्यों-ज्यों भूमि का क्षेत्रफल कम होता जाता है, इन सब साधनों की भी कमी होती जाती है। प्रायः दो-चार व्यक्ति मिलकर बहुत-सी वस्तुओं का व्यवहार करते हैं। चरस और सिंचाई के साधन बैल इनके उदाहरण हैं।

निर्धन किसान या तो प्रायः दूसरों के यहां मिहनत-मजदूरी करते हैं अथवा अधबटाई की प्रथा के अनुसार काम करते हैं। खेती-बारी के साधनों का बहुत कुछ अभाव रहता है।

गांवों में किसानों की आवश्यकताओं में अगर कभी कुछ परिवर्तन होता भी है तो केवल आय की वृद्धि होने पर होता है। वह भी उनके भोजन की मात्रा, वस्त्र और अधिकतर खेती के साधनों के व्यवहार में होता है। लेकिन अबतक हमारे अधिकांश किसान ऋण-ग्रस्त थे, अतः इन सब की नौबत प्रायः कम आती थी। ऋण का बोझा इतना अधिक रहता था कि उसके कम होने की बारी कठिनता से ही आ पाती थी (लगभग ५-६ वर्ष से अब दशा सुधर गई है)। अतः आय का अधिक भाग तो ऋण चुकाने में ही चला जाता था। संक्षेप में—हम कह सकते हैं कि अधिकांश किसानों की आवश्यकताएँ तो केवल जीवन-रक्षक पदार्थों तक ही सीमित रहती हैं और केवल कुछ सम्पन्न व्यक्ति निपुणतादायक और आराम के पदार्थों का उपभोग कर पाते हैं।

उपरोक्त वर्णन से हमें यह भली भांति विदित हो जाता है कि हमारी आवश्यकताएँ प्रायः देश, समाज, जाति, आय, धार्मिक विचार आदि के अनुसार बदलती रहती हैं। उनकी संख्या, प्रकार और प्रभाव में भी विभिन्नता होती रहती है। दूसरी बात यह कि हमारी आवश्यकताओं की संख्या अपरिमित रहती है, और वे सभी पूरी नहीं की जा सकती हैं; किन्तु उनके कुछ मुख्य नियम होते हैं जिनका वर्णन हम यहां करते हैं।

आवश्यकताओं के लक्षण

(क) हमारी आवश्यकताएँ अपरिमित तथा अतृप्त होती हैं :—

साधु-सन्यासियों को छोड़कर सांसारिक मनुष्यों की आवश्यकताएँ कदाचित कभी तृप्त नहीं होने पातीं। एक कालिज के विद्यार्थी को ही ले लीजिये, आरम्भ में जब वह विद्यालय में प्रवेश करता है तो अपने साधारण वस्त्रों से ही सन्तुष्ट रहता है। किन्तु धीरे-धीरे उसे पैन्ट, कोट, टाई, साइकिल, घड़ी, फाउन्टेन पेन, टेनिस का बल्ला, और न जाने कितने और भी पदार्थों की आवश्यकता होने लगती है। मूरलैण्ड नामक प्रसिद्ध विद्वान ने आवश्यकता के इस लक्षण के दो बड़े सुन्दर दृष्टान्त दिये हैं—"एक नौ-सिखिया वकील आरम्भ में इक्का या ट्रामकार में ही कचहरी जाकर बड़ा सन्तुष्ट रहता है, किन्तु ज्यों-ज्यों उसके पास धन (आय) बढ़ता जाता है तो पहले उसकी इच्छा एक घोड़े का ताँगा, फिर बग्घी और अन्त में

एक मोटरकार खरीदने की होती है। दूसरा दृष्टान्त उन्होंने एक भूखे मनुष्य का दिया है। वे कहते हैं कि…"आरम्भ में एक भूखे मनुष्य को साधारण भोजन (ज्वार-बाजरे की रोटी और दाल) देने पर ही सन्तुष्ट किया जा सकता है किन्तु जब उसे ऐसा भोजन नित्य मिलने लगता है तब उसे उससे अधिक और अच्छे भोजन (बाजरे की रोटी की बजाय गेहूँ की चपाती) की इच्छा होने लगती है; फिर घी, तरकारी, चावल और शायद मछली और विविध प्रकार के स्वादिष्ट मसालों की भी उसे कामना होती है। अन्त में उसकी यह इच्छा होती है कि उसे मिट्टी के बर्तनों की अपेक्षा धातु के बर्तनों में भोजन दिया जाय……"

आवश्यकता का यह लक्षण प्रत्येक प्राणि मात्र पर सही उतरता है। अतः हमारी इच्छाएँ उस फैलते हुए चक्र की भांति हैं जो हमने पृष्ठ ८७ पर चित्र द्वारा व्यक्त किया है।

(ख) मानसिक विकास के अनुसार भी आवश्यकताएँ बढ़ती हैं—

ग्रामोफोन के आविष्कार होने से पहले कोई इस प्रकार के गाने सुनने को लालायित नहीं रहता था; इसी प्रकार रेडियो के आविष्कार से पूर्व कदाचित् किसीको इतनी शीघ्रता से संसार की घटनाओं को जानने की उत्कण्ठा रहती थी। अतः ज्यों-ज्यों मानवीय ज्ञान बढ़ना जाता है, मनुष्य की आवश्यकताएँ भी उसीके अनुसार बढ़ती जाती हैं।

(ग) यथेष्ट साधन होने पर मनुष्य की प्रत्येक आवश्यकता अलग-अलग पूरी हो सकती है:—

हालाँकि जैसा हम ऊपर बता चुके हैं, हमारी आवश्यकताएँ प्रायः अपरिमित और अतृप्त हुआ करती हैं और एक आवश्यकता के पूर्ण होते ही दूसरी नई और उत्पन्न हो जाती है; फिर भी कृत्रिम आवश्यकताओं को छोड़ कर हमारी जीवनोपयोगी तथा स्वास्थ्यवर्द्धक आवश्यकताएँ अधिक सरलता से सन्तुष्ट हो जाती हैं। उदाहरण के लिए भूख लगने पर भोजन द्वारा, या प्यास लगने पर पानी पीकर हम अपनी प्यास को शान्त कर सकते हैं; दूध और घी भी आवश्यकतानुसार प्रयोग में ला सकते हैं। अपनी आवश्यकता से अधिक हम किसी पदार्थ का भी उपभोग नहीं कर सकते, भले ही वह हमारे लिए कितना ही उपयोगी क्यों

न हो। अधिक मिलने पर वही पदार्थ हमें स्वादहीन लगता है और फिर हम उसे किसी भी शर्त पर खाने या पीने को तैयार नहीं होते। हमारी इच्छा संतृप्त हो जाती है।

आवश्यकता के इस लक्षण से क्रमागत-ह्रास नियम या संतृप्त नियम की उत्पत्ति होती है। इस नियम का वर्णन हम आगे करेंगे।

(घ) आवश्यकताओं में परस्पर स्पर्द्धा होती है :-

हमारी आवश्यमताओं का तीसरा महत्वपूर्ण लक्षण आपस में स्पर्द्धा या प्रतियोगिता रखना है। हम अपनी प्रत्येक आवश्यकता की पूर्ति एक ही समय नहीं कर पाते। उनमें से जो अति आवश्यक होती है उन्हींकी पूर्ति सर्व प्रथम की जाती है, और कम या अनावश्यक की बाद में। इस प्रकार हमारी आवश्यकताओं में भी प्रायः संघर्ष पाया जाता है। मान लो एक बच्चे को अपने पिता से चार पैसे मिले, उसकी इच्छा बर्फी खाने की; केला की तथा पतंग की है। किन्तु बच्चा अधिक समय तक मनोरञ्जन-प्राप्ति के लिए पतंग ले लेता है; लेकिन अन्य पदार्थों की दुखदायी स्मृति उसके हृदय पर अवश्य अङ्कित रह जाती है। इसी प्रकार जब एक गृहस्थ के पास रुपये कम हो जाते हैं तो वह विचारता है कि अन्न, घी, दूध और फल में से कौन-सी वस्तुएँ खरीदी जायँ। अगर अन्न, घी उसके लिए अधिक उपयोगी हैं तो पहले वह उन्हें ही खरीदेगा। शेष रुपये बचने पर दूध और फल में से जिसे वह अधिक उपयोगी समझेगा, पहले उसे खरीदेगा।

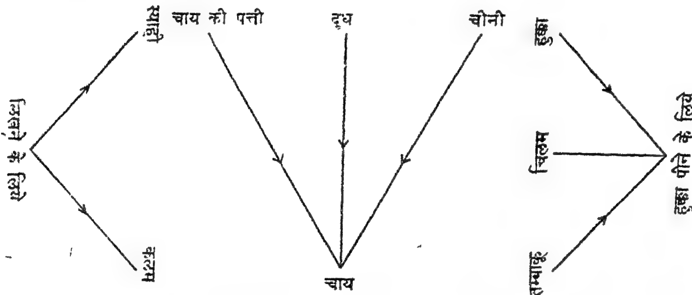
आवश्यकताओं के इस प्रकार के लक्षण से प्रतिस्थापन या सम-सीमान्त नियम की उत्पत्ति होती है।

(च) बहुधा आवश्यकताएँ एक दूसरे की पूरक होती हैं—

प्रायः बहुत-सी ऐसी वस्तुएँ होती हैं जिनकी अलग (अकेली) माँग हमें कम होती है, उनके साथ हमें दूसरी वस्तुओं की भी आवश्यकता होती है। जैसे, मोहन ने एक ताँगा खरीदा, तो उसे घोड़ा भी खरीदना आवश्यक है, अन्यथा अकेले ताँगे का कोई अर्थ नहीं। इसी प्रकार एक मोटर के खरीदने पर पेट्रोल और उसे सुरक्षित रखने के लिए स्थान (मोटर-गैरेज) भी चाहिये। घर

देखिये, रोटी के साथ शाक-भाजी आवश्यक है। शाक-भाजी को पकाने के लिए ईंधन, मिर्च-मसाले की आवश्यकता पड़ती है। एक विद्यार्थी को अध्ययन के लिए पुस्तकों की ही अवश्यकता नहीं होती। उसे साथ ही कापियाँ, पेंसिल, दवात, कलम, मेज़, कुर्सी, आदि की भी आवश्यकता होती है। इसी प्रकार एक टेनिस का खिलाड़ी अकेले बल्ले से ही नहीं खेल सकता, उसके साथ में एक गेंद और खेलने के लिए घास का मैदान भी चाहिये। अतः बहुत-सी आवश्यकताएँ साथ ही साथ चलती हैं और परस्पर एक दूसरे की पूरक होती हैं।

आवश्यकता के इस लक्षण से सम्मिलित माँग के नियम की उत्पत्ति होती है।



(छ) बहुत-सी आवश्यकताओं की प्रकृति स्वभाव में परिणत होने की रहती है:—

बहुत-से पदार्थ ऐसे भी होते हैं जिनका प्रयोग पहले हम केवल अपनी विलासिता की पूर्ति के लिए अथवा शौक के लिए ही करते हैं, किन्तु धीरे-धीरे उनका प्रयोग हमारे दैनिक जीवन में आ जाता है और विना उनके हम विकल हो जाते हैं। उनका परित्याग करना अत्यन्त कठिन हो जाता है। इसी प्रकार अनेक आवश्यकताएँ स्वाभाविक हो जाती हैं। उदाहरण के लिए अंग्रेज़ों के आने से पहले भारत में चाय-सेवन की प्रथा नहीं थी। वे ठंडे देश के निवासी थे और चाय उनका मुख्य पेय था। धीरे-धीरे जब भारतवासी उनके सम्पर्क में आने लगे तो हमारे यहाँ इसका प्रयोग पहले केवल अपने मान के विचार से ही होता था किन्तु अब कदाचित कोई ऐसा घर होगा जहाँ चाय का सेवन न होता हो। यही हाल अङ्गरेज़ी वेश-भूषा का भी है। आज एक साधारण रिक्शेवाला भी तो

ऐसा करने से मनुष्य कभी सन्तुष्ट नहीं रह सकता। अपनी बढ़ती हुई आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उसे अधिकाधिक धन की जरूरत पड़ती है, जो वास्तव में असन्तोष का कारण है। आज अनेक धनी व्यक्ति हर प्रकार के साधनों के होते हुए भी चिन्तामग्न तथा दुःख में डूबे रहते हैं। वे और अधिक धन के लिए हाय-हाय करते दीख पड़ते हैं। अतः आवश्यकताओं को मर्यादा से बाहर बढ़ा देने से सन्तोष नहीं मिलता है। किन्तु इससे यह अभिप्राय कभी नहीं है कि हर प्रकार का असन्तोष निन्द्य है। अपनी वर्तमान अवस्था को सुधारने का असन्तोष कदापि निन्दनीय नहीं ठहराया जा सकता है। यदि ऐसा असन्तोष हृदय में घर कर जाये तो वह वांछनीय है। यही सभ्यता का प्रतीक-चिन्ह है। इस उद्देश्य से यदि हम अपनी आवश्यकताओं को बढ़ाते हैं और उनकी पूर्ति के लिए परिश्रम करते हैं, तो हमारी ऐसी आवश्यकताएँ मर्यादित मानी जायेंगी।

इस प्रकार यदि भारतवर्ष के किसान अपनी आर्थिक अवस्था को सुधारने के लिए आवश्यकताओं की वृद्धि करें तो हमारे विचार से उनका बढ़ना अच्छा ही है। यहाँ अनेक आलोचक यह कहेंगे कि भारतवर्ष तो सदा 'सादा जीवन उच्च विचार' का हामी रहा है। ठीक है, हमें भी इसी उद्देश्य का समर्थन करना चाहिये। मृग-तृष्णा की भाँति यदि हम अपनी आवश्यकताओं के पीछे मारे-मारे भटकेंगे तो उससे हमारे उक्त आदर्श को ठेस पहुँचेगी। आवश्यकताओं में मनोनिग्रह को प्रधानता दी जानी चाहिये। जो मनुष्य सुख चाहते हैं उन्हें अपने मन को और इन्द्रियों को अवश्य वश में करना चाहिये। यदि हम अपने को तृष्णा और वासना में बहा देंगे तो हमारे असन्तोष की सीमा न रहेगी। यदि एक निर्धन किसान, जिसे अपना पेट भरना दूभर रहता है, २५ तोले के सोने के आभूषण (कड़े) की प्रबल तृष्णा करता है और सदा उसे पाने के लिए हाय-हाय करता है तो वह सुख और सन्तोष प्राप्त नहीं कर सकता है, चूँकि यह उसकी सामर्थ्य से परे की बात है। इसलिए उसको यही उचित है कि वह उन वस्तुओं को प्राप्त करने और उपभोग करने का यत्न करे जो उसकी शक्ति के अनुकूल हैं। और जिनके प्राप्त करने से उसे सुख और सन्तोष मिल सके। इसके लिए

आवश्यक है कि वह व्यर्थ की मृग-तृष्णा से बचकर अपनी इच्छाओं और आवश्यकताओं को सुव्यवस्थित और मर्यादित करके रखे और फ़िजूल और हानि-कारक इच्छाओं को दबाये। सादा जीवन और उच्च विचार ही हमारा मुख्य उद्देश्य होना चाहिये। यही सुख और सन्तोष का मूल मन्त्र है।

दसवाँ अध्याय

आवश्यकता के पदार्थों का विभाजन

पिछले अध्याय में हम बता चुके हैं कि मनुष्य की आवश्यकताएँ परिवर्तनशील होती हैं। देश, जाति, धर्म, समाज, आर्थिक परिस्थिति और काल के अनुसार उनमें विभिन्नता होती रहती है। फिर भी कुछ ऐसी वस्तुएँ हैं जिनकी हमें अत्यधिक आवश्यकता रहती है और उनके बिना हम जीवित नहीं रह सकते हैं। कुछ पदार्थ ऐसे भी होते हैं जिनकी माँग (आवश्यकता) साधारण मनुष्यों को अधिक नहीं होती है और जिसके न मिलने पर भी हम साधारणतः जीवित रह सकते हैं। ऐसे पदार्थों को हम भोग-विलास के पदार्थ मानते हैं। इन दोनों सीमाओं के बीच, तीसरी श्रेणी के पदार्थ होते हैं जो जीवन-रक्षा के अतिरिक्त हमें दैनिक जीवन में आराम पहुँचाते हैं और हमारा विविध प्रकार से मनोरञ्जन करते हैं। अतः अपनी सम्पत्ति का उपभोग प्रायः हम निम्न रीति से किया करते हैं:—

(१) जीवन-रक्षक पदार्थों पर सब से पहले धन व्यय किया जाता है, फिर

(२) आराम की वस्तुएँ खरीदी जाती हैं, और अन्त में,

(३) भोग-विलास के पदार्थों का उपभोग किया जाता है।

किन्तु, जीवन-रक्षा के लिए भी हम जिन पदार्थों का उपभोग करते हैं उनमें

आवश्यकताओं की प्रबलता पर ध्यान दिया जाता है। सबसे पहले हमें पेट भरने, तन ढँकने और सुरक्षित रहने की आवश्यकता होती है। इनके पूर्ण होने पर अपनी कार्य-क्षमता बढ़ाने की आवश्यकता होती है; ताकि हम भली भाँति अपने उद्योग-व्यवसाय को चला सकें। तदुपरान्त हम आचार-विचार के अनुसार लोक-निन्दा से बचने और समाज में प्रतिष्ठा बनाये रखने के लिए कुछ पदार्थों का सेवन करते हैं। इस प्रकार जीवन-रक्षक पदार्थों का विभाजन भी तीन उपभागों में किया जा सकता है:—

(अ) जीवन-रक्षक (भरण-पोषण सम्बन्धी),

(ब) निपुणता-दायक पदार्थ, और

(स) कृत्रिम आवश्यकता की वस्तुएँ।

संक्षेप में, अपनी आवश्यकता के पदार्थों का विभाजन हम पृष्ठ १०३ के चित्र के अनुसार कर सकते हैं।

जीवन-रक्षक पदार्थ

प्रत्येक व्यक्ति को अपना जीवन बनाये रखने के लिए भोजन, वस्त्र तथा सुरक्षित मकान की आवश्यकता अवश्य रहती है। इनके बिना उसका कोई काम नहीं चल सकता। इन पदार्थों के उपभोग का ध्येय केवल प्राणों को स्थिर रखना और जीवन को सुरक्षित रखते हुए अपनी अन्य दैनिक आवश्यकताओं के निमित्त प्रयत्न करना रहता है। चाहे कैसी भी अवस्था क्यों न हो, इनका होना अत्यावश्यक है। वस्तुओं पर मूल्य बढ़े अथवा घटे एक निश्चित मात्रा तक इनका उपभोग अवश्य होगा। उनमें कमी नहीं हो सकती है, अन्यथा जीवन कष्ट-साध्य प्रतीत होने लगेगा और जीवित रह सकने में कठिनाई हो जायगी। इसी कारण इन पदार्थों को जीवन-रक्षक कहा जाता है। इन पदार्थों की माँग प्रायः कम-लोचदार होती है—अर्थात् जैसा कि उपर लिख चुके हैं, इन वस्तुओं का मूल्य घटे या बढ़े एक निश्चित परिमाण और मात्रा में ये मनुष्य को सदैव और प्रत्येक अवस्था में आवश्यक होती हैं।

(अ) भरण-पोषण सम्बन्धी

आवश्यकताएँ

- **जीवन-रक्षक**
  - **भरण-पोषण सम्बन्धी** (पेट भर भोजन, तन ढँकने को वस्त्र तथा सुरक्षित रहने को मकान)
  - **निपुणता-दायक वस्तुएँ** (भर पेट भोजन के अतिरिक्त घी-दूध, अच्छे वस्त्र, स्वास्थ्य-वर्द्धक और हवादार मकान, शिक्षा और स्वास्थ्य के साधन, इत्यादि)
  - **कृत्रिम आवश्यकता की वस्तुएँ** (हुक्का, तम्बाकू, चाय इत्यादि, एक विद्यार्थी की भिन्न-भिन्न पोशाकें; जैसे, खेलने की अलग, कॉलिज की अलग, सोने की अलग आदि, किसी हाकिम का मिलने-जुलने तथा खाने-पीने के अलग-अलग कमरे; शादी-विवाह आदि उत्सवों पर आवश्यक वस्तुएँ, इत्यादि)
- **आराम-दायक** (आमोद-प्रमोद के साधन, सुन्दर आराम-कुर्सी, मेज, घड़ी, बिजली का पंखा, रेडियो, साइकिल, तथा अन्य आराम देने वाली वस्तुएँ)
- **भोग-विलास** (आराम-दायक वस्तुओं के अतिरिक्त दो-एक मोटर, अनेक दास-दासियां, दिन में कई बार बदलने के लिए विविध प्रकार के वस्त्र, सुन्दर चित्र, कालीन, आराम-कुर्सियों से सुसज्जित कमरे, कीमती आभूषण, दो-चार कुत्ते तथा अन्य पक्षी इत्यादि)

जीवन-रक्षक पदार्थों के अतिरिक्त बहुत-से ऐसे पदार्थों का भी उपभोग किया जाता है जिनसे उसके स्वास्थ्य, योग्यता, कार्य-क्षमता, बल, उत्साह, साहस और शक्ति में वृद्धि होती है। ऐसे पदार्थों की गणना निपुणता-दायक पदार्थों में की जाती है। जैसे, भर पेट भोजन के अतिरिक्त भोजन पुष्टिकर और स्वास्थ्य-वर्द्धक भी होना चाहिये, और इसके लिए उचित परिमाण में घी, दूध, शाक-भाजी, फल इत्यादि का उपभोग वांछनीय है। मनोरञ्जन के साधन, व्यायाम, स्वास्थ्य और शिक्षा सम्बन्धी अन्य वस्तुओं का भी प्रबन्ध होना आवश्यक है। भारत-वर्ष में इस श्रेणी में निम्न प्रकार की वस्तुओं की गणना होगी—

(ब) निपुणता-दायक पदार्थ

(१) स्वास्थ्य-वर्द्धक उचित परिमाण में भोजन, जिसमें केवल अनाजों का ही आधिक्य नहीं होना चाहिये, किन्तु हरी शाक-भाजी, फल, दूध आदि का उचित मात्रा में समावेश हो; जो वैज्ञानिक दृष्टिकोण से प्रोटीन, चर्बी, शक्कर, विटामिन आदि तत्वों की पूर्ति कर सकें।

(२) अच्छा हवादार मकान, जिसमें चारपाई, मेज़, कुर्सी आदि का प्रबन्ध हो। आज-कल हमारे गांवों के घरों में प्रकाश और वायु के लिए उचित प्रबन्ध नहीं हैं। वे प्रायः बन्द और अन्धकार पूर्ण रहते हैं। उन्हीं में दो-एक टूटी-फूटी चारपाई पड़ी रहती हैं तथा चौपायों को भी वहीं बाँधते हैं। वस्त्रों की भी बहुत तंगी रहती है। कम से कम सोलह गज़ कपड़ा प्रति व्यक्ति प्रतिवर्ष का औसत होना आवश्यक है।

(३) उचित शिक्षा और स्वास्थ्य के साधन; इन सब के होने से कार्य-क्षमता में काफी वृद्धि होती है। किन्तु दुःख है कि इन दोनों में से एक भी साधन हमारे देहातों में उपलब्ध नहीं हैं। अशिक्षित, रोगी और दुर्बल किसान आज भारत के लिए बोझ हैं। उत्पत्ति की वृद्धि के लिए इनपर ध्यान देना ज़रूरी है।

निपुणता-दायक पदार्थों पर जो धन खर्च किया जाता है, अनुपात में उससे लाभ कहीं अधिक होता है।

इनकी माँग कम लोचदार होती है। इन पदार्थों की माँग उतनी स्थिर

और अपरिवर्तित नहीं रहती जैसी कि जीवन-रक्षक पदार्थों की होती है। और पदार्थों के मूल्य में वृद्धि हो जाने पर इनके उपभोग की मात्रा उसी अनुपात में घट जाती है।

कृत्रिम आवश्यकता की वस्तुएँ

इस श्रेणी में ऐसी वस्तुएँ आती हैं जिनसे न तो कार्य-क्षमता में ही किसी प्रकार की वृद्धि होती है और न वे जीवन-रक्षा में ही किसी प्रकार से सहयोग देती हैं। हाँ, इस मद में होने वाला खर्च जीवन-रक्षक और निपुणता बढ़ाने वाले पदार्थों के उपभोग की वस्तुओं में कमी भले ही कर देता है। इन पदार्थों का उपभोग सामाजिक रीति-रस्म, प्रतिष्ठा, लोक-निन्दा के भय से भी किया जाता है। इनका उपभोग इतना आवश्यक माना गया है कि इन पदार्थों की कीमत बढ़ जाने पर भी इनकी माँग में विशेष कमी नहीं आती है। शराब, भंग, गांजा, तम्बाकू, आदि मादक वस्तुएँ, सामाजिक भोज, प्रीति-भोज तथा विविध उत्सवों पर के भोज इस विभाग में समावेशित हैं।

भारतवर्ष में उच्च वर्ग के लोगों में चाय, कहवा, बिस्कुट, पान-सिगरेट तथा निर्धन समाज के व्यक्तियों में हुक्का (किसानों में) गांजा, ताड़ी, मदिरा, सिगरेट आदि पदार्थों का उपभोग (प्रायः मजदूरों में) होता है। प्राचीन परिपाटी के अनुसार सामाजिक और धार्मिक अवसरों पर प्रीति-भोज देने के लिए हमारे देश-वासी अपने पेट को काट कर धन-संचय करते हैं और उत्सव की शोभा के लिए अपने हर प्रकार के सुख उत्सर्ग करने के लिए तैयार रहते हैं।

अतः इन पदार्थों की माँग भी प्रायः कम लोचदार होती है।

आराम-दायक वस्तुएँ

समाज में प्रतिष्ठा रखने, कार्य-क्षमता को बढ़ाने तथा जीवन-रक्षक पदार्थों के अतिरिक्त भी हमें कुछ ऐसे पदार्थों की आवश्यकता हुआ करती है जिनसे हमारे शरीर को सुख तथा हमें अधिक मात्रा में सन्तोष मिलता है। ऐसे पदार्थों के उपभोग से हमारी कार्य-क्षमता में बहुत अधिक वृद्धि नहीं होती, किन्तु, सुख और आराम की मात्रा अवश्य अधिक हो जाती है। जिस

अनुपात में इन पदार्थों के उपभोग पर खर्च किया जाता है उस अनुपात में हमारी योग्यता, कार्य-क्षमता और शक्ति में वृद्धि नहीं होती है। अतः इन पदार्थों पर व्यय कम होने पर (उपभोग कम होने पर) हमें न तो विशेष दुःख होता है और न अधिक कठिनाई ही अनुभव करते हैं। ऐसे पदार्थों की कमी होने पर वास्तविक कार्य-क्षमता पर तो कोई प्रभाव नहीं पड़ता है, किन्तु जिस अधिक उत्साह से हम पहले कार्य करते थे वह अवश्य कम हो जाता है। आराम-दायक वस्तुओं में हम विविध प्रकार के पकवान, सुन्दर चित्र, मेज़, कुर्सी, घड़ी, आमोद-प्रमोद के साधन, कई जोड़ी जूते, बढ़िया वस्त्र, सिनेमा आदि की गणना करते हैं।

इनकी माँग लोचदार होती है, और मूल्य में वृद्धि होने पर अथवा आय में कमी होने पर इनकी माँग घटती बढ़ती रहती है।

भोग-विलास की वस्तुएँ

ऐसे पदार्थों का सम्बन्ध बाहरी तड़क-भड़क, शान-शौकत और दिखावट से रहता है। इन वस्तुओं के उपभोग से आनन्द की वृद्धि तो अवश्य होती है, किन्तु कार्य-क्षमता, शक्ति और योग्यता में कोई परिवर्तन नहीं होता। ऐसे पदार्थों—बढ़िया सुन्दर कोठी, रौल्स-रॉइस मोटर-कार, सुविख्यात कलाकारों के चित्र, तड़क-भड़क के वस्त्र, विविध प्रकार के अलङ्कार, विदेशी मदिरा आदि—को हम भोग-विलास की वस्तुएँ मानते हैं। प्रोफेसर एली ने भोग-विलास सम्बन्धी आवश्यकताओं को 'व्यक्तिगत उपभोग का आधिक्य' बताया है; तथा प्रोफेसर जीड ने 'पुनरुक्त (व्यर्थ) आवश्यकताओं की तृप्ति' माना है।

आवश्यकता की वस्तुओं के वर्गीकरण के सिद्धान्त

आवश्यकता की वस्तुओं के विभाजन का जो वर्णन हम ऊपर कर चुके हैं, उसमें निम्न दो सिद्धान्त निहित हैं:—

(१) कार्य-क्षमता अथवा निपुणता, और

(२) आनन्द और कष्ट के भाव

जिन वस्तुओं के उपभोग करने से शक्ति, साहस, योग्यता और कार्य-क्षमता बढ़ती है, उन्हें हम जीवन-रक्षक पदार्थ कहते हैं; किन्तु जिन पदार्थों के उपभोग करने पर निपुणता में बहुत कम वृद्धि होती है, और प्रयोग न करने पर हमारी कार्य क्षमता और योग्यता में कोई अन्तर नहीं पड़ता है—केवल थोड़ा उत्साह कम हो जाता है—उन्हें हम आराम-दायक वस्तु कहते हैं। जो पदार्थ निपुणता और कार्य-क्षमता को नहीं बढ़ाते और जिन्हें प्रयोग में न लाने पर भी हमारी शक्ति में कोई परिवर्तन नहीं आता, उन्हें हम भोग-विलास की वस्तुएँ कहते हैं। निम्न कोष्ठक में हम इस सिद्धान्त को स्पष्ट करते हैं:—

निपुणता

वस्तुओं की श्रेणी	वस्तुओं के उपभोग की मात्रा बढ़ा देने पर	वस्तुओं के उपभोग की मात्रा घटा देने पर
जीवन-रक्षक	कार्य-क्षमता बढ़ती है	निपुणता घटती है
आराम-दायक	कार्य-क्षमता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता	कार्य-क्षमता नहीं घटती, किन्तु उत्साह अवश्य कम हो जाता है
भोग-विलास	कार्य-क्षमता बढ़ती नहीं, कभी-कभी कम अवश्य हो जाती है।	कार्य-क्षमता घटती नहीं हैं।

वस्तुओं के इस प्रकार के विभाजन में दूसरा सिद्धान्त आनन्द और कष्ट की मात्रा है। बहुत-से ऐसे पदार्थ होते हैं जिनके उपभोग से आनन्द की मात्रा में तो

विशेष वृद्धि नहीं होती; किन्तु उनके न मिलने पर अत्यन्त कष्ट का अनुभव होता है। उपभोग के ऐसे पदार्थों को जीवन-रक्षक माना जाता है। जब पदार्थों के व्यवहार से काफ़ी आनन्द प्राप्त होता है और न मिलने पर बहुत अधिक कष्ट नहीं होता तो उन्हें हम आराम-दायक वस्तुओं की श्रेणी में रखते हैं। और जब किन्हीं वस्तुओं की प्राप्ति, व्यवहार अथवा उपभोग से हमें अत्यधिक आनन्द मिले तथा उनके न मिलने पर कष्ट का अनुभव न हो, भोग-विलास के पदार्थ माने जाते हैं। बहुत-सी वस्तुएँ ऐसी भी होती हैं जिनके उपभोग से हमें क्षणिक आनन्द प्राप्त होता है, किन्तु न मिलने पर अत्यन्त कष्ट होता है। इनमें प्रायः व्यसन आ जाते हैं। निम्न कोष्ठक में हम इन्हीं बातों को व्यक्त करते हैं:--

आनन्द और कष्ट की मात्रा

श्रेणी	उपभोग करने पर	उपभोग न करने पर
जीवन-रक्षक	थोड़ा आनन्द	अत्यधिक कष्ट
आराम-दायक	काफी आनन्द	कम कष्ट
विलासिता	अत्यधिक आनन्द	कोई कष्ट नहीं
मादक वस्तुएं	क्षणिक आनन्द	अत्यधिक कष्ट

परिस्थिति बहुत अंश तक वस्तुओं के विभाजन का निश्चय करती है। इस विभाजन में हमें देश, काल, समाज, जलवायु आदि सभी बातों का ध्यान रखना पड़ता है। उदाहरण के लिए अंग्रेज किसान के लिए वर्ष भर गर्म और चुस्त कपड़े, चाय, बिस्कुट, टोस्ट, मक्खन थोड़ी शराब, तम्बाकू इत्यादि जीवन-रक्षक पदार्थ माने जायँगे; किन्तु भारतीय किसान के लिए सम्भव है ये चीजें विलास-प्रिय मानी जायँ। इसी प्रकार बिजली का पंखा दफ्तर में क्लर्क को अपनी निपुणता और कार्य-क्षमता के लिए आवश्यक माना जायगा, किन्तु वही उसके घर पर आराम या विलास की वस्तु हो सकती है। व्यापारी

वस्तुओं के विभाजन में परिस्थिति का स्थान

के लिए रेडियो या टेलीफोन आवश्यक माना जायगा, किन्तु वही स्कूल के अध्यापक के लिए आराम और विलास की वस्तु होगी। विद्यार्थी-समाज में अधिक सिनेमा देखना बहुत अधिक वस्त्र, अनेक जोड़े जूते, तीन या चार फाउन्टेन्पेन, विलास-प्रिय होने का चिन्ह है।

अगर एक साधारण किसान दो रथ, चार घोड़े, एक ऊँट, रेशमी वस्त्र, बढ़िया सिगरेट, नागरिकों की भाँति बाल रखाकर सुगन्धित तेल और साबुन का प्रयोग करने लगे तो ये सब पदार्थ उसके लिए विलास की सामग्री कहलायेंगे।

विलासिता के पदार्थों की माँग कहां तक न्याय-संगत है

विलासिता शब्द सुनने में ही बड़ा भद्दा और कर्ण-कटु मालूम होता है, और बहुत-से व्यक्ति तो इन वस्तुओं के नाम सुनते ही चिढ़ जाते हैं। एक अर्थशास्त्री को इन सब बातों से कोई प्रयोजन नहीं रहता है। उसे तो उनके हानि-लाभ से सम्बन्ध रहता है। विलासिता के पदार्थ दो प्रकार के होते हैं—(१) हानिकारक, और (२) जो हानिकारक नहीं होते हैं।

विलासिता के वे पदार्थ हानिकारक माने गये हैं, जिनके उपभोग से मनुष्य की कार्य-क्षमता में बाधा पड़ती है, जैसे मदिरा-सेवन इत्यादि। अतः ऐसे पदार्थों का प्रयोग और उपभोग निषिद्ध और वर्जित माना गया है

विलासिता के वे पदार्थ हानिकारक नहीं होते हैं जो मनुष्य की कार्य-क्षमता को न बढ़ाते हैं और न घटाते ही हैं। इनके होने से मनुष्य की निपुणता में किसी प्रकार की बाधा नहीं पड़ती है; जैसे, बहुमूल्य हीरा, जवाहिरात और वस्त्र इत्यादि। कभी-कभी इन पदार्थों का प्रयोग न्याय-संगत भी माना गया हैं; चूँकि इनके उपभोग होने से बहुत-से मनुष्यों का उदर पोषण होता है। इन्हींके उपभोग से ललित कलाओं की उन्नति को प्रोत्साहन मिलता है। ये समाज के कल्याण में सहायक होते हैं। प्राचीन भारत में ललित कलाएँ अपनी उन्नति की पराकाष्ठा तक पहुँची हुई थीं; इसका कारण यह है कि तब मनुष्य इन पदार्थों को अपनाते थे। किन्तु यहाँ हम यह भी स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि इन पदार्थों का उपभोग उसी सीमा तक न्याय-संगत माना जा सकता है जब कि इनपर किया हुआ

खर्च जीवन-रक्षक पदार्थों और निपुणता-दायक पदार्थों के उपभोग में किसी प्रकार भी बाधा न डालें।

मनुष्य मात्र का उद्देश्य सुख और शान्ति प्राप्त करना है। वह सदा दुःख को टालना या कम करना चाहता है और इसके लिए वह सदैव उद्योग करता है।

हमारी आवश्यकताएँ कितनी होनी चाहिये?

मनुष्य की इच्छाएँ पूर्ण होने पर उसे परम सुख मिलता है और अतृप्त रह जाने पर दुःख। किन्तु आवश्यकताओं का अपरिमित और अतृप्त होना एक प्रधान लक्षण है। अतः जब हमारी सब आवश्यकताएँ पूर्ण नहीं होतीं तो हमें दुःख का अनुभव होने लगता है। सदा एक प्रकार के सुख से भी मनुष्य सन्तुष्ट नहीं रहता है। उसे नित्य नये-नये सुख की आकांक्षा बनी रहती है। अतः उसका असन्तोष तो एक प्रकार से स्थिर ही रहता है, और पूर्ण सन्तोष मिलना असम्भव है।

पाश्चात्य विद्वानों का मत आवश्यकताओं को बढ़ाने का रहा है। उनके अनुसार मनुष्य की आवश्यकताएँ बढ़ने से वह अधिक परिश्रम करता है। इस प्रकार के सतत् परिश्रम और उद्योग से नवीन आवश्यकताएँ उत्पन्न होती हैं, उनको पूर्ण करने के साधन खोजे जाते हैं, और इस तरह सभ्यता की वृद्धि होती है। अतः इन विद्वानों के अनुसार आवश्यकताओं के बढ़ने से सभ्यता की वृद्धि होती है।

एक ओर तो हमारी आवश्यकताएँ पूर्ण नहीं होतीं, और ऐसा होने से हमारा असन्तोष बढ़ता है, और दूसरी ओर सभ्यता की वृद्धि के लिए हमें आवश्यकताओं को बढ़ाने का आदेश मिलता है। इसी युग में हम देख रहे हैं कि मनुष्य कितना असन्तोषी हो गया है। जिधर दृष्टि डालते हैं, हमें शिकायत करते हुए अथवा रोते हुए मनुष्य मिलते हैं। तो क्या हमें अपनी स्थिति से सदा सन्तुष्ट रहना उचित है? ऐसी अवस्था में हमारा कर्त्तव्य है कि हम अपनी इच्छाओं और आवश्यकताओं को मर्यादा से बाहर न होने दें। यथा-सम्भव प्रयत्न करते रह कर अपने में सुधार करना चाहिये।

———*———

ग्यारहवाँ अध्याय

उपयोगिता और उपयोगिता-ह्रास नियम

प्रचलित भाषा में उपयोगिता शब्द का अर्थ उपादेयता है ; अर्थात् किसी वस्तु का उपयोगी होना। यों तो हवा, जल, धूप, सूर्य का प्रकाश इत्यादि सभी हमारे प्राण-धारण के लिए अत्यन्य उपयोगी और आवश्यक हैं, किन्तु फिर भी इन पदार्थों की गणना अर्थशास्त्र में नहीं की जाती है। अर्थशास्त्र में केवल वे ही पदार्थ उपयोगी माने जाते हैं जिनमें निम्न दो मुख्य गुण हों। पहला, उपादेयता अर्थात् किसी आवश्यकता को तृप्त या पूर्ण करना और दूसरा, उसकी प्राप्ति के लिए मनुष्य की प्रबल इच्छा का होना। अतः घी, दूध, अन्न, वस्त्र आदि जीवनोपयोगी पदार्थों की गणना ही केवल इसमें नहीं होती, किन्तु संखिया, अफीम, मदिरा, तम्बाकू जैसे विष और नशीले पदार्थ भी अर्थशास्त्र में उपयोगी माने गये हैं। इन पदार्थों में भी मनुष्य की आवश्यकताएँ पूर्ण करने की क्षमता होती है। जो मनुष्य इनके आदी होते हैं, वे एक क्षण में ही इनके बिना विकल हो जाते हैं। सीज़र महोदय ने बड़े सुन्दर शब्दों में इसकी व्याख्या की है, "जिस पदार्थ से मनुष्य की आवश्यकता पूर्ण होती है, उपयोगी हैं; फिर चाहे वह पदार्थ एक व्यापारी के बेचने को मदिरा हो, अथवा किसी पादरी का स्तोत्र।"

उपयोगिता का अर्थः

इसके विपरीत अगर किसी पदार्थ के 'प्रयोग' से मनुष्य की असन्तुष्टि या इच्छा की तृप्ति न हो तो पदार्थ का ऐसा गुण अनुपयोगिता और वह पदार्थ अनुपयोगी कहलाता है। यहाँ 'प्रयोग' शब्द पर ध्यान देना आवश्यक है। उपभोग किसी पदार्थ में उपयोगिता होने पर ही व्यवहार होता है। अतः जिस पदार्थ के प्रयोग से हमारी तृप्ति न हो, वही अनुपयोगी कहलाता हैं, किन्तु अर्थशास्त्र की दृष्टि में किसी भी पदार्थ का उपयोग अनुपयोगी नहीं होता।

अनुपयोगिता

भौतिक पदार्थों की नाप-तौल तो सरलता पूर्वक की जा सकती है। गेहूं, शक्कर, हवा, पानी इत्यादि सभी की तोलने की विधि है और उनके सूचित करने के लिए भिन्न-भिन्न इकाइयाँ भी हैं। भोजन की गर्मी को 'कैलारी' तथा पदार्थों के तोल को हम मन, सेर, छटाँक, टन, हन्डरवेट, पाउन्ड आदि इकाइयों से सूचित करते हैं। किन्तु उपयोगिता का सम्बन्ध मन से रहता है और अपनी मानसिक दशाओं को नापने का हमारे पास कोई यन्त्र नहीं है। चूँकि प्रत्येक मनुष्य की इच्छा या रुचि भिन्न होती है, किसी एक खास वस्तु की उपयोगिता हरेक के लिए समान नहीं होती। इसी प्रकार परिस्थितियों का भी उपयोगिता पर गहरा प्रभाव पड़ता है। मसूरी या नैनीताल में गर्मी में चाय और गर्म वस्त्रों की उपयोगिता बढ़ जाती है किन्तु थार की मरुस्थली में वह शून्य हो जायगी। अतः भिन्न-भिन्न मनुष्यों की दृष्टि से किसी एक वस्तु की उपयोगिता की तुलना साधारणतया नहीं की जा सकती; और न किसी एक मनुष्य के लिए उसकी विभिन्न परिस्थितियों में वस्तुओं की तुलना ही की जा सकती है। हम केवल किसी एक समय में, जब कि उस मनुष्य की परिस्थिति में कोई परिवर्तन नहीं होता, उसकी भिन्न-भिन्न वस्तुओं से मिलने वाली उपयोगिता का अनुमान लगा कर तुलना कर सकते हैं। वस्तुओं के उपभोग से जो परितोष मिलता है, उसीसे वस्तुओं की उपयोगिता का अनुमान किया जाता है। तुलना के लिए किसी एक वस्तु के उपभोग से प्राप्त सन्तुष्टि या तृप्ति को एक बराबर मान लेते हैं, अर्थात् उसकी उपयोगिता एक है। अब अन्य वस्तुओं के उपभोग से प्राप्त संतुष्टि की तुलना उस पहली वस्तु से प्राप्त सन्तुष्टि से की जाती है और उसीके अनुपात में उन दूसरे पदार्थों की उपयोगिता का वर्णन किया जाता है।

उपयोगिता का माप अथवा उपयोगिता की इकाई

इसे हम निम्न उदाहरण देकर स्पष्ट करेंगे। मान लो हीरालाल ने अपने दो खेतों में से एक में साधारण कूड़े का खाद डाल करके १५ मन गेहूं उत्पन्न किया, और मान लो उसने दूसरे खेत में अमोनियम सल्फेट (Ammonium Sulphate) खाद डाला किन्तु उसमें तीस मन गेहूं उत्पन्न हुआ। दोनों के उपभोग से उत्पत्ति हुई किन्तु अमोनियम सल्फेट द्वारा उत्पत्ति साधारण खाद की उत्पत्ति की अपेक्षा

दूनी हुई। अब यदि साधारण खाद की उपयोगिता की इकाई हम एक मान लें तो अमोनियम सल्फेट की उपयोगिता इस उदाहरण में दो होगी।

इस प्रकार जब कभी मनुष्य के लिए वस्तुओं की तुलना की जाती है तब उसकी कोई इकाई मान ली जाती है और उस समय सब वस्तुओं की उययोगिता का अनुमान उसी इकाई के आधार पर होता है। भिन्न-भिन्न तुलनाओं के लिए उपयोगिता की इकाई भी भिन्न ही रहनी चाहिये।

उपयोगिता-ह्रास नियम

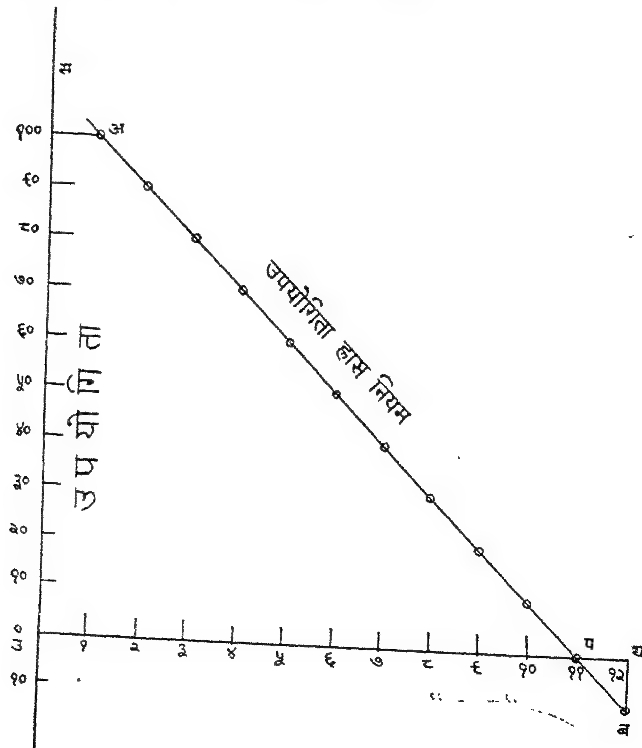
पिछले अध्याय में आवश्यकताओं के लक्षणों का अध्ययन करते समय हमने देखा था कि हमारी आवश्यकताएँ प्रायः अपरिमित और अतृप्त हैं। उनका दूसरा लक्षण यह भी था कि यथेष्ट मात्रा में किसी पदार्थ के होने पर हम अपनी आवश्यकता को पूर्ण भी कर सकते हैं, और अगर एक ही समय उस वस्तु का अधिक सेवन या उपभोग किया जाय तो उनकी उपयोगिना में क्रमशः ह्रास होने लगेगा। इस नियम का व्यवहार हम अपने दैनिक जीवन में नित्य-प्रति होते देख सकते हैं। एक बहुत भूखा आदमी है। उसे पहली रोटी खाने से अकथनीय (अमित) आनन्द प्राप्त होगा; दूसरी रोटी खाने पर केवल आनन्द और तीसरी के खाने पर उसे साधारण आनन्द मिलेगा। अब जैसे-जैसे वह और रोटियाँ खाता जायगा, उसकी भूख शान्त होती चली जायगी, और अन्त में उस समय उसे और रोटी खाने की आवश्यकता न रहेगी। अगर उसे और रोटी खिलाई जाँय तो वे उपयोगी होने के बजाय अनुपयोगी होंगी। मान लो, रमेश ने एक समय चौदह रोटियाँ खाईं। उन रोटियों की उपयोगिता क्रमशः निम्न प्रकार थी :—

पहली	रोटी	खाने	से	उसे	१००	इकाई	की उपयोगिता	मिली
दूसरी	,,	,,	,,		९०	,,	,,	,,
तीसरी	,,	,,	,,		८०	,,	,,	,,
चौथी	,,	,,	,,		७०	,,	,,	,,
पांचवीं	,,	,,	,,		६०	,,	,,	,,
छठवीं	,,	,,	,,		५०	,,	,,	,,
सातवीं	,,	,,	,,		४०	,,	,,	,,

आठवीं	,,	,,	,,	३०	,,	,,	,,
नवीं	,,	,,	,,	२०	,,	,,	,,
दसवीं	,,	,,	,,	१०	,,	,,	,,
ग्यारहवीं	,,	,,	,,	०	,,	,,	,,
बारहवीं	,,	,,	,,	१०	,,	,,	,,

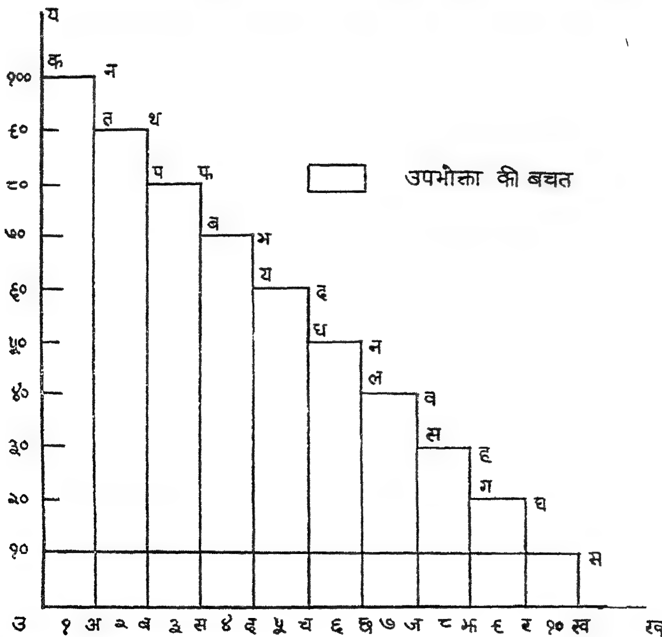
उक्त तालिका में हम देखते हैं कि पहली रोटी के खाने पर उसे १०० उपयोगिता प्राप्त हुई, दूसरी से ९०, तीसरी से ८० ; इस प्रकार क्रमशः और रोटियों की उपयोगिता घटती ही चली गई और ग्यारहवीं रोटी की उपयोगिता आकर केवल शून्य हो गई। आगे ज्यों-ज्यों उसने रोटियाँ खाई त्यों-त्यों उनकी उपयोगिता में क्रमशः ह्रास होता ही चला गया; यहाँ तक कि और रोटियाँ जो उसने खाई वे अनुपयोगी ही रहीं।

इस नियम को हम रेखा-चित्र द्वारा दिखाते हैः—



इस रेखा चित्र में उपयोगिता की इकाइयाँ उ स रेखा पर तथा रोटियों की संख्या उ य रेखा पर दिखाई गई हैं। पहली रोटी द्वारा हमें १०० इकाई की उपयोगिता मिलती है। वह हमने अ विन्दु पर दिखलाई है। इसी प्रकार और रोटियों के खाने से जो उपयोगिता प्राप्त हुई, उन्हें हम इसी नियम के अनुसार खींचते चले गये और अन्त में इन विन्दुओं के मिला देने पर अ ब एक वक्र रेखा बनी जो क्रमशः ऊपर से नीचे की ओर घटती चली आई। ग्यारहवीं रोटी की उपयोगिता शून्य है, अतः अ ब रेखा उ य रेखा को प विन्दु पर छूती है, जहाँ पर उपयोगिता शून्य है। यही 'पूर्ण सन्तुष्टि की अवस्था' कहलाती है। और इसके आगे जब हमने रोटी खाई तो उपयोगिता के बदले हमें अनुपयोगिता मिली; यह प ब रेखा द्वारा विदित होती है।

इस नियम को हम दूसरे चित्र द्वारा भी दिखा सकते हैं जो निम्न है:—



इस चित्र में लम्बों की ऊँचाई उपयोगिता बताती है। चूँकि पहली रोटी खाने पर सबसे अधिक उपयोगिता मिली; अतः पहला लम्ब सबसे ऊँचा है।

ज्यों-ज्यों अधिक रोटियाँ खाई गईं त्यों-त्यों उपयोगिता घटती चली गई, फलतः प्रत्येक लम्ब की ऊँचाई भी कम होती चली गई। ग्यारहवीं रोटी की उपयोगिता शून्य होने के कारण उसका कोई लम्ब नहीं है। जो लम्ब नीचे की ओर है, उससे यह विदित होता है कि बारहवीं रोटी खाने पर अरुचि अथवा अनुपयोगिता मिली।

इसी नियम को हम अर्थशास्त्र में उपयोगिता-ह्रास नियम कहते हैं। इस नियम के अनुसार 'यदि सब बातें पूर्ववत बनी रहें' तो ज्यों-ज्यों अधिक मात्रा में पदार्थ का उपभोग होगा त्यों-त्यों लाभ भी घटता चला जायगा।

सब बातों का पूर्ववत बना रहना

यहां हमें-'यदि सब बातें पूर्ववत बनी रहें' पर सोचना आवश्यक है। कौन सी वे बातें हैं जिनके बने रहने पर यह नियम अपना काम पालन करता रहेगा और कब लागू नहीं होगा।

(१) उपभोग के पदार्थ की इकाई समान होनी चाहिये, अर्थात् यदि कोई व्यक्ति रोटी खा रहा है तो सब रोटियाँ आकार, प्रकार और मात्रा में समान होनी चाहिये। यदि वह गेहूं की चपातियां खा रहा है तो लगातार सब गेहूं की ही मिलनी चाहिये। अगर उसे उस समय बीच में पूरियां और खीर दे दी जाँयगी तो सम्भव है, रोटियों की उपयोगिता में परिवर्तन हो जाय।

(२) उपभोग का समय एक ही और लगातार होना चाहिये। उदाहरण के लिए, यदि उस व्यक्ति को रोटियां दोपहर को खिलाई जा रही हैं तो बिठा कर लगातार उसी समय खिलाई जाँय। एक-एक कर अथवा फिर शाम को खिलाने में उपयोगिता में अन्तर आ जायगा।

(३) उपभोग करते समय तक लगातार उपभोक्ता की मानसिक अवस्था एक सी ही बनी रहनी चाहिये, उसमें किसी तरह का कोई परिवर्तन न होना चाहिये। मान लो उस व्यक्ति को चार रोटी खिलाने के बाद यदि भंग खाने की आज्ञा दे दी जाती है तो निश्चय ही उसकी मानसिक अवस्था बदल जायगी और, सम्भव है, उसके प्रभाव में वह अधिक रोटियाँ खा जाय।

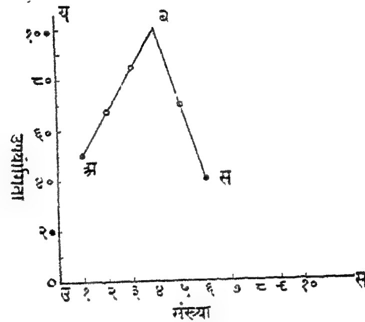
(४) उपभोग की जानेवाली वस्तु का मूल्य नहीं बदलना चाहिए। मानलो, आज एक अनार की कीमत दस पैसा है तो मोहन, एक दर्जन अनार प्रति दिन खरीद लेता है। किन्तु, उसका मूल्य घट कर यदि पाँच पैसा प्रति अनार हो जाता है तो वह दो दर्जन खरीद सकता है।

(५) पदार्थ के उपभोग की अवधि तक उपभोक्ता की आय और उसके विचारों में किसी प्रकार का परिवर्तन न होना चाहिये। अगर जगन, जिसकी आय आज दो सौ रुपया प्रति माह है, अगले महीने में किसी कम्पनी का मैनेजर हो जाता है और उसकी आय प्रति मास बढ़ कर सात सौ रुपया हो जाती है, तो अवश्य ही उसके विचारों में परिवर्तन हो जायगा। इन सब बातों का प्रभाव उस वस्तु के उपभोग पर भी अवश्य पड़ेगा। यदि पहले वह पच्चीस रुपये प्रति माह फलों पर तथा तीस रुपये दूध पर खर्च करता था तो अब उनपर कम से कम दो गुना अवश्य व्यय करेगा।

नियम के कुछ अपवाद

(१) **पदार्थ का थोड़ी-थोड़ी मात्रा में उपभोग करना**—एक बहुत प्यासे मनुष्य को यदि एक गिलास पानी देने के बजाय आधा प्याला या उससे भी कम दिया जाय तो उसकी प्यास शान्त न होकर और भी अधिक जागृत हो जायगी; वह और पानी के लिए अधीर हो उठेगा, अर्थात् उपयोगिता में वृद्धि होने लगेगी। इसका कारण यह है कि उस आधे प्याले जल से उसकी प्यास शान्त नहीं हो सकती थी। अतः उसका महत्व अधिक नहीं था; किन्तु जैसे ही उसे आधा प्याला जल और दे दिया जाता है उससे उसे कुछ अधिक शान्ति मिलती है। तीसरा प्याला मिलने पर उसकी प्यास लगभग शान्त हो जाती है, और चौथा प्याला पी लेने के बाद बिलकुल ही शान्त हो जाती है। अब यदि उसे पाँचवां प्याला दिया जाय तो उसे उतना आनन्द न आयेगा और छठा प्याला पी लेने के बाद शायद वह और पीने के लिए उद्यत ही न होगा। इस उदाहरण को हम निम्न कोष्ठक और रेखा चित्र द्वारा स्पष्ट करते हैं:—

मान लो	पहले	प्याले में	उसे	५०	इकाई की	उपयोगिता	मिलती	है।
,,	दूसरे	,,	,,	,,	७८	,,	,,	,,
,,	तीसरे	,,	,,	,,	८४	,,	,,	,,
,,	चौथे	,,	,,	,,	१००	,,	,,	,,
,,	पांचवें	,,	,,	,,	७०	,,	,,	,,
,,	छटे	,,	,,	,,	४०	,,	,,	,,



अतः चौथा प्याला पानी पी लेने पर उसके आनन्द की मात्रा अपनी सीमा तक पहुंच जाती है, अर्थात् पानी पी लेने की आवश्यकता शान्त हो जाती है। उसके बाद और प्यालों के पीने पर क्रमशः उस अनन्द की मात्रा में ह्रास होने लग जाता है, जो उक्त रेखा चित्र द्वारा स्पष्ट हो जाता है। उपयोगिता की रेखा अ बिन्दु से ब तक जाती है। ब बिन्दु पर पहुँच कर पानी इतना पी लिया जाता है कि उसके बाद जो पीया गया है उसमें क्रमशः ह्रास होना आरम्भ हो जाता है और स बिन्दु पर पहुँच कर वह एक तरह से अनुपयोगिता में परिणत हो जाती है। अतः अ ब रेखा उपयोगिता दिखाती है, और ब स अनुपयोगिता बतलाती है।

(२) **दुर्लभता**—कभी-कभी जो पदार्थ कठिनाई से मिलते हैं, उनके संग्रह करने में मनुष्य को विशेष आनन्द प्राप्त होता है। स्त्रियों को आभूषण की माँग सदा बनी रहती है, या एक टिकट इकट्ठा करनेवाले लड़के की टिकटों की माँग कभी

पूरी नहीं होती है, वह उसके लिए हमेशा धन-व्यय करने के लिए तत्पर रहता है।

(३) एक शराबी की शराब की इच्छा कभी पूरी नहीं होती। उसे जितनी शराब पिलाई जायगी, वह उतनी ही और मांगेगा।

(४) सूम की धन की चाह नहीं घटती है। वह उसमें निरन्तर वृद्धि ही चाहता है।

(५) स्वायत्त और वैभव का प्रेम सदा बढ़ता ही है घटता नहीं। प्रत्येक व्यक्ति उसे बढ़ाने का ही इच्छुक रहता है।

(६) तड़क-भड़क और बाहरी दिखावट से प्रेम भी इसी तरह कभी नहीं घटता है। ऐसी वस्तुओं की माँग सदा बढ़ती ही जाती है।

बारहवां अध्याय

उपयोगिता के अन्य नियम

कुल उपयोगिता

उपयोगिता सम्बन्धी पिछले नियम में हम देख चुके हैं कि जब किसी मनुष्य को एक ही समय किसी पदार्थ का उपभोग करना पड़ता है तो क्रमशः उस वस्तु की उपयोगिता कम होने लगती है—अर्थात् उपयोगिता का ह्रास होने लग जाता है। अतः यदि सुरेन्द्र को आठ लड्डू खाने को दिये जायें, तो उसे पहले

लड्डू के खाने में सबसे अधिक आनन्द प्राप्त होगा। उसकी उपयोगिता सबसे अधिक होगी। दूसरा लड्डू खाने पर उसे पहले से कम आनन्द मिलेगा। अतः उसकी उपयोगिता और कम होगी। तीसरे की उपयोगिता और भी घट जायगी। इसी क्रमानुसार चौथे, पांचवें, छठे, की उपयोगिता में निरन्तर ह्रास होता चला जायगा और यहां तक कि सातवें लड्डू के खा लेने पर उपयोगिता शून्य हो जायगी। अब यदि उसे और लड्डू खिलाया जाता है तो वह उपयोगी न रहकर अनुपयोगी होगा। इस अनुपयोगिता को हम प्रायः ऋण-सूचक चिन्ह (–) से प्रकट किया करते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रत्येक लड्डू खा लेने पर सुरेन्द्र के लिए उसकी उपयोगिता घटती चली गई। इसके विपरीत ज्यों-ज्यों उपयोगिता घटती जाती है त्यों-त्यों कुल उपयोगिता में वृद्धि होती जाती है। और जिस स्थान पर किसी पदार्थ की उपयोगिता शून्य हो जाती है, वहां कुल उपयोगिता सबसे अधिक हो जाती है और अन्त में जब पदार्थ की उपयोगिता अनुपयोगिता में परिणत होती है, उसी स्थान से कुल उपयोगिता में भी ह्रास होना आरम्भ हो जाता है।

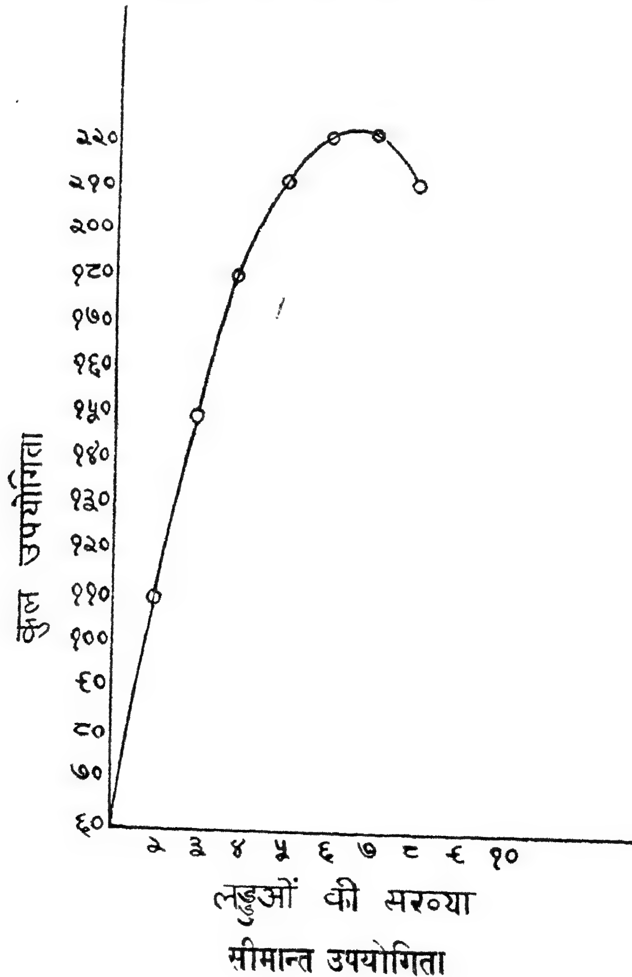
उदाहरण—सुरेन्द्र ने जो आठ लड्डू खाये हैं, उनकी उपयोगिता मान लो निम्न प्रकार थी :—

१ ला	लड्डू	खाने पर	मान लो	६०	इकाई	की उपयोगिता	मिली
२ रा	,,	,,	,,	५०	,,	,,	,,
३ रा	,,	,,	,,	४०	,,	,,	,,
४ था	,,	,,	,,	३०	,,	,	,,
५ वाँ	,,	,,	,,	२०	,,	,,	,,
६ ठा	,,	,,	,,	१०	,	,,	,,
७ वाँ	,,	,,	,,	०	,,	,,	,,
८ वाँ	,,	,,	,,	–१०	,,	,,	,,

तो इन लड्डुओं की कुल उपयोगिता निम्न प्रकार होगी :—

लड्डुओं की संख्या	१ ले की उपयोगिता	२ रे की उपयोगिता	३ रे की उपयोगिता	४ थे की उपयोगिता	५ वें की उपयोगिता	६ ठे की उपयोगिता	७ वें की उपयोगिता	८ वें की उपयोगिता	कुल उपयोगिता
१	६०								६०
२	६०	५०							६० + ५० = ११०
३	६०	५०	४०						६० + ५० + ४० = १५०
४	६०	५०	४०	३०					६० + ५० + ४० + ३० = १८०
५	६०	५०	४०	३०	२०				६०+५०+४०+३०+२०=२००
६	६०	५०	४०	३०	२०	१०			६०+५०+४०+३०+२०+१०=२१०
७	६०	५०	४०	३०	२०	१०	०		६०+५०+४०+३०+२०+१०+०=२१०
८	६०	५०	४०	३०	२०	१०	०	—१०	६०+५०+४०+३०+२०+१०+०−१०=२००

अनः हम देखते हैं कि प्रत्येक लड्डू की उपयोगिता में निरन्तर कमी होती जानी है। पहले लड्डू की उपयोगिना सबसे अधिक थी (६०) वही कम होते-होते सातवें पर आकर शून्य हो गई और आठवें की उपयोगिता अनुपयोगिना में परिणत हो गई—अर्थात् (–) हो गई। इसके विपरीत पहले लड्डू की कुल उपयोगिता सबसे कम थी, और क्रमशः ज्यों-ज्यों लड्डू खाये गये कुल उपयोगिता में उसीके अनुसार वृद्धि हुई। दूसरे लड्डू के खाने पर वह (६०+५०)=११०



सीमान्त उपयोगिता

इकाई हुई, तीसरे के खाने पर (६०+५०+४०)=१५० हुई; चौथे के खाने पर (६०+५०+४०+३०)=१८०हुई। इस प्रकार उसमें निरन्तर वृद्धि ही होती चली गई, और जिस स्थान पर लड्डू की उपयोगिता शून्य थी वहां कुल उपयोगिता (६०+५०+४०+३०+२०+१०=२१०) सबसे अधिक मिली। और इसी तरह हम देखते हैं कि जब आठवें लड्डू के खाने पर उपयोगिता में ह्रास का नियम लागू होता है तब कुल उपयोगिता में वृद्धि घटती हुई गति से (Increases at a diminishing rate) होती है।

सीमान्त उपयोगिता

सीमान्त उपयोगिता किसी वस्तु की उपभोग की जाने वाली अन्तिम इकाई को कहते हैं। मान लो, रमेश एक समय में पाँच सेव तक खा सकता है तो पाँचवें सेव से मिलने वाली उपयोगिता की इकाई को हम सीमान्त उपयोगिता कहेंगे। इसी प्रकार यदि नरेन्द्र उसके साथ (रमेश के साथ) सात सेव तक खा लेता है तो नरेन्द्र के लिए सातवें सेव से प्राप्त उपयोगिता की इकाई सीमान्त उपयोगिता होगी। अतः पदार्थों का उपभोग करते समय जब 'बस, अब और नहीं' की सीमा पहुँच जाती है तो उस समय उपभोग के उस पदार्थ की अन्तिम इकाई से मिलने वाली उपयोगिता को हम सीमान्त उपयोगिता कहते हैं। इसे हम निम्न उदाहरण देकर स्पष्ट करते हैं:—

मान लो रमेश ने पाँच सेव खाई, और उनमें से प्रत्येक सेव की उपयोगिता निम्न प्रकार से थी:—

सेवों की संख्या	उपयोगिता की इकाई
१ ली सेव	५०
२ री सेव	४०
३ री सेव	३०
४ थी सेव	२०
५ वीं सेव	१०

तो यहाँ पाँचवीं सेव से मिलने वाली सेव की उपयोगिता को हम सीमान्त उपयोगिता कहेंगे और पाँचवीं सेव उपभोग की सीमान्त इकाई कहलायेगी।

इसी तरह हम नरेन्द्र की सेवों से प्राप्त उपयोगिता द्वारा इस नियम को स्पष्ट करते हैं। मान लो उसकी सातों सेवों की उपयोगिता निम्न थी—

सेवों की संख्या	उपयोगिता की इकाई
१ ली	७०
२ री	६०
३ री	५०
४ थी	४०
५ वीं	३०
६ ठी	२०
७ वीं	१०

तो यहां सातवें सेव से प्राप्त उपयोगिता को हम सीमान्त उपयोगिता कहेंगे। यदि वह भी रमेश की भांति पाँचवीं सेव खा कर रुक जाता तो उस हालत में सीमान्त उपयोगिता ३० होती। और पाँचवीं सेव ही उपभोग की सीमान्त इकाई (Marginal unit) कहलाती।

बहुत अंशों में इस नियम का उपयोग हम अपने दैनिक जीवन में करते भी हैं। उपभोग के पदार्थों को खरीदने में हमें जितना त्याग करना पड़ता है, जब हमारा उतना त्याग उस वस्तु की उपयोगिता के बराबर हो जाता है तभी तक हम उस वस्तु को खरीदते हैं, अन्यथा नहीं। जब धन की सीमान्त इकाई और उपभोग की वस्तु की उपयोगिता की इकाई में साम्य (Equilibrium) की अवस्था पैदा हो जाती है, वही सीमान्त उपयोगिता कहलाती है।

किसी वस्तु को खरीदते समय मनुष्य उस वस्तु की कुछ इकाइयां ही खरीद कर रुक जाता है; क्योंकि उस परिस्थिति में उसके विचार से जो कीमत उसे उस वस्तु की एक इकाई की देनी पड़ती है उसके अनुपात में वह उस वस्तु की और इकाइयां खरीदना लाभदायक नहीं समझता। उस वस्तु की वह अन्तिम इकाई जिसे खरीदने के बाद वह उस वस्तु को खरीदना बन्द कर देता है और जिसको खरीदते समय उसके हृदय में यह शंका होने लगे कि खरीदें अथवा न खरीदें, वही सीमा उसकी खरीद की सीमा होती है। इसी सीमान्त इकाई से प्राप्त होने वाली उपयोगिता को हम सीमान्त उपयोगिता कहते हैं।

उदाहरण—मानलो, एक किसान ने एक सेर चावल खरीदे तो ऐसी अवस्था में उसके लिए एक सेर चावल ही सीमान्त इकाई है और उससे प्राप्त होनेवाली उपयोगिता सीमान्त उपयोगिता होगी। यदि वह दो सेर चावल खरीदता है तो दूसरा सेर उसकी खरीद की सीमान्त इकाई होगी और उससे प्राप्त होने वाली उपयोगिता को सीमान्त उपयोगिता कहेंगे, और यदि वह पाँच सेर चावल खरीद लेता है तो पाँचवी उपयोगिता इकाई सीमान्त इकाई कहलायेगी और उस पाँचवी इकाई से प्राप्त उपयोगिता भी सीमान्त उपयोगिता कहलायेगी। सीमान्त उपयोगिता अधिक भी हो सकती है, शून्य और कम भी। जब तक पदार्थ के उपभोग से हमें आनंद या लाभ मिलता रहता है तब तक सीमान्त उपयोगिता (+) रहती है; जब उस वस्तु से हमें पूर्ण तृप्ति हो जाती है तब वह शून्य हो जाती है तथा पदार्थ की जिस इकाई के उपभोग से हमें अनुपयोगिता मिलने लगती है तभी सीमान्त उपयोगिता भी घट जाती है। तब उसे हम (—) ऋण सूचक मानते हैं। किसान के पाँचों सेर चावल की क्रमशः उपयोगिता मान लो निम्न प्रकार थी—

सेर चावल	उपयोगिता	
१	६०	+
२	३८	+
३	१२	+
४	०	शून्य
५	१०	ऋण-सूचक

अतः जब किसान पाँचवां सेर चावल खरीदता है तो सीमान्त उपयोगिता घट जाती है, उससे अनुपयोगिता मिलने लगती है। ऐसी अवस्था में वह इस इकाई के खरीदने में संकोच करेगा।

खेती-बारी में सीमान्त उपयोगिता:—खेती में इस नियम का व्यवहार लगातार किसी भूमि पर परिश्रम और पूँजी व्यय करने के बाद जब लागत के बराबर ही उत्पत्ति कर पाते हैं तब होता है। मान लो एक एकड़ भूमि पर कुल १२०) व्यय करने पर १२ मन गेहूं पैदा हुआ; अब अगर गेहूं १०) मन के भाव बाजार में बिक रहा है तो हमारी यह उत्पत्ति सीमान्त उत्पत्ति कहलायेगी और इस प्रकार

का किया हुआ व्यय सीमान्त व्यय होगा तथा जिस भूमि पर यह उपज हुई है वह सीमान्त भूमि कहलाती है।

उपभोक्ता की बचत

जब हम किसी वस्तु को उपभोग के विचार से खरीदते हैं तो उसमें हमारा उद्देश्य उस पदार्थ की उपयोगिता के उपभोग करने का रहता है। किन्तु जहाँ एक ओर हम उस पदार्थ की उपयोगिता का प्रयोग करते हैं, वहाँ दूसरी ओर हम अपने धन की उपयोगिता को भी नष्ट करते (उपभोग करते) हैं, दूसरे शब्दों में हम यों कह सकते हैं कि अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जो धन हम खर्च करते हैं, उस धन के उपभोग से हमें सुख और सन्तोष मिलता है। आरम्भ में जब किसी वस्तु का उपभोग किया जाता है तो उससे हमें अत्यधिक आनन्द मिलता है —अर्थात् धन की उपयोगिता की अपेक्षा पदार्थ से मिलने वाली उपयोगिता की मात्रा बहुत अधिक रहती है। जैसे-जैसे उपभोग की मात्रा बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे उससे प्राप्त होने वाला आनन्द भी घटता जाता है। अन्त में एक ऐसी स्थिति आ जाती है जब धन की उपयोगिता तथा पदार्थ की एक इकाई की उपयोगिता दोनों ही बिल्कुल बराबर हो जाती हैं। इस सीमा के आगे यदि वह वस्तु उपभोग के लिए खरीदी जायगी तो उसमें हमें लाभ की अपेक्षा हानि अधिक होगी—अर्थात् जब सीमान्त उपयोगिता शून्य हो जाती है तो उसके बाद पदार्थ के उपभोग में आनन्द नहीं मिलता, वह हमें अरुचिकर प्रतीत होने लगता है और इस अवस्था के बाद हमें उस पदार्थ के उपभोग अथवा खरीदने की इच्छा नहीं होती है। अतः सीमान्त उपयोगिता नियम के अनुसार हम किसी वस्तु की अन्तिम इकाई की उपयोगिता के साम्य में ही उसका मूल्य देने के लिए तैयार होते हैं। इस रीति के अनुसार जो अधिक उपयोगिता हमें मिलती है उसीको हम 'उपभोक्ता की बचत' कहते हैं। यह बचत वस्तु की कुल इकाईयों की उपयोगिता (अर्थात् उपभोग में ली गई कुल इकाइयों की उपयोगिता जिसे हम कुल उपयोगिता अथवा सम्पूर्ण उपयोगिता कहते हैं) और उन इकाइयों पर व्यय किये गये धन की उपयोगिता के अन्तर के बराबर होती है।

उदाहरण—मान लो नरेन्द्र को दस आम खरीदने हैं जिनकी उपयोगिता क्रमशः निम्न प्रकार हैः—

१००, ९०, ८०, ७०, ६०, ५०, ४०, ३०, २०, १०

सीमान्त उपयोगिता नियम के अनुसार वह अन्तिम इकाई की उपयोगिता (दसवें आम की उपयोगिता) के साम्य में ही उनका मूल्य देना स्वीकार करेगा। यदि एक आम की कीमत उसकी अन्तिम इकाई से प्राप्त उपयोगिता के अनुपात में अधिक बैठती है तो वह दस आम न लेकर उसी हिसाब से कम खरीदेगा। अब मान लो यदि एक आम का मूल्य दस पैसा है तो उसे उन दस आमों के खरीदने में ५५० इकाई (१०० + ९० + ८० + ७० + ६० + ५० + ४० + ३० + २० + १०) उपयोगिता प्राप्त होगी। इतनी उपयोगिता प्राप्त करने के लिए वह केवल १०० पैसा (दस आम का मूल्य दस पैसा प्रति के हिसाब से) ही व्यय करता है। इस प्रकार उसे ४५० इकाइयों की तृप्ति अधिक होती है, इसीको हम 'उपभोक्ता की बचत' कहते हैं।

इस उदाहरण में जो उपभोक्ता की बचत हुई है उसे हम निम्न कोष्ठक द्वारा स्पष्ट करते हैं :—

आमों की संख्या	सीमान्त उपयोगिता	बाज़ार भाव	कुल उपयोगिता	उपभोक्ता की बचन
१ ला आम	१०० पैसा	१० पैसा	१००	(१००–१०)=९० पैसा
२ रा ”	९० ”	”	१००+९०=१९०	(९०–१०)=८० ”
३ रा ”	८० ”	”	१००+९०+८०=२७०	(८०–१०)=७० ”
४ था ”	७० ”	”	१००+९०+८०+७०=३४०	(७०–१०)=६० ”
५ वां ”	६० ”	”	१००+९०+८०+७०+६०=४००	(६०–१०)=५० ”
६ ठा ”	५० ”	”	१००+९०+८०+७०+६०+५०=४५०	(५०–१०)=४० ”
७ वां ”	४० ”	”	१००+९०+८०+७०+६०+५०+४०=४९०	(४०–१०)=३० ”
८ वां ”	३० ”	”	१००+९०+८०+७०+६०+५०+४०+३०=५२०	(३०–१०)=२० ”
९ वां ”	२० ”	”	१००+९०+८०+७०+६०+५०+४०+३०+२०=५४०	(२०–१०)=१० ”
१० वां ”	१० ”	”	१००+९०+८०+७०+६०+५०+४०+३०+२०+१०=५५०	(१०–१०)=० ”
दस आम की कुल उपयोगिता	५५० पैसा	१०० पैसा	५५० पैसा	५५०–१००= ४५० पैसा

उपरोक्त कोष्ठक के देखने से विदित होता है कि केवल १० वें आम के खरीदने पर उसका मूल्य और उसकी उपयोगिता बराबर रहती है। और इस आम के खरीदने पर ही उपभोक्ता को कोई बचत नहीं होती। शेष नौ आमों के खरीदने में उपभोक्ता को काफी लाभ होता है और इस प्रकार उसे कुल मिलाकर ४५० इकाइयों की बचत होती है।

अतः अपने लागत के मूल्य से जो अधिक लाभ हमें किसी पदार्थ के उपभोग (इकाइयों) से प्राप्त होता है, उसीको हम उपभोक्ता की बचत कहते हैं। यदि हमें कोई वस्तु इस लाभ के अन्तर्गत भी खरीदनी पड़े तो हम उसे प्रसन्नतापूर्वक खरीद कर अपनी आवश्यकता को पूर्ण कर लेंगे।

व्यवहारिक जीवन में इस सिद्धान्त का प्रयोग

अपने व्यवहारिक जीवन में हम इस सिद्धान्त का प्रयोग हर घड़ी होते देखते हैं। जब भी हम कोई वस्तु खरीदते हैं तो उसमें परोक्ष रूप से यह सिद्धान्त अवश्य लागू होता हुआ मिलेगा, किन्तु इसको नापना सरल नहीं है। गर्मी में जिन लोगों ने रेल में यात्रा की है, उन्हें अनुभव होगा कि प्रायः प्यास के कारण सभी आकुल हो जाते हैं। जो लोग यात्रा में सुराही आदि लेकर नहीं चलते वे अपनी प्यास बुझाने के लिए एक गिलास पानी की कीमत एक आना प्रसन्नता पूर्वक दे देते हैं। यदि पानी वाला चार आना भी माँगे तो उतना तक देने को भी वे तैयार हो जाते हैं। अतः हम देखते हैं कि एक आने में एक गिलास जल पीने पर उसने कम से कम तीन आने की बचत कर ली। यदि वह अपनी प्यास बुझाने के लिए ऐसे तीन गिलास पानी पीता है तो प्रत्येक दशा में उसने तीन आने के हिसाब से नौ आने पैसे की बचत कर ली। अब, यदि ध्यान पूर्वक देखा जाय तो इसमें एक गुण छिपा है जिसे हम इस प्रकार स्पष्ट कर सकते हैं।

उपभोक्ता की बचत=कुल उपयोगिता—(सीमान्त उपयोगिता+उपभोग के पदार्थ की इकाइयों की संख्या)

इसी तरह और भी बहुत-से उदाहरण है जिनमें हम इस सिद्धान्त का प्रयोग देखते हैं। दियासलाई को ही ले लीजिये। हमारे दैनिक जीवन में इसका

कितना अधिक महत्व है यह तो सब ही जानते हैं, फिर भी इसका मूल्य कितना कम है। कन्ट्रोल (मूल्य-नियन्त्रण) के दिनों में इसका प्रायः अभाव रहता था और मनुष्य इसे दो आने तक में भी खरीदने को तैयार रहता था, किन्तु वास्तविक कीमत तीन पैसा ही थी। रेल और डाकखाने की टिकट, तार, टेलीफोन, नमक, समाचार पत्र आदि हमारे दैनिक जीवन में काम आने वाली प्रत्येक वस्तु में उपभोक्ता की बचत का सिद्धान्त छिपा हुआ है।

जब अर्थ-सचिव (Finance Minister) किसी वस्तु पर कर बढ़ाता है तो वह पहले ही इस बात का अनुमान कर लेता है कि किस सीमा तक कर बढ़ाने पर भी जनता उसे खरीदने को तैयार हो जायगी। मादक वस्तुओं पर जब अधिक कर लगाया जाता है तो उसमें भी यही सिद्धान्त काम करता है। कर बढ़ जाने पर पदार्थों की कीमत बढ़ जाती है। अब यदि किसी वस्तु का उपभोग कम कराना है तो 'उपभोक्ता की बचत' की पूरी सीमा तक कर लगा कर उस पदार्थ का उपभोग कम कराया जा सकता है।

अतः हमारे दैनिक जीवन में इस सिद्धान्त का हर समय व्यवहार होता है और हमारी आवश्यकताओंसे इसका घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है।

सम-सीमान्त उपयोगिता नियम

इस नियम का महत्त्व

इस नियम का सम्बन्ध आय के व्यय से रहता है, अतः हमारे व्यवहारिक जीवन में इसका बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। मनुष्य की अनेक आवश्यकताएँ होतीं हैं। उसकी सदा यही कामना रहती है कि वहअपनी आय द्वारा उनमें से अधिक-से-अधिक आवश्यकताओं को पूर्ण कर ले। अतः अपनी आय का विभाजन वह इस रीति से करता है कि कम-से-कम आय में अधिकतम तृप्ति प्राप्त कर ले। किन्तु अपनी विविध आवश्यकताओं में से कब, और कितने परिमाण में किस वस्तु को खरीदे इसका ठीक-ठीक निश्चय करना एक साधारण व्यक्ति के लिए अत्यन्त कठिन बात है। पदार्थों की उपयोगिता को नापने का हमारे पास कोई यन्त्र अथवा परिमाण नहीं होता। यह तो केवल दो वस्तुओं की (उययोगिता) परस्पर तुलना करने पर ही निश्चित होती है। अतः एक निश्चित धन की इकाई द्वारा प्रत्येक वस्तु की कितनी सीमान्त उपयोगिता मिलती है, इसी आधार पर हम परस्पर वस्तुओं की उपयोगिता की तुलना करके अपनी आय का विभाजन करते हैं।

अधिक-से-अधिक सन्तोष और उपयोगिता प्राप्त करने के लिए हम अपनी आय

का इस प्रकार विभाजन करें ताकि हमें प्रत्येक वस्तु पर किये गये खर्च से सीमान्त

नियम का ध्येय

उपयोगिता के नियम के अनुसार उतनी उपयोगिता प्राप्त हो जाय। मान लो एक अध्यापक की आय १५०) प्रतिमाह है। वह अपनी आय को जीवन-रक्षक, निपुणता-दायक, तथा कृत्रिम आवश्यकताओं की वस्तुओं पर खर्च करना चाहता है, जैसे भोजन, वस्त्र, मकान का किराया, मनोरंजन इत्यादि। अब यदि वह ४०) मकान पर, ३०) वस्त्र पर, १५) शिक्षा पर, १५) औषधियों में, १८) मनोरंजन में, और शेष ३२) को भोजन पर खर्च करता है, तो निश्चय ही वह अधिक सुख और सन्तोष प्राप्त नहीं कर सकता है। इसका कारण यह है कि वह मकान, वस्त्र और मनोरंजन की वस्तुओं पर इतना व्यय कर रहा है कि जिसके फलस्वरूप उसके पास भोजन पर खर्च करने के लिए काफी धन शेष नहीं बचता है। अस्तु; कुल उपयोगिता को अधिक-से-अधिक परिमाण में व्यय करने के लिए उसे अपने धन को प्रत्येक प्रकार के उपभोग के पदार्थों में इस प्रकार बांटना पड़ेगा ताकि प्रत्येक के सेवन में सीमान्त उपयोगिता बराबर रहे। **इसीको हम सम-सीमान्त उपयोगिता नियम कहते हैं।**

इस नियम को हम निम्न उदाहरण द्वारा स्पष्ट रीति से समझाते हैं। मान लो, एक किसान १६) लेकर पैंठ (हाट) को जाता है और उसे वहाँ कुरता, जूता और कुछ गुड़ लाना है। नीचे दिये हुए कोष्ठक में हम यह दिखलाते हैं कि जब वह एक रुपया खर्च करता है तो उसे उन पदार्थों से अलग-अलग कितनी उपयोगिता मिलती है।

एक रुपया खर्च करने पर मिलने वाली उपयोगिता

रुपयों की इकाई	जूता	कुरता	गुड़
१ ला	२०	२६	२२
२ रा	१६	२४	१८
३ रा	१४	२०	१२
४ था	१०	१६	१०
५ वां	८	१२	८
६ ठा	६	८	४
७ वां	४	६	२
८ वां	३	५	१
९ वां	२	४	०

इस कोष्ठक को देखने पर यह विदित होता है कि वह किसान पहले दो रुपयों को कुरता खरीदने में व्यय करेगा, चूँकि इनसे उसे सब से अधिक उपयोगिता मिलती है (पहिले रुपये से २६ और दूसरे से २४) ; इसी सिद्धान्त के अनुसार वह रुपये की तीसरी इकाई को गुड़ खरीदने में लगायेगा ; चौथी को जूता ; और पाँचवीं इकाई को फिर कुरते के ऊपर व्यय करेगा। इसी क्रम से वह अपनी आवश्यकता की वस्तुओं को खरीदेगा। निम्न कोष्ठक में हम यह दिखलाते हैं कि किस प्रकार वह अपने सोलह रुपयों में से किस-किस वस्तु को कितने रुपये की खरीदता है :—

रुपयों की इकाई	वस्तु	मिलने वाली उपयोगिता
१ ला	कुरता	२६
२ रा	कुरता	२४
३ रा	गुड़	२२
४ था	जूता	२०
५ वां	कुरता	२०
६ ठा	गुड़	१८
७ वां	जूता	१६
८ वां	कुरता	१६
९ वां	जूता	१४
१० वां	कुरता	१२
११ वां	गुड़	१२
१२ वां	गुड़	१०
१३ वां	जूता	१०
१४ वां	जूता	८
१५ वां	कुरता	८
१६ वां	गुड़	८
१६ रुपयों से मिलनेवाली कुल उपयोगिता		२४४

उपरोक्त कोष्ठक के देखने से यह विदित होता है कि उसने उन सोलह रुपयों को अपनी आवश्यकता के पदार्थों पर निम्न रीति से खर्च किया :—

कुरता—६)

गुड़—५)

जूता—५)

कुल योग—१६)

इस प्रकार वह इस रीति द्वारा अपने धन से अधिक-से-अधिक सुख और सन्तोष पा लेता है, और यदि वह इसका अनुकरण नहीं करता तो उसे इतना सुख कभी प्राप्त नहीं हो सकता था। मान लो, यदि वह ६ कुरते पर, ८) गुड़ पर और २) जूतों पर व्यय करता है तो उसे (२६ + २४ + २० + १६ + १२ + ८ + २२ + १८ + १२ + १० + ८ + ४ + २ + १ + २० + १६) केवल २१९ इकाई उपयोगिता ही मिलेगी। इसी प्रकार यदि वह ३) का गुड़ + ९) का जूता और ४) का कुरता लेता है तो उसे (२२ + १८ + १२ + २० + १६ + १४ + १० + ८ + ६ + ४ + ३ + २ + २६ + २४ + २० + १६) कुल २२१ इकाई उपयोगिता मिलेगी। आप स्वयं किसी अनुपात से व्यय करके देख लें ; जिस विधि से ऊपर बताया गया है उससे अधिक उपयोगिता मिलना कभी सम्भव नहीं है। अतः यही हमारा सम-सीमान्त उपयोगिता का नियम है।

अतः प्रत्येक मनुष्य अपने दैनिक जीवन में इसी तरह परस्पर पदार्थों की तुलना करके सम-सीमान्त उपयोगिता नियम के अनुसार अपनी आय को भिन्न-भिन्न आवश्यकता के पदार्थों पर खर्च करता है। किन्तु इससे यह कदापि न समझ लेना चाहिये कि जब वह बाज़ार में इन पदार्थों को खरीदने जाता है तो इस प्रकार का कोई रेखा-चित्र या कोष्ठक बना कर ले जाता है। फिर भी वह खरीदने से पहले सरसरी निगाह से इस नियम के अनुसार उन पदार्थों की उपयोगिता पर अवश्य विचार कर लेता है।

यहाँ पर यह बता देना भी आवश्यक है कि वस्तुओं की इस प्रकार की तुलना का और खरीदने का समय एक ही होना चाहिये। अर्थात् ऊपर दिये गये उदाहरण में यदि वह किसान जुलाई की पन्द्रह तारीख को बाजार में उन वस्तुओं को खरीदने

के लिए जाता है, तो उसी दिन के लिए वह कोष्ठक में बताई हुई विधि सफल हो सकेगी। इसका कारण यह है कि यदि वह किसी दूसरे दिन जाता है, तो सम्भव है उसे गुड़ की अपेक्षा चावल लेने की आवश्यकता हो अधिक जाय। अतः समय के बदलते ही पदार्थों की माँग तथा उपयोगिता में भी परिवर्तन आ जाता है।

इस नियम के सम्बन्ध में एक बात पर और भी ध्यान दिया जाता है। प्रत्येक मनुष्य अपनी भविष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अवश्य कुछ-न-कुछ प्रबन्ध करके रखता है। अपनी कुल आय को वह वर्तमान आवश्यकताओं पर ही खर्च कर डालने में हिचकता है। चूँकि भविष्य की आवश्यकताएँ प्रायः अनिश्चित ही रहती हैं, अतः अपनी वर्तमान आवश्यकताओं पर वह बहुत ही सावधानी के साथ खर्च करता है। वह सदा इस बात का ध्यान रखता है कि धन की सीमान्त उपयोगिता के अनुसार उसकी इस समय की अधिक-से-अधिक आवश्यकताएँ पूरी हो जायें और उसे अधिकतर सुख और सन्तोष मिल जाय। भविष्य और वर्तमान काल की आवश्यकताओं में यह साम्य स्थापित करके धन के संरक्षण का प्रयत्न करता है।

इस नियम को प्रतिस्थापन नियम अथवा उदासीनता नियम भी कहते हैं। प्रतिस्थापन नियम इसलिए कहते हैं कि जिस वस्तु से कम उपयोगिता मिलती है, उसके स्थान पर दूसरी वस्तु का व्यवहार अथवा उपभोग किया जाता है। और उदासीनता नियम इसलिए कहते हैं कि कभी-कभी मनुष्य यह ठीक विचार नहीं कर पाता कि वह किस वस्तु को अपने उपभोग के लिए खरीदे और किसे छोड़ दें।

तेरहवाँ अध्याय

माँग और उसके नियम

इच्छा शब्द का अर्थ जैसा कि हम आवश्यकताओं का वर्णन करते समय पिछले अध्यायों में बता चुके हैं, बहुत व्यापक है। कभी-कभी हमारे मन में ऐसी वस्तुओं के खरीदने की भी भावना उत्पन्न होती है जिनकी प्रायः हम को आवश्यकता नहीं होती। इसीको हम इच्छा कहते हैं। किन्तु, कुछ ऐसी भी इच्छाएँ होती हैं, जिनकी पूर्ति के लिए हम भरसक प्रयत्न करते हैं, हर प्रकार के उत्सर्ग और त्याग करने के लिए तैयार रहते हैं, तथा उनकी पूर्ति के लिए धन भी व्यय करते हैं। जब वे वस्तुएँ प्राप्त हो जाती हैं तब ही सुख और सन्तोष का अनुभव होता है। अपनी ऐसी इच्छाओं को अर्थशास्त्र में हम आवश्यकता मानते हैं। अस्तु, किसी वस्तु को प्राप्त करने के लिए हमें निम्न लिखित बातों की आवश्यकता होती है—

माँग का अर्थ

(१) वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा; (२) उसे प्राप्त करने के साधन (खरीदने की योग्यता) और (३) उन साधनों के लिए उत्सर्ग करने की भावना (अर्थात् धन को व्यय करने की मानसिक प्रेरणा)।

एक किसान यदि मेले में जाकर कुछ गायों को देखे और 'बड़ी मँहगी हैं' बता कर चल दे तो यह उसकी आवश्यकता नहीं मानी जायगी। आवश्यकता होने पर वही किसान किसी प्रकार भाव-ताव तय करेगा, अपनी ओर से भरसक प्रयत्न करेगा और रुपये देकर उनमें से कुछ गायें खरीद कर अवश्य लायेगा। अतः आवश्यकता, जिसे हम दूसरे शब्दों में प्रभावोत्पादक (effective) माँग भी कह सकते हैं, मनुष्य की ऐसी इच्छा होती है जिसके लिए वह सतत् प्रयत्न करता है, और जिसे प्राप्त करने के लिए वह हर प्रकार का त्याग करने को तैयार रहता

है, अथवा उसके बदले में कुछ धन देने की इच्छा प्रगट करता है। किसी वस्तु की आवश्यकता उस पदार्थ की तृप्ति करने वाली उपयोगिता द्वारा नापी जा सकती है। उस उपयोगिता के अनुपात में ही हम उसके बदले में कोई वस्तु या कुछ धन देने के लिए तैयार होते हैं। अर्थात् वस्तु की आवश्यकता (उपयोगिता) कीमत द्वारा नापी जा सकती है।

अतः जब हम अपनी इच्छित (आवश्यक) वस्तु की किसी मात्रा को किसी निश्चित समय में, किसी निश्चित कीमत पर खरीदते हैं, तो उस इच्छित वस्तु की उतनी मात्रा हमारे लिये मांग कहलायेगी।

मांग और कीमत में बहुत ही घनिष्ट सम्बन्ध है। वस्तु की कीमत के अनुसार ही उसकी मांग निश्चित होती है। कीमत में परिवर्तन होने के अनुसार ही पदार्थ की मांग में भी परिवर्तन होता रहता है। अन्य बातों के पूर्ववत् रहने पर, किसी वस्तु की कीमत घट जाने पर उस वस्तु की मांग बढ़ जायगी और इसी तरह जब कीमत बढ़ जाती है तो बाजार में उस वस्तु की मांग घट जाती है।

माँग का नियम

मांग का यह नियम सम-सीमान्त उपयोगिता और क्रमागत-ह्रास नियम पर अवलम्बित है। ज्यों-ज्यों हम किसी वस्तु को अधिक परिमाण में खरीदते हैं त्यों-त्यों सीमान्त उपयोगिता-ह्रास नियम के अनुसार क्रमशः उस वस्तु की उपयोगिता घटती जाती है। इन तीनों नियमों में जो परस्पर सम्बन्ध रहता है, उसे हम एक उदाहरण देकर स्पष्ट करते हैं।

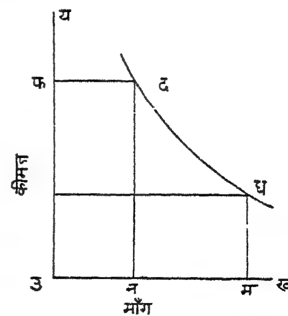
एक किसान जब दो गायों के बदले एक भैंस खरीदता है तो उसके लिये उस भैंस की उपयोगिता उन दोनों गायों से अधिक अथवा कम से कम बराबर अवश्य रहती है। इसी प्रकार जब कोई व्यक्ति किसी होटल में जाकर एक आने की एक रोटी लेकर खाता है, तो उसके लिये उस रोटी की उपयोगिता एक आने की उपयोगिता के बराबर अवश्य होगी। यदि एक आने की उपयोगिता रोटी की उपयोगिता से अधिक हुई, तो वह रोटी खरीदना कभी पसन्द न करेगा और यदि रोटी की उपयोगिता एक आने से अधिक रहती है तो वह व्यक्ति उस परिमाण तक रोटी खायगा जब अन्तिम रोटी और एक आने की उपयोगिता

उपयोगिता-ह्रास नियम के अनुसार घट कर समान हो जायगी। इसी बात को हम उदाहरण देकर समझाते हैं :—

क्रम संख्या	एक आने की उपयोगिता	रोटियों की क्रमशः उपयोगिता
१	९०	१००
२	९०	९०
३	९०	८०
४	९०	७०

इस प्रकार वह दूसरी रोटी तक तो एक आना प्रति रोटी के हिसाब से दे देगा क्योंकि वहाँ आकर रोटी और एक आने की उपयोगिता बराबर हो जाती है। किन्तु तीसरी रोटी के खरीदने में रोटी की उपयोगिता तो घट जाती है और एक आने की उपयोगिता उतनी ही बनी रहती है (अर्थात् ९०): ऐसी दशा में वह तीसरी रोटी को खरीदना कैसे स्वीकार करेगा ? अब मान लो रोटी का भाव फी रोटी दो पैसा हो जाता है, तो अब उसे एक आने में दो रोटियां मिल सकेंगी। इस हालत में एक आना व्यय करने पर उसे दों रोटियों से जो उपयोगिता मिलेगी वह १९० (१००+९०) होगी; दूसरे आना से (९०+८०) १७० होगी और तीसरे आने के खर्च करने पर (८०+७०) १५० होगी।

इस उदाहरण से यह सिद्ध होता है कि कीमत घट जाने पर :किसी वस्तु की मांग बढ़ जाती है और इसी तरह कीमत बढ़ जाने पर मांग घट भी जाती है। इसी सिद्धान्त को हम निम्न चित्र द्वारा समझाते हैं :—



इस चित्र में उ ख रेखा पर वस्तु की मांग की इकाइयां और उ य रेखा पर वस्तु की कीमत दिखाई गई है। चित्र के देखने से विदित होता है कि जब वस्तु की कीमत उ य से घट कर उ फ पर आ जाती है तो उसकी मांग उ न से बढ़ कर उ म तक चली जाती है, अर्थात् ज्यों-ज्यों वस्तु का दाम गिरता है, त्यों-त्यों मांग बढ़ती जाती है। और जब उस वस्तु पर दाम बढ़ता है अर्थात्

उ फ से उय तक चला जाता है तो मांग भी उसी के अनुसार उ म से घट कर उ न तक आ जाती है।

यहाँ यह बता देना भी आवश्यक है कि जब रोटी का मूल्य घट कर एक आने से दो पैसा हो जाता है तो यह जरूरी नहीं है कि हम दो रोटी की बजाय चार रोटी अवश्य खरीदेंगे अथवा दो आने हो जाने पर केवल एक ही रोटी खरीद कर सन्तुष्ट हो जायेंगे। इससे तो केवल एक ही सिद्धान्त की पुष्टि होती है, अर्थात् कीमत बढ़ जाने पर हमारी मांग घट जाती है और कीमत घट जाने पर माँग बढ़ जाती है। किसी वस्तु की मांग पर कई बातों का प्रभाव पड़ता है, जैसे आचार-विचार, रीति-रस्म, फैशन, समय, धन की मात्रा इत्यादि।

किसी मनुष्य की मांग के अनुसार कीमतों की पूरी सूची को उस मनुष्य की मांग की सारिणी या सूची कहते हैं। इस सूची में किसी निश्चित समय पर भिन्न-भिन्न

मांग की सारिणी

कीमतों पर किसी वस्तु की भिन्न-भिन्न मात्राएँ दिखलाई जाती हैं। मांग की सारिणी दो तरह की होती हैं—(१) व्यक्तिगत मांग की सारिणी, और (२) बाज़ार की मांग की सारिणी।

व्यक्तिगत-मांग सारिणी किसी एक ही मनुष्य की निश्चित समय पर उन

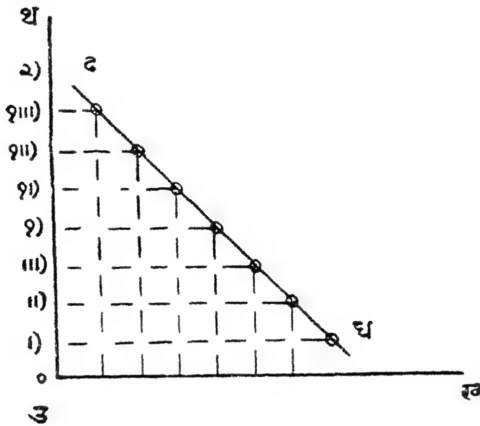
व्यक्तिगत मांग की सारिणी

दामों पर किसी वस्तु की खरीदने वाली मांग की क्षमता या शक्ति को कहते हैं। मान लो एक किसान की आय ५०) रुपया प्रति माह है। वह बूरा खरीदने का निश्चय करता है और उसका भाव मालूम करके अपने लिये एक काल्पनिक सारिणी तैयार करता है। मान लो वह इस प्रकार है :—

यदि बूरे का भाव २) रुपया सेर अथवा अधिक हुआ तो वह बिल्कुल न खरीदेगा।

"	"	१॥।)	"	"	"	१ सेर बूरा खरीदेगा	
"	"	१॥)	"	"	"	२	"
"	"	१।)	"	"	"	३	"
"	"	१)	"	"	"	४	"
"	"	॥।)	"	"	"	५	"
"	"	॥)	"	"	"	६	"

इसीको हम व्यक्तिगत मांग की सारिणी कहते हैं। इस सारिणी में मांग का नियम निहित है और इसके देखने से हमें विदित होता है कि ज्यों-ज्यों कीमत घटती जाती है उसीके अनुसार बूरे की मांग बढ़ भी जाती है। इसी प्रकार यदि बूरे की कीमत बढ़ जाय तो उसके खरीदने के मात्रा भी उसींके अनुसार घट जायेगीं। इस उदाहरण को हम रेखा-चित्र द्वारा भी व्यक्त कर सकते हैं :—



इस चित्र में उ य रेखा पर बूरे की विविध कीमतें तथा उ ख रेखा पर बूरे की मांग सेरों में दिखाई गई है। चित्र के देखने पर यह भली भांति विदित हो जाता है कि जब बूरे का मूल्य १।।।) प्रति सेर था तो किसान केवल एक सेर खरीदता था और उसका दाम गिरकर अब १ रुपया प्रति सेर हो जाता है तो वह चार सेर बूरा खरीदता है और जब भाव उतर कर ।।) प्रति सेर तक हो जाता है तो किसान अब छः सेर तक बूरा खरीद लेता है।

बाजार को मांग और उसकी सारिणो

बाज़ार में खरीदने वाले अनेक व्यक्ति होते हैं, अतः उन सबको मिलाकर समूह कहते हैं। प्रत्येक व्यक्ति की अलग-अलग मांग को मिलाकर बाज़ार की मांग निर्धारित होती है। यह हम पहले ही बता आये हैं कि मांग का सम्बन्ध रुचि, स्वभाव, रीति-रस्म, पेशा आदि बातों से रहता है। अतः इन बातों के अनुसार मांग तीव्र या कम तीव्र सभी तरह की हो सकती है, और इन सब बातों का विचार

करने पर यह मान लेने में कोई आपत्ति नहीं होती कि विभिन्न रुचि, स्वभाव और पेशे के मनुष्य सब मिलकर एक दूसरे की कमी बेसी और विभिन्नतायें परस्पर पूरी कर लेंगे और इस प्रकार एक औसत निकाल लेने पर एक सम्मिलित माँग निश्चित हो सकेगी। बाज़ार में जानेवाले अनेक किसान ऐसे होंगे जिन्हें बूरे की बहुत आवश्यकता होगी (जैसे गांव के जमीन्दार, महाजन, धनी किसान आदि), और साथ ही ऐसों की भी गिनती बहुत होगी जिन्हें बूरे की आवश्यकता बिलकुल ही न हो, अथवा बहुत कम हो या औसत मात्रा में हो। इन सब का औसत निकाल लेने पर बूरे की साधारण माँग निश्चित की जा सकती है। इस तरह बाजार के भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की मांग को जोड़ कर औसत निकाल लेने पर बाजार की माँग निश्चित होती है।

यदि किसी बाज़ार में बूरा खरीदने वालों की संख्या ५०० मान ली जाय तो सब विभिन्नताओं को दृष्टि में रखते हुए सब प्रकार के व्यक्तियों की औसत मांग के साधारण मनुष्य की व्यक्तिगत मांग के लगभग बराबर ही होगी। अतः अब बाज़ार की कुल मांग जानने के लिये, एक निश्चित समय में, किसी निश्चित दाम पर, उस औसत दर्जे की व्यक्तिगत मांग को खरीदने वाले व्यक्तियों की संख्या से गुणा कर देना चाहिये। इस तरह जो संख्या आयेगी वह लगभग बाज़ार की मांग होगी। इस मांग को हम निम्न समीकरण से दिखा सकते हैं :—

बाज़ार की मांग = औसत दर्जे की व्यक्तिगत मांग × बाज़ार में खरीदने वालों की औसत संख्या।

अतः यहां हम पिछले उदाहरण की सहायता से बाज़ार की मांग की सारिणी निकाल कर दिखलाते हैं :--

५०० × १ = ५०० सेर बूरे की माँग जब बूरे की दर १।।।) रुपया सेर है।
५०० × २ = १,००० „ „ „ १।।) „ „
५०० × ३ = १,५०० „ „ „ १।) „ „
५०० × ४ = २,००० „ „ „ १।) „ „
५०० × ५ = २,५०० „ „ „ ।।।) „ „
५०० × ६ = ३,००० „ „ „ ।।) „ „

बहुत-सी ऐसी वस्तुएँ हैं जो परस्पर एक दूसरे की पूरक होती हैं। ऐसी वस्तुओं की मांग को हम संयुक्त मांग कहते हैं। उदाहरण के लिये दूध और बूरा ; घोड़ा और गाड़ी ; गेंद और बल्ला ; ईंट और सीमेन्ट-चूना इत्यादि। इनमें बिना घोड़ा के गाड़ी ; बिना गेंद के बल्ला ; बिना सीमेन्ट और चूने के ईंटें व्यर्थ हैं। एक के बिना दूसरे का काम नहीं चल सकता है। ऐसे पदार्थों की मांग साथ-साथ चलती है। एक वस्तु के खरीदने पर दूसरी अवश्य ही खरीदनी पड़ेगी, बिना उसके काम न चलेगा। किन्तु इन दोनों की माँग में कोई निश्चित अनुपात नहीं होता है और न इस विषय में कोई विशेष नियम ही है। अतः लालटेन खरीदने पर चिमनी उसके लिये अवश्य चाहिये, किन्तु कितनी चाहिये यह कहना सम्भव नहीं है। लालटेन तो काफी समय तक काम दे देगी किन्तु चिमनियों की मांग घटती-बढ़ती अवश्य रहेगी।

संयुक्त मांग

जब किसी पदार्थ का उपयोग दो या अधिक कामों में होता है तो उस अवस्था में उस वस्तु की मांग को सामूहिक मांग कहते हैं। बहुत सी ऐसी वस्तुएँ हैं जो कई कामों में उपयोग की जाती है, जैसे दूध। दूध से रबड़ी, मलाई, दही, खोआ, मक्खन, खीर आदि विविध पदार्थ बनाये जाते हैं। इसी प्रकार गुलाब से गुलकन्द, गुलाबजल आदि चीजें तैयार की जाती है ; चमड़े के बक्स, जूते, चप्पल, पेटी आदि बनते हैं। अनेक व्यक्तियों को इनकी मांग होती है।

सामूहिक मांग

अतः संयुक्त माँग में परस्पर दो वस्तुओं की माँग में सम्बन्ध तो रहता है, किन्तु उनमें कोई निश्चित अनुपात नहीं रहता। एक वस्तु की माँग का दूसरे पर प्रभाव अवश्य पड़ता है। इसी प्रकार जब कोई वस्तु कई कामों में उपयोग होती है तो भी उसकी माँग में परिवर्तन होता रहता है और जब कोई प्रतियोगी वस्तु उत्पन्न हो जाती है तब भी माँग पर प्रभाव पड़ता है। इसका वर्णन हम नीचे करते हैं।

यदि उपयुक्त उदाहरण में बूरे के स्थान पर चीनी गुड़ अथवा सैकरीन का व्यवहार घटने या बढ़ने लगे तो उसका प्रभाव बूरे की माँग पर अवश्य पड़ेगा। एक समय था जब भारत में केवल गुड़ की ही माँग थी, फिर धीरे-धीरे बूरे का

प्रचलन हुआ और इसी प्रकार गुड़ की माँग में परिवर्तन आया। अब चीनी का व्यवहार अधिक होता है फलतः गुड़, और बूरे की माँग उतनी नहीं रही। इस प्रकार जब एक वस्तु के स्थान पर कोई दूसरी वस्तु का व्यवहार होने लगता है तब निश्चय ही उसकी माँग:और कीमत में परिवर्तन करने की आवश्यकता पड़ती है।

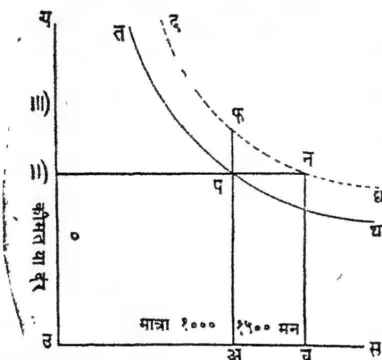
प्रतियोगी वस्तु और माँग

माँग की प्रबलता का अर्थ यह है कि किसी वस्तु की माँग में वृद्धि हो गई है। इसे हम दो तरह से प्रकट कर सकते हैं। (१) उसी कीमत पर हम किसी वस्तु को अधिक मात्रा में खरीदते हैं, अथवा (२) पहले की अपेक्षा मूल्य में वृद्धि हो जाने पर भी हम उस वस्तु को उतनी ही मात्रा में खरीदने को तैयार रहते हैं या खरीदते हैं। यह प्रवृत्ति व्यक्तिगत माँग और बाज़ार की माँग दोनों में ही रहती है।

माँग में प्रबलता

मान लो आठ आना प्रति सेर की दर से प्रयाग में दूध की माँग १००० मन है। अब यदि रक्षा-बन्धन के त्योहार पर उसी भाव से दूध की माँग १,५०० मन हो जाती है, अथवा बारह आना प्रति सेर की दर से १००० मन ही उसकी माँग बनी रहती है, तो दोनों ही दशाओं में दूध की माँग में प्रबलता आई है।

लेकिन जब किसी वस्तु की कीमत पहले की अपेक्षा कम हो जाती है तब माँग में जो वृद्धि होगी, उसे हम का माँग-प्रसार कहेंगे। इन दोनो ही सिद्धान्तों को हम निम्न रेखा-चित्र में दिखाते हैं।



इस चित्र में उ स रेखा पर दूध की मात्रा दिखाई गई है तथा उ य रेखा पर उसकी दर। और त थ हमारी दूध की वास्तविक (पुरानी) मांग है, और द ध दूध की माँग की नई वक्र रेखा है। इसमें माँग की प्रबलता १,००० (उ अ) मन दूध को अ फ (।।।) की दर मूल्य पर खरीदने से विदित होती है। माँग का प्रसार दिखाने के लिये इसी चित्र में

यह नियम हमने इस प्रकार दिखाया है--जब दूध की दर ॥) प्रति सेर थी जो अ फ से दिखाई गई है तब हमारी माँग उ अ (अथवा १,००० मन थी) थी; किन्तु जब वही घटकर ॥) प्रतिसेर हो गई तो हमारी माँग भी उ अ से बढ़कर उ ब (१,५०० मन) हो गई।

जब कोई वस्तु पहली ही कीमत पर कम मात्रा में बिकती है, अथवा उस वस्तु की दर पहले की अपेक्षा कम हो जाने पर भी उतनी कम मात्रा में बिकती है, तो यह दशा माँग की शिथिलता कहलाती है।

मांग की शिथिलता

कभी-कभी जब वस्तु की दर बढ़ जाती है तो उसकी माँग में कमी आ जाती है। इसे हम मांग की घटी कहते हैं।

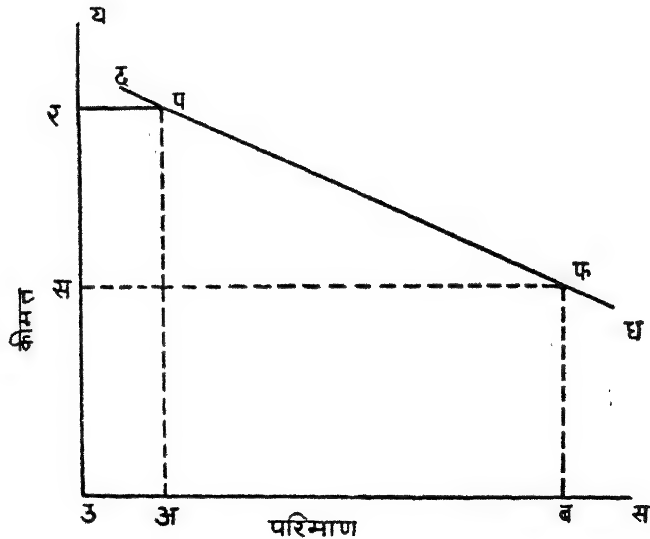
चौदहवाँ अध्याय

मांग की लोच

माँग और उसके नियमों का वर्णन करते समय हम बता चुके हैं कि जब किसी वस्तु की कीमत बढ़ जाती है, तो माँग भी घट जाती है। इसी तरह जब उस की कीमत घट जाती है, तो माँग बढ़ जाती है। अर्थात् वस्तुओं की दर (भाव अथवा कीमत) में परिवर्तन होने पर उसकी माँग के परिमाण में भी प्रायः परिवर्तन हो जाया करता है। माँग के इस प्रधान गुण को अर्थशास्त्र में 'माँग की लोच' कहते हैं। जब किसी वस्तु के भाव में थोड़ा-सा परिवर्तन हो जाने पर ही माँग में काफी कमी आ जाती है तो उस वस्तु के इस गुण को हम 'बहुत लोचदार माँग' कहेंगे, माँग थोड़ी ही कम होती है तो 'साधारण लोचदार माँग' कहा जाता है; किन्तु जब माँग बिलकुल ही कम नहीं होती तो उसे हम 'बेलोचदार माँग' कहते हैं।

मांग की लोच का अर्थ

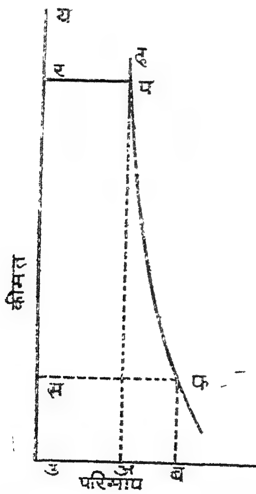
जब हमारी किसी वस्तु की आवश्यकता बहुत धीरे-धीरे घटती है तो उसका थोड़ा-सा भी भाव घट जाने पर हमारी माँग बहुत अधिक बढ़ जायगी। इस तरह हम कहेंगे कि उस वस्तु की मांग में लोच अधिक है। उदाहरण के लिए वस्तुओं पर जब मूल्य-नियन्त्रण हो जाता है तब उनके भाव कम हो जाते हैं, उस समय प्रत्येक व्यक्ति की मांग बढ़ जाती है, और इस नियन्त्रण के हट जाने पर जब मूल्य में वृद्धि हो जाती है तो मांग भी स्वाभाविक रीति से घट जाती है। चीनी और कपड़े की मांग को ले लीजिये। कपड़े पर से नियन्त्रण (कन्ट्रोल) हटते ही उनके मूल्य में चौगुनी, पँचगुनी वृद्धि हुई तो हमारी मांग भी उसके अनुसार कम हो गई। जो व्यक्ति पहले वर्ष में २० गज़ या पच्चीस गज़ कपड़ा खरीदते थे अब केवल तन ढँकने के योग्य ही खरीदते हैं। इस सिद्धान्त को हम निम्न चित्र द्वारा व्यक्त करते हैं।



ऊपर दिये हुए चित्र में द ध रेखा माँग को सूचित करती है। जब वस्तु की कीमत उ र थी तो हमें उ अ परिमाण में उस वस्तु की माँग थी; किन्तु ज्यों ही भाव में थोड़ा-सा परिवर्तन हुआ—अर्थात् उ र से घट कर उ स हुआ—हमारी

मांग उ अ से बढ़कर उ ब हो गई। मांग में यहां प्रबलता अधिक है अतः इसे लोचदार माँग कहेंगे।

किन्तु यह बात सभी अवस्था में सत्य नहीं उतरती। बहुत-से ऐसे पदार्थ भी हैं जिनकी मांग में मूल्य-परिवर्तन का विशेष असर नहीं होता। चाहे मूल्य बहुत ही अधिक क्यों न बढ़ जाय किन्तु हमारी मांग उसके अनुसार नहीं घटेगी। इसी तरह चाहे मूल्य कितना ही कम क्यों न हो जाय हमारी उस वस्तु की मांग बहुत अधिक न बढ़ेगी। उदाहरण के लिए भोजन के पदार्थों में से अन्न और नमक को ले लीजिये। आज से दस वर्ष पूर्व गेहूँ एक रुपये का सोलह सेर बिकता था। उस समय जो साधारण परिवार ढाई मन गेहूं खाता था, वह आज भी, जब गेहूं का भाव एक रुपये का दो सेर है, कम से कम दो मन अथवा सवा दो मन गेहूं अपने लिए खरीदेगा। इसी तरह जब नमक एक आने सेर बिकता था तो वही परिवार एक सेर नमक में निर्वाह करता था तो आज भी उसे एक सेर नमक खरीदना पड़ेगा, यद्यपि उसकी कीमत आज दो आना या चार आना प्रति सेर है। इन पदार्थों की मांग कम लोचदार अथवा बेलोचदार कही जाती है। इसे हम निम्न चित्र द्वारा दिखा सकते हैं।



बेलोचदार मांग का चित्र

पिछले चित्र की भांति इस चित्र में भी द ध रेखा (वक्र) मांग को सूचित करती है। जब वस्तु की कीमत उ र थी तो हमें उ भ परिमाण में उस वस्तु की मांग थी; किन्तु इस बार भाव में काफी गिरावट होने पर भी, अर्थात् उ र से उ स तक आ जानेपर भी वस्तु की मांग के परिमाण में कोई विशेष वृद्धि नहीं हुई। दूसरी तरह से हम यों कह सकते हैं कि जब वस्तु सस्ते मूल्यपर हम को मिलती थी अर्थात् उ स भाव से मिलती थी, तो हमारी उस वस्तु की माँग का परिमाण उ ब था, किन्तु भाव बहुत अधिक बढ़ जाने (उ स से उ र तक चढ़ जाने पर भी) हमारे लिए उस वस्तु की मात्रा में कोई विशेष कभी नहीं आई।

पदार्थों की ऐसी मांग को हम अर्थशास्त्र में 'बेलोचदार मांग' कहते हैं।

संक्षेप में इन सिद्धान्तों को हम इस तरह कह सकते हैं कि यदि किसी वस्तु की कीमत में कुछ कमी होने पर मांग अधिक लोचदार है तो उस वस्तु की कीमत बढ़ जाने पर भी उसकी मांग अधिक लोचदार ही रहेगी। और यदि उस वस्तु के भाव के गिरने पर भी उसकी मांग नहीं बढ़ी है तो भाव के बढ़ने पर भी उसकी लोच में कोई विशेष परिवर्तन न होगा, और उस वस्तु की मांग कम लोचदार कही जायगी।

लोच का नियम

कीमत के अनुसार ही लोच में भी परिवर्तन होता रहता है। साधारण रूप से किसी एक श्रेणी के व्यक्ति के लिए किसी पदार्थ की मांग की लोच ऊँची कीमत पर अधिक और मध्यम कीमत पर उससे कुछ कम होती है। कीमत की कमी से तृप्ति की वृद्धि होती है और मांग की लोच कम हो जाती है। अन्त में स्थिति यहां तक पहुँच जाती है कि मांग बिलकुल बेलोचदार हो जाती है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक श्रेणी के व्यक्ति के लिए उच्च, मध्यम और सबसे कम कीमतों की सतह अलग-अलग होती हैं। उदाहरण के लिए एक धनी के लिए १५) रुपये का धोती का जोड़ा कम दाम का है, मध्यम श्रेणी के व्यक्ति के लिए मध्यम दाम का और एक निर्धन व्यक्ति के लिए बहुत महँगे दाम का हो जाता है। अब यदि यही धोती का जोड़ा घटकर १० रुपये प्रति जोड़ा हो जाता है तो मध्यम श्रेणी के परिवारों में इसकी मांग बढ़ जायगी। अतः धोती के जोड़ों की मांग मध्यम श्रेणी के व्यक्तियों के लिए लोचदार हुई, किन्तु ५) रुपया प्रति जोड़ा कीमत घट जाने पर भी निर्धन व्यक्तियों के लिए उसकी मांग कम लोचवाली अथवा बिना लोचवाली, 'बेलोचदार' मानी जायगी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वस्तुओं की कीमत घट जाने पर उनकी मांग की लोच धनी व्यक्तियों के लिए नहीं के बराबर रहती है; मध्यम श्रेणी वाले के लिए कुछ कम और निर्धन व्यक्तियों के लिए सबसे अधिक होती है।

विभिन्न वस्तुओं के मांग की लोच भी भिन्न-भिन्न होती है। और जैसा

मांग के लोच-सम्बन्धी नियम

कि ऊपर हम स्पष्ट कर चुके हैं एक ही वस्तु की मांग की लोच समाज के व्यक्तियोंमें उनकी श्रेणी के अनुसार भिन्न-भिन्न होती है। यहां हम उन्हीं परिवर्तनों को वर्णन करेंगे जिनमें मांग की लोच के नियम लागू रहते हैं।

आवश्यकताओं का वर्णन करते समय हम यह बता चुके हैं कि प्रत्येक मनुष्य को कुछ ऐसे पदार्थों की आवश्यकता रहती है, जिनसे उसका भरण-पोषण होता

जीवन रक्षक पदार्थ

है, तथा उसका जीवन सुरक्षित रहता है। इन पदार्थों के बिना जीवन-स्थिर रह सकना असम्भव होता है, और इनकी प्रत्येक मनुष्य को हर समय आवश्यकता बनी रहती है। अस्तु उन वस्तुओं की दर चाहे जो हो, धनी और निर्धन सब प्रकार के व्यक्तियों को समान रूप से इन पदार्थों की अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये यथेष्ट मात्रा में खरीदना पड़ता है। इन पदार्थों पर कीमत के बढ़ जाने या घट जाने का कोइ विशेष परिवर्तन नहीं होता, चूंकि ये वस्तुएँ हमें प्रत्येक अवस्था में अपने जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक हैं।

किन्तु यहां हम एक बात स्पष्ट कर देना आवश्यक समझते हैं। भारत जैसे देशों में जहा कि अधिकांश जनसंख्या निर्धन है, वे इस नियम के बहुत अंश में अपवाद हैं। उन्नत देशों के निवासी जिनकी वार्षिक आय बहुत है, वहां की निर्धन जनता को भी जीवन-रक्षक पदार्थ सुलभता से उपलब्ध हो जाते हैं। अतएव उन देशों में इन वस्तुओं के मूल्य में यदि कुछ परिवर्तन कभी हो भी जाता है तो भी साधारण जनता उन वस्तुओं का उपभोग पहिले की अपेक्षा बहुत अधिक मात्रा में नहीं करती। इस दृष्टि से वहां इन वस्तुओं में बहुत कम लोच दीख पड़ती है। इसके विपरीत भारत जैसे निर्धन देश के व्यक्तियों के लिए, इन पदार्थों की मांग बढ़ जाती है—इन पदार्थों की मांग में लोच उत्पन्न हो जाती है। इसका कारण यह है कि,—जैसा कि हम रहन-सहन के अध्याय में स्पष्ट करेंगे—हमारे अधिकांश किसानों को ये पदार्थ पूरी मात्रा में उपलब्ध नहीं होते हैं।

भोग-विलास के अनेक ऐसे पदार्थ हैं जिनके मूल्य में तनिक भी परिवर्तन हो जाने पर माँग में वृद्धि हो जाती है—दूसरे शब्दों में हम यों कह सकते हैं कि उन पदार्थों की माँग लोचदार हो जाती है। उदाहरण के लिए रेडियो, मोटरकार, वस्त्र, आभूषण, हीरा-जवाहिरात इत्यादि। इनकी कीमत घट जाने पर उच्च-वर्ग के लोगों में इनकी मांग बहुत बढ़ जाती है। इसके विपरीत मध्यम श्रेणी और निर्धन व्यक्तियों पर इस कमी का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। अतः उन व्यक्तियों के लिए इन वस्तुओं की माँग बे-लोचदार होती है।

भोग-विलास के पदार्थ

इन वस्तुओं के दाम घट जाने पर अधिक प्रभाव मध्यम श्रेणी के लोगों पर ही पड़ता है। उन्हीं के लिए इन वस्तुओं की माँग लोचदार होती है। इसका कारण यह है कि धनी लोग तो अपनी आवश्यकता के अनुसार इन पदार्थों को पहिले ही से खरीद चुके थे; और निर्धन व्यक्ति अब भी इस कीमत पर इन पदार्थों को खरीदने में असमर्थ होंगे। अतः इन दोनों श्रेणियों के व्यक्तियों के लिए तो, इन वस्तुओं के दाम घट जाने पर भी, इनकी माँग बे-लोचदार होगी। हाँ, मध्यम श्रेणी के लोगों में इनकी माँग अवश्य बढ़ेगी। उदाहरण के लिए वस्त्र, घड़ी, साइकिल, फाउन्टेनपेन, रेडियो, विविध प्रकार के चित्र, कुर्सी, मेज़ इत्यादि।

आराम-दायक वस्तुएँ

बहुत सी ऐसी वस्तुएँ भी होती हैं, जो क्रमशः मनुष्य के स्वभाव में शामिल हो गई हैं। ये पदार्थ प्रायः मादक होते हैं—जैसे पान, चाय, तम्बाकू, सिगरेट, भंग, गाँजा, अफीम इत्यादि—जिनकी माँग बहुत कम लोचदार होती है। आवश्यकता के अनुसार ये पदार्थ अवश्य खरीदे जाते हैं, चाहे इनके बदले में उसे अन्य वस्तुओं का परित्याग करना पड़े।

व्यसन वाली वस्तुएँ अथवा-स्वभाव में आ-जानेवाली वस्तुएँ

बूरे का उदाहरण देकर हमने पहिले बतलाया था कि इसके स्थान पर अब चीनी आदि का प्रचलन होगया है, विदेशों से भी अब सैकरीन से तैयार किये गये अनेक पदार्थ आने लग गए हैं तथा गुड़ और शक्कर आदि अन्य देशी वस्तुएँ भी इस देश में मौजूद हैं। अतः ऐसे पदार्थों की माँग प्रायः बहुत ही लोचदार हुआ करती है। इसका कारण यह है

प्रतियोगी वस्तुएँ

कि किसी एक पदार्थ का मूल्य बढ़ने पर उसके स्थान में अन्य वस्तु ली या खरीदी जा सकती है। चाय-कहवा, गुड़-शक्कर, विल्स या कैंची की सिगरेट, जौ-चना जुआर बाजरा मक्का इत्यादि इसके उदाहरण हैं।

एक वस्तु के भिन्न-भिन्न उपयोग

दूध, चमड़ा आदि जिन वस्तुओं का उपयोग एक से अधिक कामों में किया जाता है, उनकी माँग प्रायः काफी लोचदार होती है। इसका कारण यह है कि उस वस्तु की कीमत घटने अथवा बढ़ने पर वह वस्तु अपने विभिन्न उपयोगों में कम या अधिक परिमाण में काम में लाई जावेगी।

सम्पत्ति का वितरण और लोच

जिस समाज में सम्पत्ति का वितरण जितना ही समान होगा, उतनी ही अधिक लोचदार माँग होगी; और इसके विपरीत जब इसमें असमानता होगी तो माँग उतनी ही कम लोचदार होगी।

संक्षेप में माँग की लोच निम्न-लिखित बातों पर निर्भर रहती है:—

(क) अति-आवश्यक वस्तुओं की माँग की लोच कम होती है।

(ख) अभ्यास में आ जाने वाले पदार्थों की माँग भी अधिकतर बेलोचदार होती है।

(ग) जिन वस्तुओं के प्रतियोगी पदार्थ न होंगे उनकी लोच कम होगी।

(घ) जिस वस्तु पर आय का जितना कम भाग व्यय होगा, उसकी माँग भी प्रायः कम लोच की होती है।

(च) जिन वस्तुओं की पूरक अन्य वस्तुएँ भी होती हैं, उनकी माँग की लोच परस्पर एक दूसरे पर निर्भर रहती है।

(छ) एक वस्तु जब किसी अन्य वस्तु के उत्पादन के काम में लाई जाती है तो उस पर कुल लागत का जितना भी कम भाग खर्च होगा उतनी कम लोचदार उसकी माँग होती है।

पन्द्रहवाँ अध्याय

रहन-सहन का स्तर

रहन-सहन के ढंग से हमारा अभिप्राय यह रहता है कि कोई मनुष्य अथवा समाज अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति में किन-किन पदार्थों का उपभोग कितनी मात्रा में करता है। किस सीमा तक वह अपनी आय द्वारा जीवन-रक्षक, निपुणतादायक और विलासिता के पदार्थों का उपभोग करता है और इनके उपभोग से उसकी कार्य-क्षमता में कहां तक वृद्धि होती है तथा उन पदार्थों का उसके स्वास्थ्य और आयु पर क्या प्रभाव पड़ता है? स्मरण रहे कि इस बात को निश्चित करने में काफी समय की आवश्यकता होती है।

रहन सहन के स्तर का अर्थ

रहन-सहन पर मुख्यतः दो बातों का प्रभाव पड़ता है। एक तो व्यक्ति की आय और दूसरे विचार पूर्वक द्रव्य को खर्च करने की क्षमता।

रहन-सहन पर प्रभाव डालने वाली शक्तियां

यह तो हम पहले ही बता चुके हैं कि प्रत्येक व्यक्ति की कुछ न कुछ आवश्यकताएं होती हैं और इन आवश्यकताओं का प्रधान लक्षण अपरिमित और अतृप्त होना है; किन्तु फिर भी यथेष्ट साधन होने पर हम उनको किसी सीमा तक पूर्ण कर सकते हैं। अतः यथेष्ट साधनों में अच्छी आय का होना भी परमावश्यक है। इसके होने पर ही हम उन पदार्थों को खरीद सकते हैं।

अधिक आय के साथ-साथ ही उसे विचारपूर्वक खर्च करने की योग्यता भी उसमें होनी चाहिये। इसके अभाव में बहुत-से व्यक्ति बिना समझे-बूझे ही अपने धन का अपव्यय कर डालते हैं। फलतः जीवन-स्तर ऊँचा होने के बजाय उल्टे और कम होता चला जाता है। जिस धन को उन्हें निपुणतादायक पदार्थों के सेवन, उचित शिक्षा और स्वास्थ्य पर खर्च करना चाहिये, उसे वे शादी-विवाह और विशेष उत्सवों में व्यर्थ अपव्यय कर डालते हैं। बहुत-से ऊँचा वेतन पाने वाले तथा धनाढ्य व्यक्ति भी अपने धन का उचित उपभोग करते नहीं देखे गये। ऐसी अवस्था में हम उनका रहन-सहन केवल अधिक धन होने के नाते ही ऊँचा नहीं मान सकते। जब कोई मनुष्य धन के सदुपयोग से अपनी अधिक से अधिक आवश्यकताओं को पूर्ण कर लेता है और उसे सुख अनुभव होने लगता है, तभी उसका रहन-सहन ऊँचा माना जा सकता है। अतः रहन-सहन के ऊपर आय, उसके उचित उपयोग करने की विधि, शिक्षा, आचार-विचार और अभिलाषा, सभी बातों का प्रभाव पड़ता है।

जीवन का स्तर ऊँचा होने पर योग्यता, कार्य-क्षमता, स्वाभिमान में वृद्धि होती है। इसके फलस्वरूप वह अपनी बुद्धि और विवेक से अधिक सावधानी के साथ धन का उपभोग करता है। वह ऐसे पदार्थों के सेवन से बचता है जिनसे स्वास्थ्य को किसी प्रकार हानि पहुँचे। केवल उदर-पूर्ति ही उसका ध्येय नहीं रहता; इसके विपरीत उसकी मनोकामना जीवन में सर्वाङ्गीण उन्नति करना भी होता है।

ऊँचे रहन-सहन की आवश्यकता

वर्तमान युग अर्थ प्रधान है। प्रत्येक देश अधिकाधिक धनवान बनने का प्रयत्न कर रहा है जिसके फलस्वरूप वे अपनी ज्यादा से ज्यादा आवश्यकताओं को पूरा कर सकें। इसके लिये वे हर प्रकार के प्रयत्न करते दीख पड़ते हैं। अपने देश की जलवायु, नदी, पहाड़, जल-प्रपात इत्यादि सभी प्राकृतिक साधनों पर अधिकार कर उनका प्रयोग करते हैं, उनसे अधिक धन प्राप्त करने के उपाय सोचते हैं जिससे वहां के निवासियों की आय में वृद्धि हो। अनेक देशों में इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये सन्तति-निरोध के लिये कृत्रिम उपायों को व्यवहार में लाया जाता है और बहुत से लोग काफी उम्र तक विवाह भी नहीं करते।

कुछ ऐसे भी व्यक्ति हैं जो भौतिक पदार्थों की सन्तुष्टि को बुरा बताते हैं। वे 'सादा जीवन उच्च विचार' के पक्षपाती हैं। आवश्यकताओं को कम करने का आदेश देते हैं। किन्तु अब समय काफी बदल चुका है और प्रत्येक दिन बदलता जा रहा है। अब भौतिकवाद की ही प्रधानता है। जो इससे विमुख रहना चाहता है वह प्रगति की दौड़ में पिछड़ जायगा। इस उन्नति की दौड़ में सहयोग देने के लिये देश के निवासियों के रहन-सहन के स्तर के ऊँचे होने की अत्यन्त आवश्यकता है। रहन-सहन के ऊँचे होने का अर्थ यह कदापि नहीं है कि हम भोग-विलासी बन जायें, किन्तु इससे हमारा मतलब जीवन-रक्षक और निपुणतादायक पदार्थों के अधिक उपभोग करने से रहता है। इसके पश्चात् आरामदायक पदार्थों का भी व्यवहार हो सके।

भारतवासियों का रहन-सहन

प्रत्येक देश और समाज में धनी, निर्धन और साधारण कोटि के मनुष्य रहते हैं। भारतवर्ष भी एक ऐसा ही देश है; किन्तु जैसा कि जन-संख्या के आंकड़ों के देखने से विदित हो जायगा, यहां लगभग ८७ प्रतिशत निवासी ६,५५ ८९२ गांवों बसते हैं। और खेती-बारी ही उनका मुख्य व्यवसाय है। इस व्यवसाय से यहां के निवासियों को कितनी आय होती है इसका अनुमान भिन्न-भिन्न लेखकों ने किया है। निम्न कोष्ठक में भारत के प्रति मनुष्य की वार्षिक आय का अनुमान दिया गया है।

संख्या-क्रम	पुस्तक जहाँ से अङ्क लिए गये हैं अथवा लेखक का नाम	क्षेत्र	वर्ष जिसका हिसाब लगाया गया है	कुल आय (करोड़-रुपयों में)	प्रतिवर्ष प्रति मनुष्य की आय
१	दादा भाई नौरोजी (पावर्टी एन्ड अन-ब्रिटिश रूल इन इन्डिया)	ब्रिटिश भारत	१८६७-६८	३४०	२०)
२	सन् १८८२ ई० की आर्थिक रिपोर्ट	,,	१८८१	५२५	२७)
३	विलियम डिग्बी (प्रास्परस इन्डिया)	,,	१८९८	४२९	१७।।)
४	लार्ड कर्जन	,,	१८९८	—	३०)
५	आर्थिक रिपोर्ट (१९०१-२)	,,	१९०१	६७५	३०)
६	सर बी० एन शर्मा	,,	१९११	—	५०)
७		संपूर्ण भारत	१९११-१२	५३९	२१)
८	वाडिया और जोशी	ब्रिटिश ,,	१९१३-१४	१२१०	४४)
९	शाह और खम्भाता	संपूर्ण ,,	१९००-१४	११०६	३६)
१०	ऑरनैल्ड लिपटन	ब्रिटिश ,,	१९१९-२०	२८६४.५	१६४)
११	शाह और खम्भाता	संपूर्ण भारत	१९१४-२२	१८६२	५८।।)
१२	,,	,,	१९००-२२	१३८०	४४।।)
१३	,,	,,	१९२१-२२	२३६४	७४)
१४	फिन्डले शिराज़	ब्रिटिश भारत	१९२२-	२८६६	११६)
१५	डॉ० बी० ए० आर० बी० राव	,,	१९३१-	—	६२)
१६	डॉ० अज़ीज़ुलहक	बंगाल	—	—	१७०)
१७	डॉक्टर भगत	बम्बई	—	—	५७)
१८	डॉक्टर बलजीतसिंह	युक्त प्रान्त	१९२८-२९	—	६४)
१९	,,	,,	१९३४-३५	—	५०)

ऊपर दिये गये कोष्ठक में लेखकों ने हर प्रकार के व्यक्तियों की आय को शामिल किया है। नगर-निवासियों में प्रायः बड़े-बड़े पूँजीपति और धनाढ्य व्यक्ति भी रहते हैं। अगर केवल किसानों की आय पर ही विचार किया जाय तो कदाचित वह इससे भी कम बैठेगी। निम्न कोष्ठक में हम मेजर जैक के अनुमान, जो उन्होंने पारिवारिक आय-व्यय के सम्बन्ध में एकत्रित किये थे, देते हैं :—

प्रतिशत	आय	अवस्था
	किसान — परिवार	
(अ) ५० प्रतिशत	६०) प्रतिव्यक्ति	सम्पन्न
(ब) २८ ,,	४३) ,,	साधारण
(स) १८ ,,	३३) ,,	निर्धन
(द) ४ ,,	२७) ,,	अति-निर्धन
	अन्य—परिवार	
(अ) ४७ ,,	८०) प्रतिव्यक्ति	सम्पन्न
(ब) २७ ,,	४२) ,,	साधारण
(स) २० ,,	३१) ,,	निर्धन
(स) ६ ,,	२४) ,,	अति-निर्धन

अपनी स्थिति का ठीक-ठीक अनुमान करने के लिए हमें अपनी इस आय की तुलना अन्य देशों से करनी चाहिये। निम्न कोष्ठक में भारतवर्ष की आय की तुलना संसारके भिन्न-भिन्न देशों से की गई है।

देश	वार्षिक आय प्रति मनुष्य
आस्ट्रेलिया	६७०) रुपये
इङ्गलैण्ड	६३०) ,,
संयुक्त-राष्ट्र अमेरिका	५८५) ,,
फ्रांस	४००) ,,
जर्मनी	३३०) ,,
भारतवर्ष	३०) ,,

इन अङ्कों से हमें अपनी वास्तविक आर्थिक दुरावस्था का ज्ञान होता है। इतनी कम आय का फल यह होता है कि हम अपनी साधारण आवश्यकताओं को भी पूर्ण करने में अपने को असमर्थ पाते हैं। कोई विदेशी किसान स्वप्न में भी इस प्रकार की शोचनीय अवस्था की कल्पना नहीं कर सकता। इङ्गलैण्ड, अमेरिका आदि के किसानों को सादा फर्नीचर (मेज कुर्सी), आवागमन के साधन तथा अन्य निपुणतादायक पदार्थों की ही पिपासा बनी रहती है। इसके विपरीत मिट्टी की टूटी-फूटी झोपड़ियों में निवास करने वाले अर्द्ध-नग्न भारतीय किसान को सदा अपने उदर पूर्ति की चिन्ता और भी अधिक जर्जरित करती रहती है। हड्डियों का वह नर कंकाल, भूख की ज्वाला में दग्ध, टकटकी बांधे किसी प्रकार अपने जीवन के दिन गिन-गिन कर व्यतीत करता है। अब हम अपनी दैनिक आवश्यताओं पर एक-एक करके विचार करेंगे, और यह देखेंगे कि कहाँ तक हम उन्हें पूर्ण करते हैं। पहिले भोजन के प्रश्न पर विचार करेंगे।

भोजन की आवश्यकता :—

पूर्व इससे कि हम यह बतलावें कि हमारा दैनिक भोजन क्या है और वह हमें किस मात्रा में उपलब्ध है हमें यह जान लेना आवश्यक है कि हमारे भोजन की मात्रा कितनी होनी चाहिये। इस विषय में जो खोज हुई है उसके फल हम यहाँ उद्धृत करते हैं—

हमें कितनी मात्रा में भोजन चाहिये

(१) (क) राष्ट्रसंघ के स्वास्थ्य-विभाग के अनुसार ६ घण्टा परिश्रम करने वाले किसान को कम से कम इतना भोजन मिलना चाहिये जिससे २,५०० से २,६०० कैलोरी गर्मी प्राप्त हो सके।

(ख) कठिन परिश्रम करने वाले को २८०० से ३,००० कैलोरी देने वाला भोजन।

२. जनरल मैक कैरिसनके अनुसार २८९९ कैलोरी देने वाला भोजन।

(३) डॉक्टर आँकराइट के अनुसार २,५००-२,६०० ,, ,,

(४) डॉक्टर डब्ल्यू० बरिज के अनुसार (संयुक्त-प्रान्त के किसान को) २,००० देने वाला भोजन

(५) डॉक्टर राधा कमल मुकर्जी के अनुसार २,५०० से ३,५०० कैलोरी देने वाला भोजन चाहिये।

इतनी गर्मी देने के लिये हमें निम्न मात्रा में भोजन चाहिये। निम्न कोष्ठकों में हम भोजन का वह परिमाण बतलाते हैं जो हमारे किसानों को आवश्यक गर्मी (३,००० कैलोरी) दे सके —ये कोष्ठक डॉक्टर राधाकमल मुखर्जी कृत—प्लैनिंग दी कण्ट्री साइड पृष्ठ ५ से उद्धृत हैं।

भोजन के पदार्थ	मात्रा की इकाईयां
कैलोरी गर्मी	३,०००
प्रोटीन	८५ ग्राम
चर्बी (Fat)	६० ग्राम
कार्बो हाइड्रेट (Carbohydrates)	६०५ ग्राम
चूना (Calcium)	०·६८ ग्राम
स्फुरक (Phosphorus)	१·३२ ग्राम
लोहा	१५ मिली ग्राम
विटामिन ए	६,००० अन्तर्राष्ट्रीय इकाईयों में
,, बी	२ मिली ग्राम
,, सी	६० मिली ग्राम
रिबोफ्लेविन (Riboflavin)	१ मिली ग्राम

इतनी मात्रा में ये पदार्थ हमें निम्न भोजन करने से मिल सकते हैं

खाद्य-पदार्थ का नाम	शाकाहारी	आमिषी
	(औंस में)	(औंस में)
अनाज	२२	२०
दाल	३	३
घी और तेल	२	१५
शाक भाजी	४	५
दूध	८	४
फल	२	२
गुड़ या चीनी	२	२
मांस, मछली और अंडे	—	३

हम कितना खाते हैं ?

डॉक्टर राधाकमल मुखर्जी के अनुसार किसी किसी भागमें किसान को २८०० कैलोरी तक गर्मी देने वाला भोजन तो अवश्य प्राप्त हो जाता है, किन्तु वे अधिकांश अनाजों पर ही अपना जीवन निर्वाह करते हैं। निपुणतादायक पदार्थ जैसे घी, दूध, शाक-भाजी, फल उन्हें दुष्प्राप्य रहते हैं। निम्न कोष्ठक में हम कानपुर के श्रमिकों के भोजन की जेल के प्रामाणिक भोजन से तुलना करते हैं—

खाद्य पदार्थ का नाम	प्रति मनुष्य के प्रतिदिन के भोजन का परिमाण (छटांकों में)	युक्त-प्रान्त के जेल में भोजन का परिमाण (छटांकों में)	परिमाण में वृद्धि या ह्रास (छटांकों में)
चावल	१.६	--	१.६
गेहूं	७.६	११	३.७
जव	--	३	३.०
बाजरा	३.५	—	३.५
चना	०.१९	—	०.१९
अरहर की दाल	०.७४	१	०.२६
उर्द की दाल	०.१५	—	०.१५
अन्य दालें	०.४	—	०.४
योग	१३.८८	१५.०	१.१२
दूध	०.४	—	०.४
घी	०.०९	—	०.०९
नमक	०.२	०.२७	०.०७
सरसो का तेल	०.१३	०.१६	०.०३
कुल योग	१४.७५	१५.४३	०.६७

अभी हाल में श्री डाक्टर देवी सिंह ने युक्त-प्रान्त के खोजों में गाँव के किसानों के आहार का वर्णन निम्न प्रकार किया है—

ज़िले	खाद्य-पदार्थों का नाम	दिन भर में भोजन की मात्रा (छटांकों में)
गढ़वाल, नैनीताल आदि	मंडुआ, झँगोरा चावल, चावल, रोटी	लगभग ११ $\frac{१}{२}$
खेरी, बिजनौर, बरेली सहारनपुर आदि	मक्का, बाजरा, चावल, चना जौ	„ १३ $\frac{१}{२}$
आगरा, मथुरा, बुलन्दशहर मेरठ आदि	मक्का, चना, गेहूँ, जौ, जुवार आदि	„ १४ $\frac{१}{२}$
बनारस, मिर्जापुर, बलिया आदि	चावल, सत्तू, जौ आदि	„ १२ $\frac{१}{४}$
झाँसी, हमीरपुर, जालौन, बाँदा आदि	जुआर, बाजरा, चना, जौ और गेहूँ भी	„ ११ $\frac{१}{२}$

निम्न कोष्ठक में हम सन् १९४०-४१ तक युक्त-प्रान्त की कुल जन-संख्या, अनाजों की उत्पत्ति और उपभोग के आँकड़े देते हैं:—

वर्ष	जन-संख्या		बीज को मिलाकर कुल उपभोग लिए प्राप्त अनाजों का परिमाण	८ छटाक प्रति मनुष्य प्रतिदिन के हिसाब से नगरों में कुल अनाज के उपभोग का परिमाण	देहातों के लिये बचा हुआ शेष भाग	
	देहातों की	नागरिक			कुल	प्रति दिन प्रति मनुष्य के लिए
	(दस लाखों में)		('००० टनों में)		('००० टनों में)	(छटाक)
१९३४-३५	५.८	४४.५	९,०५९	९७५	८,०८४	८.६७
१९३५-३६	६.०	४५.०	९,३८४	९९८	८,३८६	८.६७
१९३६-३७	६.१	४५.५	९,३०६	१,०२२	८,२८४	८.४९
१९३७-३८	६.८	४६.०	९,३६९	१,०४६	८,३२३	८.६९
१९३८-३९	६.४	४६.६	९,१४९	१,०७१	८,०७८	८.३३
१९३९-४०	६.५	४७.१	९,१२१	१,०९६	८,०२५	८.२८
१९४०-४१	६.७	४७.६	९,८८०	१,१२२	८,७५८	८.१३

इस प्रकार हम देखते हैं कि लगभग एक सेर से लगाकर १ १/४ तक भोजन मिलने के बजाय हमें लगभग ८ से १३ छटांक तक भोजन ही प्रति दिन प्राप्त होता है। श्री० पंडित दयाशंकर दुबे के अनुमान के अनुसार २५ वर्षों के औसत में लगभग ४० प्रतिशत अथवा ६६७ लाख मनुष्य ऐसे हैं जिन्हें आधा पेट अन्न खा कर ही अपना जीवन व्यतीत करना पड़ता है। यह हम निम्न कोष्ठक द्वारा दिखाते हैं :—

सन्	आधा पेट भोजन पाने वालों की संख्या	प्रति सैकड़ा— (ऐसे युवा मनुष्य)
१९११-१२	६५६ लाख	५४
१९१२-१३	९५२ ,,	७८
१९१३-१४	११२२ ,,	९२
१९१४-१५	८५२ ,,	७०
१९१५-१६	५८८ ,,	४८
१९१६-१७	४८६ ,,	४०
१९१७-१८	६८९ ,,	४७
१९१८-१९	१७१२ ,,	९४
१९१९-२०	४२१ ,,	३६
१९२०-२१	६८१ ,,	४०
१९२१-२२	२७४ ,,	१६
१९२२-२३	२०५ ,,	१२
१९२३-२४	६०० ,,	३५
१९२४-२५	५८९ ,,	३५
१९२५-२६	६५० ,,	३९
१९२६-२७	६०० ,,	३५
१९२७-२८	७४९ ,,	४५
१९२८-२९	६२१ ,,	३५
१९२९-३०	५४९ ,,	३३
१९३०-३१	५४७ ,,	३३
१९३१-३२	५१३ ,,	३०
१९३२-३३	५१९ ,,	३०
१९३३-३४	६०१ ,,	३५
१९३४-३५	६२१ ,,	३६
१९३५-३६	६८१ ,,	४०
२५ वर्षों का औसत	६६७ ,,	४०

संयुक्त-प्रान्त में भोजन की कुल कमी का अनुमान श्री० जे० के० पाण्डे ने निम्न प्रकार लगाया हैं :—

	१९४५-४६	१९४६-४७	१९४७-४८
(१) कुल जनसंख्या का अनुमान (दसलाखों में)	५७'९	५८'७	५९'४
(२) नागरिक जनसंख्या का अनुमान (दसलाखों में)	९'७	९'८	९'९
(३) देहातों की जनसंख्या का अनुमान (दसलाखों में)	४८'२	४८'९	४९'५
(४) ८ छटाँक प्रति मनुष्य प्रति दिन के अनुसार नगरों में अनाज का कुल उपभोग ('००० टनों में)	१,६१८	१.६३८	१,६६०
(५) देहातों में १२ छटांक प्रतिदिन प्रति मनुष्य के अनुसार अनाज का कुल उपभोग ('००० टनों में)	१२,१३३	१२,२८९	१२,४४८
(६) कुल उपभोग का परिमाण ('००० टनों में)	१३,७५१	१३,९२७	१४,१०८
(७) उपज के १० प्रतिशत भाग को बीज के लिए छोड़कर ('००० टनों में)	१,०००	१,०००	१,०००
(८) कुल माँग ('००० टनों में)	१४,७५१	१४,९२७	१५,१०८
(९) उत्पत्ति का कुल अनुमान ('००० टनों में)	९,५६६	९,५६६	९,५६६
(१०) अनाज की कुल कमी का अनुमान ('००० टनों में)	५,१८५	५,३६१	५,५४२

भोजन की इस कमी का मनुष्य के स्वास्थ्य पर बड़ा घातक प्रभाव पड़ता है। इससे केवल उसकी कार्यक्षमता में ह्रास नहीं होता, किन्तु इस कमी के कारण वह

भोजन की इस कमी से होने वाले दुष्परिणाम

नाना आधि-व्याधियों से भी ग्रस्त रहता है। तनिक सी बीमारी लगने पर ही वह कई दिनों तक बीमार पड़ा रहता है। कभी-कभी तो अकाल मृत्यु से अनेकों काल के ग्रास बन जाते हैं और उनकी जीवन की अवधि भी घट जाती है। पिछली जन गणना के अनुसार (१९४०-४१) प्रति १००० मनुष्यों में से २२-२५ मनुष्य तक असमय ही मर गये। इसी प्रकार हमारी जीवन-अवधि भी अब घट कर केवल २५ वर्ष रह गई है। अगर हम अन्य देशों से अपनी तुलना करें तो हमें अपनी इस स्थिति को देख कर क्षोभ होता है। निम्न कोष्ठक में इनकी तुलना (जीवन-अवधि तथा-मृत्यु) अन्य देशों से की गई है –

देश	वार्षिक मृत्यु-संख्या प्रति हज़ार १९३७-३८	जीवन काल की औसत अवधि	
		पुरुष	स्त्री
इङ्गलैन्ड	१२.४	६०.१८	६५.४
फ्रांस	१५.०	५४.३०	५९.०२
जर्मनी	११.७	५९.८६	६२.८१
जापान	१७.०	४४.८२	४६.५४
संयुक्त राष्ट्र अमेरिका	११.२	५६.३४	५८.५३
इटली	१४.२	५३.७६	५६.००
आस्ट्रेलिया	९.४	६३.४८	६७.१४
कैनाडा	१०.२	५७.७०	५९.७४
डेनमार्क	१०.८	६२.००	६३.८०
भारत	२२.४	२६.९१	२६.५६

भोजन की कमी तो मुख्य रही। आय के कम होने के कारण अब तक हमारे किसान अपनी जीवनोपयोगी आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिये भी प्रायः ऋण लिया करते हैं (कदाचित अब इस अवस्था में थोड़ा सुधार हो चला है), ऐसी

अवस्था में निपुणतादायक और विलासिता के पदार्थों के उपभोग करने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। उनकी शिक्षा, स्वास्थ्य, मकान, वस्त्र आदि सभी आवश्यकताएँ या तो प्रायः अपूर्ण ही रह जाती हैं अथवा सीमित मात्रा में ही पूर्ण होती हैं। ऊपर के कोष्ठक में हमने भोजन की कमी से स्वास्थ्य के दुर्बल होने पर जो दुष्परिणाम होते हैं उनका वर्णन किया है, अब भारतीय किसानों की दशा पर तनिक विचार करते हैं।

हमारी अन्य दैनिक आवश्यकताएँ

देहातों के घर :—भारत में औसतन प्रति पांच व्यक्तियों के पीछे एक घर है। यह बात दूसरी है कि बड़े-बड़े नगरों में भव्य और विशाल गगन चुम्बी अट्टालिकाओं वाले मकान मिलते हैं, किन्तु भारत तो गांवों में बसा है, अतः इनकी संख्या अत्यन्त ही परिमित तथा थोड़ी है। यहां के अधिकांश मकान कच्चे होते हैं जो वर्षा में चूते और टपकते हैं। दो तीन वर्ष के बाद ही वे गिरने शुरु हो जाते हैं। बेचारे प्रति वर्ष उनकी मरम्मत वर्षा होने के पहले ही करते हैं। नया छप्पर बना कर डालते हैं, खपरल बिछाते हैं। अतः प्रतिवर्ष काफी रुपया इन मकानों पर उन्हें व्यय करना पड़ता है। तिस पर भी ये मकान प्रायः बन्द और अंधेरी कोठरी के समान होते हैं। प्रकाश और स्वच्छ वायु के लिये रोशनदान और खिड़कियों का कोई प्रबन्ध नहीं रहता। मकान के दरवाजे भी प्रायः टूटे रहते हैं। मकानों में प्रवेश करते अथवा निकलते समय सिर और कमर झुकानी पड़ती हैं। भोजन के लिये रसोईघरों की कोई अलग व्यवस्था नहीं रहती और इन्हीं छोटे-छोटे कमरों में वे अपने पशुओं को भी बांधते हैं।

संक्षेप में हमारे किसान फूस की झोपड़ियों में जैसे-तैसे अपना जीवन-निर्वाह करते हैं जहां धूप, सर्दी और वर्षा सभी कुछ सहन करनी पड़ती है।

घरों का सामान :—जिस तरह हमारे मकान हैं उसी तरह देहात के इन घरों में सामान तथा अन्य साधनों की व्यवस्था भी अत्यन्त ही परिमित है। खेती के यन्त्रों के अतिरिक्त इनके पास सूप, चर्खा, चक्की, टूटी चारपाई और कुछ मिट्टी तथा कांसे, पीतल अथवा आलमूनियम के बर्तन रहते हैं। भोजन के पदार्थ-दाल, आटा, गेहूं चावल इत्यादि ये प्रायः इन्ही मिट्टी के बर्तनों रखते हैं। पानी भरने के लिये कुछ घरों में लोहे का डोल अथवा बाल्टी होती है, अन्यथा मिट्टी के

घड़ों से ही पानी खींचते हैं। मिट्टी का दीपक, एक हुक्का, अनाज जमा करने के लिए मिट्टी की कोठरी (कुठला) इत्यादि और कुछ ऐसी ही वस्तुएँ हमारे देहातों के मकानों में देखी जा सकती हैं।

यहां यह बता देना आवश्यक है कि यह वर्णन अधिकांश जनता से सम्बन्धित है। नगरों के बड़े-बड़े पूँजीपतियों अथवा गांवों के महाजनों तथा जमीन्दारों के पास अपने धन और शिक्षा के अनुसार इन सब वस्तुओं में घटा-बढ़ी होती रहती है।

वस्त्र—प्रायः किसान खद्दर और गाढ़े का ही प्रयोग करते हैं, किन्तु इसकी मात्रा अत्यन्त सीमित है। अनुमान लगाया गया है कि हमारे गांवों में प्रतिवर्ष प्रति मनुष्य १०-१५ गज़ कपड़ा पहनता है। सर्दियों में अधिकतर बेचारे आग के सहारे बैठ कर रात काटते हैं। या धूप में अपने को गर्म करते हैं। फटे पुराने चिथड़ों में आप स्त्रियों को लज्जा ढँकते हुए पावेंगे। गर्मियों में तो वे प्रायः खुले बदन अथवा एक बनियान पहिन कर गुजारा कर लेते हैं।

सारक्षता :—

नीचे हम भारतवर्ष में साक्षरता के आंकड़े देते हैं :—

वर्ष	प्रति हजार मनुष्यों में
१९४१	१२०
१९३१	९५

संयुक्त-प्रान्त में तो अब भी अन्य प्रान्तों से साक्षरता की संख्या कम है। इस प्रान्त में केवल ८ प्रतिशत और पंजाब में १३ प्रतिशत मनुष्य साक्षर हैं।

भारत में भोजन, वस्त्र तथा अन्य निपुणतादायक पदार्थों का उपभोग प्रति मनुष्य प्रति वर्ष निम्न प्रकार है।

नमक और मसाले	६½	सेर
घी और तेल	४½	”
दूध	८	सेर

अब आप इन अकों की तुलना अंगरेज किसान से करिये :—

नमक और मसाले	— २७$\frac{1}{2}$ सेर	वर्ष भर का औसत
भोजन	— ४४'५ सेर	"
चीनी	— ४५ सेर	"
वस्त्र	— ३४	"
मांस और मछली	— ६० सेर	"
मदिरा	— ३० गैलन	
चाय	३$\frac{1}{4}$ सेर	

उपरोक्त वर्णन से हमें अपनी वास्तविक शोचनीय अवस्था की झांकी मिलती है। हमारी जो आर्थिक दुरावस्था है उसके अनेक घातक परिणाम मिलते हैं। जब भर-पेट भोजन तन ढँकने को वस्त्र तथा सुरक्षित रहने के लिये मकानों की भी व्यवस्था नहीं है तो उस अवस्था में उसकी कार्य-क्षमता घट जाती है। उसे अपने काम के करने में कोई उत्साह नहीं मिलता। फलतः आय घट जाती है। जैसा कि हम ऊपर दिखा चुके हैं, हमारी दैनिक आय अन्य देशों की अपेक्षा बहुत ही कम है। इन सब का प्रभाव हमारी शिक्षा स्वास्थ्य आदि सभी पर पड़ता है।

रहन-सहन गिरा हुआ होने का परिणाम

स्वास्थ्य बिगड़ने पर संक्रामक रोगों के चंगुल में बहुत आसानी से घिर जाते हैं। मृत्यु-संख्या बढ़ती है, आयु की अवधि घटती है और संतान भी बहुत दुबली तथा अल्पायु होती है।

इस प्रकार इन दुष्परिणामों का एक ऐसा चक्र चलता है जिसमें एक का प्रभाव दूसरे पर पड़ता है। मजदूरी अथवा आय कम होने से जीवन-रक्षक पदार्थों को भी प्राप्त करने में कठिनाई होती है, इसका प्रभाव स्वास्थ्य, मृत्यु-संख्या आदि पर पड़ता है। इस प्रकार यह चक्र आकर फिर थोड़ी आय पर ही समाप्त होता है।

रहन-सहन ऊँचा करने के उपाय

भारतीय किसानों का जीवन-स्तर ऊँचा करने के लिये हमें निम्न उपायों को काम में लाना चाहिये—

(क) **कृषि-सुधार**—जैसा कि ऊपर के कोष्ठकों में हम बता चुके हैं कि भारत वर्ष में सुकाल के दिनों में भी भरपेट भोजन नहीं मिलता। अकेले संयुक्त प्रान्त में ही हम लगभग ५,५००,००० टन अनाज की कमी का अनुमान बता चुके हैं। समूचे भारतवर्ष में यह कमी लगभग १७ करोड़ मन रहती है किन्तु अकाल के समय यही मात्रा चौगुनी बढ़ जाती है, अर्थात् उन दिनों लगभग ६८ करोड़ मन की कमी हो जाती है। अतः हमारा सर्व-प्रथम कर्त्तव्य भोजन की इस कमी को दूर करना ही होना चाहिये। इसमें सुधार करने के लिये हमें निम्न उपायों को प्रयोग में लाना चाहिये—

(१) गोबर जलाना बन्द कर उसे खाद के लिये काम में लाना चाहिये। इसके अतिरिक्त गांवों में कम्पोस्ट खाद, हरी खाद और मल-मूत्र की खाद के प्रयोग की भी शिक्षा देनी चाहिये।

(२) सिंचाई का समुचित प्रबन्ध होना—भारतीय खेती प्रधानतः वर्षा के जल पर ही आश्रित रहती है। नदियों में भी अब सिंचाई के लिये अधिक जल शेष नहीं बचा। अतः वर्षा के जल को अधिक से अधिक तलाब खोद कर एकत्रित करना चाहिये। अभी ट्यूब वेल कुँओं से भी सिंचाई के लिये जल मिलने की आशा है।

(३) सरकारी संस्थाओं द्वारा 'तक़ावी' का बांटना। सहकारी संस्थाओं का अधिक खुलना और उत्तम बीज, खाद, उन्नतिशील हलों का प्रबन्ध होना।

(४) खेतों को चकबन्द करके उन्नतिशील उपायों से खेती करना।

(ख) **शिक्षा-प्रसार**—शिक्षा ही उन्नति का मेरुदण्ड है। इसके बिना किसी प्रकार की उन्नति सम्भव नहीं। शिक्षा द्वारा ही मनुष्य दूरदर्शी होता है। शिक्षित मनुष्य प्रायः अपनी आय के अनुपात में तथा निपुणता दायक पदार्थों पर ही अधिक व्यय करते हैं। अशिक्षित मनुष्यों को इसका ज्ञान नहीं होता। बहुत से अर्थशास्त्रियों का विचार है कि अशिक्षा, अधिक अनाज के उपभोग तथा निर्धनता के कारण ही भारतवर्ष की जन-संख्या में वृद्धि हो रही है। अशिक्षित होने के कारण वे यह सोचते हैं कि प्रत्येक बच्चा कुछ न कुछ कमा कर ही लाता है और कुटुम्ब की आय में वृद्धि करता है। इस प्रकार के विचारों से ही आज भारत निवासियों का जीवन-स्तर गिर रहा है। चूँकि खर्च के अनुपात में उनकी आय में वृद्धि नहीं हो पाती।

(ग) स्वास्थ्य-सुधार—अभी तक गांवों में स्वास्थ्य को सुधारने के साधन तथा औषधियों का उचित प्रबन्ध नहीं। एक बार महाभारी हैजा, मलेरिया आदि के फैलने पर अनेकों मनुष्य असमय ही काल के ग्रास बन जाते हैं। केवल यही दुष्परिणाम नहीं होता स्वास्थ्य सम्बन्धी ठीक प्रबन्ध न होने के कारण उनके दैनिक कार्यों में भी बहुत बाधा पड़ती है और फलतः उपज कम होती है, अतः डाक्टर राधा कमल मुखर्जी के अनुसार प्रत्येक हजार मनुष्यों के लिये एक औषधालय, एक एक चिकित्सक और एक दाई का प्रबन्ध राज्य की ओर से होना चाहिये।

(घ) **यातायात के साधनों में सुधार तथा उनमें वृद्धि करना :—**

गांवों में जितने मनुष्य अधिक रहते हैं, उन्हें नगरों में जाने का प्रोत्साहन मिलना चाहिये। अधिक आवागमन से जब वह और मनुष्यों के सम्पर्क में आता है तो क्रमशः उसका मानसिक विकास होने लगता है। इस प्रकार उसे अपनी उन्नति करने का अवसर प्राप्त होगा।

यातायात के इन साधनों की उन्नति से एक दूसरा लाभ जो किसानों को मिलेगा वह उसकी आय की वृद्धि का होगा। आगे चलकर हम यह बतावेंगे कि यातायात के इन साधनों में कमी होने के कारण तथा इन में अनेक दोष होने की वजह से ही उसे अपनी फसल को नगर तक लाने में बहुत व्यय करना पड़ता है और इस कारण उसकी आय भी घट जाती है।

(च) **इन्द्रिय-निग्रह** जितना ही अधिक किया जावेगा, उतनी ही परिवार की संख्या कम होगी इसके परिणाम स्वरूप कुटुम्ब के व्यक्तियों को अधिक परिमाण में भोजन वस्त्रादि मिल सकेंगे। इसके लिये विवाह की आयु बढ़ा देने से काफी सहायता मिलेगी। शिक्षा तो उन्नति का प्रथम आधार है।

सोलहवां अयाय

पारिवारिक आय-व्यय

पिछले अध्याय में हम बता चुके हैं कि मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये अपनी आय को उपभोग के विविध पदार्थों पर इस प्रकार व्यय करता है जिससे कि वह उनसे अधिकतम सन्तोष और लाभ प्राप्त कर सके। किसी परिवार की आय और भिन्न-भिन्न पदार्थों पर हुए व्यय के विवरण पत्र को ही हम पारिवारिक आय-व्यय पत्र (family budget) कहते हैं।

पारिवारिक आयः व्यय पत्र क्या है ?

इस पत्र में किसी एक नियत समय में परिवार की सम्पूर्ण आय और जीवन रक्षक, आराम और निपुणतादायक तथा विलासिता के पदार्थों पर होने वाला व्यय सम्मिलित रहता है। आय वाले भाग में उस परिवार के धन अर्जित करने वालों की संख्या, प्रत्येक की आय और व्यवसाय; परिवार के कुल व्यक्ति, आश्रितों की संख्या; नाम, गांव, शहर, मुहल्ला इत्यादि रहते हैं। इसी प्रकार व्यय वाले भाग में उपभोग के मद्द, पदार्थों का नाम, उनकी मात्रा, दर और उन पर किया गया कुल व्यय और जो कुछ धन वह बचाता है आदि बातें सम्मिलित रहती हैं। प्रायः उपभोग के मद्दों को निम्न प्रकार वर्गीकरण किया जाता है :—

१—भोजन पर व्यय

२—ईंधन और प्रकाश आदि पर व्यय

३—मकान किराया

४—वस्त्र, जूते इत्यादि

५—शिक्षा और स्वास्थ्य पर व्यय

६—आमोद प्रमोद पर व्यय

७—नौकर-चाकर, धोबी, नाई आदि पर व्यय

८—धार्मिक और सामाजिक उत्सवों पर व्यय

९—विविध साधनों पर किया गया व्यय

१०—बचत

इसके ज्ञान की आवश्यकता

पारिवारिक आय व्यय का ज्ञान बहुत ही आवश्यक तथा महत्वपूर्ण है। इससे हमें किसी देश की निर्धनता, सम्पन्नता, रहन सहन आदि बातों का ज्ञान होता है। वहां के निवासियों के आचार विचार भोजन, वेश-भूषा, स्वास्थ्य, शिक्षा; सामाजिक दशा इत्यादि सभी बातों का परिचय हमें केवल इसके अध्ययन से हो सकता है। अतः इसका व्यवहारिक होना अत्यन्त ही आवश्यक है।

एन्जिल महोदय के उपभोग सम्बन्धी नियम

लगभग प्रत्येक सभ्य देश में समय समय पर पारिवारिक आय-व्यय के आंकड़े इकट्ठे किये गये हैं; किन्तु इसका गम्भीर अध्ययन और विवेचन सन् १८५७ में जर्मनी के सुप्रसिद्ध डाक्टर एंजिल महोदय ने ही सर्व प्रथम किया था। उन्होंने प्रान्त सेक्सनी के अनेक परिवारों के आय और व्यय के आंकड़े इकट्ठे किये। उन्होंने अपनी खोजमें देखा कि—

(१) निर्धन परिवारों में आय का अधिकांश भाग जीवन-निर्वाह में ही खर्च हो जाता है। इस मद में वे अपनी अम्पूर्ण आय का लगभग ९५ प्रतिशत् तक खर्च करते हैं, (६२ प्रतिशत् खाद्य सामग्रियों पर और ३३ प्रतिशत् वस्त्र, मकान ईंधन इत्यादि पर) और शेष ५ प्रतिशत् भाग को ही वे अपने स्वास्थ्य, शिक्षा, तथा आमोद-प्रमोद के साधनों पर खर्च करते हैं।

(२) कुछ अधिक आय वाले परिवारों में लगभग ५५ प्रतिशत् भोजन और लगभग १० प्रतिशत् भाग निपुणतादायक पदार्थों के उपभोग में व्यय करते हैं।

इस प्रकार वे निम्नलिखित चार निष्कर्षों पर पहुँचे :—

(क) ज्यों-ज्यों आय बढ़ती जाती है, भोजन पर होने वाला व्यय भी उसी अनुपात में घटता जाता है।

(ख) आयके घटने अथवा बढ़ने का प्रभाव वस्त्रों पर होने वाले व्यय पर अधिक नहीं पड़ता।

(ग) इसी प्रकार ईंधन, प्रकाश और मकान के किराये आदि के व्यय में भी विशेष अन्तर नहीं पड़ता है, ये भी प्रायः स्थिर ही रहते हैं।

(घ) किन्तु जैसे जैसे आय में वृद्धि होती जाती है निपुणतादायक, कृत्रिम आवश्यकता तथा विलासिता के पदार्थों पर होने वाला व्यय भी बढ़ता जाता है।

डाक्टर एन्जिल के ये नियम जो उन्होंने अनेक परिवारों के आय-व्यय के आधार पर बनाये थे निम्न तुलनात्मक कोष्ठक में दिये जाते हैं :—

व्यय के विभिन्न भेद	परिवार की आय के अनुपात में व्यय					
	निर्धन और श्रमिक परिवार का खर्च		मध्यम श्रेणीके परिवार का व्यय		सम्पन्न परिवार का व्यय	
	प्रतिशत	कुल योग	प्रतिशत	कुल योग	प्रतिशत	कुल योग
भोजन	१६२	९५%	५५	९०%	५०	८५%
वस्त्र	१६		१८		१८	
मकान का किराया	१२		१२		१२	
ईंधन और रोशनी	५		५		५	
शिक्षा	२	५%	३·५	१०%	५·५	१५%
टैक्स (कर) आदि	१		२·०		३·०	
स्वास्थ्य रक्षा	१		२·०		३·०	
आमोद-प्रमोद तथा अन्य व्यय	१		२·५		३·५	
कुल योग	१००	१००	१००	१००	१००	१००

भारतवर्ष में पारिवारिक आय-व्यय सम्बन्धी खोज

खेद है भारतवर्ष में इस दिशा में बहुत कम प्रयत्न हुए हैं। केवल कुछ उत्साही व्यक्तियों, शिक्षा-संस्थाओं (विश्वविद्यालयों) आर्थिक-खोज समितियों (Board of Economic Enquiry) तथा मजदूर-विभागों ने जहाँ-तहाँ कुछ काम किया है, किन्तु देश के विस्तृत क्षेत्रफल और जनसंख्या के विचार से यह नगण्य है। भारतवर्ष में इस प्रकार के आय-व्यय के पत्र बङ्गाल के श्री० जैक और बम्बई प्रान्त के प्रोफेसर फिण्डले शिरास ने बनाये। जैक महोदय ने बङ्गाल के किसान परिवारों के व्यय के सम्बन्ध में अनुभव किये। उनके अनुसार निर्धन किसान अपनी आय का लगभग ६० प्रतिशत भाग भोजन पर खर्च करते हैं और कुछ अधिक सम्पन्न- लगभग ५८ प्रतिशत। इसी प्रकार प्रोफेसर फिण्डले ने बम्बई प्रान्त के श्रमिक परिवारों के व्यय का अनुभव किया। उनके अनुसार ३० रु० मासिक पाने वाले मजदूर अपनी आय का ६० प्रतिशत भाग भोजन पर खर्च कर डालते हैं; और जिन परिवारों की आय लगभग ८०) या ९०) मासिक है, वहाँ आय का लगभग ५३ प्रतिशत भाग भोजन, वस्त्र आदि पर व्यय किया जाता है। इन दोनों महानुभावों के अनुभव भी डॉक्टर एञ्जिल के सिद्धान्तों की पुष्टि करते हैं।

भारतीय किसानों का पारिवारिक आय-व्यय पत्र

हम अपने पिछले किसी अध्याय में बता चुके है कि पदार्थों के उपभोग की मात्रा तथा प्रकृति प्रायः वहाँ के जलवायु, सामाजिक आचार-विचार तथा आर्थिक अवस्था पर निर्भर रहती है। भारतीय किसान प्रायः सीधे-सादे होते हैं। निर्धन होनेके कारण उनकी आवश्यकतायें बहुत ही परिमित होती हैं। उनमें शिक्षा का अभाव होता है और प्रायः परम्परागत नियमों का पालन करने में ही वे सन्तुष्ट रहते है। अपने जीवन में विशेष परिवर्तन करना उन्हें नहीं रुचता और विलासिता तो उनसे कोसों दूर रहती है।

निम्न कोष्ठक में हम अपने प्रान्त (यू० पी०) के लगभग १,५०० किसान परिवारों के व्यय की पञ्जाब के किसानों के व्यय से तुलना करते हैं —

संयुक्त-प्रान्त तथा पञ्जाब के किसानों का तुलनात्मक व्यय

व्यय के विभिन्न भाग	संयुक्त-प्रान्त के लगभग १,५०० किसान-परिवारों की औसत	पञ्जाब के किसान परिवारों के व्यय की औसत
भोजन	७४.९ %	६७.९ %
वस्त्र	७.४ %	१६.४ %
मकान	१ %	१.५ %
औषधि तथा शिक्षा	०.८ %	१.५ %
मुकद्दमेबाजी	४.१ %	—
सामाजिक उत्सव आदि	४.७ %	३.२ %
अन्य	७.१ %	९.५ %
कुल याग	१००.०	१००.०

उक्त कोष्ठक में हमें इन दो प्रान्तों के किसानों के व्यय के तुलतात्मक अध्ययन का अवसर मिलता है। कोष्ठक के इन अङ्कों को देखकर हम प्रत्येक प्रान्त के किसानों की उन्नति और अवनति का अनुमान कर सकते हैं। पञ्जाव के किसान को अगर देखा जाय तो बहुत अंशों में यहाँ के किसानों से व्यवहार कुशल, सम्पन्न और सुखी मिलेगा। इसका कारण ढूँढ़ना बहुत सरल है। इन अङ्कों से हम निम्न निष्कर्षों पर पहुंचते हैं —

(१) डॉक्टर एञ्जिल के नियम के अनुसार ज्यों-ज्यों आय बढ़ती जाती है भोजन पर किया व्यय भी उसी अनुपात में घटता जाता है। पञ्जाब के किसानों का युक्त-प्रान्त के किसानों की अपेक्षा भोजन पर व्यय कम होता है। वे उसके बदले वस्त्रों पर अधिक खर्च करते हैं।

(२) पञ्जाब के किसान व्यर्थ के विवादों (मुकद्दमों) में, उत्सवों में कम खर्च करते हैं। इसके विपरीत शिक्षा, औषधि और निपुणता के अन्य पदार्थों में उनका खर्च अधिक होता है। पाठकों को यहाँ यह बता देना असंगत न होगा कि इधर कुछ वर्षों में ही पञ्जाब के किसानों ने आश्चर्यजनक उन्नति की है। पहले की भाँति वे न तो आज इतने अशिक्षित ही हैं और न ऋण-ग्रस्त अथवा निर्धन

ही। ग्राम-पञ्चायतों की स्थापना हो जाने से आपस के झगड़े वे वहीं तय कर लेते हैं। नहरों के बन जाने, छोटे-छोटे खेतों के चक-बन्द होने के कारण वे आज हमसे अधिक सम्पन्न और सुखी हैं। विभाजन के बाद प्रायः हम सब ने उस प्रान्त के किसानों को अपने यहाँ देखा था। उनकी वेष-भूशा, खान-पान, आदि सभी बातों को देखकर इस प्रान्त के निवासी स्तम्भित रह जाते थे। हम से कहीं अधिक मात्रा में वे घी, दूध आदि पौष्टिक तथा निपुणतादायक पदार्थों का उपभोग करते हैं।

निम्न कोष्ठक में हम तीन अन्य समृद्धिशाली देशों के किसानों के उपभोग का व्यय दिखाते हैं :—

उपभोग के विभाग	संयुक्त राष्ट्र अमेरिका	जापान	इङ्गलैण्ड
			%
भोजन	३९.५	४१.२	४८.४
वस्त्र	१३.८	७.९	९.१
मकान का किराया	११.६	१५.२	८.३
ईंधन व प्रकाश	७.२	६.०	८.६
अन्य	२७.९	२९.	२५.६

इन कोष्ठकों की तुलना करने पर हमें अपनी वास्तविक स्थिति का ज्ञान हो जावेगा। अन्य देशों के किसान हमसे कितने अधिक सुखी और सम्पन्न हैं, यह इन अङ्कों से हमें भली भांति विदित हो जाता है। अन्य देशों में भोजन पर व्यय इतना अधिक नहीं होता। आय अधिक होने के कारण वे निपुणता आमोद-प्रमोद, शिक्षा आदि पर अधिक ध्यान देते हैं।

भारतीय श्रमिक-वर्ग का पारिवारिक व्यय

भारतीय श्रमिक की आय किसानों की अपेक्षा अधिक होती है। इसके अतिरिक्त हमारे नगर आज विलासिता के केन्द्र हैं। धनाढ्यों के सम्पर्क में आने के कारण, हमारे मजदूरों पर उनका थोड़ा-बहुत प्रभाव पड़ना भी स्वभाविक ही है। अतः इन दोनों के उपभोग में कितना अन्तर है, यह हमें पृष्ठ १७३ के कोष्ठक के अङ्कों के देखने से भली भाँति विदित हो जावेगा।

उपभोग के विभाग	बम्बई (१९३२-३३)	अहमदाबाद (१९३३-३५)	शोलापुर (१९२५)	नागपुर (१९२७)	जबलपुर (१९२७)	रंगून (१९२८)	मद्रास (१९३८)
भोजन	४६.००	४९.३१	४९.२५	६४.१०	६६.००	५२.७	५२.६३
ईंधन और रोशनी	७.११	६.६५	९.६०	९.६२	७.९५	५.२	६.६७
वस्त्र	७.७५	९ १२	११.८६	१०.७०	१०.८६	१०.६	४.५०
मकान का किराया	१२.८१	१०.९७	६.२७	१.९२	१.४४	१३.९	११.१४
अन्य	२५.७३	२३.९५	२३.०३	१३.६६	१३.७५	१७.६	२५.०६
कुलयोग	१००.००	१००.००	१००.००	१००.००	१००.००	१००.००	१००.००

इन सब कोष्ठक के अङ्कों की आपस में तुलना करने पर हमें भारतीय किसान और मजदूरों की आर्थिक परिस्थिति का ज्ञान हो जायगा, और जब हम इन्हीं अङ्कों की अन्य देशों के निवासियों से तुलना करें तो अपनी आर्थिक-हीनता हमें सहज ही मालूम पड़ जायगी। इनके गम्भीर विवेचन करने पर हमें अपने सुधार और उन्नति की आवश्यकता अनुभव होने लगेगी।

नोट—पारिवारिक आय-व्यय की प्रश्नावली, उपभोग किये जाने वाले पदार्थ, इनके रेखा-चित्र आदि बातें विस्तारपूर्वक आगे दी गई हैं।

पारिवारिक आय व्यय के विवरण गृहस्थ, राजनीतिज्ञ और अर्थशास्त्री सभी परिवारिक आय व्यय को समानरूप से लाभदायक सिद्ध होते हैं। इनसे होने पत्र से होने वाले लाभ वाले लाभ संक्षेप में नीचे दिये जाते हैं :-

१—**गृहस्थ को**—(क) व्यय के इस विवरण पर एक दृष्टि डालने से ही उसे विदित हो जायगा कि कहीं वह अपव्यय तो नहीं कर रहा है। अगर ऐसा है तो वह अपनी शक्ति के अन्दर व्यय करने के उपाय ढूँढ़ने का प्रयत्न करेगा।

(ख) अपने मासिक व्यय की तुलना करने पर उसे बचत के साधन मालूम हो जावेंगे; और आवश्यकता के अनुसार जहां वह उचित समझेगा निपुणतादायक और पौष्टिक पदार्थों के उपभोग की मात्रा में वृद्धि कर सकेगा।

(ग) इनसे उसे दूरदर्शिता और मितव्ययिता का ज्ञान होता है। भविष्य की आवश्यकताओं, सीमान्त उपयोगिता नियम के अनुसार खर्च करने की विधि आदि अनेक आवश्यक और उपयोगी बातों की शिक्षा मिलती है।

२—**अर्थशास्त्री को**—(च) जिन परिवारों के व्यय का वह अध्ययन करेगा, उससे वह उनकी आर्थिक अवस्था, उन्नति, अवनति, ऋण आदि बातों का पता लगा सकता है।

(छ) इसके अध्ययन से उसे यह भी मालूम हो सकता है कि अमुक परिवार कैसा भोजन कर रहा है, वह स्वास्थ्यवर्धक है अथवा हानिकर। उनका रहन-सहन का स्तर गिरा हुआ है अथवा मध्यम श्रेणी का है। अपने बच्चों की शिक्षा स्वास्थ्य, आमोद-प्रमोद आदि बातों पर ध्यान देते हैं या नहीं। मादक पदार्थों का सेवन करते हैं तो उसमें कितना व्यय होता है। इनके सेवन करने से कहीं वे ऋण-ग्रस्त तो नहीं हो रहे आदि।

(ज) उसे इनके अध्ययन करने से किसी समाज अथवा देश के व्यक्तियों के रीति-रिवाज़, वेष-भूषा, आदत और रहन-सहन के ढंगों में होने वाले परिवर्तनों का भी ज्ञान हो जायगा।

३…**राजनीतिज्ञ को**—(ट) पारिवारिक आय-व्यय के अंकों से वह किसी देश के निवासियों के रहन-सहन का ठीक ज्ञान प्राप्त कर सकता है।

(ठ) वह नियमों द्वारा ऐसे पदार्थों का उपभोग, जिनसे कि वहां के निवासियों के स्वास्थ्य पर घातक प्रभाव पड़ता है, बन्द कराने की भरसक चेष्टा कर सकता है। जैसे आजकल मदिरा निषेधक कानून अनेक प्रान्तों में उपयोग किया जा रहा है।

(ड) करों का पदार्थों के उपभोग पर क्या और कैसा प्रभाव पड़ेगा इसका ज्ञान वह इनके द्वारा ही कर सकता है। जैसे आजकल सिगरेट तम्बाकू, चाय, आदि पर अधिक कर लगा दिये हैं; तो क्या अब यहां के निवासियों ने इन पदार्थों का उपभोग कम कर दिया है अथवा उतना ही है। अगर उतना ही है तो इनके स्थान पर किस पदार्थ का उपभोग कम हो रहा है।

(ढ) वह ऐसे प्रयत्न खोजेगा जिनसे कि धनी पुरुषों पर कर लगा कर निर्धन व्यक्तियों को इससे मुक्त किया जा सके; और किन उपायों से अनावश्यक पदार्थों का उपभोग बन्द किया जा सकता है।

आय-व्यय पत्र का नमूना

भारतवर्ष के अधिकांश निवासी अशिक्षित हैं। वे न तो स्वयं ही आय और व्यय का हिसाब रखते हैं, और न किसी अनजाने व्यक्ति को वे अपना हिसाब देने के लिये तैयार ही होते हैं। अतः जो व्यक्ति इस सम्बन्ध में खोज करने जावें उनको अत्यन्त ही सावधानी, धैर्य तथा चतुराई की आवश्यकता है। उसे भी एक प्रकार की कला मानना चाहिए और इस में वे ही प्रायः सफल हो सकते हैं जो या तो स्वय गांव के निवासी हैं, अथवा जिन्हें गांव की पूरी-पूरी जानकारी होती है। इस आय-व्यय के पत्र के बनाने में कुछ बातें हमें अवश्य ध्यान में रखनी चाहिए :—

(१) किसानों के साथ हमारा ऐसा व्यवहार होना चाहिए जिससे कि वे हमें कोई भेदी न समझें। बात चीत अत्यन्त ही नम्रता पूर्वक की जाय तथा उनकी भाषा में ही हो। गांव जाते समय 'जैसा देश-वैसा वेश' का आचरण करना आवश्यक है, अन्यथा वे सब बातें ऊट पटांग और गलत बतावेंगे।

(२) पटवारी के कागजों से उसकी जमीन, जायदाद, फसलों का क्षेत्रफल, पिछली फसल, सिंचाई के साधनों के विषय में पूरी पूरी जानकारी हो सकती है।

अतः किसानों से मिलने से पूर्व उनके इन कागजों से (खसरा खतौनी) अपनी आवश्यक बातें मालूम की जा सकती हैं। पटवारी को गांव की प्रत्येक बात मालूम रहती हैं, अतः वह बहुत सी बातें स्वयं भी बता सकता है। इसलिए किसानों से बात चीत करने से पहिले यदि पटवारी से सब बातें पूछ ली जावें तो वे आगे चलकर हमें बड़ी सहायता देती हैं। पटवारी चालाक भले ही हो, पर वह प्रायः समझदार व्यक्ति होता है, अतः इस जानकारी में वह बहुत ही सहायक देगा।

(३) किसानों का हिसाब प्रायः फसलों के बोने से लगाकर काटने तक रहा करता है। अतः ठीक ठीक जानकारी के लिये हमें यही समय लेना उचित रहता है। बाद में हम माहवारी हिसाब लगा सकते हैं।

(४) किसानों से मिलने से पहिले हमें अपना पूरा नकशा बना लेना चाहिए। प्रश्नों की पूरी सूची साथ में हो तथा अन्य जानकारी के लिए भी हमें अलग क़ाग़ज़ रख लेने चाहिए।

यहां हम संक्षेप में आय-व्यय का नक्शा देते हैं।

(अ)

तारीख——— महीना·········सन्

गांव का नाम······

तहसील·········

ज़िला·······

(ब)

(१) नाम—······

जाति—······

धर्म—······

व्यवसाय—······

(२) परिवार

(१) परिवार के कुल सदस्यों की संख्या···

(अ) पुरुषों की संख्या···

(ब) स्त्रियों की संख्या···

(स) लड़कों की संख्या···

(द) लड़कियों की संख्या···

(२) काम करने वाले···

(३) आश्रित···

(स)

(३) जायदाद

- जमीन का क्षेत्रफल (कुल खेतों की संख्या और अलग-अलग क्षेत्रफल)
- भूमि का मूल्य
- मकान का मूल्य
- नकदी धन व ज़ेवर
- पशु—(१) गाय
  - (२) बैल
  - (३) भैंस
  - (४) भैंसे
  - (५) घोड़ा
  - (६) अन्य
- फल वाले पेड़
- गाड़ी······
- अनाज इत्यादि
- अन्य—·········
- जायदाद का कुल मूल्य.......

(४) ऋण— कुल रकम

मद—(१) कब लिया
(२) किस काम के लिये लिया
(३) किससे लिया
(४) सूद की दर
(५) शर्त

नोट १—जायदाद का विवरण लेते समय निम्न बातें जाननी आवश्यक होती हैं :- भूमि मौरूसी गैर मौरूसी, अथवा शिकमी दर शिकमी कैसी है ? मकान का पूरा पूरा विवरण तथा स्थिति इत्यादि ।

आय का विवरण

कमाने वाले के धन्धे का नाम	मासिक आय की दर	वास्तविक आय जो उसे प्राप्त होती है	अधिक काम करने पर मिलने वाले धन का परिणाम	अन्य आय	योग
(क) पुरुष					
(१)					
(२)					
(३)					
(ख) स्त्री					
(१)					
(२)					
(३)					
(ग) लड़के					
(१)					
(२)					
(३)					
(घ) लड़की					
(१)					
(२)					
(३)					
परिवार की कुल आय का योग					

नोट—(१) जब कोई व्यक्ति किसी नौकरी पर होता है तो उसकी आय में से कुछ धन कटौती में चला जाता है जो उसके नाम जमा कर दिया जाता है, अथवा कहीं-कहीं मँहगाई आदि मिलती है।

परिवार का विवरण

	संख्या				उनकी आयु		घर के अध्यक्ष से सम्बन्ध
	पुरुष	स्त्री	लड़के	लड़की	लड़के	लड़की	
कमाने वाले							
कमाने वालों के साथ में रहने वालों की संख्या							
बाहर रहने वालों की संख्या							

भूमि से होने वाली आय

मद	जिन्स में					नकद				
	१ ला सप्ताह	२ रा सप्ताह	३ रा सप्ताह	४ था सप्ताह	कुलयोग	१ ला सप्ताह	२ रा सप्ताह	३ रा सप्ताह	४ था सप्ताह	कुलयोग
(१) जमीन और बगीचों में										
(२) गाय-भैंस तथा अन्य पशुओं से मुर्गी इत्यादि										
(३) वेतन अथवा दस्तूर										
(४) अन्य आय										
(५) ऋण										
कुलयोग										

क—भोजन

मद्द	जिन्स में		नकद	
	मात्रा	मूल्य	मात्रा	मूल्य
	म० से० छ०	रु० आ० पा०	म० से० छ०	रु० आ० पा०
गेहूं				
गेहूं का आटा				
चना				
चने का आटा				
बेझर (बेर्रा)				
चावल				
जौ				
मक्का				
जुआर				
बाजरा				
दाल—उर्द				
मूँग				
अरहर				
मसूर				
चना				
घी				
तेल—सरसों				
तिल				
मूंगफली				
गोला				
दूध				
गुड़				
चीनी				

	जिंस में		नकद	
	मात्रा	मूल्य	मात्रा	मूल्य
	म०-से०-छ०	रु० आ० पा०	म०-से० छ०	रु० आ० पा०
शक्कर				
मांस				
मछली				
अंडा				
आलू				
अन्य शाक-भाजी				
नमक				
मसाले				
मिठाई				
फल				
मेवा				
चाय				
कुल योग				

ख… ईंधन व प्रकाश

नाम	मात्रा	कीमत
	म०	रु० आ० पा०
लकड़ी		
उपले		
कोयला		
कुलयोग —		
मिट्टी का तेल		
अन्य तेल		
दियासलाई		
कुलयोग —		

ग. मकान

किराया	मरम्मत	मूल्य रु० आ० पा०

घ—वस्त्रादि

मद	संख्या	मूल्य	कितने समय तक चला
		रु० आ० पा०	
(१) पुरुष (मर्दाने)			
(१) धोती			
पाजामा			
कमीज			
बनियान			
कोट (मिर्जई)			
लोई			
अंगोछा			
साफा			
टोपी			
गर्म कपड़े			
(१) कोट			
(२) पाजामा			
(३) बंडी			
(४) कम्बल			
जूते			
अन्य कुल योग			
(२) स्त्री (ज़नाने)			
साड़ी			

मद	संख्या	मूल्य	कितने समय तक चला
सलवार			
लँहगा			
कमीज़			
सलूक			
ओढ़नी			
चादर			
बुर्का			
चप्पल			
जूते			
अन्य			
कुल योग—			
(३) बच्चे--			
धोती			
साड़ी			
लँहगा			
सलूका			
चादर			
पाजामा			
कमीज			
कोट (सूती)			
बंडी (गर्म)			
कोट (गर्म)			
साफा			
टोपी			
जूता			
चप्पल			
अन्य			
——			
——			
...			
कुल योग			

च—घर का अन्य सामान

	संख्या	मूल्य	कितने समय चला
		रु० आ० पा०	
चारपाई			
दरी			
कथरी			
रजाई			
चादर			
कंबल			
बर्तन			
छाता			
चटाई			
हुक्का			
अन्य			
(१) ...			
(२) ...			
(३) ...			
कुल योग			

छ—अन्य वस्तुओं पर व्यय :—

मद	जिन्स में		नकद	
	मात्रा	कीमत	मात्रा	कीमत
धोबी				
नाई				
भंगी				
साबुन				
दवा				
शिक्षा				
यात्रा				
तबाकू				
पान				
सुपारी				
मादक पदार्थ				
(१)				
(२)				
(३)				
मनोरंजन की वस्तुएँ				
(१)				
(२)				
(३)				
उत्सव				
छूट				
डाक-व्यय				
पत्र-पत्रिकाएँ				

मद्द	जिन्स में		नकद	
	मात्रा	कीमत	मात्रा	कीमत
मुकदमा				
सूद				
दान				
अतिथि-सत्कार				
पूजा कथा आदि,				
तीर्थ यात्रा				
विवाह, श्राद्धादि				
नौकर–चाकर				
लगान और मालगुजारी				
बढ़ई				
लुहार				
खेती में काम करने वालों को				
खेती संबंधी अन्य काम				
चौधरी-टैक्स				
अन्य विविध–भेंट				
पशुओं के ऊपर व्यय				
बीज, औज़ार				
अन्य				
(१)				
(२)				
(३)				
खर्च का योग				
ऋण का भुगता				

ज बचत या कमी

बचत				
कमी				

झ — सारांश

भोजन	ईंधन	प्रकाश	किराया	वस्त्र	अन्य घरेलू खर्च	विविध खर्च	कुल खर्च	कुल आय	बचत या कमी	ऋण भुगतान अथवा बैंक में जमा

सत्रहवां अध्याय

उपभोग का विवेचन

प्रत्येक व्यक्ति समाज का एक मुख्य अंग है, अतः उसे अपने अन्यान्य कार्यों की भाँति ही उपभोग में भी सामाजिक दृष्टि रखनी चाहिए—अर्थात् उसे सदा इस बात का प्रयत्न करना चाहिए कि किसी प्रकार भी उसका व्यक्तिगत अहित न हो कर समाज को लाभ हो और उसकी सुख-संवृद्धि हो। अपने विगत अध्याय में हमने भारतवर्ष के विभिन्न प्रान्तों के किसानों के पारिवारिक व्यय की जांच की थी और साथ ही उसकी तुलना विदेशी किसानों से करके दिखलाई थी। इस अध्याय में हम उनके इस खर्च का विवेचन करेंगे। उपभोग के दो मुख्य भेद हैं—सदुपभोग और दुरुपभोग।

सदुपभोग

सदुपभोग को भी दो विभागों में बांटा जा सकता है—एक तो साधारण और दूसरा आदर्श। साधारण सदुपभोग में व्यक्तिगत लाभ के साथ-साथ समाज को लाभ होता है; किन्तु आदर्श-सदुपभोग में व्यक्तिगत लाभ न होकर भी समाज का लाभ होता है। आर्थिक दृष्टिकोण से तो साधारण सदुपभोग ही अच्छा माना जावेगा चूंकि इसमें दोनों पक्षों को लाभ होता है। उदाहरण के लिए जब हम स्वदेशी वस्तुओं का उपभोग करते हैं तो न केवल हम अपने ही को लाभ पहुँचाते हैं वरन् उससे देश के करोड़ों मजदूर और किसान भी लाभान्वित होते हैं। किन्तु आदर्श सदुपभोग में इससे कुछ अन्तर है। आदर्श सदुपभोग में नैतिक दृष्टिकोण को प्रधानता दी जाती है। व्यक्तिगत सुख को ठुकरा कर हम जन-साधारण के लाभ तथा देशोन्नति का विचार करते हैं। उदाहरण के यदि लिये कोई व्यक्ति अपने धन के कुछ भाग को बचाकर रात्रि-पाठशालाएँ खुलवाए, स्कूल अथवा अस्पताल बनवाए या अन्य ऐसे ही लोक कल्याण के कार्यों में योग दे।

इसी प्रकार दुरुपभोग का विचार भी हम दो दृष्टिकोणों से कर सकते हैं। प्रथम तो वह है जिसे व्यक्ति अपने लाभ, सुविधा अथवा शौकीनी के लिए करता

दुरुपभोग

है और जिनके कारण समाज को हानि पहुंचती है। उदाहरण के लिए आज अनेक सभ्य पुरुष विदेशी सूखे अथवा जमें हुए दूध का उपभोग अपने घरों में करते हैं। ऐसा क्यों? कदाचित अपनी सुविधा के विचार से अथवा इसलिए कि वे उसे अच्छा समझते हैं या वह उन्हें सस्ता पड़ता है। किन्तु यदि ध्यान पूर्वक देखा जावे तो अपने देश में भी ऐसी ही वस्तुएँ उपलब्ध हो सकती हैं—यदि हम उन पर केवल अपनी श्रद्धा रखें और विश्वास जमावें। इसी प्रकार अनेक व्यक्ति केवल अपनी क्षणिक सुविधा के लिए सारे समाज को हानि पहुंचाते हैं। गांवों में उसी तालाब से पीने के लिए पानी जाता है तो वहीं आकर बहुत से लोग स्नान करने बैठ जाते हैं जिससे कि पीने का पानी दूषित हो जाता है। वे नागरिक कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व से या तो अनभिज्ञ रहते हैं अथवा जानबूझ कर उनकी उपेक्षा करते हैं।

दूसरे प्रकार के दुरुपभोग में उपभोक्ता का उद्देश्य बुरा नहीं होता किन्तु उसके करने से वह अपने को तथा साथ ही साथ समाज को हानि पहुंचाता है। उदाहरण के लिए अज्ञान और अल्पज्ञताके कारण भारतीय किसान अपनी अधिक बचत के जेवर बनवा डालते हैं, अथवा शादी विवाहों में अपव्यय कर डालते हैं। इसी प्रकार अनेकों को व्यर्थ की मुकद्दमेबाजी का व्यसन लग जाता है। यदि ध्यान पूर्वक विचारा जाय तो ऐसी बातों से केवल व्यक्तिगत हानि ही नहीं होती है—सारा समाज इन कुरीतियों से आहत होता है। इन सब बातों का विचार हम यहां करेंगे।

अथवा बिना सोचे बिचारे दान-धर्म-धार्मिक-निष्ठा का होना बुरा नहीं कहा जा सकता, किन्तु धर्मान्धता का होना अवश्य ही बुरा है। हमारे अधिकांश किसान

अविवेकता मूलक दान-धर्म

(और नगर निवासी भी) धर्मान्ध ही हैं। उनकी धर्मान्धता का मुख्य कारण अशिक्षा भी है। अतः हम देखते हैं कि धर्म के नाम पर व्यर्थ ही सहस्रों रुपये फूंक दिए जाते हैं। मंदिरों में मूर्तियों के प्रतिष्ठापन में, उनके श्रृंगार तथा आभूषणों में जो अपव्यय होता है वह तो सर्व विदित ही है। इसके अतिरिक्त देव-मन्दिरों में जो पुजापा चढ़ाया जाता है अथवा जिनको हम पुजारी के स्थान पर बैठाते हैं—वे व्यभिचार और मुफ्तखोरों की संख्या में वृद्धि करते हैं। यह हमारे नैतिक पतन की पराकाष्ठा है।

इसके अतिरिक्त गांवों के किसान तीर्थों के नाम पर जो धन खर्च करते हैं;

आर्थिक दृष्टि से वह भी बुरा है और सबसे बुरा है धर्म के नाम पर हट्टे-कट्टे भिखारियों और नामधारी साधु संन्यासियों का पालन। ऐसे व्यक्ति हमारी कृपा अथवा दयाके पात्र नहीं कहे जा सकते, वरन् ये समाज के कोढ़ हैं इनका उपचार होना अति आवश्यक है। नगरों में इस ओर और भी अधिक अपव्यय होता है, किन्तु हमें सन्तोष है कि अब कुछ व्यक्ति इस प्रथा में सुधार करने के लिये सक्रिय प्रयत्न कर रहे हैं। प्रान्तीय धारा-सभाओं में इसके निवारण के प्रयत्न किये जाने के लिये अनुरोध किया जा रहा है। क्या ही अच्छा हो कि गांवों के लिये भी ऐसी एक योजना तैयार की जाय।

सामाजिक उत्सव और अपव्यय :—अब तनिक हमें अपने सामाजिक रीति-रहस्यों और उत्सवों पर होने वाले खर्च पर भी विचार कर लेना आवश्यक है। जैसा कि हम संकेत कर चुके हैं और रहन-सहन के स्तर वाले अध्याय में स्पष्ट कर चुके हैं कि भारतवासी अत्यन्त ही निर्धन हैं, यहां तक कि उन्हें जीवन-रक्षक पदार्थ भी पर्याप्त मात्रा में सुलभ नहीं होते हैं, तथापि यदि गांवों में जाकर देखें तो फसलों के कट जाने के बाद जो अपव्यय होता है, वह वास्तव में हृदय-विदारक है। विवाहों के सहालग्य अधिकांशतः (दोनों) फसलों के कट जाने के बाद ही प्रायः आते हैं। इस समय किसानों के पास फसल की बिक्री का कुछ धन तथा अनाज भी शेष रह जाता है। अतः अपनी सामर्थ्य और शक्ति के बाहर आभूषणों पर तथा सामाजिक भोजों पर खर्च करने में वे इस समय तनिक भी नहीं हिचकते। फल यह होता है कि वे इन उत्सवों के बाद ही ऋण-ग्रस्त हो जाते हैं। इसी प्रकार श्राद्ध, मुण्डन आदि अवसरों पर वे अपव्यय करते दीख पड़ते हैं। अतः केवल रिवाज़ के कारण ही अपनी कमाई को इस प्रकार बहा देना न्याय-संगत नहीं है। खेद है, नगरों की भाँति हमारे देहातों में अभी इस ओर क्रियात्मक प्रयत्न नहीं किए गए। समाज-सुधार आन्दोलनों द्वारा ऐसे अपव्ययों को रोकने का भरसक प्रयत्न किया जाना चाहिये।

मुकद्दमेबाजी

जब से हमारे गांवों से पञ्चायती प्रथा ओझल हुई है तब से व्यर्थ की मुकद्दमेबाज़ी में जो रुपया खर्च हो जाता है इसका अनुमान हमें निम्न अङ्कों के देखने से ही विदित हो जावेगा। भारतवर्ष में दीवानीके मुकद्दमों पर ५० करोड़ रुपयों से अधिक प्रति वर्ष व्यय होता है और

प्रनिवर्ष २० लाख से अधिक मकदमें कचहरियों में पहुंचते हैं। ऐसे मुकद्मों की बहुतायन क्रमशः बङ्गाल, बिहार, बम्बई और संयुक्तप्रान्त में ही पाई जाती है। पारिवारिक आय-व्यय वाले अध्याय में हम बता चुके हैं कि हमारे प्रान्त के किसान केवल मुकद्मेंबाजी पर ही अपनी आय के ४.१ प्रतिशत भाग को खर्च कर डालते हैं। हमारी यह अवस्था अत्यन्त ही शोचनीय है। भारतवर्ष में मुकद्मे किसानों और जमीन्दारों के, व्यापारी और किसानों के ऋण अथवा आपस में किसानों के खेतों के मेड़ आदि तोड़ देने पर ही चलाये जाते हैं। यह अपार धन-राशि सहयोग की भावना जागृत करके अथवा पञ्चायतों का पुनरुद्धार करके बचाई जा सकती है।

मादक-पदार्थों का उपभोग

इनके अतिरिक्त गांवों में तम्बाकू, गांजा, भांग, शराब आदि पर भी काफी व्यय होता है। यद्यपि इन पदार्थों के जो आदि हो जाते हैं उनका तो यही मत है कि इन वस्तुओं के कारण ही वे जीवित है तथा अपनी कार्यक्षमता को स्थिर रखते हैं, तथापि इनके उपभोग से हमारे स्वास्थ्य को तथा स्वास्थ्यहानि होने पर कार्य-क्षमता को जो ठेस पहुंचती है इसका अनुमान हमारे भोले भाले कृषकों को नहीं होता है। अकेले तम्बाकू पर ही जो व्यय होता है वह हमारे किसानों की आय का एक बहुत बड़ा भाग है जो अनुमानतः प्रतिवर्ष दो अरब रुपयों से भी अधिक बैठता है। इस निर्धन देश की आय का इतना बड़ा भाग केवल क्षणिक सुख के लिये नष्ट हो जाय इससे अधिक दुख और क्या हो सकता है?

उपभोग का आदर्श

उपर हमने अपव्यय सम्बन्धी केवल मुख्य बातों का ही वर्णन किया है। इनके अतिरिक्त हमारे देश में अपव्यय के अन्य और भी कई स्रोत हैं, जिनके कारण किसानों की आर्थिक अवस्था चिन्तनीय हो जाती है और जो शीघ्र ही बन्द हो जाने चाहिये। ऐसी कृत्रिम और विलासिता की आदतों का नियन्त्रण करके वे अपनी आय में से कुछ भाग अवश्य बचा सकते हैं, किन्तु इसके लिये उनमें मितव्ययताके भावों को जागृत करने की आवश्यकता है। यह पहिले ही बताया जा चुका है कि उपभोग सिर्फ जीवन-रक्षक और निपुणतादायक पदार्थों का, तथा कुछ अंश में आराम की वस्तुओं पर किया जाना चाहिये; कृत्रिम आवश्यकताओं तथा अपव्यय के पदार्थों का उपभोग तो सर्वथा ही अनुचित है। इस प्रकार अपने व्यर्थ के खर्च को रोककर और आवश्यकताओं का उचित नियंत्रण करके

काफी धन की बचत की जा सकती है जिसका उपयोग सेवा, परोपकार और राष्ट्रोन्नति के कार्यों में किया जा सकता है। इसमें तो सन्देह नहीं कि आदमी को पहिले अपनी आवश्यकताओं के नियंत्रण करने में विशेष कष्ट अनुभव करना पड़ता है, किन्तु जब वह अपने इस बचाए हुए धन से परोपकार सम्बन्धी नई आवश्यकताओं की पूर्ति करता है तो उसे अपूर्व आनन्द और सुख मिलता है। यही हमारा भारतीय आदर्श है।

पाश्चात्य भौतिकवादी अर्थशास्त्री हमारे इस आदर्श की भले ही हँसी उड़ावें, किन्तु भारतवर्ष को अभी अपने इसी सिद्धान्त के अनुकरण करने की आवश्यकता है। यहां हम यह स्पष्ट कर देना उचित समझते हैं कि हमारे पूर्वजों ने इस सिद्धांत का प्रतिपादन करके व्यर्थ में शरीर सुखा डालने का आदेश नहीं कर डाला है। इसका उद्देश्य तो बहुत ही सीधा और सरल है। जीवन का व्यक्तिगत सुखवाद या स्वार्थवाद (खाओ, पीओ और मौज उड़ाओ) ही लक्ष्य नहीं है, वरन् एक सामाजिक प्राणी होने के नाते समाज के अन्य प्राणियों के सुख-दुःख में भी सहयोग देना हमारा धर्म है —नैतिक कर्त्तव्य है। केवल अपने व्यक्तिगत सुख के लिये दूसरों को कष्ट पहुँचाना अथवा उसके दुखों की उपेक्षा करना हमारा कर्त्तव्य नहीं है। प्रत्येक धर्म का यही तकाज़ा है कि मर्यादानुसार अपने व्यक्तिगत सुखों का पालन करते हुए सभी का ध्यान भी रखना चाहिए। अतः अपनी कार्य-क्षमता को बढ़ाने के लिये हमें उचित परिमाण में भोजन, वस्त्र और मकान सम्बन्धी आवश्यकताओं को पूर्ण करके देश व जाति के उपकार के लिये भी कुछ बचाना हमारा कर्त्तव्य है। यही उपभोग का आदर्श है।

अठारहवाँ अध्याय

उत्पत्ति और उसके साधन

उत्पत्ति का साधारण अर्थ तो बहुत सीधा और सरल है। कोष में इस शब्द के अनेक अर्थ हैं—निर्माण करना, रचना, ऊपर आना, पैदा होना, प्रकट होना आदि।

उत्पत्ति का अर्थ

अर्थशास्त्र में इसका यह अर्थ नहीं है कि जो वस्तु पहिले नहीं थी उसका अब नया अस्तित्व हुआ है। यह तो हम पहले ही बता चुके हैं कि वैज्ञानिक सिद्धान्तों के अनुसार न तो मनुष्य किसी पदार्थ को उत्पन्न ही कर सकते हैं और न नष्ट करने की क्षमता ही उनमें है। भौतिक पदार्थ तो हमें प्रकृति की देन हैं। इस भौतिक सम्पति में हम अणु भर भी परिवर्तन नहीं कर सकते हैं। हाँ, परिश्रम करके जो पदार्थ नीचे दबे या पिछे पड़े हैं, उन्हें हम ऊपर ला सकते हैं; या अपनी बुद्धि लगाकर जो पदार्थ गुप्त रूप या स्थान में हों उन्हें हम प्रकट कर सकते हैं अथवा अनुपयोगी या कम उपयोगी पदार्थों की उपयोगिता में वृद्धि कर सकते हैं।

निदान, एक किसान हल जोन कर या खोदकर खेत में बीज डालता है, खाद, पानी, निराई, गुड़ाई की व्यवस्था कर, प्रकृति के कार्य में सहायक होता है और उसकी गति को वह अपनी बुद्धि और परिश्रम से बढ़ाता है। उत्पत्ति का सब कार्य तो प्रकृति स्वयं ही करती है। एक लकड़हारा जंगल से लकड़ी लाता है वहाँ उसका कोई मूल्य नहीं होता; किन्तु नगर में आते ही उसके लिये मनुष्य मूल्य देने को तैयार हो जाते हैं। इसी प्रकार भूमि के गर्भ में नाना प्रकार की खनिज सम्पत्ति भरी पड़ी है। मनुष्य बुद्धि द्वारा उन्हें मालूम करते हैं और परिश्रम करके उन्हें बाहर निकालते हैं। अतः व्यक्ति सर्वथा कोई नई चीज़ पैदा नहीं कर सकता। वह तो अपने प्रयत्नों द्वारा पदार्थों की उपयोगिता में वृद्धि करता है। इस उपयोगिता वृद्धि को ही अर्थ-शास्त्र में 'उत्पत्ति' अथवा धनोत्पत्ति कहते हैं। स्मरण रहे कि वही उपयोगिता वृद्धि उत्पत्ति मानी जाती है जिसका आर्थिक दृष्टि से कुछ मूल्य हो और जिसके होने से उसका मूल्य पहिले की अपेक्षा अधिक हो जाय या बढ़ जाय अथवा उसके बदले में अन्य कोई उपयोगी वस्तु प्राप्त हो सके।

13

संसार में यह उपयोगिता वृद्धि दो प्रकार से सम्पन्न होती है। (१) प्रत्यक्ष रूप से (२) परोक्ष रूप से। प्रत्यक्ष रूप से उपयोगिता वृद्धि प्रायः भौतिक पदार्थों में होती है और परोक्ष रूप में मनुष्य एक दूसरे की ऐसी सेवाएँ करता है जिससे आय होती है और उत्पादन में वृद्धि होती है। इसे हम अभौतिक उत्पत्ति कहते हैं।

उत्पत्ति के भेद

पहिले हम भौतिक उत्पत्ति के विषय में विचार करेंगे। पदार्थों में उपयोगिता की वृद्धि निम्न रीतियों से होती है :—

रूपोपयोगिता (रूप परिवर्तन)—प्रकृति में अनेक पदार्थ ऐसी अवस्था में पाये जाये जाते हैं जिनका उपभोग हम उस रूप में नहीं कर सकते अथवा उनकी उपयोगिता उस अवस्था में हमारे लिये बहुत ही कम होती है, अतः उनके रूप में आवश्यक परिवर्तन किये जाते हैं, यही पदार्थों की रूपोपयोगिता अथवा उनका रूप परिवर्तन कहलाता है। उदाहरण के लिये तालाब या पोखर की मिट्टी का हमारे दैनिक जीवन में अधिक महत्व नही होता और न उससे हमारी अधिक आवश्यकतायें ही पूर्ण हो सकतीं हैं। किन्तु एक कुम्हार उस मिट्टी को वहाँ से खोद कर लाता है। उसमें यथोचित परिश्रम करता है। अब वह उसमें अपनी बुद्धि लगाकर नाना प्रकार की वस्तुएं तैयार कर लेता है। वही मिट्टी अब हमारी अनेक आवश्यकताओं को पूर्ण कर देती है। मकान के लिए ईंटे और खपरैल-पानी भरने और वस्तुएँ रखने को झज्झर और घड़े; इसी प्रकार बच्चों के खेलने के लिए खिलौने और विविध प्रकार की मूर्त्तियां वह उससे तैयार कर लेता है। अतः कुम्हार ने केवल अपने प्रयत्नों द्वारा उस मिट्टी में रूप-परिवर्तन कर उसकी उपयोगिता बढ़ा दी, और अब मिट्टी के मूल्य में भी पहिले की अपेक्षाकृत वृद्धि हो गई। इसी प्रकार किसान, दर्जी, लुहार, बढ़ई आदि सभी पदार्थों के रूप यथोचित परिवर्तन करते हैं और उनकी उपयोगिता पहिले की अपेक्षा बढ़ाते हैं।

अर्थ-शास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान् पेन्सन ने रूपोपयोगिता को इस प्रकार समझाया है—

कुर्सी की उपयोगिता—लकड़ी की उपयोगिता

= बढ़ई द्वारा उपयोगिता में अतिरिक्त वृद्धि

रूप परिवर्तन द्वारा उपयोगिता वृद्धि करने से कच्चा माल पैदा होता है और

तैयार माल बनता है। कच्चा माल पैदा करनेमें पशुपालन, खेती-बारी आदि व्यवसाय सम्मिलित रहते हैं। इन व्यवसायों में मनुष्य अपने परिश्रम द्वारा प्रकृति के उत्पादन में सहायक होता है। अन्न के उत्पन्न करने में पूँजी, और व्यवस्था की मदद से वह केवल बीज का रूपान्तर करता है। उसी प्रकार पशुपालन में वह पशुओं के भोजन और उनके स्वास्थ्य की रक्षा का प्रबन्ध करता है। दूध आदि पदार्थों में वह परिवर्तन करके उनसे घी, मक्खन, पनीर तैयार करता है। अन्य उद्योगधन्धों में भी इस प्रकार मनुष्य कच्चे माल का कल-कारखानों में रूपान्तर कर उन्हें उपयोगी बनाते हैं। अतः गांव से आई हुई कपास को मिलों में मशीनों द्वारा काता और बुना जाता है और उनसे अनेक उपयोगी वस्त्र बन जाते हैं। जिस रूई का मूल्य पहिले एक रुपये का दो सेर था अब वस्त्र के रूपान्तर से बहुत अधिक बढ़ गया।

(२) **स्थानोपयोगिता (स्थान परिवर्तन)**—बहुत से पदार्थों की उपयोगिता एक स्थान पर कम होती है, किन्तु दूसरे स्थान में उनकी उपयोगिता अधिक होती है। यही एक स्थान से दूसरे स्थान का परिवर्तन भेद स्थानोपयोगिता कहलाता है। दूसरे शब्दों में हम इस तरह कह सकते हैं कि जहाँ जो पदार्थ अधिक मात्रा में उत्पन्न होते हैं, उन्हें वहाँ से ऐसे स्थानों में ले जाया जाता है जहाँ वे कम मात्रा में उत्पन्न होते हैं अथवा जहाँ उनकी आवश्यकता मनुष्यों को अधिक होती है तो उनकी उपयोगिता बढ़ जाती है। स्थानोपयोगिता की इस वृद्धि में यातायात और अन्य व्यापार के साधन व्यवहार में आते हैं। उदरहरण के लिये नगरों में अन्न पैदा नहीं किया जाता, वह तो गांवों की ही पैदावार है। अतः किसानों के पास जो खाने से अतिरिक्त अन्न शेष बच रहता है वह गधे, घोड़ों, गाड़ी, सिकरम और ठेलों में लाद कर नगरों या मंडियों लाया जाता है और उसकी उपयोगिता में और भी वृद्धि की जाती है। इसी प्रकार बम्बई के केले, प्रयाग के अमरूद, लखनऊ की खरबूजे की बटियाँ, उत्तरी भारत के आम एक स्थान से दूसरे स्थान तक लाद कर रेलों और मोटरों द्वारा भेजे जाते हैं। इस प्रकार स्थान परिवर्तन द्वारा उनकी उपयोगिता में वृद्धि होती है। अगर ऐसा न किया जाय तो वे वहीं पड़े रह कर सड़ जायं और नष्ट हो जायं।

बहुत से ऐसे उदाहरण भी हैं जहाँ स्थान परिवर्तन और रूप-परिवर्तन दोनों

एक साथ मिल कर पदार्थों की उपयोगिता में वृद्धि करते हैं। जैसे मिलों में बना हुआ माल, खान से धातु को निकाल कर और शुद्ध करके बाहर भेजना आदि। बम्बई, नागपुर आदि की मिलों, में उदाहरण के लिये, कपास को कात-बुन कर धोती बनाते हैं, अथवा लकड़ी काट कर तख्ते चीरे जाते हैं, खानों से कच्चे माल को निकाल कर शुद्ध किया जाता है। इस प्रकार की उपयोगिता वृद्धि के बाद ही इन्हें वहाँ से अन्य स्थानों को भेजा जाता है, जहाँ पर उनकी अधिक उपयोगिता हो और जहाँ पर उनका अधिक मूल्य मिल सके।

(२) **संचयोपयोगिता (समय परिवर्तन या संचय)**—बहुत से पदार्थों को सञ्चित करके रखने पर उपयोगिता बढ़ती है, ऐसे पदार्थों को कुछ काल तक सुरक्षित रखा जाता और समय आने पर निकाल कर बेचा जाता है। व्यापार की अधिकांश क्रियायें इसमें सम्मिलित रहती हैं। सिरका, गुड़, मदिरा और चावल को जितना सञ्चित करके रखा जाय उतनी ही उनकी उपयोगिता बढ़ती है और उनका अधिक मूल्य मिलता है। फल, दूध, शाक-भाजी को ठंडी खत्तियों या ठँडे-गोदामों (Cold storage) में काफी समय तक सुरक्षित रख कर बेचा जाता है। इसी प्रकार फसल कटने पर इतना अधिक अन्न पैदा हो जाता है कि सबका सब उन्हीं दिनों में नहीं खाया जा सकता। अतः गांव का महाजन और नगरों की मंडियों के व्यापारी आढ़ती उन्हें खत्तियों में सुरक्षित रखते हैं और समय आने पर उन्हें निकाल कर बेचते हैं। इसी प्रकार अन्य व्यवसायों में भी होता है। ये व्यापारी इन पदार्थों की उपयोगिता में वृद्धि करते हैं और लाभ उठाते हैं।

(४) **अधिकार परिवर्तन**—जब कोई वस्तु किसी एक ऐसे व्यक्ति के पास हो जिसकी उपयोगिता उसे अधिक न हो अगर अधिकार परिवर्तन द्वारा उस पदार्थ की उपयोगिता में वृद्धि हो जाती है तो उसे हम अधिकारोपयोगिता कहेंगे। सरकारी बीज गोदाम में बीज और हलों की अधिक उपयोगिता नहीं होती; और न एक चमार के पास चरस (पुर या मोट) की; किन्तु जब ये ही वस्तुएँ एक किसान के अधिकार में आ जाती हैं तो वह उन्हें उत्पत्ति के प्रयोग में लाता है। उसे इनकी अधिक आवश्यकता थी। इसी प्रकार एक बड़े जमींदार के पास दस बीघा जमीन का कितना महत्व है ? किन्तु वहीं भूमि जब एक श्रमिक को मिल जाती है तो वह अपने परिश्रम से उसमें अधिक उत्पत्ति करता है। इसी तरह और भी कई

उदाहरण दिये जा सकते हैं जहाँ अधिकार परिवर्तन द्वारा वस्तुओं की उपयोगिता में वृद्धि होती है। इसमें भी व्यापारियों, दलालों और सौदागरों के कार्य सम्मलित रहते हैं जो पदार्थों को उन व्यक्तियों से लेकर जिन्हें उनकी कम आवश्यकता रहती है, उन लोगों तक पहुँचाते हैं जिनके लिये वे उपयोगी रहते हैं।

ऊपर दिये गये उदाहरणों में हमने प्रत्यक्ष रूप से भौतिक पदार्थों में उपयोगिता वृद्धि होते देखा। इनमें वस्तुओं के रूप, स्थान, अधिकार और समय बदलने से उपयोगिता में वृद्धि होती है इस प्रकार पदार्थों की उपयोगिता को बढ़ाने में किसान, व्यापारी, आढ़ती, दलाल, सटोरिये (सट्टेबाज़) कारीगर, माल ढोने वाले, जंगलों और खानों में काम करने वाले श्रमिक, मछली तथा समुद्र से शङ्ख तथा मोती निकालने वाले व्यक्ति सम्मिलित रहते हैं।

अ-भौतिक उत्पत्ति—यह हम ऊपर कह आये हैं कि उत्पत्ति आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिये किये जाने वाले प्रयत्नों से होती है। अतः भौतिक पदार्थों में उपयोगिता बढ़ाने वालों के अतिरिक्त भी कई ऐसे व्यवसाय हैं जहां मनुष्य प्रयत्न करते हैं और अपनी दैनिक आवश्यकताओं को पूर्ण करते हैं। डाक्टर और वैद्य जनता के स्वास्थ्य; अध्यापक शिक्षा; पुलिस वाले जान और माल; देश की सुरक्षा के लिये सिपाही, अपराधों को रोकने और न्याय के लिये जज (न्यायाधीश) सब ही अपनी सेवाओं से देश व समाज की उत्पत्ति में सहायक होते हैं। बहुत से व्यक्ति अपनी कलाओं से जनता को आनन्दित कर उनकी आवश्यकताओं को पूर्ण करते हैं, जैसे मदारी, गायक, नाचने वाला आदि। अत: आर्थिक दृष्टि से ये भी उत्पादक हैं।

उत्पादक और अनुत्पादक व्यवसाय :—

उत्पादक और अनुत्पादक व्यवसायों के निश्चय करने में बहुत काल तक शास्त्रकारों में प्रायः मतभेद रहा। आज से लगभग १५० वर्ष पूर्व फ्रांस के अर्थशास्त्री (जिन्हें फिज़ियोक्रेटस कहते हैं) खेती के सिवाय अन्य सब व्यवसायों को अनुत्पादक मानते थे। उनके अनुसार प्रकृति (भूमि) की सहायता से जो जीविकोपार्जन करते थे केवल वे ही अतिरिक्त उत्पत्ति करते थे। अतः किसान को छोड़ कर महाजन, जमीन्दार व्यापारी और दास सभी व्यक्तियों के प्रयत्न अनुत्पादक गिने जाते थे। किन्तु समय के अनुसार विचारों में भी धीरे धीरे प्रगति होने लगी और बाद में प्रसिद्ध शास्त्रकार आदम स्मिथ ने अन्य व्यवसायों को उत्पादक मान कर

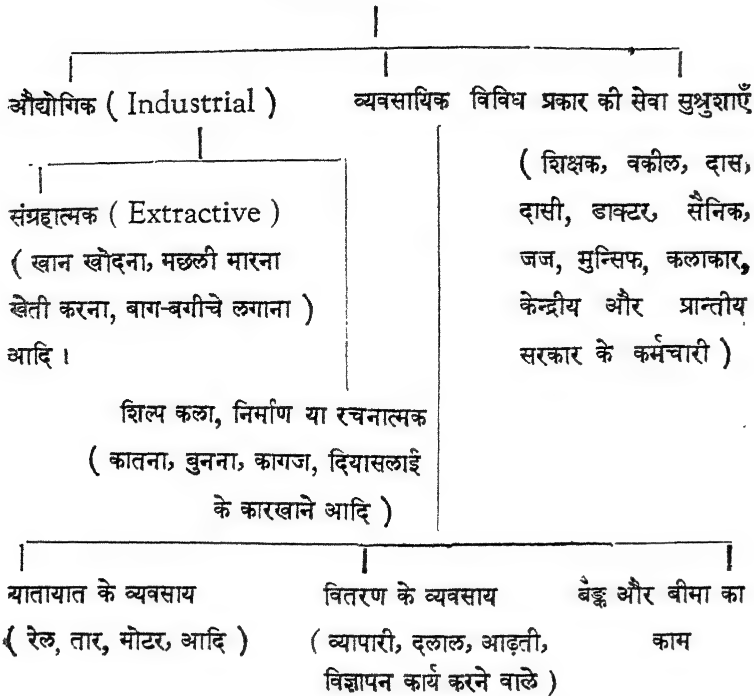
अर्थशास्त्र के विचारों में एक व्यापक परिवर्तन पैदा कर दिया। जैसे मेज़ कुर्सी बनाने वाले बढ़ई, यन्त्र बनाने वाले कारीगर, शिल्पी आदि। किन्तु व्यापार और यातायात के व्यवसायों को उत्पादक मानने के लिये तो फिर भी मतभेद चलता रहा। चूँकि इनसे किसी प्रकार भी नवीन धन की उत्पत्ति नहीं होती।

लेकिन ऊपर हम बता चुके हैं कि इन व्यवसायों को करने वाले व्यक्ति स्थान और समय के परिवर्तन से वस्तुओं की उपयोगिता में वृद्धि करते हैं, और उपभोक्ताओं को व्यर्थ की चिन्ताओं और कष्टों से दूर रखते हैं। अतः बाद में इनकी भी गणना उत्पादक व्यवसायों में होने लगी।

नाचने गाने वाले, शिक्षक, वकील, न्यायाधीश, घरेलू नौकर, सैनिक, पुलिस आदि कर्मचारी तो बहुत समय तक विवाद के विषय बने रहे। इन कर्मचारियों को शास्त्रकार अनुत्पादक मानते थे, चूंकि इनसे प्रत्यक्ष रूप में भौतिक पदार्थों की उपयोगिता में वृद्धि नहीं होती थी। अतः सितार का बनाने वाला तो उत्पादक माना जाता था, किन्तु बजाने वाला नहीं ; इसी प्रकार कपड़ा बुनने वाला तो उत्पादकों की गणना में आ जाता था किन्तु वस्त्र बनाने वाला दर्जी और उनको साफ रखने वाला धोबी नहीं। किन्तु अब अर्थशास्त्रियों के विचार इतने संकुचित नहीं रहे। आज उत्पादक और अनुत्पादक व्यवसायों का निर्णय सामाजिक मनुष्य की आवश्यकताओं को पूर्ण करने वाले प्रयत्नों से होता है। अतः वे सब प्रयत्न, जिनसे कि मनुष्य प्रत्यक्ष रूप में भौतिक पदार्थों की उपयोगिता वृद्धि करते हैं, अथवा परोक्ष से अपनी सेवाओं द्वारा समाज का कल्याण करते हैं या आनन्दित करते हैं, आज अर्थशास्त्र के अन्तर्गत माने जाते हैं। लेकिन आज भी बहुत से ऐसे व्यवसाय हैं जिन को उत्पादक नहीं माना जाता, जैसे चोरी और लूट मार करना। इनसे व्यक्तिगत आवश्यकताएँ भले ही पूण हो जाती हों तथापि ऐसे मनुष्यों की गणना सामाजिक व्यक्तियों में नहीं की जा सकती और न इन से किसी प्रकार की उपयोगिता वृद्धि ही होती है।

व्यवसायों का वर्गीकरण :—

जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है मनुष्य अपनी जीवन-वृत्ति के लिये नाना प्रकार के व्यवसायों को करते हैं। मनुष्य के इन एयत्नों (व्यवसायों) को हम निम्न प्रकार विभाजित कर सकते हैं।


उत्पादक व्यवसाय
औद्योगिक (Industrial)
व्यवसायिक
विविध प्रकार की सेवा सुश्रुशाएँ
(शिक्षक, वकील, दास, दासी, डाक्टर, सैनिक, जज, मुन्सिफ, कलाकार, केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकार के कर्मचारी)
संग्रहात्मक (Extractive)
(खान खोदना, मछली मारना खेती करना, बाग-बगीचे लगाना) आदि ।
शिल्प कला, निर्माण या रचनात्मक
(कातना, बुनना, कागज, दियासलाई के कारखाने आदि)
यातायात के व्यवसाय
(रेल, तार, मोटर, आदि)
वितरण के व्यवसाय
(व्यापारी, दलाल, आढ़ती, विज्ञापन कार्य करने वाले)
बैङ्क और बीमा का काम

उन्नीसवाँ अध्याय

उत्पत्ति के साधन और साधक

उत्पत्ति का अर्थ जान लेने के बाद अब हम उन बातों पर विचार करेंगे जिनसे कि वस्तुओं की उपयोगिता में वृद्धि (उत्पत्ति) होती है। उत्पत्ति अथवा वस्तुओं की उपयोगिता वृद्धि में कुछ खास-खास बातों की सहायता ली जाती है, अर्थशास्त्र में इन्हीं को हम उत्पत्ति के साधन कहते कहते हैं। किसी वस्तु की उत्पत्ति में दो मुख्य बातों की आवश्यकता होती है।

भूमि और श्रम उत्पत्ति के दो मुख्य साधन

(१) मनुष्य द्वारा किया गया परिश्रम, जिसे अर्थशास्त्र में हम श्रम कहते हैं, और (२) वे वस्तुएँ जिन पर कि मनुष्य अपने परिश्रम का उपयोग करता हैं।

उदाहरण के लिए यदि एक घसिहारा जो घास छीलना चाहता है, उसके लिए घास का होना आवश्यक है और साथ ही साथ उस घास को छीलने के लिए उसमें परिश्रम करने की क्षमता भी। इसी प्रकार एक कुम्हार को ले लीजिए, उसे अपने परिश्रम के अतिरिक्त मिट्टी का मिलना भी अत्यन्त जरूरी है जिससे कि वह बर्तन बनावेगा। इन दोनों साधनों की प्रत्येक प्रकार की उत्पत्ति में आवश्यकता पड़ती है और इनके बिना किसी प्रकार की उपयोगिता वृद्धि वस्तुओं में होना सम्भव नहीं है। इन्हीं दो साधनों को अर्थशास्त्र में क्रमशः 'श्रम' और प्रकृति अथवा भूमि कहते हैं। श्रम के अन्तर्गत मनुष्य द्वारा व्यक्तिगत रूप से किये गये प्रयत्न सम्मिलित रहते हैं तथा भूमि के अन्तर्गत प्रकृतिदत्त वे सब शक्तियां सम्मिलित रहती हैं जिन्हें कि मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने में उपयोग करते हैं।

उत्पत्ति में इन दोनों साधनों का व्यवहार हम सृष्टि के आदि काल से पाते हैं। आर्थिक जीवन के विकास का अध्ययन करते समय हम देख चुके हैं कि पहिले पहल मनुष्य केवल इन्हीं दो साधनों पर, अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये, निर्भर रहता था। अर्थात् अपनी भूख को शान्त करने के लिये वह स्वयं अपने परिश्रम द्वारा फल फूलों

पूंजी की आवश्यकता

को प्राप्त करता था जो उसे प्रकृति ने विपुल मात्रा में दे रखे थे। इन दो साधनों के अतिरिक्त उसे किसी तीसरे का ज्ञान ही नहीं था। शनैः शनैः उसने यह अनुभव किया कि उसे कोई शास्त्र अथवा औज़ार यदि मिल सके तो वह सरलतापूर्वक आखेट कर सकता है और वृक्षों की ऊँची डालियों से फल प्राप्त कर सकता है। ऐसे साधनों की सहायता से उसे परिश्रम तो कम करना पड़ेगा और उपभोग के पदार्थ अधिक मात्रा में मिल सकेंगे। इन्हीं के फलस्वरूप उसने शस्त्रास्त्र बनाए। आर्थिक-जीवन के विकास के दूसरे चरण में भी, इसी प्रकार, हम देखते हैं कि मछलियां पकड़ने के लिये जाल तथा नाव, रहने के लिये तम्बू, घास छीलने अथवा खेती करने के लिये खुर्पी या मामूली हलों को बनाया जाने लगा। इन सब साधनों को उसने अपने परिश्रम तथा उत्पत्ति में सहायता देने के दृष्टि कोण से ही बनाया।

अस्तु, उत्पत्ति में तीन साधनों की प्रधान आवश्यकता रहती है—

(१) प्रकृतिदत्त साधन।

(२) व्यक्तिगत—मनुष्य की शक्ति, कुशलता और साहस इत्यादि।

(३) कृत्रिम—जिनकी रचना मनुष्य ने व्यक्तिगत परिश्रम को हल्का या कम करने के दृष्टि कोण से की है और जो अधिक उत्पत्ति करने में सहायता प्रदान करते हैं।

वस्तुओं की भौतिक उत्पत्ति या उपयोगिता वृद्धि की किसी रीति को ले लीजिये। उन सब में आप इन तीनों साधनों का व्यवहार निश्चित रूप से किसी न किसी रूप में पावेंगे। स्थान परिवर्तन में एक घसिहारा या लकड़हारा जंगल से बस्ती में घास छीलकर लाता है अथवा लकड़ी बीन कर लाता है तो एक साधन तो जंगल हुआ जो भूमि-खंड है। घास और लकड़ी वहां पैदा होती है। फिर घास को छीलने में लकड़ियों को चुनने में तथा बस्ती तक लाने में उसे परिश्रम करना पड़ता है। उसके ये प्रयत्न 'श्रम' के अन्तर्गत आते हैं। अब तीसरे साधन में वह खुर्पी, रस्सी अथवा कपड़ा कुल्हाड़ी आदि को काम में लाता है। इन सब वस्तुओं की गणना पूँजी में होती है।

इसी प्रकार रूप परिवर्तन में जहां कचा माल पैदा किया जाता है अथवा माल तैयार किया जाता है इन तीनों साधनों का होना आवश्यक है। खेती में जिसमें

प्रायः कच्चे माल की उत्पत्ति रूप परिवर्तन द्वारा होती है, बोने के लिये भूमि चाहिए बोने तथा निराने-गुड़ाने और काटने में श्रम की आवश्यकता होती है। उसके बीज खुर्पी, फावड़ा, हल इत्यादि पूँजी के रूप में काम में लाए जाते हैं।

अ-भौतिक उत्पत्ति में भी इसी तरह एक गायक अथवा डाक्टर को दूकान के लिए या बैठने के लिए भूमि की जरूरत होती है; उसकी कला और कार्यकुशलता उसका श्रम है, तथा हारमोनियम, सितार, ढोलक, स्टैथिस्कोप, दवा आदि पूँजी है।

उत्पत्ति के इन मुख्य साधनों को प्रसिद्ध अर्थशास्त्री पेंशन ने निम्न-प्रकार से व्यवहार होता दिखलाया है :—

आवश्यकताओं	की पूर्ति के लिए	प्रयत्न करने पड़ते हैं।	जिनमें निम्न साधनों	की आवश्यकता	होती है—	प्रकृतिदत्त साधन व्यक्ति-गत परिश्रम कृत्रिम साधन	द्वारा	धन की उत्पत्ति होती है	जिनसे हमारी	आवश्यकताओं की पूर्ति होती है।

किन्तु ज्यों-ज्यों आर्थिक उन्नति होना आरम्भ हुआ, त्यों-त्यों अधिक मात्रा में सम्पत्ति उत्पन्न की जाने लगी। कल-कारखाने खुले। सामूहिक प्रयत्नों द्वारा

प्रबन्ध

(बहुत आदमियों द्वारा मिल-जुलकर, श्रम-विभाजन की रीति से) धनोत्पत्ति होने लगी। खेती भी विस्तृत-क्षेत्रों में मशीनों द्वारा होने लगी। इन विस्तृत क्षेत्रों को कुशलतापूर्वक चलाने के लिए श्रम-विभाजन करने की आवश्यकता हुई। कौन व्यक्ति हल चलावेगा कौन निरावेगा कौन गोड़ेगा तथा काटेगा; बीज कहां से कौन तथा कैसा लाए; किन खानों का व्यवहार कब किया जावे आदि अनेक प्रश्न उपस्थित होने लगे—अर्थात् भूमि श्रम और पूंजी का उचित रीति से प्रबन्ध तथा नियंत्रण करके अधिक धनोत्पत्ति की जाने लगी। जब उपज तैयार हो जावे तो उसे कहाँ एकत्रित किया जावे, गोदाम कैसे हों ; कब, कहां किस प्रकार, कितने में बिकेगा; गाड़ी मोटर-ठेला, रेल, खच्चर अथवा ऊँट आदि में से किस सवारी से किस मँडी में कैसे भेजा जाय आदि सब बातों को उचित रूप से तय करना सब प्रबन्ध के अन्तर्गत आता है।

खेती के व्यवसाय में जैसा कि हम बता चुके हैं, मनुष्य को अधिकांशतः प्रकृति के आधीन रहना पड़ता है। अतः काफी सावधानी रखने पर भी कभी-कभी हानि हो जाती है। इनके अतिरिक्त आज आर्थिक जीवन बहुत काफी उलझ चुका है। एक व्यक्ति को अनेक संस्थाओं और व्यक्ति समूहों पर आश्रित रहना पड़ता है। अब वह इतना स्वतन्त्र नहीं है जितना कि सभ्यता के प्रथम दो या तीन चरणों में था। अतः उत्पत्ति में होने वाले हानि लाभ के जोखिम की जिम्मेदारी को लेने के लिए भी किसी एक व्यक्ति, संस्था या व्यक्ति समूह की आवश्यकता होती है। ये व्यक्ति या संस्थाएँ हर प्रकार के हानि लाभ के लिए तैयार रहती हैं। चाहे हानि हो अथवा लाभ लेकिन भूमि का लगान; श्रमिकों को उनका परिश्रमिक ; जिसकी पूंजी लगी है उसे ब्याज ; प्रबन्धक को वेतन तो अवश्य देना ही पड़ेगा। अस्तु अन्त में कोई न कोई व्यक्ति ऐसा अवश्यक होना चाहिए जो उत्पादन के इस कार्य में होने वाले हानि और लाभ को सहन करे और व्यवसाय को चलावे। अतः इसका महत्वपूर्ण स्थान रहता है। कभी कभी अन्तिम दो साधनों—प्रबन्ध और साहस—को मिला दिया जाता है और तब हम उसे व्यवस्था अथवा संगठन कह सकते हैं।

साहस

इस प्रकार कुल मिलाकर उत्पत्ति के निम्न मुख्य साधन माने जाते हैं :—

(१) भूमि
(२) श्रम
(३) पूंजी
(४) व्यवस्था
(अ) प्रबन्ध
(ब) साहस

उत्पत्ति के साधनों का महत्व

उत्पत्ति के केवल दो साधन

ऊपर के वर्णन में हम देख चुके हैं कि किस प्रकार मनुष्य के आर्थिक जीवन के विकास के साथ-साथ ही उत्पत्ति के विभिन्न साधनों का भी विकास हुआ। आज इनमें से किसी साधन का भी महत्व कम नहीं है। प्रत्येक का अपना एक अलग महत्वपूर्ण

स्थान है और एक के बिना दूसरे का काम चल सकना असंभव है। किसी एक अंग के शिथिल पड़ने पर उत्पत्ति की गति धीमी पड़ जाती है। ऐसी अवस्था में किसी एक को दूसरे से अधिक महत्व देना न्याय संगत न होगा। फिर भी यदि सूक्ष्मावलोकन किया जाय तो उत्पत्ति के केवल दो अंग ही सबसे अधिक महत्वपूर्ण मालूम होते हैं—अर्थात् भूमि और श्रम।

भूमि

भूमि हमें प्रकृति की देन है। यही प्रत्येक कार्य, व्यवसाय और उद्योग-धन्धे का आधार है। इसी पर हम रहते हैं, बैठते हैं, उछलते-कूदते तथा अपने दैनिक व्यवसायों को करते हैं। बिना इस आधार के मनुष्य की प्रत्येक गति अवरुद्ध हो जाय। इसके अतिरिक्त हमें प्रकृति ने और भी साधन दे रखे हैं, जिनका प्रयोग हम अपनी उत्पत्ति में करते हैं। नदी, पहाड़, सूर्य का प्रकाश, वर्षा, ठण्ड, गर्मी इनकी सहायता के बिना न तो मनुष्य ही जीवित रह सकता है और न पशु-पक्षी कीट-पतंग या वनस्पति ही। फिर इन्हीं पदार्थों से हमें नाना प्रकार की शक्ति मिलती है। अतः किसी प्रकार की भी उत्पत्ति क्यों न हो भूमि, जिसके अन्दर प्रकृति की प्रत्येक देन समावेशित है, का स्थान सर्व प्रथम और अग्रगण्य है। इसका महत्व किसी से भी कम नहीं है।

श्रम को महत्ता

श्रम का दूसरा महत्वपूर्ण स्थान है। बिना श्रम के भी कोई कार्य नहीं किया जा सकता है। भूमि निष्क्रिय है, उसको शारीरिक तथा मानसिक परिश्रम द्वारा सक्रिय बनाया जाता है। विविध प्रकृतिदत्त साधनों का उपयंग केवल परिश्रम द्वारा ही होता है। यदि उन पर परिश्रम न किया जाय तो प्रकृति के ये साधन अकेले ही उपभोक्ता की सन्तुष्ट नहीं कर सकते हैं। अपनी सन्तुष्टि के लिये आदिम निवासी को भी फल-फूल तोड़ने के लिये शारीरिक परिश्रम करना ही पड़ता था, उसकी गुफा में ही कोई पशु उसके पास नहीं आ जाता था। इस प्रकार मनुष्य का श्रम भी अत्यन्त महत्वपूर्ण ठहरता है और प्रत्येक दृष्टिकोण से संसार में उपभोग तथा उत्पत्ति का केन्द्र मनुष्य ही है।

अन्य साधन

प्रकृति की देन और मनुष्य के परिश्रम (शारीरिक तथा मानसिक) से जो वस्तुएँ उपलब्ध होती हैं उन्हीं में से कुछ को उपभोग से बचा लिया है। इन पदार्थों की सहायता से ही अधिक उत्पत्ति की जाती है। ऐसी सहायक वस्तुओं को ही हम पूँजी कहते हैं। खेती में

बीज इसका प्रत्यक्ष और सबसे सरल उदाहरण है। इस प्रकार पूँजी केवल प्रकृति और श्रम का एक संयुक्त-फल है। इसका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। उत्पत्ति की व्यवस्था मनुष्य स्वयं ही करता है। इसमें उसके ज्ञान, शक्ति और साहस आदि गुणों की आवश्यकता पड़ती है और उन्हीं का व्यवहार होता भी है। अतः इनको हम श्रम के विशेष रूप कह सकते हैं। इस दृष्टि से साहस और प्रबन्ध दोनों ही—जो उत्पति के मुख्य अङ्ग माने जाते हैं—श्रम में समावेशित किये जा सकते हैं।

अतः उत्पत्ति के दो प्रधान अङ्ग भूमि और श्रम हैं। इन्हें एक दूसरे का पूरक मानना चाहिए।

उत्पत्ति——भूमि
उत्पत्ति——श्रम

उत्पत्ति के साधक

ऊपर हम उत्पत्ति के निम्न पाँच साधनों—भूमि, श्रम, पूँजी, प्रबन्ध और साहस, का वर्णन कर आये हैं। इन पाँच साधनों का सञ्चालन जिन व्यक्तियों द्वारा होता है उन्हें हम 'उत्पत्ति के साधक' कहते हैं। इन पाँच साधनों के अनुसार साधक भी प्रायः पाँच ही होते हैं। जो निम्न प्रकार हैं :—

साधन		साधक	
भूमि		भू-स्वामी (जमीन्दार)	
श्रम		श्रमिक	
पूँजी		पूँजीपति	
प्रबन्ध	व्यवस्था	प्रबन्धक	व्यवस्थापक
साहस		साहसी	

यद्यपि उत्पत्ति का कैसा ही काम क्यों न हो, उपर्युक्त पाचों साधनों का होना आवश्यक है और इसी तरह ये साधक भी आवश्यक माने जाते हैं, किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक कार्य अथवा व्यवसाय में ये पाँचों साधन और साधक स्पष्ट रूप से पृथक्-पृथक् हों। बहुधा एक ही व्यक्ति कई साधनों का नियन्त्रण स्वयं ही कर लेता है और कभी-कभी प्रत्येक साधन के लिये अलग-अलग साधक स्वतन्त्र रूप से चाहिये। खेती-बारी के व्यवसाय में हम इन्हें निम्न प्रकार से पाते हैं।

जिन स्थानों में विस्तृत क्षेत्रों में खेती होती है तथा जहां लाखों रुपए की पूँजी का प्रयोग होता है उनकी अवस्था और एक साधारण किसान की खेती-बारी की अवस्था में महान् अन्तर रहता है। भारतवर्ष में भी आसाम और बङ्गाल के चाय के क्षेत्रों में; अथवा इसी प्रकार सुन्दर-बन, मद्रास, बम्बई प्रान्तों में बड़ी-बड़ी कम्पनियों (व्यक्ति-समूहों) द्वारा विस्तृत क्षेत्रों में खेती-बारी की व्यवस्था देखने को मिल सकती है। खेती-बारी की इस व्यवस्था में साधक अलग-अलग होते हैं, यथा—भू-स्वामी या जमीन्दार अलग होता है; इन बगीचों और क्षेत्रों (फार्म) में काम करने वाले श्रमिक प्रायः दूर-दूर के रहते हैं; पूँजी कई व्यक्ति-समूहों की सम्मिलित रहती है; प्रबन्धक कोई कृषि-विशेषज्ञ अलग ही होता है जिसे बाहर से वेतन देकर बुलाया जाता है; और हानि-लाभ को उठाने वाली वे कम्पनियाँ रहती हैं।

किन्तु भारत में किसान प्रायः स्वयं, अपने हल, बैल, बीज—अर्थात् पूँजी द्वारा, अपनी खेती के काम को करते हैं (श्रम लगाते हैं); अपनी खेती के व्यवसाय का प्रबन्ध—कब, कैस क्या और कितना काम आदि बातों का,—भी वे खुद करते हैं; और अन्त में अपने व्यवसाय से होने वाले हानि-लाभ का भार (जोखिम) भी ये स्वयं ही वहन करते हैं। ऐसी दशा में वे स्वयं ही साहसी प्रबन्धक, पूँजी पति और श्रमिक रहते हैं। बहुत से किसानों की जिनकी अपनी खुद की भूमि होती है वे भू-स्वामी भी रहते हैं। अतः इस अवस्था में पांच साधनों के रहने पर भी साधक या तो एक रहता है अथवा अधिक से अधिक दो।

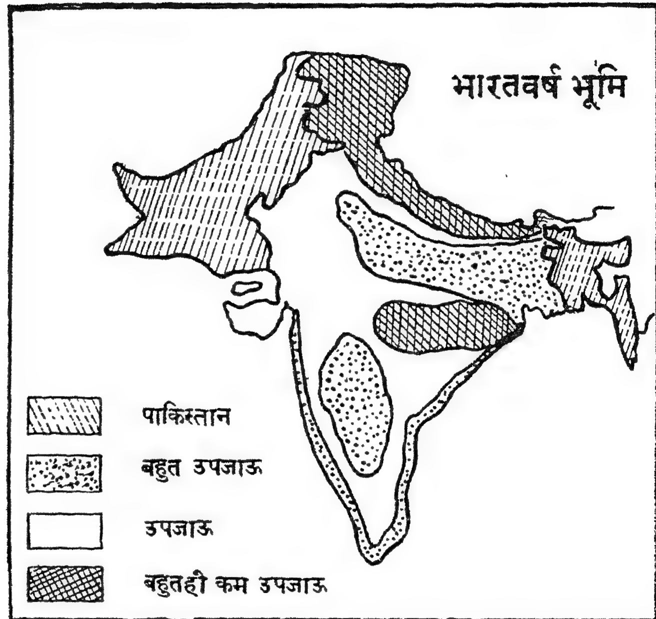
जहाँ इन साधनों के साधक अलग-अलग रहते हैं वहाँ साधनों के उपयोग करने का प्रतिफल भी अलग-अलग ही मिलता है जिसका विवरण हम नीचे देते हैं—

साधक	प्रतिफल
भू-स्वामी (जमीन्दार)	लगान
श्रमिक	मजूरी
पूँजी	सूद
प्रबन्धक	वेतन
साहसी	लाभ-हानि

इन सब पर हम आगे चलकर विस्तृत रूप से विचार करेंगे।

बीसवां अध्याय

भूमि



धन की उत्पत्ति में भूमि का अत्यन्त ही महत्वपूर्ण स्थान है। मनुष्य की दैनिक आवश्यकताओं को पूर्ण करने वाली लगभग प्रत्येक वस्तु ही प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में भूमि से उत्पन्न होती है। भूमि हमें प्रकृति की देन है। अर्थशास्त्र में भूमि के अन्तर्गत ऐसी ही वस्तुएँ मानी जाती हैं, जिन्हें मनुष्य ने नहीं बनाया और जो मनुष्य के परिश्रम द्वारा उत्पन्न नहीं हुईं, परन्तु जिनकी उपयोगिता धनोत्पत्ति के साधन के रूप में होती है। अतः इसके अन्तर्गत हम निम्न प्रकार की वस्तुओं की गणना करते हैं, जैसे— पहाड़, नदी, समुद्र, झील, तालाब, झरने; वन-उपवन उनमें विचरने वाले जीव-जन्तु तथा उनसे प्राप्त नाना प्रकार की औषधियां और वनस्पति; विविध प्रकार की ऋतुएँ, जलवायु; भू-गर्भ में मिलने वाली नाना प्रकार की वस्तुएँ जैसे लोहा, कोयला, सोना, चांदी आदि पदार्थ।

भूमि का अर्थ

अतः जंगल में उत्पन्न होने वाली लकड़ी, वनस्पति, औषधियां, पशु-पक्षी इत्यादि तो भूमि के अन्तर्गत मानी जावेंगी; किन्तु यदि इन्ही वस्तुओं को मनुष्य ने अपने परिश्रम द्वारा उत्पन्न किया है, अथवा पकड़ कर उनका भरण-पोषण किया है, किसी प्रकार औषधियों को और अन्य वनस्पतियों को एकत्रित करके रक्खा है तो ये सब वस्तुएँ भूमि की गणना में न आवेंगी। इसी तरह बहुत से ऐसे भूमि के खंड हैं (प्रायः उजाड़-खंड) जो हमारे किसी उपयोग में नहीं आते। अतः ऐसे भू-भागों की भी गणना अर्थशास्त्र में नहीं होती है। किन्तु यदि इसी को उपजाऊ बना लिया जाता है, किसी प्रकार उसके उपयोग करने को चेष्टा कर ली जाती है, तो उसे भी भूमि मान लिया जावेगा।

संक्षेप में, अर्थशास्त्र में भूमि की परिभाषा में उन सब उपयोगी पदार्थों और शक्तियों की गणना होती है जो हमें प्रकृति से प्राप्त हैं और, जिनमें मनुष्य के श्रम का कोई भी अंश न लगा हो, जिन्हें हम धन की उत्पत्ति के प्रयोग में लाते हैं। प्रकृतिदत्त इन साधनों का विभाजन हम निम्न प्रकार से कर सकते हैं :—

(१) भू तल-इस में पाए जाने वाले जंगल वनस्पति औषधियां, वन-उपवन, पहाड़, नदी, समुद्र, झील, तालाब, झरने; शीप, घोंघे, मोती, नाना प्रकार के जीव-जन्तु इत्यादि।

(२) भू-गर्भ-विवध प्रकार के खनिज पदार्थ, जैसे—सोना, चांदी हीरा जवाहिरात, लोहा, कोयला, अवरक, पीतल, तांबा, पेट्रोल तथा मिट्टी के तेल के कुंए इत्यादि।

(३) प्राकृतिक शक्तियां तथा वातावरण—जैसे वर्षा गर्मी, सर्दी, सूर्य का प्रकाश, जलवायु, नाना-प्रकार की ऋतुएँ, ऋतु परिवर्तन:भौगोलिक स्थति; जलशक्ति पवन-शक्ति इत्यादि।

पिछले अध्याय में हम उत्पत्ति के पांच साधनों का वर्णन कर चुके हैं। इन साधनों में हमने देखा था कि भूमि का अपना विशेष महत्व है। बिना पूंजी के भी किन्हीं अवस्थाओं में धनोत्पत्ति की जा सकती है। उदाहरण के लिए एक अशिक्षित गवैया अपने मधुर राग से जनता का मनोरंजन कर सकता है और बदले में वह धन की प्राप्ति कर लेता है। इसी प्रकार एक लड़कहारा जंगल से लकड़ी चुन कर; तथा

उत्पत्ति में भूमि का महत्व

घास की रस्सी बना कर; उन्हें एकत्रित कर के सिर पर लाद कर नगर में ले आवेगा। किन्तु प्रत्येक अवस्था में उसे बैठने चलने तथा काम करने के लिए कुछ स्थान की आवश्यकता अवश्य पड़ेगी। बिना इस प्रकार के आधार के वह एक पल भी कोई काम कहीं भी नहीं कर सकता है। इसके अतिरिक्त वह अनेक प्रकृतिदत्त साधनों—जैसे वायु, सूर्य, का प्रकाश, गर्मी, सर्दी, वर्षा इत्यादि—का उपभोग करता रहता है जिनपर उसका जीवन निर्भर रहता है। अतः उत्पत्ति के हमारे हर प्रकार के आर्थिक प्रयत्न भूमि पर ही प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में अवलम्बित हैं। भूमि से ही हमें कच्चा माल प्राप्त होता है। यही हमारी जीवन-रक्षा के लिए विविध पदार्थों को देती है तथा यही हमारी दैनिक गतिविधियों का आधार है।

भूमि की विशेषताएँ

आधार :—स्थानत्व के अतिरिक्त भूमि के अपने कुछ ऐसे गुण होते हैं; अनेक ऐसी विशेषताएँ होती हैं जिनके कारण वह उन सब वस्तुओं से अलग की जा सकती है जो मनुष्य द्वारा उत्पन्न की जाती हैं। इन सब विशेषताओं में मुख्य निम्न हैं।

१—परिमितता—भूमि हमें प्रकृति से परिमित मात्रा में ही प्राप्त है। यही इसकी मुख्य विशेषता है जो हमें उत्पत्ति के अन्य किसी साधन में नहीं मिलती है। अपनी पूंजी तथा श्रम में हम आवश्यकतानुसार परिवर्तन कर सकते हैं। उनमें वृद्धि सम्भव है। किन्तु भूमि को मनुष्य उत्पन्न नहीं कर सकता है। क्षेत्रफल और सीमा में परिवर्तन करना सम्भव नहीं है। अतः जो कुछ भी हमें प्रकृति ने दे रखा है उसी पर सन्तोष करना पड़ता है।

कभी-कभी दलदली भूमि अथवा झील या तालाब को पाट कर मरुस्थली भूमि को सींच कर भूमि को सुधारने के प्रयत्न किए गए हैं; किन्तु इनके सुधारने में बहुत समय; श्रम और पूंजी व्यय होता है। तिसपर भी हम अपनी इच्छानुसार उसे जितना चाहें उतना नहीं बढ़ा सकते हैं। हम संयुक्तप्रान्त का उदाहरण देकर इसे समझाते हैं। सन् १९०१ से १९४८ सन् तक केवल यहां के क्षेत्रफल में (उक्त रीतियों से सुधार कर खेती करने के लिए) ५.४ प्रतिशत की वृद्धि हो पाई है। इसी प्रकार हम किसी खान से अपनी इच्छानुसार सोना, चांदी, लोहा, कोयला आदि खनिज प्राप्त नहीं कर सकते हैं, और न कोई धींवर (मछुआ) ही अपनी मर्जी के अनुसार किसी नदी तालाब या झील से मछली प्राप्त कर

सकता है। और यदि कोई किसान वर्षा, प्रकाश, धूप, वायु अधिक मात्रा में अपनी खेती की उपज के लिए चाहे तो उसे न मिलेगी। अतः भूमि का परिमाण जिसमें हर प्रकार के प्रकृतिदत्त साधनों का समावेश रहता है, प्रकृति द्वारा हमें परिमित मात्रा में ही मिलता है।

२—**निश्चलता** (अथवा स्थिरता)—उत्पत्ति के अन्य साधनों को तो एक स्थान से दूसरे स्थान तक उठा कर ले जाया जा सकता है। वे चर हैं। किन्तु भूमि नहीं ; वह तो स्थिर है। वह तो जहां है वहीं रहेगी। मनुष्य जहां चाहे वहां धनोपार्जन के लिए चला जाता है। पूंजी को भी एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाया जाता है। किन्तु यदि हम चाहें कि थार रेगिस्तान के कुछ शुष्क भाग को उठा कर बगाल में रखदें, तो यह सम्भव नहीं है। अतः भूमि सदा और सर्वदा निश्चल है और स्थिर है।

३—**अविनाशिता** (या अक्षयता)—सम्पत्ति के अन्य साधन तो घिसकर टूट-फूट कर नष्ट हो जाते हैं, किन्तु भूमि अविनाशी है। उसके तल (धरातल) में भूकम्प और बाढ़ से कभी-कभी अनेक परिवर्तन हुए हैं, किन्तु वे सब नगण्य हैं। हमारे देश में आज जितनी भूमि है, सहस्रों वर्षों से वह उतनी ही चली आ रही है। बड़ी-बड़ी गगन-चुम्बी अट्टालिकाएँ भूकम्प के एक धक्के से धराशायी हो जाती हैं। किन्तु भूमि ने सृष्टि के आदि काल से अनेक प्रयत्न देखे हैं, कराल-काल के अगणित आघात सहे हैं, फिर भी उसमें कितना परिवर्तन हुआ है, उसका क्या क्षय हुआ है ? हम अनन्तकाल से भूमि के इस तल को अपने उपयोग में ला रहे हैं फिर भी वह उसी प्रकार बनी हुई है।

४—**निष्क्रियता** (कर्मवाच्य)—धन की उत्पत्ति में भूमि ही एक ऐसा साधन जो सब से अधिक शिथिल है। यद्यपि, जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है इसके बिना किसी का काम नहीं चल सकता और उत्पत्ति का प्रधान अंग है, तथापि वह स्वयं कुछ नहीं कर सकती। यह केवल सक्रिय साधनों (मनुष्य इत्यादि) की सहायता से ही अपना फल देती है। मनुष्य उसमें अपना परिश्रम लगाता है, पूँजी लगाता है और लाभ उठाता है। उदाहरण के लिए किसान भूमि को जोतता है, उसमें खाद और बीज डालता है (श्रम और पूँजी लगाता है) तब कहीं भूमि से वह गेहूँ, धान, गन्ना आदि की फसलें उपजा पाता

है, उत्पत्ति करता है। सब कुछ मनुष्य ही करता है। किन्तु सब प्रकार निष्क्रिय होते हुए भी वह उत्पत्ति के लिये अनिवार्य है। उसके बिना मनुष्य कुछ नहीं कर सकता है। यदि भूमि अपना उपयोग न करने दे तो मनुष्य की सत्ता ही लुप्त जायगी। अगर सूक्ष्म दृष्टि से विचारा जाय तो सूर्य का प्रकाश, वायु, जल इत्यादि भी तो प्रकृति की ही देन हैं।

५—**उर्वरता**—भूमि पर ही वनस्पति उगती है। विविध प्रकार के पेड़ पौधे वहीं पनपते हैं और उसी से अपना भोजन प्राप्त करते हैं। इस प्रकार जब एक बार किसान भूमि में कोई फसल उपजाता है तो इस क्रिया में वह भूमि की उर्वरा शक्ति को कम करता है। कभी कभी तो उर्वरता इतनी नष्ट हो जाती है कि साधारण रीतियों से पूरी नहीं की जा सकती है। कभी कभी भूमि प्रकृति रूप से ही अनुर्वर अथवा कम उर्वरा होती है। किन्तु मनुष्य के तनिक से प्रयत्नों से ही वह अपनी खोई हुई शक्ति पुनः प्राप्त कर लेती है। गहरी जुताई करके, भूमि को परती छोड़ कर अथवा उसमें खाद डालने पर भूमि को पुनः अपनी उर्वरा शक्ति प्राप्त हो जाती है।

विविध उपयोग—भूमि सदा एक ही काम के में प्रयोग में नहीं आती है। जो भूमि नगर के निकट होगी वहां प्रायः मकान बनाए जाते हैं। दलदली भूमि में जूट गन्ना और चावल की ही खेती हो सकती है तथा शुष्क भूमि में बाजरा फूलता फलता है। इसी प्रसार पहाड़ी और पथरीली भूमि में जहाँ वर्षा अधिक होती है कपास का बोया जाना असम्भव है। वहां चाय ही भली भांति पनप सकती है।

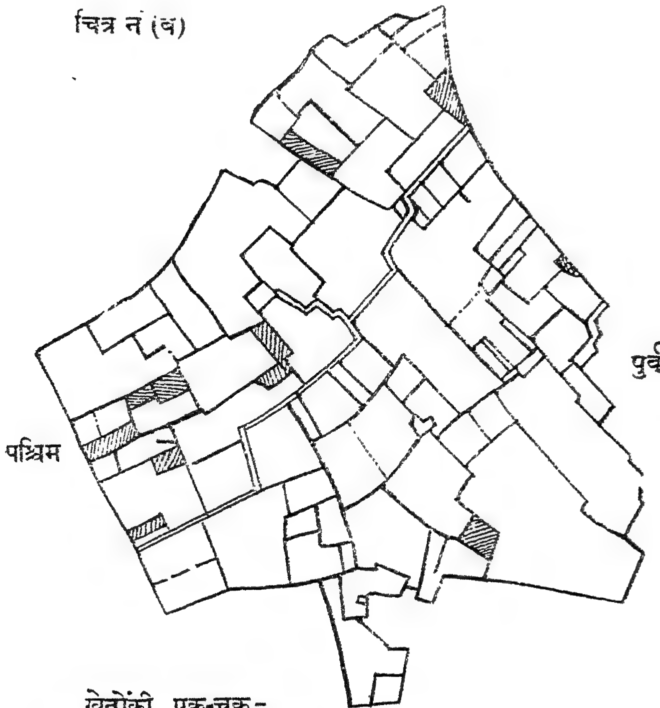
७—**निराश्रितता** (प्रकृति की देन) इसे पाने के लिए हमें केवल प्रकृति पर ही आश्रित रहना पड़ता है। धूप, जल, वर्षा इत्यादि इसके उदाहरण हैं।

भूमि के गुण

भूमि में प्रायः दो गुणों का समावेश रहता है—(१) आन्तरिक गुण और (२) बाह्य गुण (वातावरण और परिस्थिति)। आन्तरिक गुणों में भूमि की उर्वरा शक्ति सम्मिलित रहती है तथा भूमि की स्थिति मंडी के दूर अथवा समीप होना आदि बातें बाह्य मानी जाती हैं।

खेती योग्य भूमि का उपजाऊ होना अत्यन्त आवश्यक है। यदि भूमि उपजाऊ न हो उसमें पेड़ पौधे न जम और पनप सकें, मिट्टी इतनी मुलायम न हो कि जड़ें

नीचे से अपनी खूराक ला सकें, तो भूमि उपजाऊ न मानी जावेगी। यदि भूमि दलदली अथवा शुष्क अथवा जीव अंश कम हो या वह असमतल हो जहां वर्षा धूप आदि यथेष्ट मात्रा में न मिल सके तो भी फसलें अच्छी न होंगी। अतः इन सब बातों का समावेश उसके आन्तरिक गुणों में होता है।



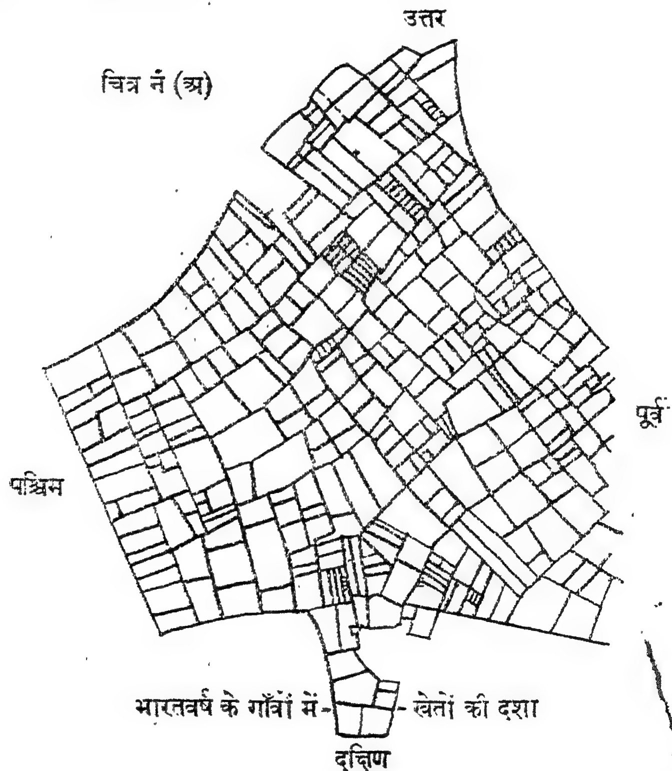
खेतोंकी एक-चक-करने के बाद की अवस्था

इन आन्तरिक गुणों के साथ साथ बाह्य परिस्थितियों का भी समान रूप से प्रभाव पड़ता है। उस भूमि का ऐसे स्थान पर होना आवश्यक है जहाँ से मंडी तथा सड़क निकट हों ताकि फसल को मंडी में बेचने के लिए ले जाने में अधिक बाधा न हो। समय पर बीज, खाद और अच्छे यन्त्र बाहर से मंगाये जा सकें। ऐसे स्थान पर न हो जहां सदा सूअर नीलगाय तथा अन्य जंगली जानवरों से फ़सल के नष्ट होने की आशंका बनी रहे। सबसे आवश्यक बात यह है कि भूमि

की स्थिति गर्मी हो जहाँ पर सिंचाई का उचित प्रबन्ध हो सके—कुँए खोदे जा सकें नहरें आ सकें आदि।

भारत जैसे कृषि प्रधान देश में ही नहीं, अमेरिका और इङ्गलैण्ड जैसे औद्योगिक देशों में भी, भूमि के अधिक भाग में खेती होती है। इङ्गलैण्ड में कुल क्षेत्रफल के ८२ प्रतिशत भाग में खेती होती है, ५ प्रतिशत भाग में जंगल हैं तथा शेष १३ प्रतिशत में नगर बसे हैं अथवा उद्योग धन्धे चलते हैं। अतः खेती के व्यवसाय में भूमि का कितना महत्व है, यह तो इङ्गलैण्ड जैसे औद्योगिक देश के उक्त अङ्कों के देखने पर ही सरलता से मालूम हो जाता है।

खेती के व्यवसाय में भूमि का महत्व



भारतवर्ष के गाँवों में खेतों की दशा

भोजन ही जीवन की सब से मुख्य आवश्यकता है, इसके बिना वह अधिक समय तक जीवित नहीं रह सकता है। भोजन के लिये अन्न पैदा करने के लिये भूमि पर ही आश्रित रहना पड़ता है। अन्य व्यवसायों को चलाने के लिये ही

विस्तृत भूमि की आवश्यकता नहीं पड़ती। वे तो सीमित भूमि में भी किए जा सकते हैं और आवश्यकता पड़ने पर दुमंजिल, तिमंजिले कारखानों का भी निर्माण किया जा सकता है। किन्तु खेती की अवस्था इससे प्रतिकूल है। यहां हमें सदा काफी परिमाण में भूमि चाहिए। इतने विस्तृत भू-भाग में खेती-बारी होने पर भी लगभग १।३ जनता को भर पेट भोजन नहीं मिलता है। व्यवसायों की भांति इसमें भी अधिक पूँजी और श्रम लगा कर उत्पत्ति में वृद्धि की जाती है, किन्तु उसमें एक सीमा तक ही लाभ हो सकता है। परिमित मात्रा में मिलने के कारण क्षेत्रफल में भी आशातीत वृद्धि नहीं कर सकते।

खेती बारी में अधिक भूमि की आवश्यकता होने का एक दूसरा कारण और भी है। वनस्पति की उपज के लिये यथेष्ट मात्रा में खाद्य सामग्री की आवश्यकता पड़ती है। काफी प्रकाश, गर्मी, उचित परिमाण में चूना, सज्जी (potash) स्फुरिक अम्ल (phosphoric acid), नोषजन (nitrogen) आदि तत्व चाहिए। इनको प्राप्त करने के लिये पौधों में परस्पर स्पर्धा होती है। वे ये तत्व तभी काफी मात्रा में पा सकते हैं जब उन्हें फल फूट कर उगने का अवकाश मिले। इसके लिए किसान अपनी फसलों को दूर दूर बोते हैं। अतः इस व्यवसाय में भूमि का महत्व विशेष है।

खेती की उत्पत्ति में भूमि की कार्य क्षमता पर प्रभाव डालने वाली शक्तियाँ

जिस तरह मनुष्य की कार्य क्षमता पर भोजन, वस्त्र आमोद प्रमोद आदि साधनों का प्रभाव पड़ता है और एक कुशल कारीगर जिसे उपयुक्त सब साधन उपलब्ध हो जाते हैं अधिक धनोत्पत्ति कर लेता है उसी प्रकार खेती बारी में भूमि की कार्य क्षमता पर प्रभाव डालने वाली शक्तियां निम्न लिखित हैं :—

भूमि की प्राकृतिक अवस्था—इससे हमारा अर्थ भूमि की प्रकृतिदत्त उर्वराशक्ति और उसमें पाये जाने वाले जीव अंश तथा खनिज अंश से रहता है। जिस भूमि में ये बातें अधिक मात्रा में मिलेंगी उसकी उत्पादन शक्ति उतनी ही अधिक होगी। उदाहरण के लिए पथरीली और रेतीली भूमि में जीव अंश (organic ma-tter) और खनिज अंश जैसे चूना (Calcium) कम मात्रा में मिलता है अतः उनके उत्पादन की क्षमता भी कम होती है। ऐसी भूमि पर मनुष्य को

अधिक व्यय और परिश्रम करने की आवश्यकता पड़ती है। इसके विपरीत दोमट भूमि (Loam) को लीजिये। इनमें न तो मनुष्य को इतना अधिक परिश्रम करना पड़ता है और न अधिक पूंजी के व्यय करने ही आवश्यकता पड़ती है।

भौगोलिक स्थिति--भूमि की स्थिति, वहां की जलवायु, ऊँचाई आदि का भी भूमि की क्षमता और उत्पादन पर प्रभाव पड़ता है। थार रेगिस्तान की भूमि की भौगोलिक स्थिति खेती-बारी के दृष्टि कोण से लाभदायक नहीं है। मनुष्य वहां पर अनवरत परिश्रम करता है फिर भी भूमि की कार्य क्षमता को अधिक नहीं बढ़ा पाता। दूसरी ओर गंगा-जमुना या बिहार प्रान्त की भूमि को लीजिये। यहां की भूमि की क्षमता काफ़ी अंश में बढ़ाई जा चुकी है और नित्य नए-नए प्रयत्नों से उसे बढ़ाने की चेष्टा अब भी हो रही है।

आर्थिक शक्तियाँ—इसमें भूमि पर लगने वाला श्रम और पूँजी की मात्रा सम्मिलित रहती है जैसे विविध प्रकार के उन्नतिशील ढंगों से भूमि की काय क्षमता को बढ़ाकर उत्पत्ति में वृद्धि करना। उदाहरण के लिये अच्छे खाद, रोग-मुक्तबीज, पानी के निकास के लिये नालियां बनाना (drainage), सिचाई का समुचित प्रबन्ध करना, दलदली भूमि को सुधारना (Reclamation) कलों से खेती करना आदि। इन सब के प्रयोग से भूमि की क्षमता में बहुत उन्नति की जा सकती है।

(४) **राजनैतिक शक्तियाँ**—भूमि की कार्य क्षमता को बढ़ाने या घटाने में राजकीय नियमों का भी गहरा प्रभाव पड़ता है। इङ्गलैण्ड में अब पिता की मृत्यु के बाद सब से बड़ा लड़का ही भूमि का उत्तराधिकारी होता है। इसके फलस्वरूप आज वहां की भूमि का विभाजन अधिक भागों में नहीं हो पाता और बड़े-बड़े खेतों में खेती की जाती है। इसके विपरीत भारतवर्ष में एक पिता के सब लड़कों का भूमि पर समान अधिकार रहता है और इस प्रकार वह निरन्तर छोटे-छोटे खेतों में विभाजित होती जाती है। इन सब का भूमि की क्षमता पर बड़ा घातक प्रभाव पड़ता है। इसी प्रकार भूमि-स्वत्व (Land Tenure) सम्बन्धी नियमों का भी उ-त्पादन और क्षमता पर प्रभाव पड़ता है।

सामाजिक तथा अन्य प्रभाव डालने वाली शक्तियाँ—भूमि की कार्य क्षमता को बढ़ाने में सामाजिक बातों जैसे भूमि पर निर्वाह करने वालों की संख्या,

अन्य उद्योग धन्धों की उन्नति, यातायात के उचित साधनों का होना इत्यादि का भी प्रभाव पड़ता है। जिस देश में भूमि पर निर्भर रहने वालों की संख्या कम होगी वहां के किसान अपनी भूमि की कार्यक्षमता को बढ़ाने में अधिक परिश्रम करेंगे। इसी प्रकार जिस भूमि या खेत के निकट यातायात के साधन उपलब्ध हैं वे किसान मूल्यवान फसलों (Cash crops) को उगाकर अधिक लाभ उठा सकते हैं और इस अतिरिक्त लाभ से वे अपनी भूमि की क्षमता को बढ़ाने में सहायक होंगे। नगरों के निकटवर्तीय गांवों के किसान प्रायः इसी कारण अधिक सम्पन्न रहते हैं। वे पशुपालन साक-भाजी, फल फूलों की खेती अधिक करते हैं, और अपनी उत्पत्ति को बढ़ाने के लिये वे बहुधा अच्छे खाद, बीज, हल बैल, अच्छी नस्ल के जानवरों को काम में लाते हैं।

इक्कीसवाँ अध्याय

भारतवर्ष की प्रकृति

किसी देश की सम्पत्ति वहां के प्राकृतिक साधनों के मनुष्य द्वारा उपयोग में लाने पर निर्भर रहती हैं। बहुत से ऐसे देश हैं जहां मनुष्य के थोड़े से परिश्रम में ही प्रकृति सन्तुष्ट हो जाती है और उसे धन सम्पन्न कर देती है, उसके विपरीत तिब्बत मंगोलिया आदि पठारों के निवासी अनवरत कठिन परिश्रम करते हैं, फिर भी अपनी आजीविका के लिये पर्याप्त धन उत्पन्न नहीं कर पाते। इन सबका कारण वहां की स्थिति, जलवायु, भूमि की बनावट खनिज सम्पत्ति इत्यादि हैं। इस अध्याय में हम भारतवर्ष की इन्हीं प्राकृतिक अवस्थाओं का अध्ययन करेंगे और उसी के अनुसार अपनी आर्थिक स्थिति का अवलोकन करेंगे।

भारत की स्थिति और विस्तार

मानचित्र के देखने पर विदित होगा कि हमारा यह देश पूर्वी गोलार्ध के लगभग केन्द्र में स्थित है। एशिया महाद्वीप के दक्षिण में यह विस्तृत देश एक प्रकार का महाद्वीप कहलाता है। इसका सबसे दक्षिणी भाग कुमारी अन्तरीप ८ उत्तरी अक्षांश तथा उत्तरी सीमा ३७ अक्षांश पर स्थित है। इसी प्रकार पूर्व में ९५ देशान्तर और

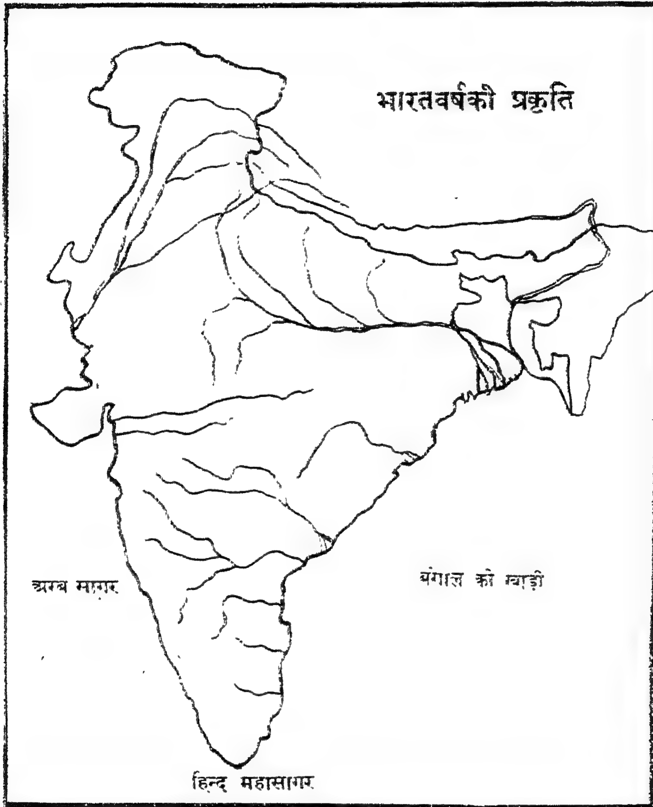
पश्चिम में ३९ देशान्तर रेखाओं के बीच में इसकी स्थिति है। यह पूर्व से पश्चिम तक लगभग १,८०० मील चौड़ा और उत्तर से दक्षिण तक २,००० मील लम्बा है। कर्क रेखा इस देश को स्थूल रूप से दो भागों में विभाजित करती हुई निकल गई है। चीन, जापान, आस्ट्रेलिया, पूर्वी द्वीप समूह, ब्रह्म देश तथा आफ्रिका आदि देशों के यह बिल्कुल मध्य में स्थित है। अतः समुद्री व्यापार के लिये इसकी स्थिति बड़ी अनुकूल है। यहाँ संसार के लगभग प्रत्येक भाग से जलमार्ग आकर मिलते हैं। विभाजन से पूर्व इसकी स्थल-सीमा लगभग ५,००० मील और जल-सीमा ४,३०० मील लम्बी थी और इस प्रकार इसके लगभग सात लाख गाँव १८०८३१८ वर्ग मील के क्षेत्रफल में बसे हुए थे। पिछली जनसंख्या के अंकों के अनुसार इसकी आबादी ३८८.९ लाख थी किन्तु देश के विभाजन के बाद अब वह लगभग ३२० लाख रह गई है।

तट रेखा—देश के विस्तार के अनुसार तुलना करने पर यहाँ की तट रेखा बहुत छोटी है। तट पर खाड़ियों की कमी होने के कारण प्राकृतिक बन्दरगाहों में भी बहुत कमी है। भारत के बहुत से भाग जैसे दिल्ली अजमेर बनारस आदि समुद्र से बहुत ही दूर स्थित हैं। अतः हम इङ्गलैण्ड ,जापान आदि अन्य देशों की भाँति समुद्र प्रेमी नहीं हैं।

अच्छे बन्दरगाहों के लिये समुद्र छिछला और चट्टान रहित होना चाहिए। इनका हमारे देश में नितान्त अभाव है। इस देश में विदेशियों की कूट नीति के कारण इस दिशा में कोई उन्नति नहीं की जा सकी।

अच्छे बन्दरगाहों की कमी तथा माल को ले जाने और लाने के लिये स्वदेशी जलयानों का एक प्रकार से नितान्त अभाव ही था। केवल सिन्धिया आदि एक-दो कम्पनी के जहाज़ भारतीय तट पर व्यापार करते थे। ऐसी अवस्था में हमारा व्यापार बहुत ही सीमित था। अंगरेजों की कूटनीति के कारण इसमें कोई सुधार नहीं हुआ। किन्तु राष्ट्रीय सरकार स्थापित होते ही इस दिशा में बड़ी सतर्कता से काम किया जा रहा है। देश की सुरक्षा और व्यापार की वृद्धि के लिये छोटे-छोटे बन्दरगाहों को व्यापार के योग्य बनाया जा रहा है, तथा विजगापट्टम आदि स्थानों में जल-यान बनाने के कार्य को अब इस देश की सरकार से काफी सहायता मिल रही है। आशा है निकट भविष्य में हमारे व्यापार की शोचनीय अवस्था में

आशातीत परिवर्तन हो जावेगा। विभाजन के बाद भारत में व्यापार के लिये केवल तीन मुख्य बन्दरगाह कलकत्ता, मद्रास और बम्बई रह गये हैं।



भारतवर्ष के उत्तर में हिमालय पहाड़ स्थित हैं। ये पर्वत संसार में सबसे ऊँचे हैं और वर्ष भर हिम से ढँके रहते हैं। तलवार के आकार में ये पर्वत-

पर्वत और नदियाँ

मालाएँ भारत के उत्तरी भाग में लगभग १,६०० मील तक फैली हुई हैं। इन पर्वतों की चौड़ाई भी लगभग २०० मील से २५० मील है और संसार की सबसे ऊँची चोटी गौरीशङ्कर जिसे माउण्ट एवरेस्ट भी कहते हैं लगभग २९,००२ फीट यहीं पर स्थित है।

इन पर्वतों का भारत की आर्थिक स्थिति पर बहुत ही अधिक प्रभाव पड़ता है। उत्तरी भारत की वर्ष भर बहने वाली नदियाँ जो व्यापार और सिंचाई के

लिये काम में आती हैं, उनके उद्गम स्थान इन्हीं पर्वतों में हैं। हिमालय की ये पर्वतमालाएँ हिन्दमहासगर से उठने वाली मानसून हवाओं को रोकते हैं और यहां वर्षा करते हैं। इसके विपरीत उत्तर से गोबी और तिब्बत के पठारों से आने वाली ठंडी और शुष्क हवाओं को रोकते हैं। इस प्रकार हमारा देश सदा हरा-भरा और उपजाऊ बना रहता है। इनके अतिरिक्त इन पर्वतों पर घने जंगल हैं जहां से हमें नाना प्रकार की लकड़ी और बनौषधियाँ प्राप्त होती हैं, जो इस देश के उद्योग और व्यवसायों में प्रयुक्त की जाती हैं।

दक्षिण में विन्ध्याचल और सतपुड़ा की समानान्तर पर्वत श्रेणिया दक्षिण भाग को शेष भारत से पृथक कर देती हैं। भारत का दक्षिणी भाग पहाड़ी है और संसार की सबसे प्राचीन और परिवर्तित चट्टानों का बना है।

उत्तरी भारत में तीन बड़ी नदियाँ गंगा, सिन्धु और ब्रह्मपुत्र तथा इनकी अनेक सहायक नदियां भी बहती हैं। जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है इन नदियों के स्रोत हिमालय पर्वत में हैं जो वर्ष भर हिमाच्छादित रहते हैं। अतः इन नदियों में वर्ष भर जल भरा रहता है जो सिंचाई और व्यापार के लिये बहुत ही उपयोगी है। उत्तरी भारत को धन-सम्पन्न बनाने में इन नदियों का बहुत बड़ा भाग है। हजारों वर्षों से ये नदियाँ अपने साथ जो उपजाऊ मिट्टी लाती हैं, इन मैदानों में लाकर बिछा देती है। गंगवार (Alluvial) भूमि से बने ये मैदान संसार की प्राचीनतम सभ्यता और संस्कृति के केन्द्र हैं।

सिन्धु और उसकी पांच सहायक नदियों (सतलज, व्यास, रावी, चिनाब और झेलम) से पञ्जाब की, गगा-यमुना तथा इनकी सहायक (रावी, गंडक, गोमती, घाघरा, बेतवा, चम्बल, सोन कुशी टोंस आदि नदियों) से युक्त-प्रान्त और बिहार की; और इसी प्रकार ब्रह्मपुत्र और सुरमा आदि नदियों से आसाम और बङ्ग प्रदेश के उपजाऊ मैदानों की रचना हुई है।

दक्षिणी भारत में सात नदियाँ बहती हैं जिनमें नर्मदा, ताप्ती, महानदी, गोदावरी, कृष्णा और कावेरी मुख्य हैं। ये नदियाँ पठार की पहाड़ियों से निकलती हैं और इनमें वर्षा का जल ही रहता है। अतः उत्तरी भारत की नदियों की भाँति ये वर्ष भर नहीं बहतीं। गर्मियों में तो प्रायः ये बिल्कुल ही सूख जाती हैं। पठार के सामान्य ढाल होने के कारण ये नदियाँ पश्चिमी घाट से निकल कर पूर्व

में बङ्गाल की खाड़ी में गिरती हैं। केवल नर्मदा और ताप्ती ही अरबसागर में आकर गिरती हैं। ऊँचे-नीचे पठारी भाग में बहने के कारण ये बहुधा यातायात के लिये काम में नहीं लाई जाती हैं। इन नदियों का आर्थिक उपयोग तो विद्युत शक्ति तैयार करने में है, जिसका वर्णन आगे किया जावेगा। जहाँ-तहाँ इन नदियों के पानी को रोकने के लिये बाँध भी बनाये गये हैं। नहरें निकाल कर इस एकत्रित जल से अनेक स्थानों पर सिंचाई की जाती है।

जलवायु और वर्षा

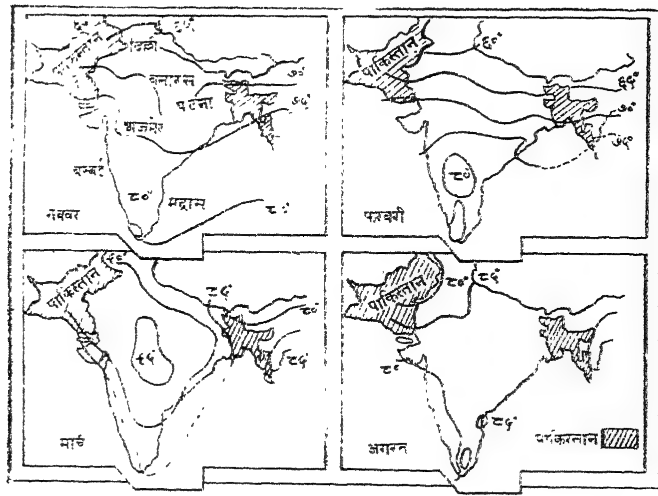
किसी देश की जलवायु और वर्षा का वहाँ की खेती-बारी और आर्थिक प्रयत्नों पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है। शीत प्रदेश के निवासी बिना मकान के खुले हुए स्थान में नहीं रह सकते, और न थोड़े वस्त्रों से ही उनका काम चलता है। अधिक परिश्रम करने पर भी वहाँ के निवासी जल्दी ही नहीं थक जाते। किन्तु उष्ण देशों की दशा इसके बिल्कुल ही भिन्न है।



भारतवर्ष की स्थिति जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं विषुवत् रेखा के बिल्कुल ही समीप है—अर्थात् कुमारी अन्तरीप ८० उत्तरी अक्षांश पर अवस्थित है। किन्तु तीन ओर समुद्र से घिरा रहने के कारण यहाँ गर्मी का प्रभाव बहुत अधिक नहीं

होने पाता। इसके अतिरिक्त भूमि का धरातल कहीं तो बहुत ऊँचा है और कहीं बहुत कम। इस कारण समस्त देश की जलवायु समान नहीं है। प्रायः दक्षिणी भाग में गर्मी और उत्तरी पहाड़ी प्रदेश में सर्दी रहती है। मध्यभारत और राजपूताना समुद्र से दूर और शुष्क दोनों ही हैं। अतएव ये भाग प्रायः सर्दियों में ठंडे और गर्मियों में बहुत गर्म रहते हैं। इस प्रकार हमारे देश में हर प्रकार की जलवायु पाई जाती है—गर्म तर भाग दक्षिण में स्थित हैं और हिमालय के उच्च-शिखर ध्रुव-प्रदेशों की भांति ठंडे हैं।

वर्षा के अनुसार भारत को निम्न चार भागों में विभक्त किया जा सकता है।



(१) अधिक वर्षा वाले प्रान्त, जिसमें साल भर में ८०" से ऊपर वर्षा होती है। इसमें आसाम, सूरमा की घाटी, गंगा का डेल्टा और पश्चिमी तट सम्मिलित हैं।

(२) अच्छी वर्षा वाले भाग (४०"—८०" वर्षा) इसमें पूर्वी तट तथा गंगा की घाटी का पूर्वी भाग तथा मध्यभारत आदि भाग सम्मिलित हैं।

(३) साधारण वर्षा वाले प्रान्त जहां २०" से ४०" तक वर्षा होती है जैसे गंगा की घाटी का मध्य भाग, मध्य प्रान्त आदि।

(४) शुष्क भाग जहां पर २०" या इससे कम वर्षा होती है, जैसे राजपूताना, दिल्ली और पञ्जाब प्रान्त।

संयुक्त प्रान्त की जलवायु और वर्षा

इस प्रान्त की जलवायु मानसून वाले प्रान्तों के समान है। यहां पर गर्मियों में अधिक गर्मी तथा वर्षा होती है और सर्दियां प्रायः शुष्क और ठंडी होती हैं। मैदान में गर्मियों में प्रायः ११२ फारेनहीट से अधिक तापक्रम पहुंच जाता है। इतनी गर्मी के कारण हवा हल्की होकर ऊपर उठ जाती है और मैदान में हवा का दबाव कम हो जाता है। इस रिक्त स्थान को भरने के लिये समुद्र की ओर से वाष्पयुक्त हवाएँ आती हैं जिन्हें हम 'मानसून' हवाएँ कहते हैं। इन मानसून हवाओं पर ही इस प्रान्त का भाग्य निर्भर रहता है। इन हवाओं से प्रान्त के किन्हीं भागों में तो मूसलाधार वर्षा होती है और कहीं बहुत ही कम।

दक्षिणी-पश्चिमी मानसून की एक विशेषता यह है कि इन हवाओं से, ज्यों-ज्यों हम पूर्व से पश्चिम और पहाड़ों से यमुना की ओर बढ़ते हैं वर्षा कम होती जाती है। इस प्रकार हम इस प्रान्त को वर्षा के अनुसार निम्न चार भागों में बांट सकते हैं—

(१) उत्तर का पहाड़ी भाग जिसमें कुमाऊँ डिवीजन के जिले सम्मिलित हैं। देहरादून में लगभग ८७" वर्षा होती है। शेष नैनीताल, गढ़वाल और अल्मोड़ा के जिलों में भी लगभग ७०" से अधिक वर्षा होती है।

(२) तराई वाले भाग जहां ५०" से ६०" तक वर्षा होती है। इसमें बस्ती और गोरखपुर के जिले सम्मिलित हैं जहां पर वर्षा अधिक होती है, किन्तु अन्य जिलों में वर्षा कुछ घटती जाती है

(३) २०" से ४०" वर्षा वाला भाग इसमें आगरा, मेरठ और इलाहाबाद डिवीज़न के जिले सम्मिलित हैं। इलाहाबाद में वर्षा लगभग ४०" से ४५" तक होती है किन्तु ज्यों-ज्यों उत्तर पश्चिम की ओर बढ़ते जाते हैं वर्षा भी उसी के अनुसार घटती जाती है। आगरा में २३", मेरठ में ३०", बरेली आदि जिलों में भी लगभग ४०" वर्षा होती है।

(४) झांसी डिवीजन—वैसे तो यहां वर्षा का अनुमान लगभग ४०" रहता है किन्तु यहाँ मानसून हवाएँ प्रायः अनिश्चित रहती हैं।

इस प्रान्त में वर्षा जून के मध्य से आरम्भ होती है और १५ अक्टूबर तक होती रहती है। पश्चिमी जिलों में वर्षा पहिले बन्द होती है फिर क्रमशः पूर्वी

ज़िलों में होती है। इसके विपरीत मानसून हवाओं से वर्षा सब से पहिले पहाड़ी भागों में तथा पूर्वी जिलों में होती है और फिर क्रमशः पश्चिमी जिलोंमें।

भारतवर्ष में सब स्थानों पर वर्षा एक सी नहीं होती। कहीं पर तो आवश्यकता से अधिक वर्षा हो जाती है और किन्हीं-किन्हीं स्थानों में उसका सर्वथा अभाव बना रहता है। इसके अतिरिक्त यहाँ की वर्षा प्रायः अनिश्चित और अनियमित होती है—अर्थात् किसी वर्ष या तो वर्षा बहुत जल्दी आरम्भ हो जाती है अथवा कभी बहुत देर में होती है; कभी अनावृष्टि होती है तो कभी अतिवृष्टि। अतः जहाँ वर्षा समय पर नहीं होती है अथवा कम या आवश्यकता से अधिक होती है तो फसलों पर इन सब का बड़ा विषम प्रभाव पड़ता है। पैदावार कम होती है और प्रायः दुर्भिक्ष पड़ जाता है।

भारतवर्ष में वर्षा की विशेषताएँ

निम्न कोष्ठक में हम १९११ से वर्षा की कमी और अनियमितता दिखलाते हैं– भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न प्रान्तों में वर्षा की कमी के आँकड़े :

प्रान्त	औसत वर्षा (इन्चों में)	औसत वर्षा से कम हुई वर्षा वाले वर्षों की संख्या			औसत वर्षा की कमी का प्रति शत		
		१९११-२०	१९२१-३०	१९३१-३९	१९११-२०	१९२१-३०	१९३१-३९
मद्रास और उसके निकटवर्तीय दक्षिणी भाग	२४·५	५	६	६	—२०·४	—१३ ९	—१० ६
बम्बई	१०८ ६	५	५	३	—२० ९	—६·९	—९·६
पश्चिमी संयुक्त प्रान्त	३७ ५	६	२	५	—२१·४	—२३ ८	—१४·३
दक्षिणी-पश्चिमी पंजाब	९ ५	५	५	५	—२४·२	—१२·६	—१५·८
बरार	३२ ३	५	६	१	—२८·२	—१०·२	—१४·२
सहरद्दी सूबा	१६ ८	५	६	६	—१५·५	—१४·३	—१४·९
दक्षिणी हैदराबाद	३० ४	५	७	३	—२९ ६	—१४·८	—१३·५
पश्चिमी राजपूताना	११·९	५	६	५	—४१·१	—१३ ४	—१८·९
मध्यभारत का पश्चिमी भाग	३८·४	४	८	४	—२७·९	—१४·६	—११·७

निम्नलिखित अङ्कों द्वारा हम भारतवर्ष के भिन्न भिन्न प्रान्तों में बाढ़ अथवा वर्षा की कमी के कारण पड़नेवाले सूखा का वर्णन करते हैं :—

वर्ष	पूर्वी संयुक्त प्रान्त	पश्चिमी युक्त प्रान्त	बिहार	बंगाल	आसाम
१८७५					
१८७६					
१८७७	O	O	O		
१८७८					o
१८७९	o	o	o		
१८८०	O				o
१८८१					
१८८२			O		
१८८३	O	O			
१८८४			O	O	O
१८८५					
१८८६			o		
१८८७					
१८८८	o				
१८८९					
१८९०	o		o		
१८९१			O	O	
१८९२					
१८९३					
१८९४	o	o			
१८९५				O	
१८९६	O				O

वर्ष	पूर्वी सं० प्रा०	प० सं० प्रा०	बिहार	बंगाल	आसाम
१८९७	o		o		
१८९८			o		
१८९९					O
१९००			O		
१९०१					
१९०२			O		
१९०३					
१९०४		o			
१९०५					
१९०६					
१९०७	O	O			
१९०८			O		
१९०९					
१९१०					
१९११					
१९१२					
१९१३		O			
१९१४					
१९१५	o				
१९१६		O			
१९१७					
१९१८	O	o		o	o
१९१९					
१९२०					
१९२१					

वर्ष	पूर्वी सं० प्रा०	प० सं० प्रा०	बिहार	बंगाल	आसाम
१९२२	०		०	०	
१९२३					
१९२४			०		
१९२५					
१९२६					
१९२७					
१९२८	O	O			
१९२९					
१९३०					
१९३१					
१९३२			O		
१९३३					
१९३४					
१९३५					०
१९३६	०	०			
१९३७					
१९३८	०				
१९३९					
१९४०					
१९४१		O			
१९४२					
१९४३					
१९४४					
बाढ़	६	४	७	२	४
सूखा	५	८	८	३	३

श्री० वालफोर्ड के अनुसार १८७९ से पूर्व १०० वर्षों में भारत में वर्षा की कमी के कारण अथवा बाढ़ आजाने के कारण ३४ बार अन्न की कमी और दुर्भिक्ष पड़े। निम्न आँकड़ों द्वारा हम सन् १८०० से १९०० ई० तक पड़ने वाले भीषण दुर्भिक्षों और इनके फलस्वरूप हुई मृत्युसंख्या का विवरण देते हैं। श्री नानावती अंजारिया कृत-इण्डियन रूरल प्रौब्लम्स से उद्धृत :—

वर्ष	अकालों को संख्या	मृत्यु संख्या का अनुमान
१८००-१८२५	५	१० लाख
१८२६-१८५०	२	·४ लाख
१८५१-१८७५	६	५० लाख
१८७६-१९००	१८	२६० लाख
कुल योग	३१	३२०·४ लाख

इन अंकों के देखने पर हमें यह सहज ही अनुमान हो जाता है कि वर्षा की अनिश्चितता अथवा अनियमितता या कमी अथवा आधिक्य होने पर हमारी खेती पर भी विषम प्रभाव पड़ता है और इसी के फलस्वरूप हमारी फसलें यातो नष्ट हो जाती अथवा पैदावार में कमी हो जाती है। निम्न कोष्ठकों में हम वर्षा जलवायु के इन परिवर्तनों का फसलों पर प्रभाव दिखलाते हैं।

वर्षा और जलवायु का फसलों पर प्रभाव

जिले	औसत वर्षा इंचों में	१९३७-३८		१९३८-३९		१९३९-४०		१९४०-४१	
		वर्षा में अन्तर	क्षेत्रफल पर प्रभाव	वर्षा में अन्तर	क्षेत्रफल पर प्रभाव	वर्षा में अन्तर	क्षेत्रफल पर प्रभाव	वर्षा में अन्तर	क्षेत्रफल पर प्रभाव
मुजफ्फरनगर	२९'६३	+११'९	२३२	+१४	२५८	—२१'२	२२८	—१४'२२	२४९
मेरठ	२८'१०	+६'८	३३९	—२'३	३६७	—८'४	३७८	—६'७	५९३
बुलन्दशहर	२६'००	+१२'१	१८८	—८'२	२२४	—६'७	२२२	—३'३५	२१६
अलीगढ़	२५'०९	+१०'८	१७९	—८'६	१४३	+२'४	२००	—१'५	२०४
मथुरा	२३'६३	+८'८	८३	—१०'६	१११	+३'४	११६	—६'१	११६
इलाहाबाद	३७.३३	+१०'७	९५	—१'१	९८	+४'९	११०	—७'८	९३
बनारस	३९.९९	+१६'६	४१	+१०'६	५२	—५'२	४४	—९'९	४४
मिर्जापुर	४४.६०	+२२'१	७१	+१२'६	७६	—१०'५	७०	—८'२	६९
गोरखपुर	४८.१५	+१५'४	३६२	—	३६५	—२'१	३५७	—१'००	३४१
फैजाबाद	३९.४६	+११'१	१५९	+१'३	१५८	+३'८	१६२	—१'७	१६१

निम्न कोष्टक में हम कानपुर जिले में वर्षा की अनियमितता के कारण खरीफ की फसल के क्षेत्रफल में जो परिवर्तन हुआ उसे बतलाते हैं। स्मरण रहे कि दूसरे खाने में जो अंक हैं वे हमें पहिली वर्षा होने के दिन बतलाते हैं जब कि किसान हल जोतना आरम्भ कर देते हैं।

वर्ष	किस तारीख को मानसून आरम्भ हुआ	कितने दिन वर्षा हुई	कुल वर्षा (इंचों में)	खरीफ की फसल का क्षेत्रफल (एकड़ में)	क्षेत्रफल में किस प्रकार का परिवर्तन हुआ
१८८५	२२	७	८·५	१५३,७२७	+४·४
१८८६	१८९	४	५·०	१५२,४५५	+३·५
१८८७	२३	१	१·४	१५५,१३७	+५·३
१८८८	२७	१०	११·९	१२५,५९०	—१४·७
१८८९	१०	२	२·१	१५५,१०४	+५·३
१८९०	२०	२	३·८	१४५,०४९	—१·५
१८९१	१४	६	३·२	१४८,६४५	+१·०
१८९२	४	१५	१२·४	१४३,९८२	—२·२
१८९३	१९	२	१·२	१४५,७०४	—१·०
१८९४	२३	६	८·७	१४४,६७८	—१·७
१८९५	११	३	१·८	१३६,२१८	—७·५
१८९६	२५	६	२·१	१५६,१०७	+६·०
१८९७	१८	६	१·७	१५९,२४६	+८·१
१८९८	१३	४	८·२	१४८,९९२	+१·१
१८९९	११	४	२·१	१३२,९९२	—९·९
१९००	२३	५	१·६	१५०,६५२	+२·३
१९०१	४०	२	१०·८	१५६,३१३	+६·१
१९०२	३३	६	३·१	१५५,८९४	+५·८
१९०३	२६	२	३·२	१३१,८३३	—१०·५

इस प्रकार ऊपर दिये हुए दोनों कोष्ठकों को देखनेपर हमें यदि विदित हो जाता है कि वर्षा की अनियमितता और कुल वर्षा के परिवर्तन का फसलों के क्षेत्रफल पर भी विषम प्रभाव पड़ता है।

जैसा कि उक्त कोष्ठक के अङ्कों को देखने से विदित हो जाता है, वर्षा में चाहे कैसा ही परिवर्तन क्यों न हो उसका प्रभाव फसलों के क्षेत्रफल पर अवश्य पड़ता है। किन्तु कृषि अर्थशास्त्र की दृष्टि से हमें यह जानना आवश्यक हो जाता है कि वर्षा और जलवायु के इन परिवर्तनों का व्यापक प्रभाव सब से अधिक भारत के किन प्रान्तों पर सब से अधिक पड़ता है। वर्षा की दृष्टि से हमने भारत को चार भागों में विभाजित किया था। दो भाग तो फसलों की उपज के लिये सुरक्षित हैं और इन भागों में वर्षा के कैसे ही अन्त का फसलों पर अधिक प्रभाव नहीं पड़ता है।

वर्षा में परिवर्तन होने पर किन भागों में खेती की उपज और क्षेत्रफल पर प्रभाव पड़ता है

पहिला भाग वह है जहाँ पर वार्षिक वर्षा ८०" से अधिक होती है जैसे आसाम, बंगाल, कोकन और बम्बई प्रान्त के दक्षिण के कुछ जिले। दूसरा भाग जहाँ १०" से कम वर्षा होती है जैसे पश्चिमी राजपूताना (शेष भाग विभाजन के बाद पाकिस्तान में सम्मिलित हो गये हैं, जैसे बलूचिस्तान और सिंध) आदि। इन दोनों भागों में वर्षा के अनुसार ही फसलें बोई जाती हैं। अधिक वर्षा वाले प्रान्तों में धान, गन्ना, चाय, कहवा, रबर आदि उष्णार्द्र जलवायु की फसलें अधिक बोई जाती हैं जिन्हें पानी की अधिक आवश्यकता होती है। इसके विपरीत जहाँ पानी का सदैव ही अभाव बना रहता है वहाँ के निवासी वर्षा पर बहुत कम आश्रित रहते हैं और केवल ऐसे ही अनाज उगाते हैं जिन्हें कम पानी की आवश्यकता होती है, जैसे बाज़रा, तिलह्न आदि।

शेष दो भाग जहां २५" से ६०" तक वर्षा होती है, वर्षा के कैसे ही परिवर्तन से बहुत अधिक प्रभावित होते हैं। इन्हीं भागों में प्रायः दुर्भिक्ष सबसे अधिक पड़ते हैं। इसकी एक साखा इलाहाबाद से लाहौर तक और दूसरी शाखा लाहौर से अजमेर, उदयपुर, बड़ौदा की ओर चली गई है। इसी की एक तीसरी शाखा बम्बई से मैसूर की ओर चली गई है। *

* डाक्टर बलजीत सिंह कृत 'व्हिदर एगरीकल्चर इन इंडिया' से उद्धृत पृष्ठ ३३

बाईसवाँ अध्याय

भारत के कृषि-विभाग

भौगोलिक दृष्टि से भारत को प्रायः निम्न चार प्राकृतिक भागों में विभक्त किया जाता है—

(१) उत्तर का पहाड़ी भाग

(२) नदियों का उपजाऊ मैदान

(३) दक्षिणी भारत

(४) तटवर्तीय मैदान

किन्तु खेती की दृष्टि से इनको स्थूल रूप से केवल दो भाग किये जाते हैं—पहिला पठारी भाग और दूसरा मैदानी।

दक्षिण के इस पठारी भाग को तीन विभागों में बांटा जा सकता है—(अ) तटवर्तीय मैदान, (ब) पठार और (स) पठार का अग्रभाग (उत्तरी)। (अ) तटवर्तीय मैदान—पठार के दोनों ओर पूर्वी तथा पश्चिमी तट हैं। ये मैदान समुद्र और पठार के बीच में फैले हुए हैं। पश्चिमी तट एक संकीर्ण मैदान है; और यहाँ पर लगभग १००" वर्षा होती है। ज्यों-ज्यों हम दक्षिण की ओर बढ़ते जाते हैं वर्षा भी प्रायः बढ़ती ही जाती है और कोंकन में लगभग २००" तक वर्षा हो जाती है। यहाँ हमें चारों ओर हरे-भरे जँगल और लहलहाते खेत दृष्टिगोचर होते हैं। कोन्कन के किसानों को काफी परिश्रम करना पड़ता है और वे वर्ष के अधिकांश दिनों तक खेती के उद्योग को करते हैं। यहाँ की भूमि प्रायः झिरझिरी और छिद्रवाली है, अतः यथेष्ट खाद और समुचित सिंचाई के प्रबन्ध के बिना उत्तम फसलें नहीं उगाई जा सकती हैं। धान, नारियल, मिर्च, अदरक, चाय, कहवा, रबर, सिंकोना यहाँ की मुख्य उपज है। बम्बई के निकट तथा कुछ उत्तर में जहाँ वर्षा कुछ कम होती है कपास, ज्वार; रागी, और गेहूं भी उगा लिये जाते हैं।

पठारी भाग

पूर्वी तट पश्चिम की अपेक्षा अधिक चौड़ा और विस्तृत है। इस भाग में दक्षिण की ओर उत्तर-पूर्वी मानसून हवाओं से वर्षा होती है। वर्षा का वार्षिक अनुमान ४०" से ८०" तक है। ज्यों-ज्यों उत्तर की ओर बढ़ते जाते हैं वर्षा कुछ कम होती जाती है। यहाँ खेती अनिश्चित है और प्रायः सिंचाई पर ही आश्रित है। यहाँ भूमि लाल मिट्टी की बनी हुई है, जिसमें बिना सिंचाई के समुचित प्रबन्ध के अच्छी फसलें नहीं उगाई जा सकती हैं। सिंचाई के लिये इस भाग में बड़े-बड़े तालाब बना कर नहरें निकाल ली गई हैं। इस भाग की मुख्य उपज, चाय, कहवा, सिन्कोना, रबड़, धान, गन्ना, मूँगफली, तम्बाकू व गर्म मसाले हैं।

तटवर्तीय दोनों मैदान अपनी उन्नति के लिये सिंचाई के जल पर आश्रित हैं।

(ब) पठार—पठार के फिर तीन भाग किये जाते हैं पहिला भाग तो पश्चिम के पहाड़ों की ओट में आ गया है, अतः यहाँ वर्षा कम होती और पानी का सदैव अभाव बना रहता है। इस भाग में अन्न की उपज कम होती है और दुर्भिक्ष की प्रायः सम्भावना बनी रहती है। जल भूमि के अन्दर अधिक गहराई पर मिलता है और सिंचाई का भी अभी तक कोई यथेष्ट प्रबन्ध नहीं हुआ है। यहाँ की मुख्य फसलें तिलहन, ज्वार, कपास और थोड़ी मात्रा में गेहूं भी है।

दूसरा भाग पूर्वी तट की ओर वाला है, जिसमें मैसूर, हैदराबाद का पूर्वी भाग और कुछ थोड़ा-सा मद्रास प्रान्त का भाग सम्मिलित है। इस भाग की मिट्टी भी लाल है। मैसूर में पहाड़ों पर सदाबहार के जंगल हैं जिनमें चन्दन, महोगनी और इलायची के वृक्ष मुख्य हैं। इस भाग में सिंचाई की बहुत आवश्यकता है और ज्यों-ज्यों सिंचाई के साधन बढ़ते जा रहे हैं, खेती का क्षेत्रफल भी उसी के अनुसार बढ़ रहा है। दक्षिण में मद्रास प्रान्त और मैसूर के कुछ भागों में वर्षा अनिश्चित और कम होती है, अतः ये भाग भी अन्न की कमी और अकाल से पीड़ित रहते हैं। कुएँ खोदने में काफी व्यय होता है और जलवृष्टि कम होने पर तालाब सूख जाते हैं, अतः खेती भी बहुधा अनिश्चित ही रहती है। दुर्भिक्ष के विचार से यह सबसे अधिक भीषण और डरावना भाग है।

हैदराबाद राज्य तथा उसके उत्तरी भाग को हम पठार के तीसरे भाग में सम्मिलित करते हैं। यहाँ की भूमि में बालू का अंश अधिक है, और इस भाग

में कुछ काली मिट्टी के प्रान्त का भाग भी सम्मिलित है। यहाँ वर्षा विशेष अधिक नहीं होती, अतः सिंचाई की आवश्यकता बनी रहती है। तालाब यहाँ की सिंचाई के मुख्य साधन हैं, किन्तु जहाँ-तहाँ कुँओं से भी पानी लिया जाता है। यहाँ की मुख्य उपज, ज्वार-बाजरा, रागी और कपास हैं।

(स) पठार का अग्र-भाग (उत्तरी)—यह भाग महानदी के बेसिन से राजपूताने के शुष्क भाग तक फैला हुआ है। इसको भी हम तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं—(१) पठारी भाग जो पूर्णतः वर्षा पर ही आश्रित रहता है और जहाँ की मुख्य पैदावार जुआर, बाजरा और रागी है। (२) काली-लावा मिट्टी का प्रदेश जहाँ कपास और गेहूं की खेती होती है। (३) नदियों की घाटी के मैदान। यहाँ की मिट्टी हल्की होती है और चावल तथा गेहूं की पैदावार होती है।

(२) नदियों के मैदान या मैदानी भाग—इसको हम निम्नलिखित भागों में बाँट सकते हैं—

(क) शुष्क-प्रदेश—इसमें राजपूताना, सिन्ध आदि के शुष्क और उजाड़ भाग सम्मिलित हैं। यहाँ वर्षा बहुत कम होती है। जहाँ वर्षा कुछ अधिक हो जाती है अथवा सिंचाई का प्रबन्ध है। (जैसे पूर्वी राजपूताना, अरावली पहाड़ों के निकट उदयपुर और अजमेर आदि) वहां थोड़ी-बहुत खेती हो जाती है। ऐसे भागों की मुख्य उपज ज्वार, बाजरा, तिल, दालें और कुछ मात्रा में गेहूँ है। किन्तु जहाँ सिंचाई का प्रबन्ध नहीं है वहाँ कटीली झाड़ियाँ आदि ही पैदा होती हैं और पशुपालन ही वहाँ का मुख्य व्यवसाय है। इस भाग में मारवाड़ के प्रसिद्ध नागौरी जाति के गाय-बैल मिलते हैं।

(ख) पञ्जाब—यहाँ वर्षा मैदानी भाग में २० इञ्च और ३० इञ्च के बीच में होती है, किन्तु पहाड़ी भाग में ४०" और ५०" के लगभग तक हो जाती है। यहाँ की भूमि गंगवार अथा कांप मिट्टी (Alluvial soils) की बनी है जो सिन्ध और उसकी सहायक नदियों ने लाकर बिछाई है। उत्तर पूर्वी भाग (जो प्रायः पहाड़ी प्रदेश है) को छोड़ कर शेष भाग उपजाऊ मैदान है। पहाड़ी प्रदेशों में चराई और पशुपालन ही मुख्य व्यवसाय है और जहाँ सिंचाई का प्रबन्ध है वहाँ थोड़ी-बहुत खेती भी की जाती है।

मैदानी भाग में वर्ष भर बहने वाली नदियाँ बहती हैं, अतः इनसे नहरें निकाल

कर सिंचाई का समुचित प्रबन्ध कर लिया गया है। पञ्जाब में नहरों का जाल-सा बिछा हुआ है जो वर्षा की कमी को बहुत अंशों में पूर्ण कर देती हैं। भूमि उपजाऊ होने तथा नहरों के जाल बिछे होने के कारण, भारत के इस प्रान्त ने अपनी खेती में सबसे अधिके उन्नति की है और यहाँ का कृषक अन्य प्रान्तों से अधिक धन-सम्पन्न है। यहाँ की मुख्य पैदावार गेहूँ, जौ, चना, कपास, तिलहन और गन्ना है।

विभाजन के बाद अब यहाँ हरियाना जाति की प्रसिद्ध गायें और बैल मिलते हैं।

पञ्जाब की लगभग २६० लाख एकड़ भूमि में से ५९ प्रतिशत अर्थात् १७० लाख एकड़ भूमि में सिंचाई होती है। कुल क्षेत्रफल के लगभग ३२ प्रतिशत भाग में गेहूँ की खेती की जाती है और १७ प्रतिशत भाग में पशुओं के लिये चारा उत्पन्न किया जाता है जो भारत के अन्य सब प्रान्तों से अधिक है।

(ग) **गंगा का मैदान**—यह संसार के अत्यन्त ही उपजाऊ और समृद्धिशाली भागों में से एक है। पंजाब की भांति यहां भी अनेक नदियों ने (मुख्यतः गंगा जमुना और ब्रह्मपुत्र) उपजाऊ काँप या गंगवार मिट्टी (Alluvial Soils) की तहें लाकर बिछा दी हैं। इस मैदान का कुल विस्तार लगभग ३६५,००० वर्ग मील है जिसमें आसाम, बंगाल, बिहार-उड़ीसा और संयुक्त प्रान्त सम्मिलित हैं। भारत की कुल खेती योग्य भूमि (Cultivable land) का ४२ प्रतिशत भाग इन्हीं प्रान्तों में शामिल है। पुरानी भूमि जिसे भाभर कहते हैं प्रायः जंगलों से आच्छादित है। पुरानी उपजाऊ भूमि को हम "बांगर" अथवा भांगरा तथा नई भूमि को खादर के नाम से पुकारते हैं।

ज्यों-ज्यों हम पूर्वी भाग की ओर बढ़ते हैं, त्यों-त्यों वर्षा भी अधिक होती जाती है, फलतः किसान सिंचाई पर अधिक आश्रित नहीं रहते हैं और वर्ष में कई फसलें उगा लेते हैं। धान की पैदावार मुख्यतः बढ़ती जाती है। यह फसल प्रायः तीन महीने में पक कर तैयार हो जाती है और पैदावार भी इसकी गेहूँ से अधिक होती है, अतः जनसंख्या घनी हो जाती है। यही कारण है कि संयुक्त-प्रान्त के पूर्वी जिलों तथा बिहार, बंगाल आदि में वर्षा अधिक होने के कारण धान की उत्पत्ति ज्यादा होती है और जनसंख्या भी क्रमशः घनी होती चली गई।

यहां हम गंगा के डेल्टा और मध्यवर्ती भाग का वर्णन तो संक्षेप में करेंगे किन्तु संयुक्त-प्रान्त का वर्णन विस्तारपूर्वक किया जावेगा।

(अ) **ब्रह्मपुत्र और सूरमा की घाटी**—इन नदियों की घाटी में भारतवर्ष में सबसे अधिक वर्षा होती है और खेती के दृष्टिकोण से ये घाटियां ही सबसे अधिक उपजाऊ हैं। वर्षा के आधिक्य और मौसमी बाढ़ के कारण धान की उत्तम फसलें पैदा हो जाती हैं। किन्तु फसलों की उपज और जनसंख्या का घनत्व भूमि की ऊँचाई पर निर्भर है। जो स्थान नीचे होते हैं, उनमें बहुधा बाढ़ आ जाया करती है और दलदली हो जाने पर वहां प्रायः जंगल और लम्बी घास उगा करती है। इसके विपरीत जो स्थान कुछ ऊँचाई पर होते हैं वहां पानी एकत्रित नहीं होने पाता और मौसमी बाढ़ से भी वे सुरक्षित रहते हैं। इस भाग के किसान थोड़े से परिश्रम करने पर ही औस और अमन धान की बड़ी अच्छी फसलें पैदा कर लेते हैं। यहां की खेती के क्षेत्रफल में बहुधा अधिक परिवर्तन नहीं होता और उत्तम धान की फसलें पैदा होने कारण जनसंख्या घनी रहती है।

सूरमा की घाटी में ब्रह्मपुत्र की घाटी की अपेक्षा वर्षा अधिक होती हैं और यहां की प्राकृतिक अवस्थाएँ भी खेती के लिये अनुकूल हैं। नादियों में बाढ़ आने पर उपजाऊ चिकनी मिट्टी किनारे के भागों पर बिछ जाती है। ब्रह्मपुत्र और उसकी सहायक नदियों की धारा प्रायः तेज होती है अतः यहां सूरमा की घाटी की अपेक्षा बड़े बड़े कणों वाली बालू मिट्टी ही किनारों पर जमा हो पाती है। यह मिट्टी पहिले की अपेक्षा (सूरमा नदी की अपेक्षा) अधिक उपजाऊ नहीं होती। सूरमा नदी की घाटी में दलदल वाली भूमि भी अधिक नहीं मिलती। अतः इन दोनों नदियों की घ.टियो में सूरमा नदी की घाटी ही खेती के लिये नितान्त योग्य है और इसी भाग में जनसंख्या का घनत्व भी अधिक है।

(ब) **गंगा का डेल्टा**—डेल्टा के इस भाग में नदियां प्रायः अपना मार्ग बदला करती हैं और अपनी उपजाऊ मिट्टी को वे किनारेवाली नीची भूमि पर जमा कर देती हैं। इसी नियम के अनुसार भारत में सम्मिलित पश्चिमी बंगाल की भूमि की रचना हुई है; किन्तु पानी के विकास का समुचित प्रबन्ध न होने, और नई मिट्टी का बिछना बन्द हो जाने के फलस्वरूप यहां की भूमि की उर्वरा

शक्ति में निरन्तर ह्रास होता जा रहा है। पश्चिमी बंगाल प्रान्त में पूर्वी बंगाल और सूरमा की घाटी की अपेक्षा वर्षा भी कम होती है और सिंचाई के साधनों का भी उचित प्रबन्ध नहीं है। लैटेराइट भूमि, पुरानी नदी नालों और पुलों के कारण यहां सिंचाई के लिये नहरों को बनाने में बाधा पड़ती है। नहरों की कमी का एक मुख्य कारण यह भी है कि यहां साधारणतः धान की अच्छी उपज के लिये वर्षा काफी हो जाती है, अतः इनमें व्यय करना अनावश्यक माना जाता है।

खेती के दृष्टि कोण से पश्चिमी बंगाल (पुराना डेल्टा) की भूमि में स्फुरिक अम्ल चूना और जीव अंश की कमी रहती है और दूसरे उपजाऊ नई मिट्टी का बिछना बन्द हो गया है, अतः यहां पर केवल सीमित मात्रा में ही खेती हो पाती है। पूर्वी बंगाल में वर्षा जल्दी आरम्भ हो जाने के कारण भदोही धान की फसल भी शीघ्र ही तैयार हो जाती है और अगहनी धान को जल्दी बो जाने का अवसर मिल जाता है अतः वे औस और अमन दोनों ही फसलें उसी भूमि पर उगा लेते हैं, इसी के फलस्वरूप वे अधिक सम्पन्न हैं और जनसंख्या भी घनी है। पश्चिमी बंगाल प्रान्त में, इसके विपरीत वर्षा देर से आरम्भ होती है अतः उन्हें भदोही और अगहनी धान की दोनों ही फसलों को उगाने का अवसर नहीं मिलता है। वे भदोही धान की जो प्रायः भद्दा होता है और जिसे निर्धन व्यक्ति ही अधिक खाते हैं, खेती करते हैं और दूसरी फसल भी मामूली ही पैदा होती है। जूट की खेती का क्षेत्रफल भी विभाजन के बाद अब सीमित बचा है।

(स) **गंगा के मैदान का मध्यवर्ती भाग-बिहार**—यहां वर्षा गंगा के डेल्टा और गंगा की ऊपरी घाटी की अपेक्षा अधिक होती है। वर्षा का वार्षिक अनुमान लगभग ४०" और ७०" के बीच में रहता है। दक्षिणी बिहार की अपेक्षा उत्तर में वर्षा अधिक होती है, अतः खेती के दृष्टिकोण से वह भाग अधिक सुरक्षित है। इसके अतिरिक्त उत्तरी बिहार में तालाबों और छोटी छोटी झीलों से भी सिंचाई के लिये पानी उपलब्ध हो जाता है। अतः यहां पर धान की दो फसलें (भदोही और अगहनी) तथा रबी की कुल मिलाकर वर्ष में तीन फसलें सरलता से उगा ली जाती हैं। किन्तु कुँओं की कमी होने के कारण, जिस वर्ष वर्षा में तनिक भी कमी होती है, तो फसलों पर बड़ा ही विषम प्रभाव पड़ता है।

दक्षिणी बिहार में वर्षा कम होने के कारण धान की फसल भी कम उगाई

जाती है और रबी की फसल में भी प्रायः गेहूँ ही अधिक उत्पन्न किया जाता है। गेहूँ की उपज में घनी जनसंख्या का होना असम्भव है अतः यहाँ उत्तरी बिहार की अपेक्षा जनसंख्या भी कम है। यहां की मुख्य पैदावार धान, गन्ना अरहर और गेहूँ हैं।

गंगा का उत्तरी मैदान अथवा संयुक्त प्रान्त :—

गंगा के इस भाग का कुल क्षेत्रफल लगभग १०६,२४७ वर्गमील है। इस प्रान्त को खेती के विचार से हम निम्न चार भागों में बांट सकते हैं :—

(१) **हिमालय का पर्वतीय प्रदेश**—इसमें अल्मोड़ा, देहरादून, नैनीताल तथा टेहरी का राज्य सम्मिलित है। नैनीताल और मसूरी लगभग ८,००० फुट समुद्र से ऊँचे हैं और ११,००० फुट की ऊँचाई पर हिमाच्छादित नन्दा देवी की चोटी स्थित है। यहां की वनस्पति ठंडे ध्रुव-प्रदेशों के समान है और गंगा तथा जमुना नदियों के उद्गम स्थान भी यहां की पहाड़ियों में हैं।

संयुक्त-प्रान्त के इस भाग में खेती जहाँ-तहाँ पहाड़ी ढालों पर ही होती है। ऊँचाई के अनुसार ही फसलें बोई तथा काटी जाती हैं। संयुक्त-प्रान्त की कुल खेती वाली भूमि के दस प्रतिशत भाग में ही यहां खेती-बारी होती है। यहां की मुख्य फसलें मँडुआ, जौ और दालें हैं; किन्तु नैनीताल और देहरादून में भारत के सुप्रसिद्ध "बासमती" चावल की खेती भी होती है, तथा थोड़ा बहुत गेहूं भी उत्पन्न कर लिया जाता है। भूमि प्रायः पथरीली है और वर्षा ६०" से ऊपर ही होती है।

(२) **तराई**—हिमालय के दक्षिणी भाग में तराई का मैदान मिलता है। यह भाग गर्म तथा दलदली है और यहां बलुआर तथा चिकनी हर प्रकार की मिट्टी मिलती है। भूमि की उर्वराशक्ति चिकनी तथा बालू मिट्टी के अनुपात पर निर्भर रहती है। यहां की भूमि अधिकार दलदली है और पानी के निकास का प्रबन्ध होने के कारण यहां मलेरिया आदि अनेक बीमारियों का प्रकोप बना रहता है। सर्दियों में आकर ऊपरी सतह का जल तो सूख जाता है किन्तु एक दो फुट की गहराई तक खोदने पर ही जल प्रगट हो जाता है। अतः खरीफ की फसल तो प्रायः भाग्य सहारे ही बोई जाती है। इस फसल के लिये न तो उचित जुताई ही की जाती है और न पैदावार ही सन्तोषजनक हो पाती है।

चूँकि रबी की फसल के बोने के समय तक बाढ़ और भूमि की ऊपरी सतह का जल शुष्क हो चुकता है अतः दो चार बार जुताई कर ली जाती है। इस फसल में जौ, ग़ल्ला आदि बो दिया जाता है और उनकी पैदावार भी आशापूर्ण हो जाती है। अगर किसी वर्ष यहां कुछ भी न बोया जाय तो सरपत और अन्य बड़ी घासें उग आती हैं, जिनके साफ़ करने में बहुत व्यय होता है। दलदली भागों में घने जंगल भी पाये जाते हैं जहां नीलगाय, सूअर, हाथी तथा अन्य हिंसक पशु विचरते हैं। पानी के निकास का प्रबन्ध न होने के कारण यहाँ की भूमि का बहुत बड़ा भाग ऊसर भूमि में परिवर्तित हो गया है।

(३) **गंगा और जमुना की घाटी**—संयुक्त-प्रान्त का यही सब से अधिक उपजाऊ भाग है। यहां वर्षा का औसत भी प्रायः ३०" से ४०" तक रहता है। यों तो यहां की भूमि उपजाऊ कांप या गंगवार (Alluvial soil) मिट्टी की तहों की बनी हुई है, किन्तु फिर भी बनावट के अनुसार इसे हम तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं।

(क) **भूड़**—इसमें अधिकतर सस्ते अन्न ही पैदा हो सकते है जैसे खरीफ में बाजरा-जुआर तथा रबी में जौ, चना, सरसों आदि। इस प्रकार की भूमि बहुधा मथुरा और आगरा जिलों में ही मिलती है। इससे कुछ उत्तम भूड़ जिसमें चिकनी मिट्टी का अंश अधिक रहता है, अलीगढ़, एटा, बदायूँ आदि ज़िलों में पाई जाती है। यहां खरीफ़ की फसल में ज्वार बाजरा के अतिरिक्त कपास और रबी की फसल में गेहूँ बढ़ा कर बोते हैं।

(ख) **मटियार**—भूड़ की अपेक्षा यह अधिक कठोर होता है। इसमें चावल चना और अलसी ही बहुधा बोया जाता है और गन्ने की उपज भी सरलतापूर्वक की जा सकती है। ऐसी भूमि अधिकतर बरेली डिवीजन के जिलों से लगाकर लखनऊ डिवीजन तक पाई जाती है।

(ग) **दुमट**—मटियार भूमि से यह अधिक उपजाऊ होती है और ऐसी भूमि प्रायः मेरठ, मुजफ्फरनगर, सहारनपुर, कानपुर इलाहाबाद, आदि जिलों में बहुतायत से पाई जाती है। यहां हर प्रकार की फसलें सिचाई का प्रबन्ध होने पर सरलता से उगाई जा सकती हैं। कपास, गेहूं, गन्ना, जौ, चना, मटर, तिलहन यहां की मुख्य पैदावार हैं और इनकी उत्पत्ति भी इस भूमि में अधिक होती है।

(घ) **चिकनी मिट्टी**—पूर्वी जिलों में प्रायः इसी प्रकार की मिट्टी पायी जाती है। इसमें पानी को रोकने की क्षमता अधिक होती है। चूँकी पूर्वी जिलों में वार्षिक वर्षा का अनुपात भी ४०″ से ऊपर होता है, अतः धान की खेती यहाँ बहुत ही सरलतापूर्वक हो जाती है। अन्य फसलों में जौ, चना, मटर और गन्ना मुख्य हैं। धान की उत्तम फसल पैदा हो जाने के कारण यहाँ जनसंख्या भी घनी बसी हुई है।

(४) **बुन्देलखण्ड**—इसका विस्तार लगभग १०,००० वर्गमील में है और यह भाग दक्षिण में मध्य-प्रान्त तथा पठार से मिला हुआ है। यहाँ पर विन्ध्याचल और सतपुड़ा की चोटियों के अवशेष विद्यमान हैं, जहाँ पर झाड़ियां और जंगल पाये जाते हैं। अरबसागर से उठनेवाली मानसून से यहाँ वर्षा होती है जिसका वार्षिक अनुपात लगभग ४०″ है। युक्त-प्रान्त में यही सबसे पिछड़ा हुआ भाग है और यहाँ की भूमि भी कमज़ोर और निकृष्ट है। भूमि में प्रायः चट्टानों के बड़े-बड़े टुकड़े पाये जाते हैं, जिनमें पानी नहीं रुकता है। इस भाग में भी चार प्रकार की भूमि पाई जाती है।

(क) **मार**—यह उपजाऊ तथा काले रंग की भूमि होती है। पानी के निकास का प्रबन्ध होने पर यहाँ अच्छी तरह खेती की जा सकती है और प्रायः इसी भूमि में गेहूं भी सफलतापूर्वक पैदा किया जा सकता है। वर्षा कम होने पर सिंचाई बिना उत्तम फसलों का पैदा होना अत्यन्त कठिन हो जाता है। इसके विपरीत जिस वर्ष वर्षा अधिक हो जाती है तो भूमि आसानी से जोती भी नहीं जा सकती है।

(ख) **काबर**—यह रंग में तो मार भूमि की अपेक्षा अधिक काली नहीं होती, किन्तु कठोर अधिक होती है और अधिक मेह पड़ जाने पर इस भूमि में हलकी जुताई आसानी से नहीं की जा सकती और न किसी प्रकार की अच्छी फसलें ही उत्पन्न की जा सकती हैं। पानी के सूख जाने पर भूमि में बड़ी-बड़ी दरारें पड़ जाती हैं और तब हमें रबी की फसल को बोने के लिये कठिन परिश्रम करना पड़ता है।

(ग) **परवा**—यह भूमि लाल रंग की होती है। केवल इसी भूमि में सिंचाई का उचित प्रबन्ध होने पर गंगा के मैदान की भाँति अनेक फसलें उत्पन्न की जा सकती हैं।

(च) **राकर**—ऐसी भूमि प्रायः नदियों की घाटी में मिलती है। चिकनी

मिट्टी का अंश अधिक होने के कारण इसमें प्रायः एक प्रकार का काला चावल ही पैदा किया जाता है। इस भूमि में जीव अंश की बहुत कमी पाई जाती है और साथ ही सिंचाई का प्रबन्ध न होने के कारण यह बहुधा खेती के लिये अनुपयुक्त है।

बुन्देलखण्ड की भूमि ऊँची-नीची और असमतल होने के कारण खेती के दृष्टिकोण से उपयोगी नहीं है। वर्षा की असमानता और अनिश्चितता के कारण यहाँ केवल ज्वार, बाजरा आदि खरीफ की फसल में तथा चना और जौ रबी की फसल में उगाये जाते हैं।

संयुक्त प्रान्त में ज्यों-ज्यों हम उत्तर-पश्चिम की ओर बढ़ते हैं वर्षा कम होती जाती है, अतः हमें सिंचाई पर अधिक आश्रित रहना पड़ता है। खेती की दृष्टि से इस प्रान्त के ये भाग कम सुरक्षित हैं और जिस वर्ष वर्षा जल्दी समाप्त हो जाती है तो खरीफ की फसल प्रायः नष्ट हो जाती है और इस प्रकार चारे का अकाल पड़ जाता है। पूर्वी जिलों में यों तो वर्षा काफी हो जाती है और उत्तम फसलें उत्पन्न हो सकती हैं, किन्तु यहाँ नियमित समय पर वर्षा होना अति आवश्यक है। यहाँ की खेती की सफलता प्रायः सिंचाई पर ही निर्भर है। नहरों और कुँओं से वर्षा की कमी अथवा देरी से वर्षा आरम्भ होने वाली विषमताओं को दूर करने की भर-सक यहाँ के किसान कोशिश करते हैं।

निम्न कोष्ठक में हम इस प्रान्त के भिन्न-भिन्न भागों में पैदा की जाने वाली फसलों के सूचक अंक (Indices) देते हैं। यहाँ हमने जनसंख्या के अनुसार इस प्रान्त को तीन भागों में बाँटा है।

फसलों के नाम	संयुक्त प्रान्त का पूर्वी भाग	संयुक्त प्रान्त का मध्यवर्ती भाग	संयुक्त प्रान्त का पश्चिमी भाग
चावल	३०.६५	२३.६६	२.५०
जौ	२४.८६	१४.२०	११.६४
गेहूं	८.३९	१७.७४	२१.९५
ज्वार	३.५७	१०.७३	१०.७०
गन्ना	७.१९	२.०७	३.४७
कपास	—	१.२०	६.६०
मक्का	५.८९	३.६०	८.४८
चना	१३.७३	२०.६०	१७.८८
बाजरा	३.३९	७.६१	१६.१५

तेईसवां अध्याय

भारतवर्ष की जमीनें

भूमि की रचना पर जलवायु, ऊँचाई तथा निचाई आदि अनेक बातों का प्रभाव पड़ता है। पिछले पृष्ठों में हम भारतवर्ष की जलवायु, वर्षा आदि बातों का वर्णन कर चुके हैं। यहां हम उन शक्तियों के और भूमि की रचना के सम्बन्ध में अध्ययन करेंगे। शाही-कृषि-कमीशन ने भारतवर्ष की भूमि को निम्नलिखित चार भागों में विभक्त किया है—

१–लाल जमीन (Crystalline or red soils)

२–काली लावा वाली और रेगर जमीन (Black cotton soils or Reguer soils)

३–कांप या गंगवार भूमि (Alluvial soils)

४–लैंटराइट भूमि (Laterite soils)

१–लाल जमीन—ऐसी भूमि विन्ध्याचल के नीचे सारे प्रायद्वीप में पायी जाती है। इसका विस्तार राजमहल की पहाड़ियों, दामोदर की घाटी, उड़ीसा के मुहाल, छत्तीसगढ़, छोटा नागपुर, सोन की ऊपरी घाटी, गोदावरी नदी के निकट सतपुड़ा की श्रेणी तथा अरावली की श्रेणी और बड़ौदा के उत्तरी भाग तक है। ये प्रायः २००,००० वर्गमील में फैली हुई है। उनकी रचना प्राचीन या पेलिओजोइक चट्टानों से हुई है; और कहीं-कहीं पर पौधों और जानवरों की अस्थियों के अवशेष भी पाये जाते हैं। इसकी गहराई, उर्वराशक्ति और रचना तथा रंग सब स्थानों पर समान नहीं है। साधारणतः यह भूमि ऊँची जगहों में कम उपजाऊ, कम गहरी और हलके लाल रंग की होती है और इसके विपरीत नीचे के भागों में (नीची भूमि में) अधिक उपजाऊ, गहरी और गहरे लाल रंग की होती है। जहाँ पर भूमी की गहराई अधिक होती है अगर काफी परिमाण में पानी मिल जावे तो खूब अच्छी फसल पैदा हो सकती है। पठारों पर प्राय: ज्वार, बाजरा आदि उगाया जाता है किन्तु मैदान में गेहूं की खेती भी कर ली जाती है। इस भूमि में नोषजन

(Nitrogen), स्फुरिक अम्ल (Phosphoric acid) सज्जी (Potash) तथा चूना (lime) निम्न मात्रा में पाया जाता है :—

नोषजन-	.००५ से .०२ प्रतिशत
स्फुरिक अम्ल-	.०८ से .०९ "
सज्जी-	.१ से .३५ "
चूना-	१ प्रतिशत से कम

जीव अंश (Organic matter) और चूना का अंश कम रहता है।

काली लावा और रेगर जमीन—यह दक्षिण की सारी ऊँची सम भूमि (Table land) में पायी जाती है। इसका विस्तार मद्रास प्रान्त के बिलारी, करनूल, कड़ापा, कोयम्बटूर और टीनावैली, बम्बई प्रान्त के प्रत्येक भाग में बरार और मध्य प्रान्त तक लगभग दो लाख वर्ग मील में है।

भारतवर्ष का दक्षिणी भाग अत्यन्त ही पुराना भाग है, और यह भूमि ज्वालामुखी के उदगारों से निकले हुए लावा की तहों की बनी है। लावा की एक तह की मुटाई प्रायः दो गज से तीस गज तक होती है; किन्तु कहीं-कहीं पर इस भूमि की मुटाई तो कई सौ गज तक हो गई है। इन सारी जगहों में भूमि एक दूसरे स्थान से भिन्न हैं। पहाड़ी और पठारी भाग की भूमि कम उपजाऊ तथा कम गहरी है। केवल उन्हीं स्थानों में जहाँ वर्षा अच्छी हो जाती है, भूमि साधारणतः उपजाऊ होती है। मैदान और पहाड़ों के बीच की घाटियों में भूमि अधिक गहरी और काले रंग की होती है चूँकि इन स्थानों की भूमि प्रायः नदी की धारा द्वारा लाकर जमा की हुई मिट्टी की बनी हुई होती है। इस प्रकार की भूमि विशेषतः सूरत और भड़ोंच जिलों में पाई जाती है।

रेगर मिट्टी लावा का परिवर्तित रूप है। यह एजोइक अथवा अति प्राचीन चट्टानों से बनी हुई है। यह भूमि भी ऊँचाई, ढाल के अनुसार अपने गुण और आचरणों से बदलती रहती है। प्रायः रेगर भूमि बहुत बढ़ियाँ दानेदार और काले रंग की होती है। इसमें चूना (Calcium) और मगनीसीयम कर्बनेत (Magnesium carbonate) काफी अंश में मिलता है। इनके अतिरिक्त लोहा और अलूमीनियम (Aluminium) का परिमाण भी आवश्य-

कतानुसार काफी ही होता है। शेष आवश्यक अंशों का परिमाण निम्न प्रकार होता है—

नोषजन— .०२ से .०५ प्रतिशत

स्फुरिक अम्ल—.०९ से .२ ”

सज्जी— .१५ से .८ ”

यह भूमि बहुध गीली और चिकनी होती है। अच्छी वर्षा हो जाने पर इनमें साधारणतः अच्छी फसलें उगाई जा सकती हैं। किन्तु चिकनी मिट्टी का अंश अधिक होने के कारण सूखने पर इनमें दरारें पड़ जाती हैं। जीव अंश (Humus) और लोहे के अंश अधिक होने के कारण भूमि का रंग काला होता है।

गंगवार अथवा कांप मिट्टी की बनी भूमि (Alluvial soils)—यह भूमि भारत में सबसे अधिक पाई जाती है। उत्तर के मैदान में यह ३००,००० वर्ग मील में विस्तृत है। भारत में यह मिट्टी सबसे अधिक नई और उपजाऊ है और नदियों द्वारा परिवर्तित चट्टानों से लाई हुई मिट्टी की बनी है। मैदान के अतिरिक्त ऐसी भूमि प्रायद्वीप के दोनों तटों पर भी कम या अधिक चौड़ाई में पाई जाती है। दक्षिण में ऐसी भूमि महानदी, नर्मदा, ताप्ती, गोदावरी, कृष्णा कावेरी के मुहानों तथा उनके आस-पास फैली हुई है। यह भूमि साधारणतः १,००० फुट गहरी है किन्तु कहीं-कहीं पर ३,००० फुट गहरे कुएँ भी खोदे गये हैं। प्रायः यह नदियों द्वारा लाई गई चिकनी मिट्टी की बनी है, तथापि इसमें रेतीली, दुमट, मटियार, कठिन चिकनी मिट्टी, रेह आदि का भी समावेश है। स्थान के अनुसार भूमि के भोजन-तत्व भी बदलते रहते हैं। खूब गर्म की हुई मिट्टी में पौधों के उपयोगी भोजन तत्व निम्न मात्राओं में पाये गये हैं—

नोषजन— .०३ से .१०३ प्रतिशत

सज्जी— .३ से .७ ”

स्फुरिक अम्ल—.०८ से .१३ ”

चूना — .३ से २.० ”

उक्त अंकों के देखने पर विदित होगा कि इस भूमि में नोषजन, स्फुरिक अम्ल और जीव अंश तो प्रायः कम मात्रा में मिलते हैं, किन्तु सज्जी और चूना की मात्रा सन्तोषजनक है। बिहार के तिरहुत जिले और और भी कई स्थानों पर चूने

का अंश बहुत अधिक मिलता है। इस भूमि में खेती की सफलता जीव-अंश और नोषजन के सन्तोषजनक परिमाण में होने पर ही निर्भर है। वितल (Sub-soil) की तहों में बालू और चिकनी मिट्टी की तहें एक-सी न होने के कारण इसकी उर्वरा शक्ति सब स्थानों में समान नहीं है। संयुक्त प्रान्त में इस भूमि की एक विशेषता यह भी है कि कहीं-कहीं वितल (Sub-soil) की तहों में कंकड़ भी पाये जाते हैं। पानी की सतह भूमि के निकट होने के कारण यहाँ कुँओं की संख्या काफी है। अकेले संयुक्त प्रान्त में ही १०० लाख कुंएं हैं जब की भारत में कुँओं की कुल संख्या १४० लाख है। अच्छे प्रबन्ध से इस भूमि में हर प्रकार की फसलें सफलतापूर्वक उगाई जा सकती है।

ऐसी मिट्टी हमें पंजाब, संयुक्त-प्रान्त, बिहार, बंगाल, आसाम, उत्तरी राजपूताना, गोदावरी के पूर्वी और पश्चिमी भाग, मद्रास के तंजोर आदि जिलों में पाई जाती है।

लैटाराइट भूमि—यह भूमि चिकनी मिट्टी की एक झिरझिरी (छिद्रवाली) चट्टान है, जिसमें होकर पानी प्रवेश कर सकता है। इस भूमि में बालू का अंश बहुत कम मात्रा में मिलता है। ऐसी भूमि अधिक गर्म और अधिक वर्षा वाले प्रान्तों में पाई जाती है, अतः कभी-कभी इस भूमि को "धुली हुई भूमि" भी कहते हैं। प्रायद्वीप के तटवर्तीय मैदानों, आसाम, बंगाल और मध्य-प्रान्त में ही यह भूमि अधिकतर मिलती है। यह मिट्टी जब पहाड़ी भागों में पाई जाती है तो पतली और पथरीली होने के कारण इसमें पानी नहीं ठहरता, अतः उन स्थानों में यह खेती के लिये अधिक उपयोगी नहीं होती। इसके विपरीत घाटियों में तथा नीची सतहों वाली भूमि काले रंग की होती है और इसमें दुमट (Loam) का अंश अधिक पाया जाता है। ऐसी जगहों में पानी अधिक देर तक ठहर सकता है और अच्छी फसलें भी पैदा की जा सकती हैं। बहुधा इस भूमि में खार शैलेत (silicates of alkalies) सज्जी, स्फुरिक अम्ल और चूना बहुत कम होता है और जीव-अंश भारत की अन्य भूमि की अपेक्षा सबसे अधिक होता है। इस भूमि में तेजाब (अम्ल) की मात्रा अधिक होती है अतः खेती की सफलता इसके कम करने पर ही निर्भर रहती है। इस भूमि में नोषजन प्रायः ·०१ से ·०४ प्रतिशत पाया जाता है।

भूमि और उसकी कुछ समस्याएँ

इस देश में भूमि की उत्पादन शक्ति के विषय में अनेकों जांचें हो चुकी हैं। भारत-सरकार के कृषि सलाहकार (Agricultural adviser) ने शाही-कृषि कमीशन को अपना मत देते हुए बतलाया था कि—"भूमि के जिस भाग पर भारत में आज खेती हो रही है वहाँ सैकड़ों वर्षों से खेती होती आ रही है, अतः वह आज से कई वर्ष पूर्व ही शक्तिहीन हो चुकी है।" शाही-कृषि कमीशन स्वयं भी एक ऐसे ही निष्कर्ष पर पहुंचा था। उसके अनुसार यहाँ की भूमि की उत्पादन-शक्ति अब लगभग स्थिर हो चुकी है। अगर हम अपने वर्त्तमान खेती के ढंगों में किसी प्रकार का भी परिवर्तन न करें तो अब उसकी उत्पादन-शक्ति में ह्रास नहीं हो सकता है।" अगर हम निम्न कोष्ठक के अंकों को ध्यानपूर्वक देखें तो उनका कथन सत्य उतरता है।

१–उत्पादन-शक्ति

फसलों की उपज (पौंड में)

वर्ष	चावल (छिलका उतरा हुआ)		गेहूँ		जव	
	सिंचाई होने पर	बिना सिंचाई किये	सिंचाई होने पर	बिन सिंचाई किये	सिंचाई होने पर	बिना सिंचाई किये
१९११-१२	११००	८५०	१२५०	८५०	१३००	९००
१९१६-१७	११००	८५०	१२५०	८५०	१३५०	९००
१९२०-२१	११००	८५०	१२५०	८५०	१३५०	९००
१९२६-२७	११००	८५०	१२५०	८५०	१३५०	९००

किन्तु इन बीस वर्षों में (शाही-कृषि कमीशन जांच के लिये १९२६-२७ में बैठा था) काफ़ी परिवर्तन हो चुके हैं। आज हमारे देहातों में प्रायः ऐसी फसलें उगाई जाती हैं जो या तो विदेशी निर्यात के लिये होती हैं, जैसे तिलहन, जूट, चाय, तम्बाकू आदि अथवा जो नगरों में भेज दी जाती हैं जहाँ कि उनका उपयोग कारखानों में होता है अथवा वे नगर-निवासियों के वस्त्र और भोजन में प्रयुक्त होती हैं, जैसे, गेहूं, गन्ना, कपास आदि। इन सबका परिणाम यह होता है कि पौधों के अधिकांश उपयोगी जीवन-तत्व या तो विदेशों को चले जाते हैं अथवा

उन नगरों में ही रह जाते हैं। वे वापस उस भूमि तक नहीं लौट पाते जहाँ कि वे फसलें पैदा की गईं थीं। खाद के अभाव और पौधों के उपयोगी भोजन-तत्वों के इस प्रकार बाहर चले जाने का परिणाम यह होता है कि हमारी भूमि की उत्पादन-शक्ति में निरन्तर ह्रास होता जा रहा है। सन् १९४४ में डॉक्टर बर्न्स ने यह बतलाया था कि अनेक प्रान्तों में भूमि की उत्पादन-शक्ति अब स्थिर हो चुकी है और इस समय हमारी भूमि अधिकांशतः शक्तिहीन है, परिणामस्वरूप अन्य देशों की अपेक्षा पैदावार कम होती है। भूमि का यह दोष खाद के उपयोग से बहुत अंशों में दूर किया जा सकता है। संयुक्त-प्रान्त की कृषि-नवीन-क्रम-समिति को किसानों ने उत्तर देते हुए यह बताया था कि अब हमारी भूमि की उत्पादन शक्ति गिरती जा रही है, किन्तु खाद के प्रयोग से इसे हम बहुत-कुछ अंशों में रोक भी लेते हैं।

निम्न कोष्टकों में हम कृषि-कमिशन की जांच के बाद फसलों की उत्पत्ति देखाते हैं—

वर्ष	छिलका निकाला हुआ धान		गेहूं		जव	
	सिंचाई होने पर	बिना सिंचाई किये	सिंचाई होने पर	बिना सिंचाई किये	सिंचाई होने पर	बिना सिंचाई किये
१९२६-२७	११००	८५०	१२५०	८५०	१३५०	९००
१९३१-३२	११००	८५०	१२००	८५०	१३५०	९००
१९३६-३७	१०५०	८००	१०५०	७५०	११००	७५०
१९४१-४२						

Agricultural Statistics 1925-37—1941—42 etc.

फसलों को उत्पत्ति के विषय में मैंने जो संयुक्त-प्रान्त के लगभग प्रत्येक जिले में खोज की हैं, उनसे भी इसी बात की पुष्टि होती है कि फसलों की उपज में प्रायः कमी होती जा रही है और खाद डालकर इस गिरती हुई उपज को बहुत अंशों में रोका भी जा सकता है। अगले पृष्ट के कोष्ठक में तीन वर्षों की गेहूँ की उत्पत्ति दी जा रही है।

संयुक्त-प्रान्त में गेहूँ की पैदावार प्रति एकड़ (मनों में)

जिला	१९४५		१९४६		१९४७	
	बिना खाद	खाद डाल कर	बिना खाद	खाद डाल कर	बिना खाद	खाद डाल कर
मेरठ	१३.०	१८.५	१२.७	१८.१	११.८	१८.३
बुलन्दशहर	१२.३	१७.६	११.४	१७.२	१०.८	१६.९
मथुरा	११.७	१६.१	१२.३	१६.५	११.४	१६.९
आगरा	१०.८	१४.३	११.०	१५.५	१०.३	१५.२
कानपुर*	१२.४	१८.१	१२.१	१७.६	११.८	१७.३
इलाहाबाद*	१३.२	१९.५	१३.४	१८.७	१२.८	१७.८
बनारस	११.६	१७.०	११.२	१६.५	११.४	१५.८

उपरोक्त कोष्ठक के अंकों के देखने से हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि हमारी खेती की उपज या तो क्रमशः गिर रही है अथवा वह एक सीमा पर आकर स्थिर हो चुकी है।

निम्न कोष्ठक में भारतवर्ष के बढ़ते हुए क्षेत्रफल में गेहूँ की उपज दिखलाते हैं।

* फार्म की उपज

उपज में वृद्धि केवल नाम मात्र को है, किन्तु यह वृद्धि बढ़ते हुए क्षेत्रफल में ही हैं। निम्न अंक हम डाक्टर बर्न्स की पुस्तक से उद्धृत कर रहे हैं—

वर्ष	गेहूँ का क्षेत्रफल १० लाख एकड़ में	गेहूँ का उपज १० लाख टन में
१९११-१२	२५·०	८·५
१९१२-१३	२३·९	८·२
१९१७-१८	२६·४	८·५
१९२२-२३	२४·४	८·२
१९२७-२८	२४·६	६·४
१९३२-३३	२४·९	७·६
१९३७-३८	२५·२	७·९
१९४२-४३	२५·९	९·०

भारतीय सम्पत्ति के नष्ट होने का तथा घटने का यह एक दूसरा मार्ग है। कर्नल बेन महोदय ने अभी कुछ समय पूर्व केन्द्रीय-सिंचाई के बोर्ड की एक विज्ञप्ति में बतलाया कि—"शाब्दिक रूप में भारत हमारी आंखों के आगे ही सूख रहा है।" सच पूछा जाय तो इस क्रिया से भूमि धीरे-धीरे कट जाती है और उसका उपजाऊ अंश क्रमशः बह जाता है। कालान्तर में वह उपजाऊ भूमि बंजर में परिवर्तित हो जाती है। भारतीय वर्षा का एक लक्षण यह भी है कि वह कभी-कभी बहुत तेज बरसती है। इस तेज और अधिक जल बरसने से भूमि की सतह (जो प्रायः हल्की और मुलायम होती है) का ऊपरी भाग जो प्रायः अत्यन्त उपजाऊ होता है, कट कर पानी के तेज़ बहाव के साथ बह जाता है। हमारे अधिकांश खेतों में मेंड़ें होती तो अवश्य हैं, किन्तु वे साधारणतः कच्ची होती हैं और उनकी ऊँचाई भी अधिक नहीं होती। फलतः यह क्रिया वर्षा ऋतु में हमारे खेतों को बहुत हानि पहुँचाती है।

भूमि का कटाव अथवा भूमि का बहना (Soil erosion)

हमारे यहाँ पानी के निकास के लिये नालियाँ (Drainage channels)

तो हैं ही नहीं, अतः तेज़ वर्षा होने पर पानी अनेकों धाराओं में होकर इधर-उधर बहता है और उपजाऊ भूमि को काट-काट कर नालियाँ बनाता है। यही क्रम प्रति वर्ष चलता रहता है और कुछ वर्षों बाद ही भूमि बेकार हो जाती है। इसी प्रकार नदियों की घाटियों में (खादरों) अनेक कन्दराएँ या कटान प्रति वर्ष बनते रहते हैं। ये ही कटान बढ़ते जाते हैं और निकटवर्ती खेतों की मिट्टी को काटकर अपने साथ बहा ले जाते हैं, अन्त में वे खेत छोटे-छोटे अनुपजाऊ टुकड़ों में परिवर्तित हो जाते हैं। संयुक्त-प्रान्त में यमुना और चम्बल नदी की घाटी में हम भूमि के बहाव की इस भीषण हानि को अच्छी तरह देख सकते हैं। मथुरा, इटावा, आगरा, जालौन आदि ज़िलों में बड़े भयङ्कर कटान हैं, जिनमें प्रति वर्ष हजारों मन उपजाऊ भूमि व्यर्थ ही में बह जाती है। अकेले इटावा ज़िले में ही ऐसी कटी हुई भूमि (Eroded land) का क्षेत्रफल १,२०,००० एकड़ है।

पञ्जाब कि सिंचाई सम्बन्धी रिसर्च इन्स्टीट्यूट ने वर्षा के कारण इस क्रिया द्वारा भूमि के बह जाने की खोज की, जिसके फल निम्न हैं—

भूमि के कट कर बह जानेकी मात्रा पौंड (प्रति एकड़ में)

वर्षा की अवधि	८०% भूमि घास से ढँकी हुई में	९०% घास और झाड़ियों से ढँकी हुई भूमिमें	बिना ढंढकी हुई भूमि में
३२ दिन की वर्षा में	३,५००	३,९००	१८,५००
एक दिन की वर्षा में	२६०	३०७	३,५११

इसी प्रकार शोलापुर के अनुसन्धान (Dry:farming research station at Sholapur) से ज्ञात हुआ है कि ज्वार के एक खेत से प्रतिवर्ष प्रति-एकड़ लगभग ११५ टन उपजाऊ मिट्टी की हानि होती है। किन्तु यही हानि खर पतवार (Weeds) से ढँके खेत में $\frac{१}{२००}$ भाग ही रह गई। ढालू भूमि में यह हानि और भी अधिक भीषण हो जाती है। अतः उपरोक्त वर्णन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भूमि का बहाव प्रायः तीन मुख्य शक्तियों के कारण होता है।

(१) तेज़ और अधिक वर्षा के कारण ।

(२) वनस्पति विहीन भूमि होने के कारण ।

(३) ढालू भूमि होने के कारण ।

इनके अतिरिक्त यह तेज़ हवा और अधिक चराई के कारण भी होता है। भूमि का यह कटाव दो प्रकार का होता है—

(अ) पत्तरदार (Sheet erosion)

(ब) नालियों वाला (Gully erosion)

पत्तरदार कटाव तो प्रायः समतल भूमि में और काफी क्षेत्रफल पर होता है। इसे रोकने के लिये भूमि की सतह पर किसी न किसी प्रकार की वनस्पति अवश्य उगी होनी चाहिये। कभी-कभी पत्तियाँ, घास-फूस, सरपत आदि बिछा दिया जाता है। बाँध बनाना भी हितकर होता है और खेतों की मेंड़ों को ऊँचा बना कर रखने से भी भूमि का कटाव रोका जा सकता है।

जब नालियों वाला कटाव शुरू हो गया हो तो आरम्भ में किसान को दो से छः फीट ऊँची मेंड़ें बना कर अरहर या कपास के तने थोड़ी-थोड़ी दूर पर बिछा देने चाहिये। बड़ी नालियाँ बन जाने पर बाँध बना कर कटान को रोकना ही श्रेयस्कर होता है। जहाँ तक हो सके भूमि पर थोड़ी बहुत वनस्पति अवश्य मौजूद रहनी चाहिये और चराई अधिक न होने देनी चाहिये। जंगलों के लगाने से भी भूमि का कटना कम हो जाता है।

भूमि का दलदली होना और उसमें लवणों का एकत्रित हो जाना (Water logging and salt effervescence)

भूमि की ऐसी अवस्था प्रायः बिहार, संयुक्त-प्रान्त, और बङ्गाल में नदियों के डेल्टाओं में पाई जाती है। पानी के निकास का उचित प्रबन्ध न होने पर भूमि में ये अवगुण उत्पन्न हो जाते हैं। कभी-कभी यह दुर्गुण पानी की सतह भूमि के बिलकुल समीप होने पर भी पैदा हो जाता है। बहुधा ये खराबियाँ उन्हीं भागों में पाई जाती हैं जहाँ की भूमि चिकनी होती है। हल्की-बलुआर भूमि के कन बड़े होने के कारण पानी सरलता से नीचे बह जाता है। किन्तु जिस भूमि में सोडा क्षार (Sodium carbonate) या सोडियम कार्बनेत उपस्थित रहता है और पानी की सतह भूमि के समीप रहती है वहां नमक का यह क्षार भूमि की

ऊपरी सतह पर आकर एकत्रित हो जा जाता है। इसी को काली क्षार युक्त भूमि (Black alkali soil) कहते हैं। इस क्षार के जमा हो जाने पर भूमि की बनावट में भी पतिवर्तन हो जाता है और वह पहिले की अपेक्षा कठोर (सख्त) हो जाती है, जिसके फलस्वरूप पानी का भूमि के अन्दर प्रवेश होना बन्द हो जाता है।

पिछले कई वर्षों में नहरों द्वारा सिंचित भूमि में यह अवगुण पैदा हो गया है। पानी के निकास के लिये इन प्रान्तों में नालियों का कोई प्रबन्ध नहीं है। अतः पानी की सतह भूमि के बिलकुल ही निकट आ जाती है। जब इस पानी का सूर्य की किरणों द्वारा शोषण होता है तो भूमि के लवण सतह पर आकर एकत्रित हो जाते हैं। सन् १९२६-२७ तक अकेले पञ्जाब में ही लगभग १२५,००० एकड़ भूमि इस प्रकार के क्षार से नष्ट हो गई थी। अब तक और भी बहुत-सा भाग इस प्रकार "कल्लर" भूमि में परिवर्तित हो चुका है। संयुक्त-प्रान्त में गंगा और जमुना की नहरों के समीप कई मीलों तक ऐसी "कल्लर" भूमि देखने को मिलती है। सन् १८८४ से पूर्व बम्बई प्रान्त की नीरा घाटी में क्षार-युक्त भूमि देखने को भी नहीं मिलती थी; लेकिन जब से वहाँ नहर द्वारा सिंचाई होना आरम्भ हुआ है, हज़ारों एकड़ भूमि इस प्रकार खराब होकर नष्ट हो चुकी है और निरन्तर ही इसमें वृद्धि होती चली जा रही है।

जिन भागों की जलवायु शुष्क होती है और पानी के निकास का उचित प्रबन्ध नहीं होता, वहाँ जल भूमि की सतह के समीप आकर इकट्ठा हो जाया करता है और पानी में घुले हुए बहुत से नमक उस सतह पर एकत्रित हो जाते हैं। भूमि से इनको दूर करने लिए निम्न उपाय लाभप्रद माने गये हैं—

(१) भूमि में पानी के निकास का उचित प्रबन्ध होना; (२) भूमि को छोटे-छोटे टुकड़ों में विभाजित कर और मेंड़ें बना कर उनमें पानी भरना और इस प्रकार भूमि को बार-बार धोना; (३) क्षार को नष्ट करने वाले पेड़-पौधों को उगाना जैसे—बबूल, जंगली नील, चुकन्दर, चावल, पटसन इत्यादि; (४) भूमि को खुरचना और धोना; (५) खोद कर क्षारयुक्त मिट्टी को उसमें भरना। इस प्रकार अच्छी मिट्टी वाली भूमि ऊपर आ जावेगी और वह नीचे दब जावेगी; (६) रासायनिक पदार्थों का प्रयोग जैसे कैल्शियम सल्फेट (Calcium Sulphate) अथवा खड़िया मिट्टी, किन्तु इस क्रिया में प्रति एकड़ ८०० रुपये तक व्यय हो जाते हैं।

भूमि के दलदली हो जाने पर ओषजन (Oxygen) और लाभदायक कीटाणुओं (Bacteria) का प्रवेश बन्द हो जाता है जो कि पौधों की उपज के लिये आवश्यक होते हैं। अतः "कल्लर" भूमि में वनस्पति का उगना असम्भव हो जाता है।

अम्लिव भूमि Acid soils

अधिक वर्षा वाले प्रान्तों में इस प्रकार की भूमि मिलती है। ऐसी भूमि में प्रायः खनिज अंश कम हो जाता है और स्वतन्त्र-अम्ल (Free acids) की मात्रा बढ़ जाती है, जो अनेक फसलों के लिये हानिकर होती है, जैसे ज्वार, रिज़का पालक, सलाद, गोभी, गाजर इत्यादि। गेहूं, जौ, मक्का, जई आदि के लिये भी ये अम्ल थोड़ी मात्रा में हानिकारक होते हैं।

ऐसी भूमि को सुधारने के लिये—(१) चूने का व्यवहार; (२) पानी के निकास का प्रबन्ध और (३) आलू, शकरकन्द, चावल, सेम और रेंडी आदि उगाने चाहिये।

चौबीसवाँ अध्याय

भारतवर्ष की कृषि

भूमि की उपज जानने से पूर्व हमें पहिले अपने देश की कुल भूमि का क्षेत्र-फल और उसका विभाजन जान लेना आवश्यक है, चूँकि खेती के अतिरिक्त हमारी भूमि अन्य कई कार्यों में भी लाई जाती है। अगले पृष्ठ के कोष्ठक में हम भारतवर्ष की भूमि का विभाजन दिखलाते हैं :—

भारतवर्ष की भूमि का विभाजन ('०००,००० एकड़ों में)

वर्ष	भारत के प्रान्त तथा देशी राज्य	कुल क्षेत्रफल	जंगलों का क्षेत्रफल	क्षेत्रफल जिसमें खेती नहीं होती है	खेती योग्य बंजर	परती भूमि	कुल भूमि जिसमें फसलें बोई जाती हैं
१९३५-३६	भारत के प्रान्त	५११	६७	९३	९४	४७	२१०
	देशी राज्य	१४६	१८	२६	१८	१२	७०
	कुल	६५७	८५	११९	११२	५९	२८०
१९३६-३७	भारत के प्रान्त	५१२	६७	९३	९२	४५	२१[illegible]
	देशी राज्य	१४७	१८	२८	१८	१२	६९
	कुल	६५८	८५	१२१	११०	५७	२८३
१९३७-३८	भारत के प्रान्त	५१२	६८	९२	९२	४५	२१३
	देशी राज्य	१४८	१९	२८	१९	१३	६८
	कुल	६५९	८९	१२०	१११	५८	२८१
१९३८-३९	भारत के प्रान्त	५११	६८	९१	९४	४८	२०९
	देशी राज्य	१५१	१९	३१	२०	१३	६७
	कुल	६६३	८७	१२२	११४	६१	२७६

भारतवर्ष की भूमि का विभाजन ('०००,००० एकड़ों में)

वर्ष	भारत के प्रान्त तथा देशी राज्य	कुल क्षेत्रफल	जंगलों का क्षेत्रफल	क्षेत्रफल जिसमें खेती नहीं होती है	खेती योग्य बंजर	परती भूमि	कुल भूमि जिसमें फसलें बोई जाती है
१९३९-४०	भारत के प्रान्त	५१२	६८	८९	९७	४७	२१०
	देशी राज्य	१५७	१९	३२	२१	१५	७०
	कुल	६६९	८७	१२१	११८	६२	२८०
१९४०-४१	भारत के प्रान्त	५१४	६८	८७	९८	४५	२१४
	देशी राज्य	१५८	१९	३२	२०	१३	७३
	कुल	६७२	८७	११९	११८	५८	२८७
१९४१-४२	भारत के प्रान्त	५१२	६८	८६	९७	४७	२१३
	देशी राज्य	१५०	१७	३०	१९	१५	६८
	कुल	६६२	८५	११६	११६	६२	२८१
१९४२-४३	भारतके प्रान्त	५१२	६८	९०	९१	४६	२१६
	देशी राज्य	१५०	१७	३०	१९	१३	७०
	कुल	६६२	८५	१२०	११०	५९	२८६

भूमि की उपज को हम सरलतापूर्वक निम्न तीन भागों में बाँट सकते हैं :—

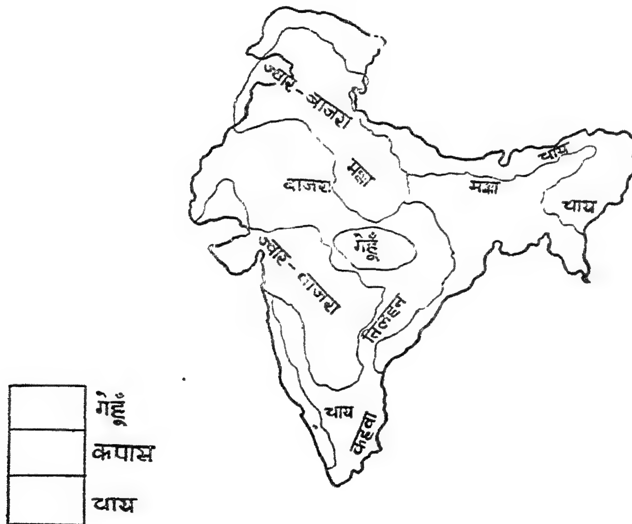
भूमि की उपज का विभाजन

१—खेती सम्बन्धी

२—जंगल

३—खनिज

१—**खेती की उपज**—खेती ही इस देश का मुख्य धन्धा है और इसी पर यहाँ की लगभग ७९ प्रतिशत जनता आश्रित रहती है। यहाँ पर अनेक प्रकार की फसलें उगाई जाती है जिनका मूल्य कि लगभग १२५० करोड़ है। भारत की उपज को हम दो मुख्य भागों में विभाजित कर सकते हैं—



अ—खाद्य पदार्थ (Food crops)

ब—अखाद्य पदार्थ (व्यवसायिक फसलें Non-food crops)

खाद्य पदार्थों में निम्न फसलें अधिकतर उगाई जाती हैं—धान, गेहूं, जौ आदि अनाज ; मटर, मूँग आदि अन्य अनाज व दालें ; गन्ना ; शाक-भाजियां व फल ; मिर्च व मसाले ; खाये जाने वाला तिलहन ; चाय ; कहवा ; अन्य फसलें।

इसी प्रकार अखाद्य पदार्थों में जूट ; कपास ; तम्बाकू ; चारे ; अन्य रेशे वाली (Other fibre crops), तिलहन, तथा अन्य फसलें उगाई जाती हैं अगले पृष्ठ में हम १९४२-४३ में भारतवर्ष में खाद्य पदार्थ और अ-खाद्य पदार्थों के कुल क्षेत्रफल का विभाजन दिखलाते हैं।

खाद्य पदार्थ ('००० एकड़ों में)

प्रान्त अथवा देशी राज्य	अनाज	अन्य अनाज व दालें	गन्ना	फल व तरकारी	मिर्च व अन्य मसाले	खाये जाने वाले तिलहन	चाय	कहवा	अन्य खाद्य पदार्थ	कुल योग
अजमेर मेरवाड़ा	२७८	१३६	अ	१	४	१९	...	—	३१	४६९
आसाम	५,४९६	२७४	४५	६३५	...	३६७	४४१	—	—	७२५८
बंगाल	२४,२१६	१,६६९	३१४	८४१	१७६	९३६	२०२	—	२९८	२८,६५२
बिहार	१३,३१५	५,९३७	४०३	३२४	२८	५९२	४	—	५१०	२१,४२३
बम्बई	१६,३१५	४,२१५	१०६	२०५	२१३	१,५०१	अ	३७	३	२२,५५८
मध्य प्रांत और बरार	८८	६,८३०	२६	१५८	११०	७४५	...	—	३	२१,६६६
कुर्ग	१६१	४	अ	९	१०	...	अ	३९	—	१५०
देलही	१७९५	६९	२	६	१	९	...	—	अ	२४८
मद्रास	२,१२२	८,४१२	१२२	७४१	६४१	४८,२२	७८	३९	१२६	३२,९६८
सरहद्दी सूबा	२,१२२	२८४	७७	३८	७	९८	...	—	१२	२,६३८
उड़ीसा	५,१२१	९६६	३४	१०६	२१	१७९	...	—	७७	६,५०४
पंजाब	१९,१०३	६,३८६	४४७	३२४	७३	१,००३	९	—	१३०	२७,४७५
संयुक्त प्रान्त	२६,८६०	१२,९७२	१,८६५	६१८	१२९	५७०	६	—	२८१	४३,३०१
सिन्ध	४,००५	६४४	७	५६	३	४२९	...	....	२	५,१४६

खाद्य पदार्थ ('००० एकड़ों में)

प्रान्त अथवा देशी राज्य	अनाज	अन्य अनाज व दालें	गन्ना	फल व तरकारी	मिर्च व अन्य मसाले	खाये जाने वाले तिलहन	चाय	कहवा	अन्य खाद्य पदार्थ	कुल योग
बड़ौदा	१,७००	५३६	४	२१	२३	१५८	...	...	...	२,४४२
बम्बई की रियासतें	१,८०९	४९६	३९	१४	३०	३००	...	...	११	२,६९९
मध्य भारत की ,,	३,१६६	९११	१३	२८	२३	१८७	...	...	१६९	४,४९७
ग्वालियर	३,०६२	१,२०७	१३	२२	१४	२२६	...	...	९३	४,६३७
हैदराबाद	१४,२२०	३,७५६	४२	४४७	४३६	२,४५२	...	...	...	२१,३५३
काश्मीर	२,०४०	२५१	९	३४	४	९२	—	...	४०	२,४७२
मद्रास की रियासतें	१,२६८	२३५	१६	५०४	१६३	७४०	७८	९	१७०	३,१८३
मैसूर	१,५४७	३,८६६	४२	७१	१५४	४२९	४	९९	२५	६,२३७
पंजाब की रियासतें	४,३८०	२,४३५	७०	४०	१६	१६७	...	...	५९	०,१६७
राजपूताना की ,,	५,६४१	२,२०६	८	२३	१०९	४०५	...	...	११२	८,५०४
युक्तप्रान्त की ,,	६७७	२५३	४३	१०	६	६	—	...	१	८९६
कुल योग	१८,६५९	६४,९५०	३,७४७	५,२७८	२,३९४	१६,४३२	८२२	२०८	२,१५३	२८४,६४३

अखाद्य पदार्थ ('००० एकड़ों में)

प्रान्त अथवा देशी राज्य	तिलहन	चारे	तम्बाकू	जूट	कपास	अन्य रेशेदार फसलें	अन्य अखाद्य पदार्थ	कुल योग	सम्पूर्ण योग
अजमेर मेरवाड़ा	अ	९	अ	—	१२	अ	२१	४२	५११
आसाम	२६	१५	१९	३२१	३२	—	१५८	५७१	७,८२९
बंगाल	१८८	१४१	३२२	१,५३३	८१	५२	८६	२,४०३	३१,०५५
बिहार	९१४	४६	१४६	२३३	४१	११	२५२	१,६११	२३,०३४
बम्बई	५७५	२,५५४	१२८	—	२,८३४	८०	३३	६,२०४	२८,७३२
मध्यप्रांत और बरार	१,३३४	४६९	७	—	३,२७३	१३३	२	५,२०८	२६,७७४
कुर्ग	...	...	अ	—	—	—	१	१	१५१
देहली	अ	३६	१	—	१	१	अ	३९	२८७
मद्रास	३१६	३७३	२२५	—	२,२१०	२४९	३३९	३,७७२	३६,७४०
सरहदी सूबा	अ	१३९	१२	...	१६	१	२	१७०	२८०८
उड़ीसा	१११	१६	३०	२३	९	२२	११३	३२४	६८२७
पंजाब	३९	४,९८८	७१	...	२,३२०	४७	४८	७,५१३	३४,९८८
सिन्ध	७	२२०	३	...	६९९	अ	७३	१,००२	६,१४८
संयुक्त प्रान्त	१९२	१;६०४	७८	६	३१२	८३	५४	२,५२९	४५,८३०

अखाद्य पदार्थ ('००० एकड़ों में)

प्रान्त अथवा देशी राज्य	तिलहन	चारे	तम्बाकू	जूट	कपास	अन्य रेशेदार फसलें	अन्य अखाद्य पदार्थ	कुलयोग	सम्पूर्ण योग
बड़ौदा	७५	८३	३९	...	६८८	५	९	९१०	३,३५२
बम्बई की रियासतें	४५	२३	४५	...	१४५	अ	१३०	३८८	३,०८७
मध्यभारत की रियासतें	१२७	२७०	३	...	६७१	१९	२५	१,११५	५,६१२
ग्वालियर	१२१	२२	८	...	३५३	३९	३६	५७९	५,२१६
हैदराबाद	१,०३४	५७३	५४	...	३,११७	१०२	४	५,५८४	२६,९३७
काश्मीर	३९	४३	५	...	२४	७	२	१२०	२,५९२
मद्रास की रियासतें	१३	१२	अ	...	२६	२	२४०	२९२	३,४९४
मैसूर	१५३	९९	२६	...	९१	१७	१५०	५३६	६,७७२
पंजाब की रियासतें	१५०	९७७	१०	...	६०६	११	१७९	१,९३३	९'१६
राजपूताना „ „	१९७	३६९	११	...	१०४	४५	२९३	१,०१९	९:५९४
संयुक्त प्रान्त „ „	४	३२	२	...	५	७	अ	५०	१;०४६
कुल योग	६,३६०	१३,१२४	१,२७३	२,११६	१७,६७०	१,१२२	२,२५०	४३,९१५	३२८,६६४

नोट -- अ = ५०० एकड़ से कम

पीछे दिये हुए कोष्ठकों के देखने से हम निम्नलिखित निष्कर्षों पर पहुँचते हैं—

फसलों का कुल क्षेत्रफल—३२८,६६४,००० एकड़ हैं

जिसमें खाद्य और अखाद्य पदार्थों का क्षेत्रफल इस प्रकार है—

खाद्य पदार्थ—२८४,६४३,००० एकड़ तथा

अखाद्य पदार्थ—४३,९१५,००० एकड़

अब हम नीचे के कोष्टक में फसलों का अलग-अलग क्षेत्रफल देते हैं

(दस लाख एकड़ में)

फसल का नाम	१९१९-२०	१९३१-३२	१९४१-४२	१९४३-४४
धान	७२·१	७६·३	७७·३	८४·९
गेहूँ	२५·१	३४·७	३४·८	३४·८
ज्वार	३६·७	३७·४	३८·०	३९·४
बाजरा	१७·३	२१·४	२१·९	२४·२
मक्का	७·९	८·५	८·०	८·७
जौ	७·१	७·३	७·४	७·६
रागी	—	६·६	५·७	५·७
चना	१२·४	१६·९	१३·६	१५·३
मूँगफली	२·०	५·३	६·९	८·३
तुँआ, सरसों	५·१	६·२	६·२	५·८
तिल	४·७	४·३	४·१	४·३
गन्ना	२·७	२·९	३·५	४·१
चाय	·७	·८	·८	·८
कहवा	·२	·१	·१	·१
अन्य अनाज व दालें	४१·७	४७·८	४२·६	—
अन्य तिलहन	१·६	१·९	२·४	२·५
कपास	१८·८	२०·९	२१·६	—
तम्बाकू	१·०	१·२	१·२	१·१
चारा	१०·०	१२·२	१३·१	—
फल और तरकारियाँ	४·२	४·६	४·६	—

पिछल कोष्ठक के देखने से हमें विदित होता है कि हमारी फसलों में धान का स्थान मुख्य है, और फिर क्रमशः ज्वार, गेहूं, बाजरा, चना, मक्का, जौ इत्यादि हैं। इसे हम नीचे दिये हुए चित्र से व्यक्त करते हैं—

धान
८४.९

अन्य अनाज व दालें
४२.६

ज्वार ३९४

गेहूँ
३४.८

बाजरा
२४.२

कपास
२१.६

चना
१५.३

मक्का
८.७

धान या चावल भारत की अधिकांश जनसंख्या का मुख्य भोजन है। अतः इसका क्षेत्रफल अन्य फसलों की अपेक्षा सबसे अधिक है। संसार के अन्य देशों से तुलना करने पर भी क्षेत्रफल के विचार से इसका सर्वप्रथम स्थान है और कुल उपज में इसका स्थान दूसरा है। निम्न तालिका से हम इस कथन को स्पष्ट करते हैं:—

चावल

संसार की धान की उपज व क्षेत्रफल में विभिन्न देशों का प्रतिशत् भाग

१९३५-३६ वा १९३६-३७

देश	क्षेत्रफल	उत्पति
भारतवर्ष	३९	३१
चीन	२३	३५
हिन्द-चीन	७	४
जापान	४	८
ब्रह्म-प्रदेश	६	५
जावा	५	४
श्याम	३	३
फिलिपाइन	३	२
अन्य	१०	९

धान की उपज के लिये काफी पानी, सूर्य की गर्मी और चिकनी मिट्टी की आवश्यकता होती है। अतः यह उन्हीं भागों में सफलतापूर्वक उगाया जाता है जहाँ वार्षिक वर्षा ५०" से ऊपर होती है। और औसत तापमान ७५० फारेनहाइट रहता है। आरम्भ में पौधे का ३।४ भाग पानी में डूबा रहना चाहिये तथा प्रति माह ५" से ऊँची वर्षा की आवश्यकता होती है। इसलिये धान की खेती भारतवर्ष के उन भागों में होती है जहाँ प्रबल वर्षा की बाढ़ से कुछ दिनों तक भूमि जल में डूबी रहती है अथवा जहाँ नहरों द्वारा सिचाई का प्रबन्ध रहता है। अतएव धान बंगाल, आसाम, बिहार, उड़ीसा, पूर्वी संयुक्तप्रान्त और मलाबार तट में खूब उगाया जाता है। गोदावरी, कृष्णा आदि नदियों के डेल्टा में सिचाई की सुगमता होने से मद्रास प्रान्त में भी धान बहुतायत से होता है। अन्य प्रान्त में धान की

उपज कम होती है। विभाजन के वाद भारतवर्ष में इसका क्षेत्रफल लगभग ५ करोड़ एकड़ ही रह गया है जिसमें लगभग १२ प्रतिशत् देशी राज्यों के अन्तर्गत है और शेष ८८ प्रतिशत् भारत के अन्य प्रान्तों में सम्मिलित है। सन् १९४३-४४ में धान के क्षेत्रफल और उत्पत्ति का जो अनुमान लगाया गया था उसे निम्न कोष्ठक और अगले पृष्ठ के वृत्तों में दिखाया गया हैं--

प्रान्त तथा राज्य	क्षेत्रफल १००० एकड़में	चावल की उपज १००० टन में	प्रति एकड़ उपज पौंड में
बंगाल	२६,०२६	११३७५	९७९
मद्रास	९,५२३	४,६३६	१०,९०
बिहार	९,६१०	३,२१७	७५०
मध्यप्रान्त व बरार	७,६६४	२,३६९	६९२
संयुक्तप्रान्त (रामपुर सहित)	७,०८८	?	?
आसाम	५,०४०	१,९५३	८६८
उड़ीसा	४,९१८	१,३१७	६००
वम्बई तथा उसके अन्तर्गत रियासतें	२,६१२	१,०८८	९३३
अन्य	१,०८६	?	!

जलवायु, सिंचाई और वर्षा के अनुसार धान की अनेक जातियां हैं। बंगाल में धान की उपज दो मुख्य फसलों में होती है; किन्तु मद्रास में वर्ष भर में तीन फसलें उगायी जाती हैं और अन्य प्रान्तों में यह केवल खरीफ की फसल में ही बोया जाता है।

संयुक्त प्रदेश में धान लगभग २० प्रतिशत् भूमि में बोया जाता है और क्षेत्रफल और उपज दोनों ही के विचार से इस प्रान्त में इसका दूसरा स्थान है। यहाँ से धान बहुत कम मात्रा में बाहर भेजा जाता है किन्तु आयात में इसका स्थान सर्वप्रथम है। मानचित्र के देखने पर हमें विदित होगा कि हमारे इस प्रान्त में धान

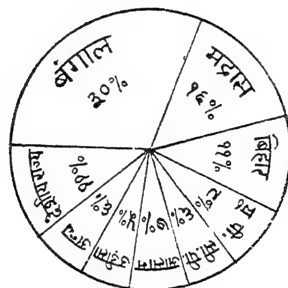
वृत्तों द्वारा क्षेत्रफल और उत्पत्ति का विवरण

१९३७-३८ से १९३९-४० तक का औसत

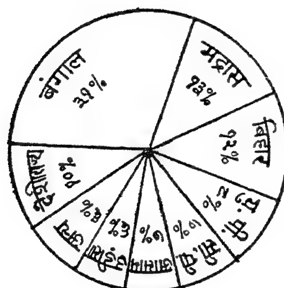
क्षेत्रफल

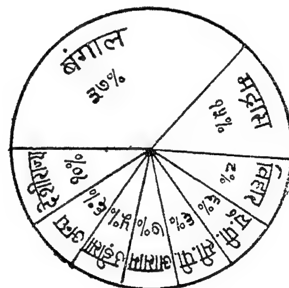
उत्पत्ति





१९४३-४४





की उपज कुछ भागों में ही केन्द्रित है किन्तु फिर भी भारत का सर्वोत्तम चावल यहाँ उत्पन्न किया जाता है जिसका विवरण हम निम्न तालिका में देते हैं—

क्षेत्र	चावल की जाति
देहरादून	देहरा बांसमती
सहारनपुर	बांसमती सेला
तराई (नैनीताल, बरेली, पीलीभीत, खेरी)	उत्तम जाति का हंसराज व
इटावा	बांसमनी
नवगढ़ और शौहरतगढ़ क्षेत्र (बस्ती गोरखपुर)	उत्तम जाति का हंसराज
	बांसमनी और तुलसीरानी
अत्तारा क्षेत्र (बांदा जिला)	काला सुखदास

गेहूं—प्रथम महायुद्ध तक भारतवर्ष में संसार की कुल उपज का दस प्रतिशत भाग पैदा होता था, किन्तु विगत द्वितीय महायुद्ध तक यह भाग घटते-घटते केवल ८ प्रतिशत ही रह गया; विभाजन के बाद तो इसमें अब और भी कमी आ जावेगी। निम्न तालिका में हम भारत की गेहूं की उपज की तुलना संसार के अन्य देशों से करते हैं —

(’००,००० पौण्ड में)

प्रदेश	१९२५-२६	१९३८-३९
भारतवर्ष	८७, २१३	१०७, ६७२
संयुक्तराष्ट्र अमेरिका	२२३, ८५५	२२३, ३२७
कैनाडा	११७, २२०	९५, २५९
आर्जेण्टाइन	६६, १४२	८७, ००९
आस्ट्रेलिया	३५, ०१५	४१, ०९६
रूस	२१५, २४०	?
फ्राँस	७९, २९५	९४, ०००
जर्मनी	३२५, ९५	५५, ५८०
रूमानिया	२०, ७२१	४८, २१४

गेहूँ को शुष्क और ठंडी जलवायु की आवश्यकता होती है। अधिक पानी में यह सड़ जाता है तथा नाना प्रकार के रोग (Rusts of wheats) लग जाते हैं। अतः यह उन प्रान्तों में बहुतायत से उत्पन्न होता है जहाँ तापमान ५०० और ७०० के बीच रहता है और वर्षा ४०" के नीचे होती है। भारतवर्ष में गेहूँ की उपज सबसे अधिक पञ्जाब तथा संयुक्त प्रान्त में होती है। मध्यप्रान्त और बम्बई की काली मिट्टी या रेगर भूमि में भी यह प्रायः बिना सिंचाई किये ही सफलतापूर्वक उगाया जाता है। निम्न कोष्ठक में हम भारतवर्ष के विभिन्न प्रान्तों में गेहूँ के क्षेत्रफल और उत्पत्ति का विवरण देते हैं—

प्रान्त	क्षेत्रफल १० लाख एकड़ में	संपूर्ण भारतवर्ष के क्षेत्रफल का प्रतिशत	उपज १० लाख टन में	संपूर्ण भारत की गेहूँ की उपज का प्रतिशत
पञ्जाब	९ ४	२८-८	२-९	३१-२
संयुक्त प्रान्त	७-५	२२-८	२-६	२८-०
मध्य प्रान्त	३-४	१०-२	-७	७-५
बम्बई	१-६	४-८	-३	३-२
अन्य प्रान्त	२-४	७-२	-८	८-६
देशी राज्य	८-३	२५-०	१-८	१९-४

संसार में क्षेत्रफल और सम्पूर्ण उपज के विचार से भारतवर्ष का स्थान संयुक्त राष्ट्र अमेरिका और रूस के बाद आता है, किन्तु प्रति एकड़ पैदावार अन्य देशों की अपेक्षा बहुत कम है जो निम्न अङ्कों के देखने से भलीभाँति मालूम हो जाती है—

देश	प्रति एकड़ उपज पौण्ड में
कनाडा	९७२
संयुक्तराष्ट्र अमेरिका	८४६
आर्जेण्टाइन	७८०
आस्ट्रेलिया	७१४
रूस	६७६
भारतवर्ष	६३६

ज्वार-बाजरा—ये दोनों ही फसलें धान के बाद मुख्य मानी जाती हैं। अधिक वर्षा वाले प्रान्तों और नदियों के डेल्टाओं में जहां सिंचाई के साधन हैं वहाँ धान मुख्य भोजन माना जाता है। इसी प्रकार कम वर्षा वाले प्रान्तों में ज्वार बाजरा ही अधिकतर निर्धन मनुष्यों का मुख्य भोजन है। जैसा कि हम ऊपर बता आये हैं ज्वार का क्षेत्रफल धान के बाद दूसरा है और ऊपज भी इसकी गेहूं के लगभग बराबर ही है। ज्वार की उपज अधिकतर दक्षिण के पठार, मध्यप्रान्त, बरार, पञ्जाब, मद्रास, बम्बई और संयुक्तप्रान्त में होती है। मनुष्यों के भोजन के अतिरिक्त इसका महत्व जानवरों के चारे के लिये भी अधिक है। इसका मुलायम तना और पत्तियां काटकर जानवरों को खिलाई जाती हैं। इसी प्रकार बाजरा २०" से कम वर्षा वाले क्षेत्रों में उत्पन्न होता है। भारतवर्ष में इसका क्षेत्रफल ज्वार का लगभग आधा है। बाजरे की सबसे अधिक उपज बम्बई प्रान्त में होती है। इसके बाद क्रमशः पञ्जाब, मद्रास और संयुक्त प्रान्त इसकी उपज के लिये प्रसिद्ध हैं। १९१०-१५ से १९३० तक इसकी पैदावार में २५ प्रतिशत की वृद्धि हुई थी, किन्तु अब वह स्थिर हो चुकी है।

बाजरे की अपेक्षा ज्वार को अधिक वर्षा, सिंचाई और खाद की आवश्यकता होती है और खेती के उन्नतिशील उपायों से इसकी उपज में लगभग २० प्रतिशत तक वृद्धि की जा सकती है।

चना तथा अन्य दालें

इन फसलों की दो मुख्य उपयोगिताओं के कारण इनकी खेती भारतवर्ष में काफी क्षेत्रफल में की जाती है। पहिला मुख्य लाभ तो खेती सम्बन्धी है और दूसरा आहार-सम्बन्धी। इन फसलों के उगाने से भूमि की उर्वराशक्ति बढ़ती है। दालों के पौधों की जड़ों में एक प्रकार की गांठें होती हैं जिनमें विशेष प्रकार के क्षुद्र कीटाणु (Bacteria) रहते हैं। ये कीटाणु आकाश की नोषजन को भूमि में इकट्ठा करते हैं और इस प्रकार उसको उपजाऊ बनाते हैं। भारतीय जनसंख्या अधिकांशतः निरामिष भोजी है अतः उनके भोजन में प्रोटीन (protein) की कमी को दूर करने में इन फसलों से काफी सहायता मिलती है।

चना तथा अधिकांश दालों को पानी की विशेष आवश्यकता नहीं होती, अतः वे सरलतापूर्वक उगा ली जाती हैं। हालाँ कि भारत के अनेक भागों में इनका क्षेत्र-

फल बढ़ रहा है तथापि प्रति एकड़ उपज घटती मालूम होती है। सन् १९२९-३० में चने का क्षेत्रफल १३० लाख एकड़ था जो १९३८-३९ में बढ़ कर १७० लाख एकड़ हो गया; किन्तु उपज ३० लाख टन से घट कर २५ लाख टन ही रह गई। भारत में इन फसलों की उपज अधिकतर संयुक्तप्रान्त, पंजाब, मध्यप्रान्त व बिहार में होती है।

जौ--यह एक रबी की फसल है और इसकी खेती भी गेहूं के साथ-साथ ही होती है। यह प्रायः उत्तरी भारत में ही सबसे अधिक उत्पन्न होता है। सम्पूर्ण भारत के लगभग ७६ लाख एकड़ में से संयुक्तप्रान्त में लगभग ४० लाख एकड़ भूमि में जौ उत्पन्न किया जाता है और बिहार, उड़ीसा और पंजाब में क्रमशः १५ लाख एकड़, ६.३ लाख तथा १.३ लाख एकड़ भूमि में इसकी उत्पत्ति होती है। भारतीय जौ की माँग विदेशों में बहुत कम है। अगर उन्नतिशील नस्ल के जौ की खेती की जाय तो सम्भवतः इसका उपयोग मदिरा आदि बनाने में हो सके। भारतवर्ष में इसकी खेती मनुष्य तथा जानवरों दोनों के खिलाने के लिये की जाती है।

मक्का—यह खरीफ की एक मुख्य फसल है और वर्षा के आरम्भ होते ही बो दी जाती है। इसे ज्वार बाजरे की अपेक्षा अधिक गर्मी और वर्षा के पानी की आवश्यकता होती है। जहाँ कम होती है वहां नहरों से सिंचाई की जरूरत होती है। पौधे को आरम्भ में तेज वर्षा और ८५० फारेनहीट गरमी चाहिये। दो या ढाई महिने में ही इसकी फसल पककर तैयार हो जाती है। जौ की भाँति यह भी निर्धन मनुष्यों का भोजन है और इसकी उपज भी सबसे अधिक संयुक्तप्रान्त (२४ लाख एकड़), बिहार (१५ लाख एकड़) और पंजाब (१३ लाख एकड़) में होती है।

गन्ना—किसान गन्ना की फसल पर सबसे अधिक ध्यान देता है और इसका उत्तम पैदावार पर ही अपने परिश्रम को सफल समझता है। इसकी उपज के लिये उपजाऊ चिकनी भूमि जिसमें काफी मात्रा में खाद (जीव-अंश का अधिक भाग) हो, तथा ८०० फारेनहीट से ऊँचा वार्षिक तापमान और लगभग ६०" से ऊपर वर्षा की आवश्यकता होती है। जितनी ही अधिक आर्द्र जलवायु तथा तेज सूर्य का प्रकाश और काफी पानी मिलेगा उतनी ही अच्छी गन्ने की पैदावार होती है।

जिन स्थानों में वर्षा कम होती है वहाँ नहरों से सिंचाई की आवश्यकता होती है। गन्ने की सबसे अधिक उपज संयुक्तप्रान्त और बिहार में होती है और फिर क्रमशः पंजाब, बंगाल, मद्रास, बम्बई आदि का स्थान आता है। भारत के गन्ने के सम्पूर्ण क्षेत्रफल का लगभग ९० प्रतिशत् भाग उत्तरी भारत में स्थित है और अकेले संयुक्त-प्रान्त में ही ५० प्रतिशत् से अधिक भाग में खेती होती है। निम्न कोष्ठक में हम भिन्न-भिन्न प्रान्तों में गन्ने का क्षेत्रफल और प्रति एकड़ उपज देते हैं—

प्रान्त	गन्ने का क्षेत्रफल (१०० एकड़ में)	प्रति एकड़ उपज (मनों में)
संयुक्त प्रान्त	२५१९	३६१
बिहार	५४३	३०४
पञ्जाब	४५८	२०६
बम्बई	१२२	५७७
बङ्गाल	३३१	४५१
मद्रास	१४४	६४८
अन्य प्रान्त	३५८	२०० से ६०० मन तक
भारतवर्ष	३९८१	३६७

भारतवर्ष में प्रति एकड़ उपज तो अन्य देशों की अपेक्षा बहुत कम है, किन्तु फिर भी संसार की सम्पूर्ण उपज का लगभग २६ प्रतिशत् भाग यहाँ पैदा होता है। अन्तर्राष्ट्रीय चीनी की उत्पत्ति के आँकड़ों को देखने पर हमें यह भली भाँति विदित हो जावेगा कि हमारे देश में चीनी अन्य देशों के मुकाबिले सबसे अधिक होती है। सन् १९३६-३७ में संसार की कुल चीनी की उपज लगभग १७४ लाख टन थी, जिसमें भारतवर्ष की उत्पत्ति का भाग ३२ लाख टन था; किन्तु भारत के व्यापार के आँकड़ों से तुलना करने पर ये अंक गलत मालूम होते हैं, वास्तव में उस वर्ष चीनी की कुल उत्पत्ति भारत में ४५.३ लाख टन हुई थी।

निम्न कोष्ठक में हम अन्तर्राष्ट्रीय चीनी विभाग से प्रकाशित चीनी की उत्पत्ति के अंक उद्धृत करते हैं—

संसार में चीनी की उत्पत्ति का विवरण
(दस लाख टनों में)

देश	१९२६-२७ से १९३०-३१ तक का औसत	१९३६-३७ से १९३८-३९ तक का औसत
भारतवर्ष	१.८२	३.२०
जावा	२.७२	१.४२
फिलीपाइन्स	०.७६	१.०१
क्यूबा	४.०२	२.५७
हवाई द्वीप	०.७५	०.८०
फारमूसा	०.६७	१.१३
ब्राजील	०.९७	१.०५
अन्य	४.१७	६.०३
कुलयोग	१५.८८	१७.३९

अबतक हमारा देश चीनी के लिये दूसरे देशों पर आश्रित रहता था किन्तु सन् १९३२ में चीनी के आयात पर प्रतिबन्ध लग जाने पर यहाँ इसकी उत्पत्ति को विशेष प्रोत्साहन मिला है। यहाँ यह बता देना भी असंगत न होगा कि अभी हमारी चीनी की उत्पत्ति सन्तोषजनक नहीं है। भारतवर्ष में प्रति व्यक्ति को ७.२ पौंड चीनी और २०.१ पौंड गुड़ आदि खाने को मिलता है जब कि इङ्गलैन्ड, अमेरिका और आस्ट्रेलिया में प्रति व्यक्ति को लगभग १०० पौंड चीनी खाने को मिलती हैं। अतः भविष्य में हमें अपने चीनी और गुड़ के व्यवसाय को बढ़ाने के काफी अवसर हैं। इस देश की प्रति एकड़ उपज भी अन्य देशों की अपेक्षा कम है। संयुक्तप्रान्त में जहाँ कि गन्ने का क्षेत्रफल सबसे अधिक है मद्रास के मुकाबिले प्रति एकड़ पैदावार लगभग आधी के बराबर है। अगर कोयम्बटूर जावा आदि उन्नतिशील जाति के गन्ने बोए जाँय तथा उत्तम खाद का प्रयोग किया जाय तो प्रति एकड़ उपज १०० टन तक हो सकती है।

फल व तरकारियाँ—भारतवर्ष में फल व तरकारियों का कुल क्षेत्रफल लगभग ४० लाख एकड़ है। इस प्रकार कुल जोती हुई भूमि के दो प्रतिशत भाग में हमारे यहां शाक-भाजी व फल की खेती होती है। अगर हम पिछले कई वर्षों के क्षेत्रफल को देख कर विचार करें तो हमें विदित होगा कि इसमें निरन्तर कमी होती जा रही है। क्षेत्रफल की इस कमी को हम निम्न तालिका से स्पष्ट करते हैं :—

भारतवर्ष में शाक-भाजी व फल का क्षेत्रफल

(१० लाख एकड़ में)

१९१४–१५	से	१९१८–१९	तक	—	५·७०
१९१९–२०	से	१९२३–२४	तक	—	५·४२
१९२४–२५	से	१९२८–२९	तक	—	५·०६
१९२९–३०	से	१९३३–३४	तक	—	५·००
१९३४–३५					४·८२
१९४३–४४					५·१०

फल और तरकारियाँ हमारे भोजन के आवश्यक अंग हैं। इनसे विटामिन और खनिज अंशों की पूर्ति होती है; किन्तु खेद है कि इस देश में इनके क्षेत्रफल में निरन्तर कमी ही होती जा रही है। अगर ध्यानपूर्वक देखा जाय तो हमारे देश में अन्य देशों की अपेक्षा बहुत कम तरकारियों का सेवन होता है, केवल कभी-कभी सरसों और चना का साग गाँवों में बनाया जाता है। नीचे हम इस विषय के तुलनात्मक अंक देते हैं :—

देश	प्रति व्यक्ति का वार्षिक शाक-भाजी का उपभोग	
भारतवर्ष	८·६	पौंड
संयुक्त प्रान्त	२८	पौंड
संयुक्तराष्ट्र अमेरिका	१४०	,,
जर्मनी	४४०	,,
इङ्गलैण्ड	२०५	,,

आलू जो अब यहां की मुख्य तरकारियों में से एक है। संसार के आलू के कुल क्षेत्रफल के १ प्रतिशत भाग में यहां इसकी खेती होती है। भारतवर्ष में आलू

४५०,००० एकड़ में बोया जाता है। उपज भी यहां अन्य देशों की अपेक्षा बहुत कम होती है। इस देश में कुल उपज का ०'८ भाग ही उत्पन्न होता है। प्रति एकड़ उपज भी अगर ध्यानपूर्वक देखी जाय तो बहुत कम बैठती है। भारतवर्ष में प्रति एकड़ १०९ मन है जब कि बेलजियम में २२४ मन, इङ्गलैण्ड में १८३ मन, जर्मनी में १७८ मन और आस्ट्रिया में १४५ मन है। फल और तरकारियों की सबसे अधिक उपज संयुक्त प्रान्त, पंजाब, बिहार और बम्बई में होती है।

ध्यानपूर्वक विचारने पर हमें फल-फूल के बगीचों और शाक-भाजी की खेती से अनेक लाभ हैं। रहन सहन के स्तर वाले अध्याय में हम बता चुके हैं कि भारतवासी औसतन फल, दूध, शाक-भाजी केवल नाम मात्र को ही सेवन करता है। अगर इन पदार्थों की खेती को बढ़ाया जावे और इनके सेवन की मात्रा बढ़ सके तो हमारी कार्यक्षमता और निपुणता में वृद्धि अवश्य हो सकती है। फल फूलों के बगीचों से हमें दो अन्य लाभ और भी हैं। इनसे हमें जलाने को लकड़ी उपलब्ध होगी तथा भूमि का कटना (Soil erosion) भी सकेगा। इनके अतिरिक्त फल-फूल के बगीचे लगाने से किसान की वार्षिक आय में भी वृद्धि होती है। बड़ौदा राज्य में तीन बीघा खेत से कुल ७५०) की आय हुई, अगर इसमें से २२०) व्यय के निकाल दें तो भी ५३०) लाभ बच रहता है। इस प्रकार किसान अपने खेती से बचे हुए समय का सदुपयोग करके अपनी आय में काफी अंशों तक वृद्धि कर सकता है।

अखाद्य-पदार्थ (व्यवसायिक फसलें)

कपास—कपास का पौधा गर्म शुष्क जलवायु में अच्छी तरह पनपता है। भारतवर्ष में जहां ४०" से कम वर्षा होती है, उन सभी प्रान्तों में कपास उगाई जाती है। इसकी जड़ें भूमि में गहराई तक चली जाती हैं, अतः जहां अधिक वर्षा होती है अथवा जहां जल भूमि की सतह के निकट होता है वहां इसका पौधा मुरझा जाता है। भारतवर्ष में लगभग २'१६ करोड़ एकड़ भूमि में कपास की खेती होती है। दक्षिण की गहरी काली मिट्टी (रेगर भूमि) में कपास सबसे अधिक उत्पन्न होती है। इस उपजाऊ मिट्टी में नमी बहुत दिनों तक बनी

रहती है। गंगा की कछारी भूमि में उत्पन्न होने वाली कपास का पौधा अधिक बड़ा होता है और यहां अमरीकन कपास की खेती होती है, जिसका रेशा देशी कपास से बड़ा तथा मजबूत होता है।

ससार में संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के बाद कपास के क्षेत्रफल में भारतवर्ष का दूसरा स्थान है, किन्तु उपज वहां से लगभग ढाई गुनी कम होती है। दूसरे शब्दों में इसे हम यों कह सकते हैं कि भारतवर्ष में प्रति एकड़ कपास की उपज बहुत कम होती है। इस देश में रुई की प्रति एकड़ पैदावार लगभग ७५ से १०० पौंड है और अमरीका में २०० पौंड तथा मिश्र में लगभग ३०० से ४०० पौंड तक है। निम्न कोष्ठक में हम भारतवर्ष की कपास की उपज तथा उसका क्षेत्रफल दिखाते हैं :—

भारतवर्ष में कपास का वार्षिक क्षेत्रफल तथा उपज

(दस लाख में)

सन्	क्षेत्रफल	उपज (रुई की)
१८९९-१९००	१३·८०	२·३०
१९०९-१०	२१ १३	३ ९६
१९१९-२०	२१ ५७	४·३६
१९२९-३०	२५ ८१	५·४७
१९३९-४०	२४·२०	५ ३५
१९४४-४५	१७·३६	...

पिछले सात-आठ वर्षों से कपास के क्षेत्रफल में निरन्तर कमी होती जा रही है। विभाजन के बाद कपास की अच्छी उपज के दोनों प्रान्त पंजाब व सिन्ध भी भारतवर्ष से अलग हो गये हैं। अतः अब क्षेत्रफल और उपज दोनों में ही भारी कमी हो गई है।

तिलहन—तिल और मूंगफली को छोड़कर अन्य मुख्य तिलहन रबी की फसल के साथ बो दिये जाते हैं। इनमें मुख्य सरसों, दुँआ अलसी हैं। अब तक भारतवर्ष में इनका क्षेत्रफ़ल लगभग दो करोड़ एकड़ था जिसमें ६० लाख एकड़

में मूँगफली, ३७ लाख एकड़ में सरसों और दुँआ २३ ३ लाख एकड़ में अलसी २८ ५ लाख एकड़ में तिल बोया जाता था। तिल का भारत की आर्थिक उन्नति में एक विशिष्ट स्थान है। पहिले इनका महत्त्व विदेशों में भेजने के लिये था।

किन्तु अब इसका उपयोग भारतवर्ष में ही अधिकतर किया जाता है। अब भूमि को उपजाऊ बनाने के लिये इनकी खली खाद के रूप में व्यवहृत होती है तथा मनुष्यों के आहार में इनके तेल प्रयुक्त होते हैं और जानवरों के दूध को बढ़ाने के लिये इनकी खली खिलाई जाती है। इस प्रकार अब भारतवर्ष से तिलहन का निर्यात क्रमशः बन्द होता जा रहा है। तिलहन के निर्यात के अङ्क हम निम्न तालिका में देते हैं—

भारतवर्ष से तिलहन का वार्षिक निर्यात
(हजार टनों में औसत)

तिलहन का नाम	१९०९-१० से १९१३-१४ तक	१९१४-१५ से १९१८-१९ तक	१९१९-२० से १९२३-२४ तक
अलसी	३७९	२७१	२५१
मूँगफली	२१२	११९	१९५
दुँआ	२७३	९१	२०६
तिल	११९	३३	२८
रेंडी	११४	८९	४८
गोला	३१	१६	७
कपास	२४०	६९	१५५
सरसों	४	३	२
महुआ	२९	३	८
पोस्ता (खसखस)	३३	५	६
कुल योग	१४३४	६९९	९०६

जूट—अब तक जूट की खेती भारतवर्ष में ही सबसे अधिक होती थी; किन्तु विभाजन के बाद इसके क्षेत्रफल का लगभग ८२ प्रतिशत भाग पाकिस्तान में चला

गया है। भारतवर्ष में अब केवल १८ प्रतिशत भूमि में इसकी खेती होती है, किन्तु इसके कारखाने अब भी भारतवर्ष में ही सबसे अधिक हैं। जूट की उपज के लिये उष्णार्द जलवायु और उपजाऊ कछारी मिट्टी चाहिये। जूट की केवल एक फसल ही भूमि को कमजोर बना देती है। पश्चिमी बङ्गाल का जो भाग अब भारतवर्ष में सम्मिलित है, वहाँ नदियों में बाढ़ बहुत कम आती है, अतः इसके क्षेत्रफल को बढ़ाने में काफी बाधा होगी।

चाय—चाय के पौधे को अधिक वर्षा और तेज धूप की आवश्यकता होती है। जड़ों में पानी एकत्रित न होना चाहिये अन्यथा पौधा सड़ जाता है। जिन भागों में १००" से ऊँची वर्षा होती है और वार्षिक तापमान भी लगभग १००° रहता है वहां इसका पौधा खूब पनपता है। इसलिये चाय प्रायः आसाम की पहाड़ियों पर तथा दार्जिलिंग, देहरादून और नीलगिरि के ढालों पर बहुतायत से उगाई जाती है। भारतवर्ष में लगभग ५,००० चाय के विस्तृत क्षेत्र हैं, जिनका प्रबन्ध अंग्रेजों के हाथ में है। चाय की खेती लगभग ८ से १० लाख एकड़ भूमि में होती है और वार्षिक उपज का अनुमान भी लगभग ७ करोड़ पौंड है।

कहवा—यह पौधा भी पहाड़ी ढालों पर उगता है, किन्तु प्रबल वर्षा का वेग सहन नहीं कर सकता है। अतः इसकी खेती प्रायः सुरक्षित ढालों पर होती है। भारतवर्ष में इसकी खेती अधिकतर मैसूर, ट्रावनकोर, कुर्ग और मद्रास प्रान्त के कुछ भागों में होती है। हमारे देश में इसकी वार्षिक उपज लगभग १८,००० टन है, जिसमें से लगभग १०,००० टन तो यहीं पर खर्च हो जाती है और शेष विदेशों को भेज दी जाती है।

तम्बाकू—तम्बाकू के पौधे को उपजाऊ भूमि, काफी गर्मी (८०°-१००° तक वार्षिक तापमान) और पानी की आवश्यकता होती है। जिन प्रान्तों में ६०" से ऊपर वर्षा होती है वहां पानी के निकास (Drainage) का तथा जहाँ ४०" से कम वर्षा होती हो वहां सिंचाई का समुचित प्रबन्ध होना आवश्यक है। भारतवर्ष में इसकी खेती अधिकतर बंगाल, मद्रास, बम्बई, पंजाब और संयुक्तप्रान्त में होती है। अब तक इसकी खेती लगभग १ करोड़ एकड़ भूमि में होती थी; किन्तु विभाजन के बाद इसका क्षेत्रफल घट कर करीब ७५ लाख एकड़ रह गया है। उपज के विचार से भारत का स्थान अब तक सर्वप्रथम रहा है और फिर

संयुक्तराष्ट्र अमेरिका का स्थान आता था। भारतवर्ष में अब सिगार व सिगरेट बनाने के अनेक कारखाने खुल गये हैं, जो अधिकतर बंगाल, मद्रास और बम्बई में हैं।

नील—भारतवर्ष में इसकी खेती प्राचीन काल से होती आई है। यह एक छोटा पौधा होता है, जिसकी पत्तियों को पानी में गला कर नीला रंग तैयार किया जाता था ; किन्तु सन् १८९७ ई० से जब से जर्मनी में बनावटी नीला रंग तैयार होने लगा तब से इस देश में इसकी खेती निरन्तर कम होती जा रही है। अब तो इसकी उपज लुप्तप्राय सी हो चली है। अब यह बम्बई, मद्रास, बिहार और संयुक्त-प्रान्त में थोड़ी मात्रा में उत्पन्न किया जाता है।

अफीम--यह पोस्ते के पौधे का सूखा हुआ रस है किसान इसे प्रायः धनियाँ, सौंफ और अजवाइन के साथ रबी की फसल में बोते हैं। होली के निकट इसमें सफेद फूल आते हैं। फूल आने के बाद और दाना पकने के पहिले इसका रस इकट्ठा कर लिया जाता है और इस रस को सुखा कर दफ्तर में जमा कर दिया जाता है। जब से चीन तथा भारतवर्ष में अफीम खाना बन्द हुआ है तब से यहाँ इसकी खेती भी घटती जा रही है। अब भी इसकी खेती संयुक्त प्रान्त, बिहार तथा मालवा की रियासतों (इन्दौर, बड़ौदा, आदि तथा उदयपुर) में होती है।

सिंकोना—सिंकोना की छाल कूट कर कुनैन बनाई जाती है। इसकी उपज पहाड़ों के ऊँचे ढालों पर जहां वर्षा काफी होती है, की जाती है। भारतवर्ष में यह अधिकतर नीलगिरि, ट्रावनकोर, मैसूर और दार्जिलिंग में पैदा होता है।

रबड़—रबड़ के पेड़ के रस को गर्म कर और सुखा कर रबड़ तैयार होती है। यह पेड़ उष्णार्द्र जलवायु में भली-भांति उगता है। भारतवर्ष में इसकी खेती बंगाल, मलाबार आदि में होती है।

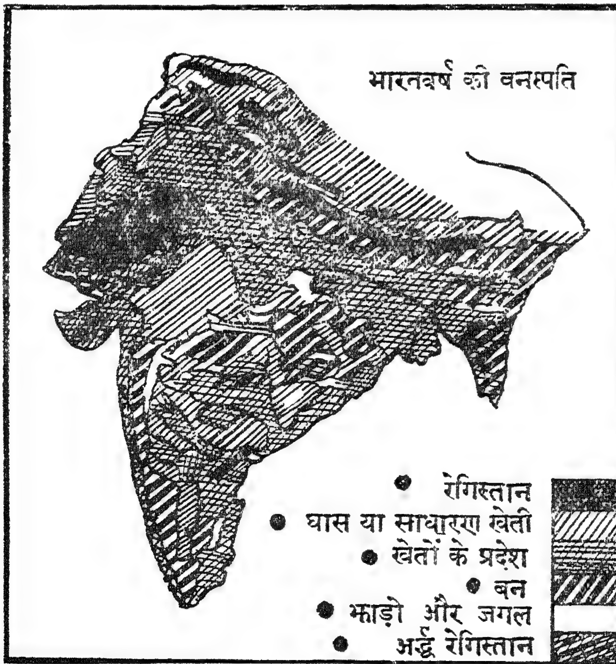
पच्चीसवां अध्याय

भारतवर्ष के जंगल व पशु

किसी देश की प्राकृतिक वनस्पति तथा जंगल वहां की जलवायु, वर्षा और भूमि पर निर्भर करते हैं। जिन भागों में तापक्रम ऊँचा रहता है तथा अधिक

जंगल

जलवृष्टि होती है वहां सदाबहार वाले जंगल पाये जाते हैं और ज्यों-ज्यों इनमें कमी होती जाती है उसी अनुपात में जंगल भी कम होते जाते हैं और वृक्षों के स्थान पर हमें छोटी व कटीली झाड़ियां



मिलती हैं। पिछले अध्यायों में हम भारतवर्ष की जलवायु और वर्षा का वर्णन कर चुके हैं और इस सम्बन्ध में बता चुके हैं कि इस देश का लगभग आधा भाग उष्ण-कटिबन्ध में स्थित है और शेष आधा भाग शीतोष्ण कटिबन्ध में है। कुछ भाग समुद्रतल के निकट हैं और मैदान हैं, किन्तु अनेक भाग समुद्रतल से

सहस्रों फुट ऊँचे हैं। न तो सब स्थानों पर भूमि ही समतल है और न उसकी बनावट ही एक-सी है। कहीं वर्षा अत्यधिक होती है तो कहीं उसका सर्वथा अभाव बना रहता है। इसी प्रकार कुछ भागों में वायु शुष्क तथा गर्म रहती है तो कहीं उष्णार्द्र बनी रहती है। इन कारणों से हमें भारतवर्ष में भिन्न-भिन्न प्रकार की वनस्पति और जंगल मिलते हैं जो क्रमशः निम्न प्रकार के हैं :—

(१) **सदाबहार वाले जंगल**—जिन प्रान्तों में १००″ से ऊपर वर्षा होती है और जहां वार्षिक तापक्रम भी लगभग ८०° फारेन हाइट से १००° फारेन हाइट तक रहता है वहीं सदाबहार वाले जंगल मिलते हैं। इन बनों में बड़े ऊँचे और मजबूत वृक्ष होते हैं। इनके अतिरिक्त यहां नाना प्रकार की छोटी-छोटी वनस्पति तथा बेलें आदि भी उग आती हैं जिनके कारण ये बहुत ही दुर्गम बन जाते हैं। ऐसे वन हमें प्रायः आसाम, हिमालय के निचले ढाल, पश्चिमी तथा पूर्वी घाट पर मिलते हैं।

(२) **पतझड़ वाले बन**—जहां १००″ से कम तथा ४०″ से ऊपर वर्षा होती है, वहां पतझड़ वाले बन मिलते हैं। इन भागों में ऊँचे और मजबूत वृक्षों के योग्य तो काफ़ी जल-वृष्टि हो जाती है, किन्तु वर्षा के अभाव में छोटी वनस्पति नहीं उग पाती है। अतः ये अधिक दुर्गम नहीं होते हैं। सागौन और साल के वृक्ष बहुतायत से इन जंगलों में उपजते हैं। ऐसे बन हमें भारतवर्ष के दक्षिण में और मध्य हिमालय में मिलते हैं।

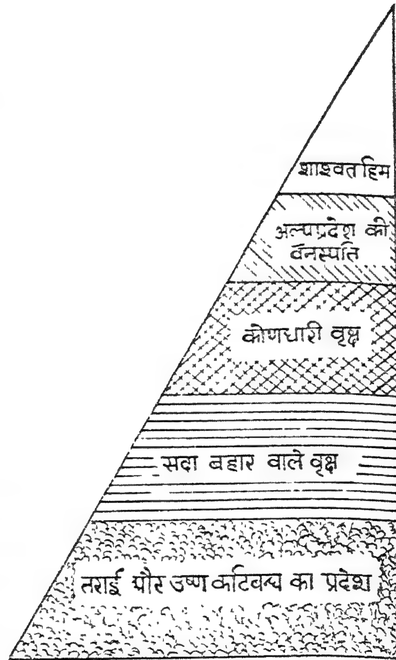
(३) **कँटीले जंगल**—जिन स्थानों में ४०″ से भी कम जल-वृष्टि होती है, वहां वर्षा की कमी के कारण पेड़ भली-भांति नहीं उग पाते। वर्षा के अभाव में वृक्ष लहलहाते दृष्टिगोचर नहीं होते, वरन् पानी को सिंचित बनाये रखने के लिये उनकी पत्तियां और छाल मोटी होती हैं, उनमें कांटे उग आते हैं तथा कद के नाटे होते हैं। इन जंगलों में उपयोगी वृक्षों की नितान्त कमी रहती है। ऐसे जंगल हमें मध्यभारत, पंजाब और काठियावाड़ में बहुतायत से मिलते हैं।

(४) **पर्वतीय वनस्पति**—पर्वतों की ऊँचाई के अनुसार भी भिन्न-भिन्न प्रकार के जंगल और वनस्पति मिलती है। समुद्रतल से लगभग पांच हजार फुट की ऊँचाई तक तो उष्ण प्रदेश की वनस्पति मिलती है और बाद में शीतोष्ण प्रदेश के बन मिलते हैं जिनमें देवदारु के वृक्ष मुख्यतः पाये जाते हैं।

(५) **रेगिस्तानी पौधे**—पश्चिमी राजपूताना, दक्षिण पश्चिमी पञ्जाब जहाँ १०" से भी कम वर्षा होती है वहाँ प्रायः काँटेदार झाड़ियां ही मिलती हैं।

(६) **गोरन के बन**—तटवर्तीय भाग जो सदा समुद्र के नमकीन जल में निमग्न रहते हैं, वहाँ भी बन उग आते हैं। ऐसे बनों की लकड़ी छोटी-छोटी नावों और जहाजों के बनाने के काम में लाई जाती है। इसके अतिरिक्त इसकी छाल का भी प्रयोग कभी-कभी चमड़ा कमाने के काम में होता है। सुन्दर-वन के जंगल इसके उदाहरण हैं।

जंगलों से लाभ—जंगलों का किसी देश की आर्थिक अवस्था पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है—



(१) ये वर्षा के जल को शीघ्र ही बह जाने से रोकते हैं। जिन प्रान्तों में अधिक जलवृष्टि होती है और जहाँ किसी प्रकार की वनस्पति अथवा जंगल नहीं होते तो तेज़ वर्षा की बाढ़ के साथ अच्छी और उपजाऊ मिट्टी भी बह जाती है। बनों के वृक्ष वर्षा के प्रबल वेग को कम कर देते हैं, तथा उनकी मजबूत जड़ें ढीली मिट्टी को जकड़े रखती हैं।

(२) बन के वृक्षों के कारण वर्षा का पानी सदा छन-छन कर और धीरे-धीरे भूमि पर गिरता है जिससे वर्षा ऋतु समाप्त होने पर भी जल मिलता रहता है।

(३) वृक्षों की पत्तियाँ सदैव हरी-भरी बनी रहती हैं। इन हरी पत्तियों के कारण ग्रीष्म ऋतु के उच्च तापक्रम में भी कमी हो जाती है और ठण्डक बनी रहती है। अतः ये हवा को तरी देकर उसकी गर्मी को कम करते हैं।

(४) इनसे पशुओं के खाने को चारा प्राप्त होता है। नाना प्रकार की वनस्पति जंगलों में उत्पन्न होती है, जिससे घास के विस्तृत चरागाहों में सरलता-पूर्वक जानवर चराये जा सकते हैं।

(५) जंगलों से हमें जलाने को ईंधन और मकान बनाने को बहुमूल्य लकड़ी प्राप्त होती है।

(६) नाना प्रकार की औषधियां, जड़ी-बूटी और व्यवसाय सम्बन्धी पदार्थ जैसे, गोंद, लाख, चपड़ा, छाल, रबड़ आदि प्राप्त होते हैं जिनसे अनेक कारखाने चलते हैं।

श्री नानावती और अञ्जारियां ने जंगलों से होनेवाली आय का विवरण निम्न कोष्ठक के द्वारा बताया है—

भारतीय जंगलों से होने वाले आय-व्यय और उपज का विवरण

वर्ष	लकड़ी और ईंधन की उपज ('००० घन-फुट में)	अन्य उपज ('००० रुपयों में)	जंगलों द्वारा कुल आय ('००० रुपयों में)	जंगलों पर किया गया व्यय ('००० रुपयों में	शेष लाभ ('००० रुपयों में)
१९३७-३८	२७९,६३३	११,८७३	२८,५५६	२०,३७६	८,१८०
१९३८-३९	२८४,९१९	१२,२२३	२७,९७४	२०,९०४	७,०८०
१९३९-४०	२९३,६५६	१२,०८९	२८,४५०	२०,५८३	७,८६७

ऊपर दी हुई कोष्ठक के अङ्कों को देखने से हमें यह विदित हो जाता है कि जंगलों के काटने पर देश को बहुत भारी आर्थिक क्षति होती है। आज हमारे गाँवों के मकान कच्चे हैं और बिना दरवाजों के खुले पड़े हैं।

जंगलों के कट जाने पर हानि

ईंधन के लिये लकड़ी न मिलने पर बहुमूल्य खाद के $\frac{३}{४}$ से अधिक भाग को उपले बनाकर जला दिया जाता है; जङ्गल न होने से उपजाऊ भूमि व्यर्थ ही बह जाती है, अतः प्रति वर्ष हमारी उत्पत्ति भी घटती जा रही है। पशुओं के चारे की कमी बढ़ती ही जा रही है। बढ़ती हुई जनसंख्या के भोजन का प्रबन्ध करने में जानवरों के चारे का विशेष ध्यान नहीं दिया जाता है। जंगलों की घास से शीशा, बांस से कागज़, लकड़ी से दियासलाई तथा खेल-कूद के व्यव-

सायों को बड़ी सहायता मिलती है, अतः जंगलों के कट जाने पर इन सबको बहुत धक्का पहुँचता है।

जलवायु के विचार से इनका उपयोग और भी अधिक है। पञ्जाब में शिवालिक की पहाड़ियों के जंगल कट जाने पर वहाँ की जलवायु शुष्क और प्रायः मरुस्थली हो गई है। जंगलों के कट जाने पर भूमि का जल अधिक मात्रा में वाष्प बन कर उड़ने लगता है और वर्षा की मात्रा भी घट जाती है। पहाड़ों पर से जंगल काट देने पर नदियां वेगवती हो जाती हैं और पानी के प्रबल प्रवाह में उपजाऊ मिट्टी का कट कर बहना आरम्भ हो जाता है। इसके अतिरिक्त जंगलों और वनस्पति की अनुपस्थिति में हवा के वेग से भी काफी हानि होती है। राजपूताना और मारवाड़ में अनेक स्थानों से पिछले सौ वर्षों में प्रति वर्गमील से लगभग ६ करोड़ मन बालू बहाकर उपजाऊ मैदान में बिछा दी गई है। इस प्रकार उपजाऊ मैदान को भी शुष्क और अनुपजाऊ बनने की आशङ्का बनी रहती है। नदियों की पेटी में बालू एकत्रित हो जाती है और बाढ़ आने पर बहुत-सी उपजाऊ भूमि व्यर्थ ही बह कर नष्ट हो जाती है।

जलवायु और खेती पर प्रभाव

अतः भारत जैसे कृषि प्रधान देश में जंगलों की बहुत उपयोगिता है। मनुष्य अपनी आवश्यकतानुसार इस प्रकार बड़े-बड़े जंगलों को काट कर साफ करते गये और उनमें खेती करने लगे। उदाहरण के लिये गंगा के मैदानमें अब कोई भी प्राकृतिक वनस्पति शेष नहीं बची, पंजाब का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, इसी प्रकार अन्य प्रान्तों में भी जंगलों को काट कर खेती योग्य भूमि बना ली गई। जंगलों के काटने से जो आर्थिक हानि हुई उसका अनुभव क्रमशः होने लगा। अतः छोटे-छोटे पेड़ों को काटने तथा उनमें आग लगने से बचाने के लिये जङ्गल विभाग की स्थापना हुई। सर्वप्रथम बम्बई में सन् १८४७ में इसके बाद सन् १८५६ में मद्रास प्रान्त तथा फिर सारे भारतवर्ष के लिये सन् १८६२ में जङ्गलों को सुरक्षित रखने के लिये एक प्रबन्धक की नियुक्ति हुई। इस विभाग ने अनेक उपयोगी वृक्षों के लगाने की योजना तैयार की और इन जङ्गलों को सुरक्षित रखने तथा उनके प्रबन्ध का भार अपने ऊपर लिया। मद्रास प्रान्त में कपूर के पेड़ लगाने में बहुत अंश तक सफलता मिली है और अन्य कई प्रान्तों में भी

जंगलों का प्रबन्ध

महोगनी तथा इलायची के पेड़ लगाने का प्रयत्न हो रहा है। संयुक्त-प्रान्त में माधुरी कुण्ड के फार्म पर रबर के पेड़ लगाने की योजना तैयार हुई थी।

जंगलों का विभाजन—भारत के कुल जंगलों को तीन श्रेणियों में विभाजित किया गया है :—

(अ) स्थायी (Reserved)
(ब) रक्षित (Protected)
(स) अ-विभाजित (Unclassed)

स्थायी जंगल तो पूर्णतया सरकार के नियन्त्रण में रहते हैं। जलवायु, भूमि की उर्वरा शक्ति को स्थिर रखने, कटाव को रोकने (Soil Erosion) तथा लकड़ी की उपज को बढ़ाने के लिये इनका काटना वर्जित है। इनके नियम अति कठोर होते हैं। रक्षित जंगलों की लकड़ी को कुछ समय तक काटने से रोकने, जानवरों के चराने तथा उनकी उपज को बाहर ले जाने आदि के प्रतिबन्ध का भार स्थानीय सरकार पर रहता है। ऐसे जंगलों को बाद में स्थायी जंगलों की श्रेणी में भी परिवर्तित किया जा सकता है। अ-विभाजित जंगलों में जनता के लिये कोई विशेष प्रतिबन्ध नहीं होते।

भारतवर्ष में जंगलों का क्षेत्रफल

जंगल-विभाग की ३१ मार्च सन् १९४१ की विज्ञाप्ति के अनुसार भारतवर्ष में एक लाख वर्गमील से कुछ कम (९८, ७२१ वर्गमील में) क्षत्रफल में जंगल है, जो इस देश के कुल क्षेत्रफल के लगभग ११·५ प्रतिशत भाग में हैं। निम्न कोष्ठक में हम भारतवर्ष के विभन्न प्रान्तों में जंगलों का क्षेत्रफल दिखलाते हैं :—

प्रान्त	प्रतिशत भाग में जंगल	प्रान्त	प्रतिशत भाग में जंगल
आसाम	३८·०	बंगाल	९·३
कुर्ग	३२·७	उड़ीसा	६·५
मध्यप्रान्त व बरार	१९·७	संयुक्त प्रान्त	५·८
बम्बई	१४·१	पंजाब	५·४
मद्रास	१२·३	बिहार	२·८

विशेषज्ञों का मत है कि प्रत्येक प्रान्त में कुल क्षेत्रफल के लगभग २० प्रतिशत भाग में जंगल अवश्य होने चाहिये। इस दृष्टि से केवल आसाम, कुर्ग व मध्य प्रान्त को छोड़ कर शेष सभी प्रान्तों में जंगलों की नितान्त कमी है। अपने देश की आर्थिक उन्नति के लिये हमें जंगलों के लगाने तथा उनके क्षेत्रफल को बढ़ाने में प्रयत्नशील होना आवश्यक है।

भारत के पशु-पक्षी

हमारे पूर्वजों ने इस बात का अनुभव करके कि केवल जानवरों के शिकार या आखेट से ही हम अपनी भूख शान्त नहीं कर सकते, खेती करना और पशुओं का पालन आरम्भ किया। इनका उपयोग खेती में तथा माल को एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाने आदि कार्यों में होता है। यद्यपि आजकल बिजली और वाष्प से चलने वाले यन्त्रों का युग है, फिर भी भारतवर्ष की खेती इन चौपायों पर ही आश्रित है, हालांकि रेल तथा मोटर बोझा ढोने के काम में आती हैं, किन्तु पहाड़ी भागों में आज भी घोड़ा और खच्चरों का उपयोग होता है। इसके अतिरिक्त इनसे हमें कई प्रकार की भोजन सामग्री तथा कच्चा माल प्राप्त होता है।

भारत में पशुओं का महत्व

भारत के भूतपूर्व वाइसराय लॉर्ड लिनलिथगो ने भारतवर्ष में चौपायों का महत्त्व बहुत ही सुन्दर शब्दों में अङ्कित किया है —

"भारतवर्ष में गाय आदि सी उपासना और उन पर श्रद्धा का एक मूल कारण है। वे इस देश की आर्थिक उन्नति के मेरुदण्ड हैं। इस विस्तृत देश में, जहाँ की अधिकांश जनसंख्या केवल खेती पर ही आश्रित रहती है, प्रत्येक बीज के उगने और फूलने में इनका हाथ है। पशुओं से ही यहाँ की खेती होती है। नगरों को माल इन्हीं पर ढोया जाता है। इन्हीं पशुओं पर······इनके दूध पर···इस देश के बच्चे और बूढ़ों का स्वास्थ्य···तथा बुद्धिमत्ता अवलम्बित है।"

संख्या के विचार से भारतवर्ष में दुनिया में सबसे अधिक चौपाये हैं। यहाँ दुनिया की ३/४ संख्या गाय-बैलों की है तथा भैंसें भी २/३ संख्या में पाई जाती हैं। सन् १९४० की गणना के अनुसार इस देश में पशुओं की संख्या निम्न प्रकार थी :—

चौपायों की संख्या

गाय-बैल	—	१६ करोड़ २० लाख
भैंस	—	४ करोड़ ५० लाख
भेड़	—	४ करोड़ ७० लाख
गधे व खच्चर	—	४ करोड़ ८० लाख
ऊँट	—	१० लाख
सूअर	—	२ करोड़ ७० लाख
मुर्गी, बतख आदि	—	६ करोड़ ६० लाख

इस प्रकार प्रति १०० एकड़ भूमि पर २२.१ बैल, १७ गायें, ७ भैंसें, ९ सूअर तथा २९.३ मुर्गी और बतख आदि आश्रित हैं। दूसरे देशों से तुलना करने पर यह संख्या अत्यन्त घनी है। यूरोप में १००० हैक्टर भूमि पर केवल १९७ गाय-बैल, २३० भेड़ें और १४७ सूअर आश्रित रहते हैं।

इस घनी आबादी से भारत के रहन-सहन का स्तर किसी प्रकार भी ऊँचा नहीं हुआ, किन्तु इसके विपरीत घट भले ही गया है। हमारे देशमें अधिकांश दुबले-पतले निर्बल तथा बेकार जानवरों की ही संख्या अधिक है। शाही-कृषि-कमीशन के अनुसार "......जितने ही दूषित वातावरण और गलत उपायों से यहां पशुओं की नसल सुधारने का प्रयत्न किया जाता है, उतनी ही अधिक संख्या में अयोग्य जानवरों की वृद्धि होती है। गायें क्रमशः बांझ होती चली जारही हैं और बछड़ों का कद भी छोटा व नाटा ही रह जाता है। किसान अपने इस असन्तोष में अच्छे बैलों की नसल पैदा करने की चेष्टा करते हैं, किन्तु परिणाम विपरीत ही होता है तथा संख्या में क्रमशः वृद्धि ही होती चली जाती है।"

भारतवर्ष में गाय की नसल इतनी बिगड़ चुकी है कि वह अब दूध देने योग्य नहीं रही। भैंस ने उसका स्थान ले लिया है। किसान गायों को तो केवल बछड़े उत्पन्न करने के लिये पालता है। औसत रूप में ९ एकड़ भूमि के लिये एक जोड़ी बैल रखे जाते हैं। अगर हम मिश्र से तुलना करें तो हमें विदित होगा कि भारतवर्ष में यह संख्या बहुत ही अधिक है। वहां प्रति सौ एकड़ भूमि के पीछे केवल तीन बैल रखे जाते हैं। पंजाब में सन् १९३८–३९ में आर्थिक खोज-समिति (Board of Economic Enquiry) ने अनुमान लगाया था कि हमारे बैल वर्ष में ११८ दिन से अधिक काम नहीं करते। हर प्रकार

के काम करने पर भी महीने में १७ दिन वे बेकार बने रहते हैं। पशुओं की जो अवस्था पंजाब में मिलती है, अन्य प्रान्तो में भी लगभग उसी प्रकार है, अथवा कहीं-कहीं तो इससे भी बुरी है। इस विचार से हमारे यहां बैलों की कुल संख्या में आधे से अधिक बिल्कुल ही व्यर्थ हैं, किन्तु अगर ध्यानपूर्वक देखा जाय तो हमें विदित होगा कि हमारे इन छोटे-छोटे और विभाजित प्रत्येक खेत के लिये एक जोड़ी बैल की आवश्यकता है। भारतवर्ष में ऐसे छोटे-छोटे खेतों में खेती करने वालों की संख्या की बहुतायत है और बिना बैलों के वे खेती नहीं कर सकते हैं। अतः पशुओं की संख्या को घटाने से पूर्व हमें अपनी भूमि को मिलाकर चकबन्द करना आवश्यक है। संक्षेप में हम यों कह सकते हैं कि प्रत्येक छोटे छोटे खेतों के लिये एक जोड़ी बैल आवश्यक है। इसमें से किसी एक में सुधार करने से पूर्व दूसरे का सुधार परमावश्यक है। एक दोष के निराकरण से पूर्व अन्य को दूर करना आवश्यक हो जाता है।

पशुओं से होने वाली वार्षिक आय—भारतवर्ष में गाय-बैलों के खेती के महत्त्व के अतिरिक्त इनके पालन से मनुष्यों की वार्षिक आय में वृद्धि होती है।

सन् १९४० में गाय-बैलों द्वारा होने वाली आय का अनुमान इस प्रकार था—

(१) दूध और दूध से तैयार होने वाले पदार्थ का मूल्य	—तीन अरब रुपया
(२) खाल चमड़ा, हड्डी इत्यादि	—चालीस करोड़ ,,
(३) खेती में काम करने वाले बैलों का लगभग मूल्य	—चार अरब ,,
(४) इस पशुओं से प्राप्त खाद का लगभग मूल्य	—तीन अरब ,,
कुल योग—	लगभग ११ अरब रुपया

छब्बीसवां अध्याय

सिंचाई

अर्थशास्त्र के विद्वान भूमि शब्द में खास ज़मीन के अतिरिक्त सिंचाई, जलवायु, प्रकाश आदि को भी, जिनका कि प्रभाव वनस्पति (खेती) के ऊपर पड़ता है, सम्मिलित करते हैं। अतः अब हम यहां भारतवर्ष में खेती की उपज के लिए सिंचाई के साधनों का वर्णन करेंगे।

सिंचाई की आवश्यकता

अच्छी उपज के लिए उचित परिमाण में फसलों को पानी मिलना आवश्यक है। विशेषज्ञों का मत है कि अब तक के अनुभवों और खोजों के आधार पर, अच्छी उपज की सफलता में पानी तथा जलवायु का ५० प्रतिशत भाग रहता है और शेष ५० प्रतिशत भाग में निराई, गुड़ाई, जुताई, अच्छे हल, बीज आदि का। इसी प्रकार एक अर्थ-सचिव ने बजट पर बहस करते हुए एक बार कहा था कि- "भारतीय बजट की सफलता मानसून वर्षा पर निर्भर है, यह वर्षा के साथ एक प्रकार का सट्टा है।" यह बात सच भी है। इसी कारण हमारे भारतीय किसान अनन्त काल से "इन्द्रदेव" की उपासना करते आए हैं। वे प्रायः टकटकी बांधे आकाश की ओर देखते हैं और हाथ जोड़ते हैं। नीचे हम अर्थशास्त्र की दृष्टि से इस महत्त्व का विवेचन करेंगे। हमारे देश के रीति-रस्म, उत्सव, आचार-विचार सभी वैज्ञानिक सिद्धान्तों की कसौटी पर कसे जा सकते हैं।

(१) वर्षा की अनिश्चितता तथा अनियमितता—भारतीय वर्षा के विषय में हम अपने विगत अध्यायों में काफ़ी लिख चुके हैं। इस देश की वर्षा की अपनी कुछ निजी विशेषताएँ हैं। सबसे पहिली विशेषता जो हम देखते हैं वह यह है कि यहां वर्षा लगभग तीन-चार महीनों के बीच ही सीमित रहती है—अर्थात् १५ जून से १५ सितम्बर तक। समय की इस विशेषता के साथ इसका यह मुख्य लक्षण है कि कभी तो बहुत शीघ्र वर्षा आरम्भ हो जाती है और किसी वर्ष देर

में। किसी वर्ष वर्षा औसत से अधिक होती है और किसी वर्ष कम। वर्षा की यह घटी-बढ़ी ५० प्रतिशत से भी ऊपर तक बढ़ती देखी गई है। देश में कभी बाढ़ आती है तो कभी सूखा पड़ता है। एक तीसरी विशेषता और है। किसी भाग में वर्षा अधिक होती है और किसी भाग में बहुत ही कम। इन सब बातों का खेती पर बड़ा प्रभाव पड़ता है।

जिस वर्ष औसत से भी कम वर्षा होती है, उस वर्ष एक और आश्चर्यजनक बात देखने को मिलेगी। वर्षा जल्दी ही समाप्त हो जाती है। इसका खेती-बारी पर अत्यन्त ही घातक प्रभाव पड़ता है। खरीफ की फसलें प्रायः ऐसी होती हैं जिन्हें पानी की अधिक आवश्यकता होती है। अतः जिस वर्ष वर्षा जल्दी समाप्त हो जाती है उस वर्ष पानी की कमी के कारण उपज घट जाती है। दूसरे रबी की फसलों को बोने के लिए भूमि में नमी की कमी हो जाती है। जिन भागों में "दो फसली" खेती होती है वहां रबी की फसलों को बोने में बड़ी कठिनाई होती है। अतः उन फसलों के क्षेत्रफल में भी कमी आ जाती है तथा उपज भी कम होती है। जिस वर्ष वर्षा औसत से अधिक होती है, उस वर्ष भी परिणाम अच्छे नहीं होते। ऐसे वर्षों में प्रायः फसलों को बोने में देरी हो जाती है और बोई हुई फसलें नष्टप्राय हो जाती हैं। इन दुष्परिणामों को हम अगले पृष्ठ पर कोष्ठक द्वारा व्यक्त करते हैं।

इसका खेती बारी पर प्रभाव

वर्षा की घटी-वढ़ी का क्षेत्रफल पर प्रभाव

ज़िले और वर्ष	औसत वर्षा (इञ्चों में)	वर्षा की घटी-बढ़ी (इञ्चों में)	रबी की फसल का क्षेत्रफल (एकड़ में)
मुज़फ्फरनगर	२९'६९		
१९३६-३७		+ १२'४१	४३९,०००
१९३७-३८		+ १'३९	४५६,०००
१९३८-३९		— १२'०४	४०३,०००
१९३९-४०		— १२'८३	४२३,०००
१९४०-४१		— १४'२८	३८६,०००
मेरठ	२८'१०		
१९३६-३७		+ ६'८०	७०२,०००
१९३७-३८		— २'३८	७२४,०००
१९३८-३९		— १२'००	६३०,०००
१९३९-४०		— ८'४२	६१२,०००
१९४०-४१		— ६'१३	६९१,०००
बुलन्दशहर	२६'००		
१९३६-३७		+ १२'१५	५८५,०००
१९३७-३८		— ८'३४	६०७,०००
१९३८-३९		— ९'०९	५३५,०००
१९३९-४०		— ६'६५	६१९,०००
१९४०-४१		— ३'९३	५८३,०००

उपरोक्त कोष्ठक के अंकों को यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो विदित होगा कि जिस वर्ष वर्षा बहुत अधिक घटी या बढ़ी नहीं उस वर्ष रबी फसल का क्षेत्र-फल सबसे अधिक था; किन्तु वर्षा की कमी या वृद्धि की असमानता ज्यों-ज्यों बढ़ती है त्यों-त्यों क्षेत्रफल में भी कमी होती जाती है। हमने यहां केवल

संयुक्त-प्रान्त के तीन जिलों से ही इस बात को सिद्ध करने की चेष्टा की है, किन्तु यह बात भारत के प्रत्येक कोने में सही उतरेगी। इसी प्रकार खरीफ की फसल पर भी हम वर्षा की इस असमानता का प्रभाव देख सकते हैं।

अतः हम देखते हैं कि वर्षा की इस विषमता का फसलों की उपज से बहुत ही गहरा सम्बन्ध रहता है। वर्षा के घटने अथवा बढ़ने पर उपज भी उसी के अनुसार घटती और बढ़ती है।

२—आर्द्रता और तापक्रम का फसलों पर प्रभाव—पौधों को भोजन उनकी जड़ों द्वारा प्राप्त होता है। पौधों का यह भोजन पानी में घुल कर जड़ों के छिद्रों में प्रवेश करता है। यह तो हम सभी जानते हैं कि गर्मी के प्रभाव से पानी सदा भाप बन कर उड़ा करता है। जब तापक्रम अधिक होता है तो इस प्रकार भाप बन कर पानी के उड़ने की मात्रा बढ़ जाती है। यदि आकाश में आर्द्रता अथवा भूमि में पानी की काफी मात्रा न हुई तो इसका प्रभाव भी अत्यन्त बुरा पड़ता है। पौधों को जड़ों द्वारा भोजन पहुँचाने में कठिनाई हो जाती है, तथा ऐसे अवसर पर पौधों की पत्तियों के छिद्र भी बन्द हो जाते हैं। अतः फसलों की उपज कम हो जाती है। ऐसी अवस्था में चतुर किसान सदा अपनी फसलों की सिंचाई कर दिया करते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि आर्द्रता की कमी होने तथा तापक्रम के बढ़ने को रोकने के लिये हमें कृत्रिम साधनों से सिंचाई की आवश्यकता होती है।

३—अकालों से सुरक्षित रखनेके लिए—भारतवर्ष के कुछ भाग तो ऐसे हैं जहां वर्षा बहुत ही कम होती है—अर्थात् १५ या उससे भी कम; जैसे पश्चिमी राजपूताना और थार-रेगिस्तान, दक्षिण-पश्चिमी पञ्जाब, तथा अनेक ऐसे भाग हैं जहाँ २५" या ३०" से कम होती है। पञ्जाब, संयुक्त-प्रान्त, मध्य भारत, मध्य-प्रान्त, हैदराबाद (दक्खिन) तथा मद्रास के कुछ ऐसे जिले हैं जहाँ वर्षा की कमी होने पर दुर्भिक्ष की आशङ्का रहती है। अतः प्राण-रक्षा के लिये इन भागों में सिंचाई की अत्यन्त आवश्यकता रहती है।

४—कुछ फसलों को पानी की अधिक आवश्यकता रहती है। धान, गन्ना आदि अनेक ऐसी फसलें भी भारत में उगाई जाती हैं, जिन्हें काफी परिमाण में पानी की आवश्यकता रहती है। वर्षा के जल से उनकी पानी की आवश्यकताएँ

पूर्ण नहीं हो पातीं। अतः अच्छी उपज के लिये सिंचाई के साधनों की आवश्यकता होती है।

५—दो-फसली खेती की आवश्यकता—भारतवर्ष में जन-संख्या की वृद्धि बड़ी तेज़ी से हो रही है। इस बढ़ती हुई आबादी के लिये अधिक भोजन की भी आवश्यकता है। अतः अब हमारे देश में अधिकांश किसान दोनों फसलें बोते हैं। किन्तु इस देश के अनेक प्रान्तों में सर्दियों में या तो बिलकुल ही वर्षा नहीं होती हैं, अथवा बहुत कम होती है। ऐसी अवस्था में सिंचाई के साधनों का होना अति आवश्यक है।

ये सब ऐसे कारण हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि इस देश में सिंचाई के साधनों का होना बड़ा जरूरी है। इनकी अनुपस्थिति में बेचारे किसानों को सिंचाई के एक अनिश्चित आधार वर्षा पर ही आश्रित रहना पड़ता है। अतः देश की आर्थिक उन्नति के लिये देश में सिंचाई के समुचित साधन जरूरी हैं।

सिंचाई के साधन

यदि हम भारतवर्ष के उत्तर से दक्षिण तक एक काल्पनिक रेखा खींचें जो इलाहाबाद से होकर गुज़रे तो हम इस देश को दो भागों में विभक्त कर देंगे। एक तो पूर्वी और दूसरा पश्चिमी। सिंचाई की अधिक आवश्यकता इस पश्चिमी भाग में ही होती है। इस पश्चिमी भाग में केवल कुछ भागों को छोड़कर (बम्बई और कर्नाटक) शेष में ३० इंच से कम वर्षा होती है। अनेक ऐसे भी भाग हैं जहाँ केवल ८″ या १०″ ही वर्षा होती है। २०″ से ३०″ वाले भागों में खेती की सफलता सिंचाई के कृत्रिम साधनों पर निर्भर है। इन भागों में जहाँ वर्ष भर बहने वाली नदियाँ हैं, वहाँ उनसे नहरें निकाल कर खेती की जाती है और अन्य स्थानों में कुएँ या तालाबों से सिंचाई होती है। जिन भागों में वर्षा ८″ या १०″ अथवा उससे भी कम वर्षा होती है वहाँ बिना सिंचाई के कृत्रिम साधनों के खेती होना सर्वथा असम्भव है। इन भागों में प्रायः बड़े-बड़े बाँध बना कर उनमें वर्षा का जल एकत्रित कर लिया जाता है, जिनसे नहरें निकाल कर खेती जाती है।

पूर्वी भाग में प्रायः ३०″ से ऊपर ही वर्षा होती है। इतनी वर्षा में साधारण फसलें आसानी से उगाई जा सकती हैं। किन्तु जिस वर्ष पानी कम बरसता है अथवा अधिक पानी चाहने वाली फसलों के लिये यहाँ भी सिंचाई की आवश्यकता होती है, जो प्रायः कुओं से अथवा छोटे-छोटे तालाबों से पूरी कर ली जाती है।

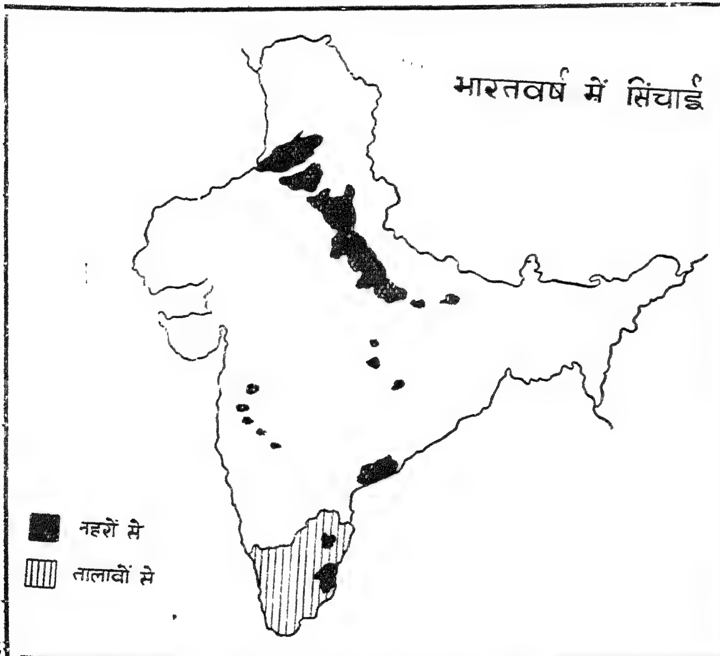
भारतवर्ष में कृत्रिम साधनों द्वारा सिंचाई इन्ही चार उपायों से होती है :—

(१) वर्ष भर बहने वाली नदियों की धारा को बांध से रोक कर उन स्थानों पर ले जाते हैं जहां सिंचाई की आवश्यकता होती है।

(२) बड़े-बड़े बांध बनाकर वर्षा का जल एकत्रित कर लिया जाता है और इस एकत्रित जल को नहरों द्वारा खेतों में पहुँचाया जाता है।

(३) नदियों की बाढ़ के जल को अनेकों स्थानों में रोक कर सिंचाई की जाती है। ऐसी नहरों को बाढ़ वाली नहर कहते हैं।

(४) पम्प अथवा मोट द्वारा कुओं से जल निकाल कर सिंचाई करना।



इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतवर्ष में सिंचाई के तीन मुख्य साधन हैं :—

(१) नहरें—(अ) वर्ष भर बहने वाली नदियों से निकाली हुई; (ब) बाढ़ के द्वारा निकाली हुई नहरें (२) बाँध और (३) कुएँ।

सन् १९४१-४२ तक भारतवर्ष में इन कृत्रिम साधनों से सींची हुई भूमि का क्षेत्रफल लगभग ५ करोड़ ६७ लाख ५० हजार एकड़ था। इसमें से ५० प्रतिशत के लगभग क्षेत्रफल में नहरों द्वारा सिंचाई होती है, २५ प्रतिशत में तालाबों से और १५ प्रतिशत भाग में कुँए आदि अन्य साधनों से। भिन्न-भिन्न प्रान्तों में सिंचाई का क्षेत्रफल अगले पृष्ठ के कोष्ठक में दिया जाता है :—

सन् १९४१-४२ में भिन्न-भिन्न प्रान्तों में सींची हुई भूमि का क्षेत्रफल
('००० एकड भूमि में)

प्रान्त	नहरों द्वारा		तालाबों से	कुँओं से	अन्य साधनों से	कुल क्षेत्रफल
	सरकारी	गैर-सरकारी				
अजमेर-मेरवाड़ा	—	—	२८	९१	...	१२०
आसाम	—	३०७	१	...	४०९	७१८
बंगाल	२४४	२३७	८८५	४४	४८३	१८९४
बिहार	६९७	८६७	१३८०	६३४	१७३१	५३१०
बम्बई	३०३	५५	११३	६७३	२१	११६७
मध्यप्रांत व बरार	—	१२५३	...	१८१	८४	१५१९
कुर्ग	३	—	१	...	...	४
दिल्ली	४३	...	२	३५	...	८१
मद्रास	३९८१	१३६	३०८०	१५११	२५८	८९६८
उड़ीसा	३४५	५५	२५७	...	७२३	१३८१
पंजाब	११६३८	४५२	४७	४६१८	१५७	१६९१४
संयुक्त प्रान्त	४१४१	२७	६	६२८३	१९३२	१२३९१

कुएँ

भारतवर्ष में कुँआ सिंचाईका मुख्य साधन है और भारतवर्ष के लगभग प्रत्येक कोने में कुँओं द्वारा सिचाई होती है। जहाँ कहीं भी अनुकूल परिस्थितियाँ अथवा साधन मिल जाते हैं—अर्थात् भूमि की सतह के निकट जल का होना तथा भूमि मुलायम होना—कुँए खोदकर सिंचाई की जाती है। सिंचाई की दृष्टिकोण से कुँओं की उपयोगिता उनके कम गहरे होने पर निर्भर है। पानी के सोते जितने कम गहराई पर निकलेंगे उतना ही अच्छा है, क्योंकि कुँए से पानी निकालने में उतना ही कम खर्च होगा। जिन प्रान्तों में वर्षा बहुत कम होती है और जहाँ पानी गहराई पर मिलता है वहाँ कुँओं के बनवाने में काफी धन खर्च करना पड़ता है।

कुँए वहीं सबसे अधिक होंगे जहाँ की भूमि रेतीली न हो। यही कारण है

कि पश्चिमी संयुक्त प्रान्त के कुछ ज़िलों में पञ्जाब तथा राजपूताना आदि भागों में कुँओं की संख्या बहुत कम है। किन्तु ज्यों-ज्यों पूर्व की ओर बढ़ते हैं कुँओं की संख्या में वृद्धि होती जाती है। चिकनी मिट्टी की भूमि में कुँओं के बनवाने में खर्च कम पड़ता है। उसमें ईंट, चूना आदि की आवश्यकता कम होती है। अत: साधारण किसान भी कम खर्च में अपनी सिंचाईके लिये एक दो कुँआ बनवा लेते हैं।



इस प्रकार हम देखते हैं कुँए द्वारा सिंचाई की आदर्श परिस्थितियाँ हमें संयुक्त प्रान्त, बिहार और पूर्वी पञ्जाव में ही अधिक मिलती हैं। यहाँ की चिकनी अथवा दुमट मिट्टी की वनी होने के कारण स्थान-स्थान पर खोद लिये गये हैं और पृथ्वी के वक्ष को चलनी के समान बना दिया है। अन्य प्रान्तों की पथरीली, कँकरीली

अथवा रेतीली या वहाँ वर्षा कम होने के कारण पानी की सतह नीची है जिसकी वजह से कुँओं के बनाने में काफी व्यय होता है। अतः इनकी संख्या कम है।

संयुक्त प्रान्त में मेरठ, आगरा व झाँसी डिवीज़न को छोड़कर अन्य भागों में कुओं की संख्या अधिक है। अर्थात् ज्यों-ज्यों पूर्व की ओर बढ़ते हैं इनकी संख्या में भी वृद्धि होती जाती है। इसके अतिरिक्त प्रति वर्ष कुँओं की संख्या में निरन्तर वृद्धि हो रही है जो निम्न कोष्ठक के देखने से विदित हो जावेगा :—

कुँओं की कुल संख्या

(कुल संख्या में '००० और जोड़ दो)

क्षेत्र (डिवीजन)	१९३६-३७	१९३९-४०	१९४६-४७
मेरठ	७८	८०	८३
आगरा	२१४	२२२	२१५
रुहेलखंड	२३६	१९२	१०३
इलाहाबाद	१४५	१८५	१६०
झांसी	५०	५१	५६
बनारस	१४०	१४१	१४२
गोरखपुर	२२८	२२०	२२१
लखनऊ	१५४	१८०	१४६
फैजाबाद	२०३	२०४	२०७

संयुक्त-प्रान्त में कुँओं की कुल संख्या अब १३,२९,४३० है और अब प्रान्तीय सरकार की ओर से सिंचाई के समुचित प्रबन्ध करने वाली योजना के अनुसार किसानों को कुँए बनाने में हर प्रकार से सहायता मिल रही है।

तालाब व बाँध

भारत के अनेक भागों में, तालाबों और बाँधों द्वारा सिंचाई होती है। सिंचाई के ये साधन दक्षिण तथा मालवा में सबसे अधिक मिलते हैं। इसका कारण यह है कि दक्षिण प्रायद्वीप में नदियाँ में वर्ष भर जल नहीं रहता और गर्मियों में वे शुष्कप्राय हो जाती हैं। अतः नहरें नहीं निकाली जा सकती हैं। नहरों द्वारा

सिंचाई की कमी का दूसरा कारण यह है कि यहाँ की भूमि पथरीली है। अतः नहरें आसानी से नहीं खोदी जा सकती हैं और जहाँ नहरें बनाई भी गयीं हैं वहां उनमें बहुत धन खर्च करना पड़ा है। इसी तरह कुँओं के बनवाने में भी बहुत खर्च पड़ता है। इसके विपरीत पठार होने के कारण वर्षा में यहाँ सहस्रों छोटे-छोटे नदी-नाले पानी से भर कर इधर-उधर बहते हैं। उनके जल को ही बाँध बना कर रोक लिया जाता है। पथरीली भूमि जल को नहीं सोखती। अतः वे वर्ष भर जल से भरे रहते हैं। गाँव की पञ्चायत के निरीक्षण में इन बँधों से सिंचाई होती है।

पूर्वी संयुक्त-प्रान्त, बिहार, बङ्गाल आदि प्रान्तों में अनेक झीलों, पोखरों और तालावों में वर्षा का जल एकत्रित हो जाना है। अतः यह जल उन्हें रबी की फसल की सिंचाई करने में विशेष सहायता पहुँचाता है। दो आदमी मिलकर चमड़े या बाँस की टोकरी से इस जल को उलीचते हैं। संयुक्त-प्रान्त में तालाबों की संख्या ३२० है।

नहरें

इस देश में सिंचाई के लिये नहरें अत्यावश्यक हैं। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है कि वर्षा की अनिश्चितता और अनियमतता के कारण इस देश में प्रायः दुर्भिक्ष पड़ते रहते हैं। दुर्भिक्ष के प्रभाव को रोकने के लिये प्राचीन काल से ही नहरें बनती आई हैं। ब्रिटिश सरकार से पूर्व भी यहाँ के हिन्दू और मुगल राजाओं ने नहरें बनवाई थीं। ज्यों-ज्यों जनसंख्या में वृद्धि होती गई और भोजन के लिए अधिक अनाज उगाने की आवश्यकता हुई त्यों-त्यों सिंचाई के इस साधन के बनाने में भी प्रगति आई। फलतः मुगल राजाओं के समय अकबर, शाहजहाँ, शेरशाह ने अनेक नहरें खुदवाईं। इसके बाद सन् १८६० से निरन्तर नहरें खुल रही हैं। आज भारतवर्ष में ७५,००० मील में नहरों का जाल बिछा है। संसार के अन्य किसी भाग में इतने विस्तृत क्षेत्र में नहरें नहीं हैं और न इतनी मजबूत ही कहीं मिलेंगी।

जैसा कि हम ऊपर बता आये हैं भारतवर्ष में नहरें दो प्रकार की हैं—(१) जो नदियों के बाढ़ के जल से बहती हैं, और (२) जो वर्ष भर बहने वाली नदियों के जल को रोक कर निकाली जाती हैं।

बाढ़ के जल से बहने वाली नहरें प्रायः पञ्जाब, सिन्ध, दिल्ली तथा कुछ पश्चिमी संयुक्त-प्रान्त में भी मिलती हैं। जब वर्षा ऋतु में नदियों में पानी की सतह बढ़ जाती है अथवा बाढ़ आ जाती है उस समय ही नहरों को जल मिल सकता है, अन्यथा नहीं। इनका उद्देश्य ही केवल बाढ़ को रोकना है। लेकिन साथ ही साथ सिंचाई करके इस पानी का उपयोग भी कर लिया जाता है।

दूसरी श्रेणी की नहरों में वर्ष भर जल रहता है और वे सिंचाई के ही उद्देश्य से बनाई गई हैं। नदी में पानी की सतह बढ़े अथवा नहीं इन्हें वर्ष भर पानी अवश्य मिलता रहेगा। ऐसी नहरें प्रायः उन्हीं स्थानों पर बनाई गई हैं जहाँ की नदियाँ वर्ष भर जल से भरी रहती हैं। जहाँ ऐसी नदियाँ नही हैं वहाँ बड़-बड़े जलाशयों में पानी इकट्ठा कर लिया जाता है जिससे नहरों द्वारा सिंचाई होती है। वर्ष भर बहने वाली नदियों से निकलने वाली नहरें अब भारत में संयुक्त-प्रान्त में ही अधिक मिलती हैं। देश के विभाजन के बाद पञ्जाब में नहरों द्वारा सींची हुई भूमि का क्षेत्रफल बहुत घट गया है—अधिकांश भाग पाकिस्तान में चला गया है।

संयुक्त-प्रान्त और पञ्जाब में नहरें अधिक होने के तीन मुख्य कारण हैं :—

(१) इन प्रान्तों की नदियाँ—गंगा, सिन्धु और उनकी सहायक नदियाँ—हिमालय पर्वत से निकलती हैं जो वर्ष भर हिमाच्छादित रहता है। अतः इन नहरों के लिये नदियों में वर्ष भर जल मिलता रहता है।

(२) इन प्रान्तों में नदियों का जाल सा बिछा हुआ है। इस कारण अधिक नहरें बना कर विस्तृत क्षेत्रफल में सिंचाई की जा सकती है। संयुक्त-प्रान्त और पजाब के अतिरिक्त अन्य किसी प्रान्त में भी वर्ष भर बहने वाली नदियों की न तो इतनी अधिक संख्या ही है और न इतना विस्तृत जाल ही बिछा है।

(३) इन प्रान्तों की भूमि समतल और चौरस है। अतः नहरों के बनवाने में अधिक व्यय नहीं करना पड़ता है।

(४) इन प्रान्तों की भूमि यद्यपि पानी को काफी सोख लेती है, तथापि उपजाऊ होने के कारण सिंचाई के साधनों की बहुत अधिक आवश्यकता होती है। अतः नहरों द्वारा ही काफी परिमाण में पानी पहुँचाये जाने की व्यवस्था राज्य की ओर से प्राचीन काल से ही चली आ रही है।

अब सिंचाई के दृष्टिकोण से नहरों का वर्णन करते हैं।

इस प्रान्त की लगभग प्रत्येक नहर वर्ष भर सिंचाई करती है, चूंकि उनका निकास उन नदियों से है जो वर्ष भर मैदान में बहती रहती हैं। नहरों के विचार मे अब इसका स्थान भारतवर्ष में सर्व-प्रथम हो गया है। पंजाब का नहरों स सींचें जाने वाला भाग अधिकांश पाकिस्तान में चला गया है।

संयुक्त-प्रान्त

सरकारी तथा गैर-सरकारी नहरों से सिंचित कुल भूमि का क्षेत्रफल इस प्रान्त में लगभग ४२८३,००० एकड़ है। यहां की मुख्य नहरें निम्नलिखित हैं :—

(१) पूर्वी यमुना की नहर, (२) आगरा की नहर, (३) ऊपरी गंगा की नहर, (४) निचली गंगा की नहर, (५) शारदा की नहर। (६) बेतवा की नहर

इन सब नहरों में से पहिली चार नहरें तो उत्तर पश्चिमी संयुक्त प्रान्त में सिंचाई करती हैं। शारदा की नहर अभी बीस वर्ष पहिले बनी थी। यह गोमती और घाघरा नदी को जोड़ती है, लगभग अवध की दस लाख एकड़ भूमि को सींचती है। इसके बनाने में लगभग १० करोड़ रुपया खर्च हुआ है। बेतवाकी नहर झांसी डिवीजन के जिलों को सींचती है।

देश के विभाजन से पूर्व पंजाब में ही सबसे उत्तम नहरों की व्यवस्था और प्रबन्ध था। यहां नहरों का जाल सारे प्रान्त में बिछा था और संख्या में भी सबसे अधिक थीं। देश में सबसे अधिक भूमि नहरों द्वारा इसी प्रान्त में सींची जाती थी। परन्तु अब अधिकांश नहरें पाकिस्तान में चली गई हैं। अब मुख्य निम्न नहरें इस देश में रह गई हैं।

पंजाब

(१) पश्चिमी यमुना की नहर, (२) सरहिन्द नहर, (३) ऊपरी बारी दोआब की नहर।

पथरीली और ऊँची-नीची भूमि होने के कारण दक्षिणी भारत में प्रायः नहरों का अभाव ही है। अधिकांश नहरें मद्रास प्रान्त में मिलती हैं और शेष भाग में तो केवल दुर्भिक्ष से सुरक्षित रखने के लिये वर्षा की बाढ़ से प्राप्त जल की कुछ नहरें खोद ली गई हैं। अरबसागर में गिरने वाली पेरियर नदी का प्रवाह रोक कर सुरंगों द्वारा पानी मदुरा आदि

मद्रास प्रान्त

जिलों में ले जाया जाता है, जिससे लगभग १,०००,००० एकड़ भूमि सींची जाती है। इस योजना को हम पेरियर की योजना कहते हैं।

अभी सन् १९३४ में कावेरी नदी पर मेटूर नामक स्थान पर बांध बनाया गया है। इससे कावेरी के डेल्टा में सिंचाई होगी।

थोड़ी-बहुत नहरें हर प्रान्त में अपनी सुविधानुसार बना ली गई हैं। बंगाल में दामोदर नदी से एक नहर निकाली गई है, जो उन भागों को सींचती है जहां पर वर्षा कम होती है।

अन्य प्रान्तों में

बम्बई प्रान्त में दो बड़ी योजनाएँ हैं। एक तो अहमदनगर जिले की लगभग ६०,००० एकड़ भूमि को सींचने के लिए गोदावरी की सहायक नदी पर बांध बनाया गया है और दूसरा बांध कृष्णा नदी की सहायक नदी पर बांधा गया है, जिससे पूना और शोलापुर के जिलों में सिंचाई होती है।

ट्यूब-वेल (बिजली के पम्प के कुंए)

ट्यूब-वेल में बिजली की सहायता से कुंओं से पानी निकाला जाता है। यह योजना भारतवर्ष में केवल संयुक्त-प्रान्त में ही कार्यान्वित हुई है। इनकी संख्या अब तक लगभग २,००० है जिनके बनवाने में सरकार को करीब दो करोड़ रुपये से कुछ अधिक व्यय करना पड़ा है। ट्यूब-वेलों से बदायूं, बिजनौर, मुरादाबाद, मुज़फ्फरनगर, मेरठ, बुलन्दशहर और अलीगढ़ जिलों की कुल ५३९,७५९ एकड़ भूमि सींची जाती है। भूमि की सतहों में विभिन्नता पाई जाने के कारण तथा शक्ति की कमी के कारण अभी प्रान्त के अन्य जिलों में ये नहीं बनवाए जा सके। सरकार की युद्धोत्तरीय योजनाओं में इनकी उन्नति का स्थान मुख्य है।

पिछले पृष्ठों में हम देख चुके हैं कि प्राचीन काल से ही भारतवर्ष में सिंचाई के साधनों को बनवाने में सरकार का हाथ रहा है। ब्रिटिश सरकार ने भी देश की उपज को बढ़ाने और समय-समय पर पड़ने वाले दुर्भिक्षों से बचाने के लिए इस ओर कुछ प्रयत्न किए। ब्रिटिश सरकार का अधिक ध्यान नहरें बनवाने की ओर ही रहा। सिंचाई के अन्य साधन कुंए और तालाब तो प्रायः प्रान्तीय सरकार के हाथ में ही रहे। संयुक्त-प्रान्त में सरकार ने केवल पक्के कुंओं के

सिंचाई के सरकारी साधन और उनका संक्षिप्त इतिहास

बनवाने के लिए किसानों को नकावी बांटी तथा अभी कुछ वर्षों में ट्यूब-वेल खोदे गये हैं। अन्य प्रान्तों की सरकारों ने भी अपनी आवश्यकतानुसार थोड़े बहुत तालाब और कुँए बनवाये हैं।

पिछले साठ वर्षों में सरकारी नहरों के बनवाने में विशेष प्रगति हुई है। सन् १८७८–७९ में केवल एक करोड़ पांच लाख एकड़ भूमि सींची जाती थी। इस शताब्दी के शुरू तक यह क्षेत्रफल बढ़ कर लगभग दो करोड़ एकड़ हो गया। पिछले पैंतालीस वर्षों में इन नहरों से सींचा जाने वाला क्षेत्रफल बढ़ कर लगभग चार करोड़ एकड़ हो गया है।

सरकारी नहरों का विभाजन आय की दृष्टिकोण से होता है। जो नहरें दस वर्षों के अन्दर अपनी लागत और ब्याज का रुपया मालगुजारी से प्राप्त करने के उद्देश्य से बनवाई गई हैं उन्हें 'उत्पादक नहरें' कहते हैं और जो दुर्भिक्ष के समय में उपज बढ़ाने तथा जनता को सहायता देने के ध्येय से बनाई गई हैं, उन्हें 'अनुत्पादक नहरें' कहते हैं।

सरकारी नहरों का विभाजन

भारतवर्ष में अधिक संख्या उत्पादक नहरों की ही है और इसी श्रेणी की नहरों में अधिक वृद्धि भी हुई है। सन् १८७८-७९ में इन नहरों से सींचे जाने वाला क्षेत्रफल आधे करोड़ एकड़ से भी कम था। शताब्दी के आरम्भ में उसके क्षेत्रफल में काफी वृद्धि हुई और १९२६–२७ तक इनसे सींचे जानेवाला क्षेत्रफल २०,७५६,२०९ एकड़ हो गया। सन् १९४१-४२ तक इन नहरों से लगभग ढाई करोड़ एकड़ भूमि में सिचाई होती थी, इसके विपरीत अनुत्पादक नहरों से सींचे जानेवाला क्षेत्रफल उपर्युक्त का केवल पाचवाँ भाग ही था। अगले पृष्ठपर दिये गये कोष्ठक में हम इनकी तुलना करते हैं :—

भारतवर्ष में उत्पादक और अनुत्पादक नहरों द्वारा सींची गई भूमि का क्षेत्रफल एकड़ में ('००० अङ्क और जोड़ लीजिये)

प्रान्त	उत्पादक नहरों द्वारा सींची गई भूमि का क्षेत्रफल एकड़ में		अनुत्पादक नहरों द्वारा सींची गई भूमि का क्षेत्रफल एकड़ में	
	सन् १९३६ से ३९ तक का औसत	सन् १९४१-४२	१९३६ से ३९ तक का औसत	सन् १९४१-४२
मद्रास	४०७६	४१३०	२८४	३७६
बम्बई	७.१	७.८	२९४	३२०
बंगाल	१००	१४७	४५	६५
संयुक्त-प्रान्त	४३०९	४३६२	३८९	१६१९
पंजाब	११३७६	११९८९	७८३	७८८
बिहार	५७१	४७५	१०७	११७
मध्य-प्रान्त	—	...	२८९	५६५
उड़ीसा	—	...	२७२	३५३
राजपूताना	—	...	२०	अङ्क नहीं मिले

इन नहरों तथा जलमार्गों के बनवाने में सन् १९४१-४२ तक प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से कुल १५,५३० लाख रुपया खर्च हुआ था। इस खर्च में अब तक नहरों के बनवाने तथा उस वर्ष तक स्वीकृत हुई योजनाओं पर होने वाला खर्च शामिल है। सन् १९४१-४२ में प्राप्त हुई कुल मालगुज़ारी १६३६ लाख रुपया थी और देख-रेख तथा मरम्मत आदि में होने वाले खर्च का अनुमान ४८१ लाख रुपया था।

नहरों के बनवाने में कुल लागत व्यय तथा उनसे प्राप्त मालगुज़ारी

सरकार नहरों द्वारा सींची हुई भूमि पर मालगुज़ारी लेती है। मालगुज़ारी की दर हर जगह एक-सी नहीं है। बम्बई और मद्रास प्रान्त में 'चाही' (सींची हुई) और 'खाकी' (बिना सींची हुई) भूमि की मालगुज़ारी अलग-अलग है। किन्तु भारत के अधिकांश भागों

सिंचाई की दर

में सिंचाई की मालगुज़ारी अलग लेते हैं। इन भागों में फसल के अनुसार मालगुज़ारी ली जाती है। जिन भागों में नहरों से पानी उठाया जाता है (उलीचा जाता है)—अर्थात् जहां पर नहरों की अपेक्षा भूमि की सतह ऊँची होती है वहाँ सिंचाई की दर कम होती है। कहीं-कहीं पर पानी की मात्रा के अनुसार मालगुज़ारी ली जाती है।

अतः मालगुज़ारी की ये दर भिन्न-भिन्न प्रान्तों में अलग-अलग फसलों के लिए अलग-अलग हैं। किसी-किसी प्रान्तों में तो ये दर एक नहर से दूसरी नहर के अनुसार बदलते रहते हैं। उदाहरण के लिए हमारे प्रान्त में गन्ने की फसल के लिए जिन भागों में पानी उलीचकर सिंचाई होती है वहां प्रति एकड़ ४) रुपया और अन्य भागों में १२) रुपया प्रति एकड़ मालगुजारी ली जाती है। गेहूं की प्रति एकड़ सिंचाई की दर ५) रुपया है। जब फसल को पूरा पानी मिल जाता है और वह अच्छी तरहसे पक जाती है तभी सरकार मालगुजारी लेती है। जिन भागों में पानी की कमी के कारण फसल अच्छी तरह नहीं पक पाती अथवा फसल खराब हो जाती है तो ऐसी अवस्था में वह मालगुजारी 'छूट' दे देती है।

अगले पृष्ठ के कोष्ठक में हम विभिन्न प्रान्तों में फसलों का क्षेत्रफल, सींची हुई फसलों का क्षेत्रफल, नहरों पर बनने में धन की लागत का परिमाण तथा उन नहरों द्वारा सींची हुई भूमि से उपज के आनुमानिक मूल्य का विवरण देते हैं। ये अङ्क सन् १९४१–१९४२ तक ही हैं।

प्रान्त	सन् १९४१-४२ में बोई हुई फसलों का कुल क्षेत्रफल ('००० इन अंकों में और जोड़ लीजिये)	सरकारी नहरों और तालाबों द्वारा सींची हुई भूमि का क्षेत्रफल ('००० इन अंकों में और जोड़ लीजिये)	कुल बोई हुई फसल और सींची हुई भूमि का प्रतिशत	सन् १९४१-४२ के अन्त तक नहरों आदि पर लगी हुई लागत (लाख रुपयों में)	सरकारी नहरों द्वारा सींची गई भूमि पर उत्पन्न हुई फसलों के मूल्य का अनुमान (लाख रुपयों में)
मद्रास	३६,४१९	७७,१४·७	२१·१९	२०४१	३,३०६
बम्बई	२८,०२३	५३५	१·९१	१०,८०·७	५९९·२३
बंगाल	३१,०५५	२४५	०·७९	५२८·७	२४६·८७
संयुक्त प्रान्त	३५,५४४	५९,८६	१६·८४	३०,४८	४,१७५
पंजाब	३२,२९९	१२७७८	३९·५६	३,९७८	अंक नहीं मिले
बिहार	१७,९७५	७१८	४·०	३५६	६२८
मध्य-प्रान्त	१३,८९७	६०९	३·०७	६५२	२८१
उड़ीसा	२,९८६	३५४	८·४३	३२८·२५	१५०·७

उपरोक्त कोष्ठक के अङ्कों (प्रतिशत) के देखने से हमें भली-भाँति विदित हो जाता है कि नहरों पर लाखों रुपये व्यय हो जाने पर भी अभी देश की अधिकांश खेती को या तो वर्षा पर ही आश्रित रहना पड़ता है अथवा अपने कच्चे कुँओं और तालाबों की सिंचाई पर।

समस्या का हल

ऐसी अवस्था में देश की इस बढ़ती हुई जनसंख्या के भोजन की समस्या का उचित रूप से समाधान नहीं हो सकता। हम इस अध्याय के आरम्भ में ही बता चुके हैं कि यदि सिंचाई की ठीक-ठीक व्यवस्था हो जाय तो बहुत सी शुष्क भूमि से सोना पैदा किया जा सकता है—अर्थात् अच्छी फसलें उत्पन्न की जा सकती हैं।

राष्ट्रीय सरकार ने यद्यपि इस दिशा में कुछ करने का प्रयत्न किया है, फिर भी हम यहाँ कुछ बातें बता देना चाहते हैं —

(१) नदियों में अब इतना जल शेष नहीं रह गया है कि और अधिक नहरें बनाई जा सकें तथापि बाढ़ के जल को संचित किया जा सकता है। इसके लिए उचित स्थानों पर बड़े-बड़े जलाशय बनाए जा सकते हैं, जिनसे हजारों एकड़ भूमि सींची जा सकती है।

(२) ट्यूब-वेल की योजना को और बढ़ाया जा सकता है। सरकार को चाहिए कि वह इस दिशा में अधिक प्रयत्नशील हो।

(३) गाँवों में पक्के तालाब बनाये जा सकते हैं, जहाँ आकर के गाँवों का बहा हुआ जल एकत्रित हो सके। जिन स्थानों में ऐसे छोटे तालाब हैं उन्हें बढ़ाया जाना चाहिए।

(४) गाँवों में सहकारी संस्थाओं को पक्के कुँए बनाने के लिये किसानों को सहायता देनी चाहिए।

सत्ताईसवाँ अध्याय

भारत की खनिज सम्पत्ति

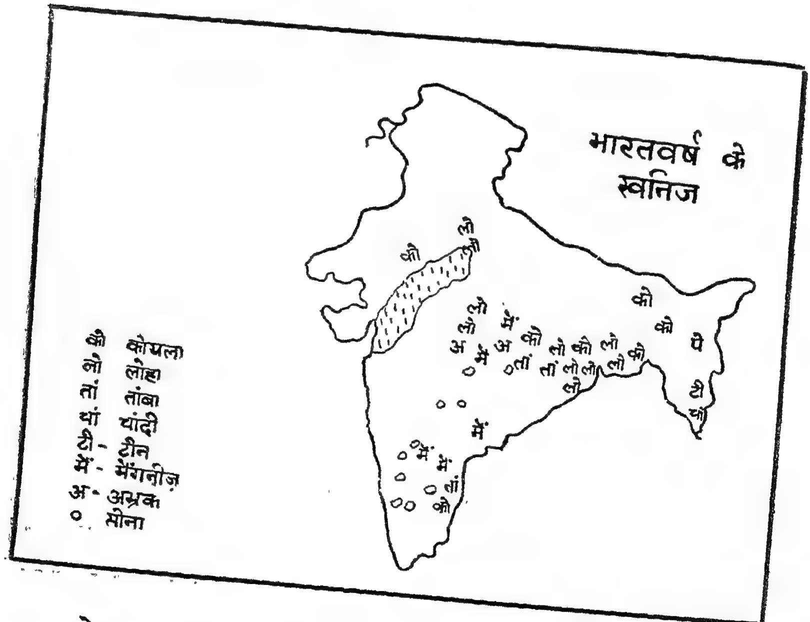
अर्थशास्त्र की दृष्टि से भूमि में खानों का भी समावेश है। अतः अब हम यहाँ इनके विषय में विचार करेंगे। साधारण तौर पर भारतवर्ष अपनी खनिज-सम्पत्ति में काफ़ी धनी है। बहुत से खनिज पदार्थ तो हमारे देश में संसार में सबसे अधिक मात्रा में निकलते हैं। कुछ के लिये हम स्वावलम्बी हैं, किन्तु बहुत से खनिज पदार्थ हमें अपने व्यवसायों के चलाने के निमित्त बाहर से मँगाने की आवश्यकता पड़ती है। भारत की कुल खनिज-सम्पत्ति का मूल्य अगले पृष्ठ के कोष्ठक में दिया जाता है—

प्राक्कथन

(सन् १९३९—मूल्य हजार रुपयों में)

खनिज पदार्थ	मूल्य	खनिज पदार्थ	मूल्य
कोयला	१०,६४,२४	मैंगनीज (कच्चा)	४०,०५१
नमक	९,५१८	अभ्रक	४,२०५
शोरा	१,१६८	मुनैजाइट	२३४
सोना	३०,४७५	पेट्रोल	१६,५४३
लोहा (कच्चा)	४,८५७	तांबा	३,२४१
क्रोमाइट	६८३	मैगनेसाइट	१६१

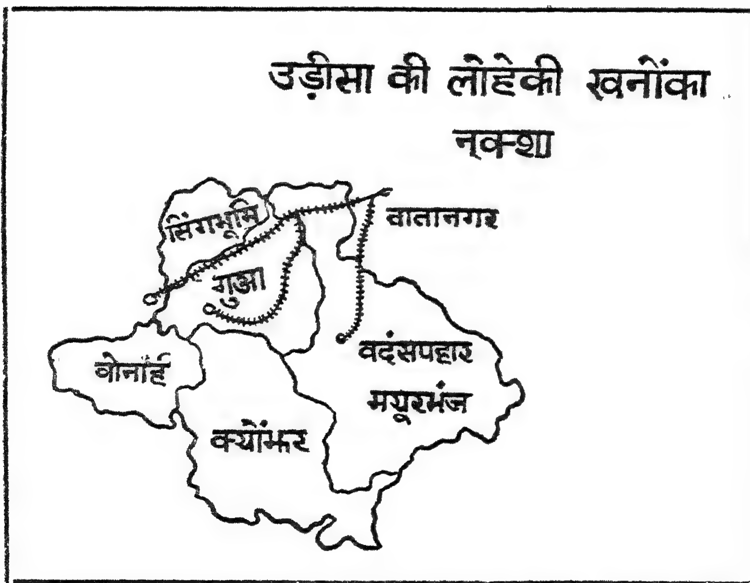
कुल योग—३४·१४ करोड़ रुपये



लोहा—आजकल यंत्रों और कलों का युग है, जिनके बनाने में प्रायः लोहे की आवश्यकता होती है। अतः जिस देश में लोहा नहीं होता उसे अन्य देशों पर सदैव आश्रित रहना पड़ता है और वह एक प्रकार से निर्धन देश माना जाता है। सौभाग्य की बात है कि भारतवर्ष में यह पदार्थ काफी परिमाण में प्राप्त है।

विशेषज्ञों का मत है कि भारतवर्ष जहां तक लोहे का प्रश्न है बहुत धनी है। कहीं-कहीं तो लोहा बहुधा भूमि की सतह में ही मिल जाता है अथवा बहुत कम गहराई पर प्राप्त होता है। ऐसे स्थानों में उसको खोद कर निकालने में बहुत कम व्यय होता है।

भारतवर्ष में कई प्रान्तों में लोहा पाया जाता है। बङ्गाल, बिहार और उड़ीसा लोहा उत्पन्न करने के मुख्य क्षेत्र हैं। सिंगभूमि, मयूरभञ्ज, क्योंझर, बोनई तथा उड़ीसा की अन्य रियासतों में अनन्त राशि में लोहा भरा पड़ा है और ये ही वास्तव में भारत के लौह प्रदेश हैं और संसार की सबसे धनी खानों में से हैं।



इनके अतिरिक्त निम्न स्थानों में भी पर्याप्त मात्रा में लोहा मिलता है — मध्य-प्रान्त के चाँदा और दुर्ग जिले में; मैसूर के कादूर जिले में; मद्रास प्रान्त के सेलम और निलौर जिले में। जितना लोहा इस समय भारतवष में निकाला जाता है उसका आधे से अधिक भाग अकेली सिंगभूमि की खानों से निकाला जाता है। भारतवर्ष का लोहा अच्छी जाति का है जिसमें कच्चे लोहे में शुद्ध लोहे का प्रतिशत ६० से भी ऊपर है।

कोयला—कोयला कई प्रकार का होता है। सबसे उत्तम जाति का कोयला कोक कहलाता है और इसकी आँच बहुत तेज़ होती है। मध्यम अथवा घटिया किस्म का कोयला प्रायः वाष्प तैयार करने के काम में लाया जाता है।

भारतवर्ष में ९० प्रतिशत कोयले की उत्पत्ति बङ्गाल तथा बिहार में होती है। कुल कोयले की उपज का आधा भाग झरिया से और एक तिहाई भाग रानीगञ्ज से प्राप्त होता है। मध्य-प्रान्त, मध्य-भारत, पञ्जाब, आसाम और हैदराबाद में भी छोटी-छोटी खानें हैं। हैदराबाद राज्य में निकलने वाला कोयला मध्यम कोटि का होता है तथा मध्य-प्रान्त और मध्य-भारत की खानों से निम्न कोटि का कोयला प्राप्त होता है। अच्छी जाति का कोयला केवल बङ्गाल और बिहार की खानों ही से मिलता है।

भारतवर्ष में कोयला अपनी आवश्यकता के अनुसार कम निकलता है। अतः इस कमी को पूर्ण करने के लिये हमें अफ्रीका आदि अन्य देशों से कोयला मँगाना पड़ता है। इस देश में कुल कोयले की उत्पत्ति लगभग ५५ अरब टन है। जिसमें से २१ अरब टन रानीगंज क्षेत्र, २० अरब टन झरिया क्षेत्र, ९ अरब टन करनपुरा क्षेत्र और शेष अन्य स्थानों से निकाला जाता है। भारतवर्ष में केवल पांच प्रतिशत कोयला ही कोक बनाने के योग्य मिलता है। अनुमान किया जाता है कि बढ़िया कोयला १०० वर्ष में और शेष ४०० वर्षों में समाप्त हो जायगा।

मैंगनीज़—संसार में सबसे अधिक मैंगनीज़ भारतवर्ष में ही निकलता है, इसके बाद रूस का स्थान आता है। इसका उपयोग स्टील बनाने में होता है, किन्तु इसकी खपत भारतवर्ष में बहुत कम होती है, अतः यह संयुक्त राष्ट्र अमेरिका, इङ्गलैण्ड, फ्रांस, बेल्जियम, इटली, जापान आदि देशों को भेज दिया जाता है। बिहार, उड़ीसा, मध्य-प्रान्त और मध्य-भारत में मैंगनीज का एक विस्तृत प्रदेश है जहाँ सबसे अधिक मैंगनीज निकलता है। इनके अतिरिक्त यह निम्न स्थानों से भी निकाला जाता है।

बम्बई—पंचमहल, रत्नगिरि, धारवार, छोटा उदयपुर आदि।

मैसूर—चित्तलदुर्ग, शिमोगा, कादूर आदि।

मद्रास—गंजाम, विजिगापट्टम, बैलारी आदि।

अभ्रक—अभ्रक का उपयोग बिजली के यन्त्र बनाने में होता है। भारतवर्ष में संसार के लगभग आधे से अधिक अभ्रक निकाला जाता है। इसकी भी कुल की खपत भारतवर्ष में नहीं हो पाती है, अतः संयुक्त राष्ट्र अमेरिका, ब्रिटेन, बेल्जियम, हॉलैण्ड तथा जर्मनी आदि देशों को भेज दिया जाता है। अभ्रक की उत्पत्ति निम्न स्थानों में होती है —

बिहार—हजारीबाग, मुंगेर और गया के जिलों में इसकी प्रसिद्ध खानें हैं।

मद्रास—निलोर का जिला।

अजमेर—मेरवाड़ा तथा उदयपुर राज्य।

सोना—भारतवर्ष में अधिकतर सोना मैसूर राज्य की कोलार की खानों से प्राप्त होता है, जहां पांच कम्पनियां इस काम को कर रही हैं। हैदराबाद राज्य की हुट्टी की खानों का दूसरा नम्बर आता है, फिर क्रमशः बम्बई के धारवार और मद्रास के अनन्तपुर जिलों का स्थान आता है। कोलार की खानों से सोना अब धीरे-धीरे घट रहा है। अनुमानतः यहां से ३ लाख औंस सोना प्रतिवर्ष निकलता है।

पेट्रोल—पेट्रोल को निकालने के लिये कई सौ फीट नीचे तक बलुई मिट्टी और बालू की चट्टानों को खोदना पड़ता है। तेल को निकालने के लिये भूमि में बल गाड़ने पड़ते हैं। पेट्रोल के दो क्षेत्र अब तक भारतवर्ष में मिलते थे। पहिला तो पूर्वी हिमालय की तलहटी में और दूसरा पश्चिम की ओर। पूर्व में आसाम और आराकान की पहाड़ी श्रेणियों के निकट इसके विस्तृत क्षेत्र पाये जाते हैं, किन्तु ये अब प्रायः समाप्ति पर हैं। पश्चिम में बिलोचिस्तान और पंजाब में भी थोड़ी मात्रा में पेट्रोल मिलता है, किन्तु विभाजन के बाद ये क्षेत्र अब पाकिस्तान में चले गये हैं। इस प्रकार अब हमारे यहां पेट्रोल की कमी हो जायगी।

शोरा—पहिले हिन्दुस्तान से ही यह खनिज विदेशों को बाहर भेजा जाता था, किन्तु दक्षिणी अमेरिका की चाइल के क्षेत्र में इसकी खोज होने पर तथा यहां से इसके बाहर भेजने पर कर लगा देने के कारण अब इसकी मांग विदेशों में बहुत कम रह गई है। इसका उपयोग शीशे के कारखानों में, भोजन को सुरक्षित

रखने में, बारूद आदि विस्फोटक पदार्थों के तैयार करने में, तथा खाद में होता है। भारतवर्ष में यह बिहार, संयुक्त-प्रान्त और पंजाब में निकाला जाता है। आज भी इसका निर्यात मूल्य लगभग १५ लाख रुपया है।

नमक—यह एक आवश्यक भोज्य पदार्थ है। अधिकांश नमक समुद्र और छोटी-छोटी झीलों से निकाला जाता है। बम्बई, मद्रास आदि के समुद्र तटों पर तथा मारवाड़ की सांभर और पचयदरा की झीलों से पानी की भाप बनाकर नमक तैयार किया जाता है। विभाजन के बाद कोहाट की पहाड़ियों से प्राप्त होने वाला नमक पाकिस्तान के भाग में चला गया है।

इनके अतिरिक्त यहां बॉक्साइट (Bauxite) क्रोमियम, तांबा, सीसा, चांदी, जस्ता, टिन, बॉल्फ्रम (Wolfram) संगमरमर, गंधक, सुहागा आदि अनेक प्रकार के खनिज थोड़ी-बहुत मात्रा में निकाले जाते हैं।

अट्ठाईसवाँ अध्याय

शक्ति के साधन

मनुष्य आदि काल से ही अपने धन की उत्पत्ति में किसी न किसी बाह्य-शक्ति का उपयोग करता चला आया है। उत्पत्ति में उसकी शारीरिक शक्ति का उपयोग केवल नगण्य है। बिना किसी बाह्य-शक्ति के वह भारी-भारी कल-पुर्जों अथवा हल आदि को अकेला ही नहीं चला सकता है। भारतवर्ष में सहस्रों वर्षों से गाड़ी खींचने, बोझा ढोने, हल चलाने आदि में बैलों का व्यवहार होता आया है। इस पशु-शक्ति पर ही भारत की अधिकांश उत्पत्ति निर्भर है। किन्तु मिलों तथा अन्य व्यवसायों में पशु-शक्ति भी निष्काम हो जाती है और हमें किसी अन्य परिचालक शक्ति की आवश्यकता होती है। साथ ही हमें इस बात का भी ध्यान रखना पड़ता है कि वह शक्ति सस्ती भी हो। सस्ती शक्ति के बिना औद्योगिक

सफलता असम्भव है। यों तो हम सन्तोषपूर्वक कह सकते हैं कि भारतवर्ष में अपनी आवश्यकता के लिए शक्ति उत्पन्न कर ली जाती है, किन्तु अभी तक हमें सस्ती शक्ति उपलब्ध नहीं है और न गांवों तक घरेलू उद्योग-धन्धों को चलाने के लिये वह पहुंचाई जा सकी है। भारतवर्ष में निम्न पदार्थ शक्ति उत्पन्न करने के लिये व्यवहार में आते हैं—

(१) कोयला, (२) लकड़ी, (३) मिट्टी का तेल अथवा पेट्रोल, (४) वायु और (५) जल।

कोयला—वाष्प से चलने वाले यन्त्रों और कल-कारखानों के चलाने के लिये कोयले का स्थान सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। भारतवर्ष के अधिकांश औद्योगिक कल-कारखाने तथा सभी रेलें कोयले से ही चलाई जाती हैं। मध्यम तथा घटिया जाति का कोयला भाप बनाने के काम में आता है। इस भाप से ही हमारे देश में प्रायः कपड़े, कागज, दियासलाई आदि के कारखाने चलाये जाते हैं। किन्तु कोयले से शक्ति तैयार करने में एक बहुत बड़ा दोष यह है कि यहाँ कोयला कुछ भागों में ही केन्द्रित है। अतः उन स्थानों से कल-कारखानों तक कोयला पहुँचाने में बहुत व्यय होता है। इस प्रकार यह शक्ति हमें भारत के हर भाग में उतनी सस्ती नहीं पड़ती जितनी कि बंगाल की जूट की मिलों में तथा बिहार की खानों में पड़ती है।

लकड़ी—यह भी शक्ति उत्पन्न करने का एक अच्छा साधन है, किन्तु लकड़ी के व्यवहार करने में भी बहुत से दोष हैं तथा अनेक प्रकार की बाधाएँ उपस्थित होती हैं। इसको शक्ति के लिये प्रयोग करने में एक तो बहुत-सा माल बेकार चला जाता है और दूसरे यहां के जंगल अधिकतर पहाड़ियों के ढाल पर हैं। अतः वहां से लाने में बहुत व्यय करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त हम जंगलों से मनचाही मात्रा में लकड़ी भी प्राप्त नहीं कर सकते। जब तक और नये जंगल न लगाये जायँ हमें अपनी आवश्यकतानुसार जंगलों से लकड़ी प्राप्त नहीं हो सकती है। अगर हम निरन्तर जंगलों को काटते चले जायँ तो बाढ़ आने का भय रहता है जिससे खेती को हानि होगी। कुछ समय से इसका प्रयोग मोटरों के चलाने के लिये शक्ति उत्पन्न करने में हो रहा है।

मिट्टी का तेल अथवा पेट्रोल—हल्की कलों तथा मोटर, हवाईजहाज

आदि के चलाने में इनका व्यवहार होता है। भारतवर्ष के अधिकांश पेट्रोल के क्षेत्र अब लगभग समाप्ति पर हैं। अतः इनके उपयोग में अब विशेष सावधानी की आवश्यकता है। पेट्रोल की मांग तो निरन्तर बढ़ रही है, किन्तु उत्पत्ति इसके विपरीत घटती जा रही है। अतः विदेशों में अब अलकोहल को इसके स्थान में काम में लाना आरम्भ कर दिया गया है।

हवा—हॉलैण्ड, बेल्जियम आदि देशों में इस शक्ति का बहुत उपयोग होता है चूँकि वे समुद्र के निकट हैं तथा उनका धरातल भी समुद्र की सतह से कुछ नीचा है। अतः यह शक्ति उनको बहुत ही सस्ती पड़ती है। भारतवर्ष में भी इसका व्यवहार अनाज और भूसा अलग करने में होता है। किसान किसी ऊँचे स्थान पर खड़ा हो जाता है और किसी चौड़े बर्तन (सूप इत्यादि) में उसाये हुए अन्न को भर कर नीचे डालता है। भूसा हल्का होने के कारण हवा के वेग से दूर जा गिरता है और इस प्रकार अन्न अलग कर लिया जाता है। कहीं-कहीं पर इसका उपयोग पानी उठाने तथा पवन-चक्की के चलाने में भी किया जाता है। दक्खिन के पठार के अतिरिक्त भारतवर्ष में इसका व्यवहार अधिक नहीं है।

जल—हालाँ कि संयुक्त-राष्ट्र अमेरिका तथा कैनाडा के बाद संसार में जल-शक्ति में भारत का ही नम्बर आता है, किन्तु फिर भी इस दिशा में हमारे देश में आशातीत प्रगति नहीं हुई है। इस विषय के विशेषज्ञों का मत है कि भारत में लगभग २७० लाख किलोवाट की बिजली उत्पन्न हो सकती है। किन्तु अभी तक हमारें यहां केवल ५ लाख किलोवाट अर्थात् १।५० भाग से भी कम बिजली तैयार की जाती है। बिजली तैयार करने के लिये किसी साधन द्वारा डाइनमो नामक एक यन्त्र को पेट्रोल अथवा कोयले की भाप द्वारा घुमाया जाता है। ऊँचाई से गिरने वाले पानी में भी उसी तरह की स्वाभाविक शक्ति होती है। पहाड़ी प्रदेशों में पनचक्की का प्रयोग अति प्राचीन काल से चला आया है। पानी जितनी अधिक ऊँचाई से गिरेगा उसमें उतनी ही अधिक शक्ति होगी।

उच्च हिमालय से निकलने वाली असंख्य नदियों में तथा पठार पर बहने वाली वेगवती नदियों में अपार शक्ति छिपी पड़ी है। यदि इन सबसे बिजली तैयार की जाने लगे तो भारतवर्ष के नगरों व गाँवों के उद्योग-धन्धे आशातीत उन्नति कर सकते हैं।

खेती में सस्ती बिजली की शक्ति का महत्त्व

खेती को बिजली की शक्ति से अनेक लाभ हो सकते हैं। शाही-कृषि-कमीशन ने इससे भारत की खेती को निम्न दो लाभ बताये थे :—

(१) खेती की मशीनों को तथा ट्यूब-वेल (Tube-wells) को चलाने के लिये सस्ते मूल्य पर बिजली की शक्ति का मिलना आवश्यक है।

(२) नोषजन की मात्रा में वृद्धि—खाद में नोषजन (Nitrogen) की पर्याप्त मात्रा का होना आवश्यक है। इससे पौधे फलते और फूलते हैं। बिजली की शक्ति द्वारा हम वैज्ञानिक रीति से हवा से नोषजन को प्राप्त कर सकते हैं।

इन दो मुख्य लाभों के अतिरिक्त बिजली की शक्ति से हमारी खेती को अन्य लाभ भी हैं। हमारे प्रान्त के श्री आर० के० नेहरू ने कुछ प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध कर दिखाया है कि बिजली की शक्ति से पौधों की उपज बढ़ती है और पशुओं की नस्ल सुधारने तथा नाना प्रकार की बीमारियों के रोकने तथा उनकी चिकित्सा करने में भी बिजली की शक्ति से काफी लाभ हो सकता है। अतः इस देश की खेती की उन्नति और किसानों की सुख समृद्धि में बिजली की शक्ति को बहुत बड़ा श्रेय मिल सकता है।

सस्ती बिजली मिलने पर भारतवर्ष के सात लाख गाँवों में नाना प्रकार के उद्योग-धन्धे चलाये जा सकते हैं। अब यह भी अनुभव किया जा रहा है कि

अन्य आर्थिक लाभ

अगर हमें सस्ते मूल्य पर बिजली मिलने लगे तो गाँवों और नगरों को ट्राम और बिजली से चलने वाली रेलों से मिला दिया जाय। इस प्रकार इमें और भी कई लाभ होंगे। हमारे घने बसे हुए नगरों की जनसंख्या को पास के देहातों में रहने का अवसर मिलेगा और इस प्रकार शहर की गन्दगी दूर हो सकेगी तथा बीमारियों का फैलना बन्द होगा। इसी प्रकार जिन नगरों की जनसंख्या कम है उनमें देहातों में बेकार रहने वाले मज़दूरों को काम करने का अवसर मिल सकेगा। इनके अतिरिक्त यातायात की सुविधाओं के हो जाने पर हम देहातों से फल-फूल, शाक-भाजी व दूध को जो जल्दी ही सड़-गल कर खराब हो जाते हैं शीघ्रतापूर्वक नगरों तक भेज सकने में समर्थ हो सकेंगे। अनाजों को शहरों अथवा मंडियों में ले जाने में जो आजकल अधिक खर्च पड़ता है, उसमें भी बहुत कमी हो सकती है।

अतः अब राष्ट्रीय सरकार को यह आवश्यक है कि यथासम्भव अधिक से अधिक बिजली उत्पन्न करने के प्रयत्नों को कार्यान्वित करे। (कुछ योजनाएँ तो राष्ट्रीय सरकार के स्थापित होते ही पूरी हो रही हैं और अनेकों को स्वीकृति मिल चुकी है इसका उल्लेख हम आगे करेंगे।)

भारतवर्ष में जल-विद्युत् की कुछ प्रसिद्ध योजनायें

(१) **मैसूर राज्य** में कावेरी के शिवसमुद्रम प्रपात से भारतवर्ष में सर्व प्रथम १९०२ में बिजली तैयार करने का काम आरम्भ हुआ था। यहाँ से अब लगभग ९२ मील की दूरी पर कोलार की सोने की खानों में, और ६० मील की दूरी पर बंगलोर में बिजली पहुंचाई जाती है। नगरों तथा कस्बों में भी इसी बिजली से अनेक कल-कारखाने चलाये जाते हैं।

मैसूर राज्य में जोग-प्रपात के पास एक और शक्ति-गृह स्थापित किया गया है, जिससे २४,००० हॉर्स-पावर की बिजली तैयार करने की योजना है। शिवसमुद्रम से २५ मील की दूरी पर मेकादात् स्थान पर कावेरी नदी पर बाँध बनाकर तथा कावेरी की सहायक शिमसा नदी के प्रपात से भी बिजली तैयार की जाती है।

(२) **ताता की योजनाएँ**—(अ) बम्बई प्रान्त में अनेकों रूई के कारखाने हैं। बङ्गाल से यहाँ तक कोयला मंगाने में बहुत व्यय होता था। अतः ताता महोदय ने सन् १९१५ में लोनावला के जलाशय पर खोपोली स्थान पर एक शक्ति-गृह बनवाया। यहाँ से बम्बई की मिलों और ट्राम को चलाने के लिये बिजली मिलती है। यहाँ लगभग ४०,००० हॉर्स-पावर की शक्ति की बिजली तैयार होती है।

(ब) आन्ध्रा-घाटी योजना—सन् १९२२ में लोनावला से लगभग १२ मील की दूरी पर आन्ध्रा झील बनाई गयी। यह बम्बई से करीब ५६ मील की दूरी पर स्थित है। यहाँ से बम्बई द्वीप तथा वन्द्रा और कर्ली तक बिजली पहुंचाई जाती है। इससे लगभग १,००,००० हॉर्स-पावर की शक्ति की बिजली तैयार होती है।

(स) नीला-मूला-योजना—सन् १९१९ में नीला और मूला नामक नदियों से जो बम्बई से ८० मील की दूरी पर हैं, १५०,००० हॉर्स-पावर की बिजली पहुँचाई जाती है।

(३) **बारामूला (काश्मीर) योजना**—काश्मीर और जम्मू राज्य की

सरकार ने झेलम नदी में बारामूला स्थान से आगे मिलने वाले प्रपातों को उपयोग में लाकर बिजली तैयार की है। इससे श्रीनगर तथा उसके निकट के नगरों व कस्बों को प्रकाश मिलता है तथा रेशम के कारखाने भी चलाये जाते हैं।

(४) **गंगा की नहर की योजना**--गंगा की नहर से सिंचाई करने के अतिरिक्त अब कई स्थानों पर मोटर डाइनमो लगाकर बिजली तैयार की जाती है। हरिद्वार के निकट बहादुराबाद में जहाँ गंगा पहाड़ियों को छोड़कर मैदान में उतरती है बिजली तैयार करने का यन्त्र (मोटर डाइनमो) लगा हुआ है। इसके अलावा मीरा, सुमेरा, पालरा, चिनौरा, मुहम्मदपुर तथा सोहवल स्थानों पर भी बिजली तैयार करने के स्टेशन बना दिये गये हैं जिनसे अब लगभग २७,९०० किलोवाट की शक्ति की बिजली तैयार होती है। इस बिजली से सहारनपुर, मुज़फ्फरनगर, मेरठ, बिजनौर, मुरादाबाद, बुलन्दशहर, अलीगढ़, मथुरा, आगरा, एटा, बदायूँ आदि १४ जिले और १०० के लगभग छोटे-बड़े कस्बे तथा गाँव प्रकाशित होते हैं। इन स्टेशनों से बिजली इतनी सस्ती तैयार होती है कि साधारण से साधारण व्यक्ति अब बिजली का प्रयोग करने लग गया है। हमारे दैनिक कामों के अतिरिक्त यह बिजली अब खेतों में भी प्रयुक्त की जाती है। इन जिलों में सिंचाई के लिये ट्यूब वेल के कुएँ बन गये हैं जिनसे सिंचाई होती है। घरेलू-उद्योग धन्धों को चलाने में इस सस्ते मूल्य की बिजली से काफी प्रोत्साहन मिला है। सहारनपुर, मेरठ, मुज़फ्फरनगर, बुलन्दशहर आदि जिलों में खेती की उन्नति का कारण इस बिजली द्वारा सिंचाई का होना ही है। सन् १९३३–३४ तक इन जिलों में १० से १२ इं० व्यास के १,२५३ ट्यूब-वेलों द्वारा १,४००,००० एकड़ भूमि सींचने की योजना थी।

(५) **पञ्जाब की मंडी राज्य की योजना**—व्यास की सहायक नदी उहल के किनारे मंडी राज्य के निकट बिजली तैयार की जाती है। इससे लगभग ४८,००० हॉर्स-पावर की बिजली तैयार होती है जो अम्बाला, फिरोज़पुर, करनाल, शिमला आदि ज़िलों को रौशनी देती है। इससे ६४,००० हॉर्स-पावर की बिजली तैयार करने की योजना है जो संयुक्त प्रान्त में सहारनपुर तक बिजली पहुँचावेगी।

(६) **पाइकारा बाँध की योजना**—मद्रास सरकार द्वारा सन् १९३२ में नीलगिरि के पर्वतों से निकलने वाली पाइकारा नदी पर बाँध बनाकर बिजली तैयार की जाती है।

(७) **मैटूर के बाँध की योजना**—मद्रास प्रान्त की यह दूसरी योजना सन् १९३७ में तैयार हुई थी। यहाँ से मद्रास के निकट के अनेक शहरों में बिजली पहुँचाई जाती है।

इनके अतिरिक्त दामोदर की घाटी की योजना तथा रिहन्द बाँध (मिर्जापुर) की योजनाओं को तैयार करने की स्वीकृति मिल चुकी है और बहुत शीघ्र ही ये तैयार होकर पूर्वी-संयुक्त प्रान्त, बिहार तथा बङ्गाल के भागों में रोशनी देंगे। युद्धोत्तरीय योजनाओं में से भाकरा प्रोजेक्ट (पञ्जाब); तुङ्गभद्रा प्रोजेक्ट (मैसूर तथा मद्रास), निज़ाम सागर (हैदराबाद) आदि अभी और बनने को शेष हैं।

उन्तीसवाँ अध्याय

श्रम

पिछले अध्यायों में हमने उत्पत्ति के पहिले साधन भूमि का वर्णन किया था। यहाँ हम उसके दूसरे साधन 'श्रम' के विषय में विचार करेंगे। प्रकृति से हमें अनेक पदार्थ उपलब्ध होते हैं जिनमें मनुष्य के तनिक भी श्रम की आवश्यकता नहीं होती है। ऐसे पदार्थों को हम कच्चा माल कहते हैं जो अपने उस रूप में मनुष्य के लिये अधिक उपयोगी नहीं होते हैं। उदाहरण के लिये पर्वतों पर विविध प्रकार की वनस्पति, भाँति-भाँति के जंगल और उन जंगलों में अनेक प्रकार की औषधियाँ मिलती हैं। इसी प्रकार बहुत से स्थानों पर भूमि की सतह के बिल्कुल ऊपर ही लोहा, कोयला तथा अन्य धातुएँ मिल जाती हैं। यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो सब पदार्थ अपने इस रूप में हमारे लिए अधिक उपयोगी नहीं होते और न इनके इस रूप में उपभोग करने से मनुष्य की आवश्यकताएँ ही तृप्त होती हैं। बाज़ार में हमें उनका कोई अधिक मूल्य भी न देगा। ऐसी अवस्था में हमें उन पदार्थों को या तो संग्रह करना पड़ता है, अथवा एक स्थान से दूसरे स्थान पर लाकर उनका रूप परिवर्तन

श्रम का अर्थ

करना पड़ता है। उनमें बुद्धि और शक्ति लगाकर हम उनकी उपयोगिता में वृद्धि करते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि मनुष्य को अपनी आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए विविध प्रकार के प्रयत्न—शारीरिक अथवा मानसिक—करने पड़ते हैं। अपने इन प्रयत्नों के द्वारा वह भौतिक तथा अभौतिक उत्पत्ति करता है। अतः अर्थशास्त्र में मनुष्य के ऐसे प्रयत्न जिनसे कि वस्तुओं में उपयोगिता की वृद्धि होती है और जिनका प्रधान उद्देश्य धनोत्पत्ति होता है 'श्रम' के अन्तर्गत माने जाते हैं। सामाजिक अथवा धार्मिक भावना से, प्रेरित होकर जितने भी कार्य किये जाते हैं और जिनमें धनोत्पत्ति की तनिक भी कामना नहीं होती, उनका विचार हम 'श्रम' की परिभाषा में नहीं करते।

साधारण बोल-चाल की भाषा में 'श्रम' का अर्थ मेहनत करना समझा जाता है। अनेक व्यवसाय ऐसे हैं जिनमें अत्यधिक मेहनत की आवश्यकता होती है। कुश्ती लड़ना, फुटबाल खेलना, दौड़ लगाना, हल जोतना, फावड़ा चलाना इत्यादि कुछ उदाहरण ऐसे हैं जिनमें मनुष्य को बहुत अधिक शारीरिक परिश्रम करना पड़ता है। किन्तु ये सभी श्रम अर्थशास्त्र की परिभाषा के अन्तर्गत नहीं आते। इनमें से अनेक तो केवल मनबहलाव की खातिर किये जाते हैं और बहुत से पेट की खातिर। अतः मनुष्य के ऐसे प्रयत्न भी जिनमें अत्यधिक शारीरिक परिश्रम करना पड़ता हो, किन्तु जो केवल मनबहलाव के दृष्टिकोण से ही किये गए हों, अर्थशास्त्र में श्रम नहीं माने जाते। अतः यदि एक जज अपने घर के बगीचे में फावड़ा चलाता है, उसमें विविध प्रकार के फूल बोता और सींचता है और अपना मनोरञ्जन करता है तो उसका यह शारीरिक परिश्रम 'श्रम' के अन्तर्गत नहीं आवेगा। इसे हम केवल उसका मनोरञ्जन ही कहेंगे। दूसरी ओर एक माली उसी जज के यहाँ यह सब कार्य करता है और बदले में जज से अपना पारिश्रमिक पाता है तो उसका यह परिश्रम आर्थिक प्रयत्न होकर 'श्रम' कहलावेगा।

संक्षेप में मनुष्य के वे सभी शारीरिक और मानसिक प्रयत्न जो केवल मनोरञ्जन के लिए न करके धनोपार्जन के उद्देश्य से किये जाते हैं, उन्हें हम श्रम कहते हैं।

इस सम्बन्ध में दूसरी बात यह है कि श्रम केवल मनुष्य द्वारा ही किया गया हो। जो कार्य पशु अथवा मशीन करते हैं उसे हम श्रम में सम्मिलित नहीं

करते। वे पूँजी के अङ्ग हैं। चूँकि उन्हें प्राप्त करने के लिए वह अपने श्रम से प्राप्त धन का कुछ भाग बचा कर रखता है और उन्हें खरीदता है, अतः श्रम में हम केवल मनुष्य द्वारा किए गए प्रयत्नों का ही विचार करते हैं और पशुओं तथा मशीनों को उसमें शामिल नहीं करते हैं।

उत्पत्ति में हम जिस दृष्टिकोण से श्रम का विचार करते हैं उसके कुछ खास लक्षण होते हैं जिनका वर्णन हम निम्न पंक्तियों में करते हैं:—

श्रम के लक्षण

(१) सक्रियता—उत्पत्ति के साधनों में श्रम ही सबसे आवश्यक अङ्ग है और बिना इसके सक्रिय भाग लिए हुए किसी प्रकार की भी उत्पत्ति सम्भव नहीं है। चाहे भूमि कितनी ही उर्वरा क्यों न हो अथवा विपुल धन-सम्पत्ति क्यों न लगा दें किन्तु बिना मनुष्य की सहायता के—उसके परिश्रम किए बिना—उत्पत्ति होना असम्भव है। चूँकि जैसा कि हम बता चुके हैं भूमि निष्क्रिय है और पूँजी श्रम पर निर्भर है। अतएव भूमि और पूँजी तो केवल उत्पत्ति में सहायक होकर उपयोगिता की वृद्धि अथवा उत्पादन करते हैं।

(२) नाशमानता—समय की गति के साथ उसका भी विनाश होता है। जिस दिन वह काम नहीं करता—श्रम नहीं करता—उस दिन का श्रम वह सदैव के लिए खो बैठता है। उसे वह दूसरी बार काम में नहीं ला सकता है। दूसरी ओर यदि आप देखें तो भूमि अथवा किसी स्थायी पूँजी को हम संचित या संग्रह करके रख सकते हैं और उन्हें हम अनेक बार काम में ला सकते हैं।

(३) उत्पत्ति का आदि और अन्त दोनों ही है—श्रम द्वारा न केवल उत्पत्ति होती है बल्कि वह स्वयं ही उसका उपभोग भी करता है। दूसरे शब्दों में हम यों कह सकते हैं कि श्रमिक उत्पत्ति में सहायता भी देते हैं और उस उत्पन्न हुई सम्पत्ति का वे स्वयं उपभोग भी करते हैं। किसान अनाज उत्पन्न करता है और अपनी आवश्यकतानुसार उसका उपभोग करता है।

(४) श्रम में भी धन लगाया जा सकता है। जिस प्रकार कि हम नाना प्रकार की मशीनों, यन्त्रों तथा अन्य आवश्यक वस्तुओं को खरीदने में धन व्यय करते हैं, उसी प्रकार श्रम के अन्दर भी बहुधा धन खर्च किया जाता है। उसकी शिक्षा, कुशलता, निपुणता, स्वास्थ्य आदि की वृद्धि के लिए हम ट्रेनिंग के लिए

भेजते हैं, उसे शिक्षित करते हैं, आदि। अतः जिस प्रकार धन से हम पूँजी खरीद सकते हैं इसी प्रकार श्रम में भी धन का उपयोग किया जा सकता है। दोनों ही दशाओं में (अर्थात् पूँजी से भी और इसी प्रकार श्रम पर खर्च किए गए धन से) धनोत्पत्ति होती है। अतः श्रम को बहुत से विद्वान् "मानुषिक-पूंजी" मानते हैं।

(५) श्रम और श्रमिक एक दूसरे से पृथक् नहीं किए जा सकते हैं। उत्पत्ति के अन्य साधन अपने साधक से अलग किए जा सकते हैं। उदाहरण के लिए एक जमीन्दार अपनी भूमि को दूसरे को दे सकता और बदले में पूँजीपति से अपने लिए पूँजी ले सकता है। अर्थात् एक ओर भू-स्वामी अपनी भूमि से अलग हो जाता है और दूसरी तरफ पूँजीपति अपनी पूँजी से। किन्तु यह बात श्रम के साथ सम्भव नहीं है। यदि वह श्रम करना चाहता है तो उसे स्वयं ही करना पड़ेगा। वे एक दूसरे से अलग किसी अवस्था में भी नहीं किए जा सकते हैं।

(६) गतिशीलता—उत्पत्ति के साधनों में सबसे अधिक श्रम ही गतिमान है। भूमि तो सर्वथा ही स्थिर है। बहुत सी पूँजी भी स्थिर होती है, और कुछ को एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाने में श्रम की आवश्यकता होती है। किन्तु श्रम एक स्थान से दूसरे स्थान को भी ले जाया जा सकता है और वह एक व्यवसाय से दूसरे व्यवसाय को भी बदल सकता है। अतः श्रम की गतिशीलता दो प्रकार की होती है। एक तो स्थान परिवर्तन और दूसरी व्यवसाय परिवर्तन। जब आवश्यकता पड़ने पर कोई श्रमिक दूसरे स्थान पर जाकर काम करने लगता है तो उसे हम श्रम की स्थान परिवर्तन वाली गति मानते हैं। दूसरी ओर जब कोई श्रमिक एक व्यवसाय को छोड़ कर दूसरे व्यवसाय को करने लगता है तो उसे हम व्यवसाय परिवर्तन वाली गति कहते हैं।

श्रम के भेद

श्रम के मुख्य दो भेद होते हैं। एक उत्पादक और दूसरा अनुत्पादक श्रम कहलाता है। जिस श्रम के द्वारा पदार्थों में उपयोगिता की वृद्धि होती है अथवा

धनोत्पत्ति होती है उसे हम उत्पादक श्रम कहते हैं। इसके विपरीत जब किसी परिश्रम से उपयोगिता में कोई वृद्धि न हो सके, अथवा जिस श्रम के करने पर धनोत्पत्ति न हो उसे हम अनुत्पादक श्रम कहते हैं। मान लीजिये, एक कवि ने कोई काव्य लिखा, किन्तु वह अप्रकाशित ही रहा और उससे उसे धन की प्राप्ति न हुई तो उसका यह श्रम अनुत्पादक माना जायगा। परन्तु यदि कवि का वह काव्य प्रकाशित होकर लेखक और प्रकाशक दोनों की धनोत्पत्ति में सहायक होता है तो ऐसी दशा में हम श्रम को उत्पादक मानेंगे।

उत्पादक और अनुत्पादक श्रम

इसी प्रकार यदि कोई किसान अनवरत परिश्रम करके किसी फसल को बोता है। बड़े यत्न से उसमें खाद डालता है, निराता है, सींचता है, पशु-पक्षियों से उसकी रक्षा करने के लिए रात-रात भर जगता है, किन्तु फिर भी तुषारापात के कारण उसे अपने परिश्रम का फल नहीं मिलता तो इस दशा में उस किसान का श्रम अनुत्पादक कहलावेगा। दूसरी ओर यदि दूसरे किसान को इतने ही अथवा इससे भी कम परिश्रम करने पर धनोत्पत्ति होती है,—अच्छी फसल उत्पन्न हो जाती है तो उसे हम उत्पादक श्रम मानेंगे। जब परिश्रम निष्फल हो जाय या जिसमें धनोत्पत्ति न हो सके तो वह अनुत्पादक कहलाता है और इसके विपरीत जब उसे अपने परिश्रम के फलस्वरूप उचित पारिश्रमिक मिल जाता है तो वही उत्पादक श्रम हो जाता है।

उत्पादक और अनुत्पादक श्रम का प्रश्न सदा से ही विवादपूर्ण रहा है। प्राचीन काल के फ्रान्स के अर्थशास्त्री (जिन्हें फिजियोक्रेट्स कहते हैं) केवल खेती-बारी, मछली मारना, खनिज खोदना इत्यादि व्यवसायों को ही जिनमें प्रकृति मनुष्य की सहायता करती थी,—उत्पादक श्रम मानते थे। अन्य व्यवसाय जिनमें मनुष्य को सीधे प्रकृति पर आश्रित नहीं रहना पड़ता था, अनुत्पादक श्रम माने जाते थे, जैसे-व्यापार, उद्योग-धन्धे इत्यादि। किन्तु जैसे-जैसे समय बीतता गया कल-कारखानों तथा उद्योग-धन्धों में काम करने वालों का श्रम भी उत्पादक माना जाने लगा। इसी प्रकार आदम-स्मिथ (जिसे वर्तमान अर्थशास्त्र की विद्या का जन्मदाता माना जाता है) एक कुम्हार, चमार आदि के श्रम को तो उत्पादक मानता था, किन्तु गवैया, अध्यापक, डॉक्टर आदि के श्रम को वह भी अनुत्पादक

मानता था। लेकिन वर्तमान समय में वे सभी श्रम उत्पादक माने जाते हैं जिनसे पदार्थों में किसी प्रकार की उपयोगिता की वृद्धि हो। अतः डॉक्टर, अध्यापक, गायक, घरेलू-नौकर आदि सभी की गणना उत्पादक श्रम में की जाती है।

उत्पादक श्रम को भी हम दो उपविभागों में बाँट सकते हैं। एक शारीरिक और दूसरा मानसिक। किन्तु हम किसी भी श्रम को एकदम मानसिक अथवा

शारीरिक और मानसिक श्रम

शारीरिक नहीं कह सकते। कैसा भी मानसिक परिश्रम क्यों न हो उसमें थोड़ा-बहुत शारीरिक परिश्रम अवश्य करना पड़ता है। इसी प्रकार हर प्रकार के शारीरिक परिश्रम में हमें कुछ न कुछ मानसिक परिश्रम भी अवश्य करना पड़ता है। कुछ ऐसे श्रम हैं जिनमें मुख्यतः मानसिक परिश्रम करना पड़ता है, जैसे—कवि, अध्यापक, डॉक्टर, क्लर्क, मैनेजर, राजनीतिज्ञ, इत्यादि, और अनेकों को अधिकतर शारीरिक परिश्रम करने पड़ते हैं, जैसे—मजदूर, किसान, लुहार, बढ़ई इत्यादि।

श्रम निपुण और अनिपुण दो प्रकार का होता है। जब किसी कार्य के करने में विशेष योग्यता और कुशलता की आवश्यकता होती है तो ऐसे श्रम को हम

निपुण और अनिपुण श्रम

निपुण श्रम मानते हैं। किन्तु बहुत से ऐसे भी कार्य होते हैं जिसे करने के लिए किसी प्रकार की शिक्षा, योग्यता अथवा निपुणता की आवश्यकता नहीं होती। अतः खेती के बड़े-बड़े फार्मों (क्षेत्रों में) पर ट्रैक्टर चलाने, हल जोतने, कल्टीवेटर और हैरो से निराई आदि के काय करने में विशेष योग्यता, कुशलता और बुद्धि की आवश्यकता होती है। गाँव का अनपढ़ किसान एक साथ ही इन सब क्रियाओं को नहीं कर पावेगा। ऐसे कार्यों में लगा हुआ श्रम अर्थशास्त्र में निपुण श्रम माना जाता है। इसके विपरीत गांवों में अनेक मजदूर और किसान खेतों को निराते, गोड़ते, बोते, फसल को काटते तथा फावड़ा आदि चलाते हैं। इन कामों को सीखने के लिए हमें किसी ट्रेनिङ्ग स्कूल में जाने की आवश्यकता नहीं होती। ये काम तो हमें साधारण अभ्यास और निरीक्षण से ही आ जाते हैं। अतः अनिपुण माने जाते हैं।

निपुण श्रमिक हमें अधिक संख्या में नहीं मिलते हैं, अतः इनकी मांग सबको बनी रहती है। इन्हें काफ़ी पारिश्रमिक देकर सभी लोग रखने के इच्छुक होते

हैं। और जैसा कि हम ऊपर बता आये हैं अनिपुण श्रम के लिये किसी प्रकार की शिक्षा की आवश्यकता नहीं होती है और न उनकी कुशलता पर किसी प्रकार का धन ही व्यय किया जाता है। इसलिए इनकी अधिक मांग नहीं होती और न इन्हें अधिक पारिश्रमिक ही कोई देने को तैयार होता है।

प्रत्येक देश और जाति में निपुणता को नापने के लिए भिन्न-भिन्न माप-दण्ड होते हैं। भारत जैसे देश में थोड़े पढ़े-लिखे व्यक्ति को ही हम निपुण मान लेते हैं, किन्तु अमेरिका, इङ्गलैण्ड जैसे शिक्षित देशों में, जहाँ थोड़ा-बहुत पढ़ना-लिखना प्रत्येक व्यक्ति जानता है, माप-दण्ड दूसरा ही होता है। अपने व्यवसाय को चलाने के लिए बुद्धि-कुशलता आदि गुणों का होना प्रत्येक श्रमिक के लिए आवश्यक है। अब ज्यों-ज्यों औद्योगिक कल-कारखानों की वृद्धि होती जा रही है, हर देश के श्रमिकों में निपुणता की वृद्धि हो रही है।

तीसवां अध्याय

श्रमिकों की संख्या

किसी देश में श्रम की पूर्त्ति निम्नलिखित तीन बातों पर निर्भर रहती है:—

श्रम की पूर्ति

(१) श्रमिकों की संख्या; (२) श्रमिकों की योग्यता, (३) श्रमिक प्रतिदिन कितने घण्टे काम करते हैं। नीचे हम क्रमशः इन पर विचार करेंगे।

श्रमिकों की संख्या किसी देश की कुल जनसंख्या पर निर्भर रहती है और जनसंख्या पर निम्न दो शक्तियों का प्रभाव पड़ता है—एक तो वहाँ की जन्म-संख्या का मृत्यु-संख्या से अधिक होना, और दूसरे आवास-प्रवास।

जनसंख्या का विचार करते समय हमें जन्म-संख्या और मृत्यु-संख्या दोनों पर ध्यान देने की आवश्यकता होती है। अन्य सब बातों के समान रहने पर

जितनी ही कम किसी देश में मृत्यु-संख्या होगी, जनसंख्या की वृद्धि उतनी ही अधिक होगी। दूसरे शब्दों में इसे हम इस प्रकार कह सकते हैं कि जन्म-संख्या में से मृत्यु-संख्या घटा देने पर उस देश की जनसंख्या बच रहती है। इसके अतिरिक्त आवास-प्रवास का भी देश की जनसंख्या पर काफी प्रभाव पड़ता है। यदि देश से बाहर जानेवालों की संख्या अधिक रहती है, तो निश्चय ही वहाँ की संख्या घटेगी; और इसके विपरीत यदि वहाँ बाहर से आनेवालों की संख्या का आधिक्य रहता है तो जनसंख्या में वृद्धि होती है।

जिस गति से देश की जन्म-संख्या बढ़ती है, जनसंख्या में भी क्रमशः उसी के अनुसार वृद्धि होती है। यदि अन्य सब बातें पूर्ववत् बनी रहें तो जितनी ही अधिक जिस देश में जन्म-संख्या होगी, उतनी ही अधिक वहाँ की जनसंख्या बढ़ेगी।

जन्म-संख्या

जन्म-संख्या का अनुमान प्रायः १,००० व्यक्तियों में दिखाया जाता है। किसी निश्चित समय में प्रति सहस्र व्यक्तियों में जितने भी बच्चे पैदा होते हैं, उतनी ही वहाँ की जन्म-संख्या मानी जाती है। अतः यदि भारतवर्ष में ३४ बच्चे प्रति वर्ष पैदा होते हैं तो इसका अर्थ यह है कि यहाँ प्रति सहस्र व्यक्तियों के पीछे बच्चे पैदा होने की संख्या ३४ रहती है। अब यदि किसी अन्य देश में—जैसे जर्मनी में—जन्म-संख्या १६ है तो इसका अर्थ यह है कि हमारे देश में अवश्य ही जनसंख्या की प्रगति जर्मनी से अधिक है।

जन्म-संख्या की वृद्धि जलवायु, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक और राजनीतिक कारणों पर निर्भर रहती है। रहन-सहन के स्तर और जन्म-संख्या की वृद्धि में भी अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है।

(अ) जलवायु—ठंडे देशों की अपेक्षा गर्म देशों के व्यक्ति जल्दी ही प्रौढ़ हो जाते हैं। फलतः गर्म देशों में विवाह जल्दी ही हो जाया करते हैं। ठंडे देशों में बड़ी आयु में विवाह होने के कारण सन्तानोत्पत्ति भी देर से होती है। यही कारण है कि गर्म देशों में बच्चे पैदा होने की गति ठंडे देशों की अपेक्षा अधिक होती है। उदाहरण के लिए भारत जैसे गर्म देश में प्रायः १८ वर्ष की आयु में लड़के का और लगभग १४ वर्ष की आयु में लड़की का विवाह हो जाता है। इसके विपरीत इङ्गलैण्ड में कदाचित् विवाह के समय नव-दम्पति की आयु २५ वर्ष की

रहती है। तब तक भारतवर्ष के नवयुवक कमसे कम तीन-चार बच्चों के पिता हो जाते हैं।

(ब) धार्मिक विचार—धार्मिक विचारों का भी जन्म संख्या पर यथेष्ट प्रभाव पड़ता है। उदाहरण के लिये भारत की अधिकांश जनसंख्या जो देहातों में निवास करती है—अब भी धर्मनिष्ठ है। अपनी धार्मिक परिपाटी और विचारों के अनुसार यहाँ बाल्यावस्था में ही कन्या का विवाह कर दिया जाता है (अर्थात् तरुणावस्था से पहिले; भारत में प्रायः १६ या १७ वर्ष की आयु में कन्याएँ तरुणी हो जाती हैं)। इसका कारण यह है कि, शास्त्रों की आज्ञा के अनुसार, पिता के घर पर कन्या के रजस्वला होने पर पिता पाप का भागी माना जाता है। फलतः हमारे देश में जन्म-संख्या का बढ़ना स्वाभाविक ही है। जहाँ यह प्रथा नहीं है, अथवा जिस देश के व्यक्तियों के धार्मिक-विचार भारतवासियों से भिन्न हैं, वहाँ उन्हीं के अनुसार जन्म-संख्या कम अथवा अधिक होगी।

(स) सामाजिक प्रथाएँ—अनेक ऐसे देश हैं, जहाँ पर व्यक्ति अनेक विवाह (एक से अधिक) कर सकते हैं; अथवा जहाँ पर कुटुम्ब में व्यक्तियों की संख्या में वृद्धि करना अभिमानसूचक माना जाता है। ऐसे देशों में अधिक सन्तानोत्पत्ति को अच्छा समझते हैं और फलस्वरूप इसकी पूर्ति के लिये समाज में विविध प्रकार के नियम बना दिए जाते हैं।

(द) राजनैतिक कारण— जर्मनी, फ्रांस, इटली आदि पाश्चात्य देशों में अधिक सन्तानोत्पत्ति को प्रोत्साहन दिया जाता है। इसके लिए वहाँ राजकीय नियम हैं। नव-दम्पति को अनेक प्रकार की सुविधाएँ मिलती हैं। प्रोत्साहन देने के लिये पुरस्कारों (इनामों) की भी व्यवस्था है।

(ध) आर्थिक परिस्थितियाँ और रहन-सहन का ढङ्ग—अनेक देश और समाजों में व्यक्ति अपनी आर्थिक परिस्थितियों के कारण या तो कुँआरे (अविवाहित) रहते हैं अथवा देर में शादी करते हैं। बहुत से व्यक्ति केवल अपने रहन-सहन के स्तर को ऊँचा रखने के खातिर भी इन रीतियों का अनुसरण करते हैं। उनका यदि विवाह भी हो जाता है तो वे अपत्यमोह (बच्चा पैदा करने का मोह) में नहीं फँसते। जब तक वे अपनी आर्थिक परिस्थितियों को नहीं सुधार लेते येन-केन प्रकारेण—वे सन्तानोत्पत्ति से दूर रहते हैं। सन्तति-निरोध के कृत्रिम-

साधनों का अवलम्बन कर अथवा ब्रह्मचर्य का पालन कर वे सदा बच्चों से दूर भगने की चेष्टा करते हैं। वे उचित परिमाण में भोजन, वस्त्र, शिक्षा और स्वास्थ्य-सम्बन्धी साधनों के पक्षपाती होते हैं और इसी दृष्टिकोण से अपना जीवन-व्यतीत करते हैं। अतः ऐसे देशों में या समाज में जन्म-संख्या का कम होना स्वाभाविक ही है।

मृत्यु-संख्या

जन्म-संख्या के अनुसार ही जिस देश में किसी एक निश्चित काल में प्रति-सहस्र जितने व्यक्ति मरते हैं, वह संख्या ही उस देश की मृत्यु-संख्या मानी जाती है। यदि किसी देश की मृत्यु-संख्या २० है तो इससे यह विदित होता है कि वहाँ एक वर्ष में प्रति-सहस्र २० व्यक्ति मरते हैं। अब यदि अन्य सब बातें पूर्ववत् बनी रहें तो जिस देश में मृत्यु-संख्या सबसे अधिक होगी, वहाँ की जनसंख्या उतनी ही कम होगी। किसी देश की मृत्यु-संख्या पर निम्न बातों का प्रभाव पड़ता है।

(१) **अल्पायु में विवाह**—जिन देशों में विवाह छोटी उम्र में हो जाते हैं, वहाँ सन्तान भी शीघ्र पैदा होने लगती है। जैसा कि हम ऊपर बता आये हैं। गर्म देश के व्यक्तियों में प्रौढ़ता जल्दी ही आ जाती है, अतः विवाह छोटी उम्र में ही हो जाते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि अनेक दम्पति भली-भांति परिपक्व भी नहीं हो पाते और सन्तान पैदा होना आरम्भ हो जाती है। ऐसी अवस्था में बालक शीघ्र ही मर जाते हैं। प्रजनन की क्रिया में अथवा प्रसूति आदि रोगों के कारण बहुधा स्त्रियाँ भी मर जाती हैं। छोटी उम्र में विवाह हो जाने पर व्यक्तियों का प्रायः स्वास्थ्य बिगड़ जाता है और वे नाना प्रकार की असाध्य बीमारियों से ग्रसित रहते हैं। दुर्बल व्यक्ति ही महामारी, हैजा, चेचक आदि बीमारियों के सबसे पहिले शिकार होते हैं। अतः जिस देश या समाज में छोटी उम्र में विवाह हो जाते हैं, वहाँ की जन्म-संख्या और मृत्यु-संख्या दोनों ही अधिक होती हैं।

(२) **आर्थिक-स्थिति**—नीचे दर्जे के रहन-सहन वाले व्यक्तियों में बहुधा बहुत जल्दी ही विवाह कर लिया जाता है। उनके सामने कम सन्तान पैदा करने का वैसा कोई प्रश्न नहीं उठता। ऐसे व्यक्तियों में जन्म-संख्या और मृत्यु-संख्या दोनों ही अधिक रहती है। नीचे दर्जे के रहन-सहन वाले व्यक्तियों की आव-

आवश्यकताएँ भी प्रायः कम होती हैं और वे जो मिलता है उसी में सन्तोष कर लेते हैं। ऐसी अवस्था में वे स्वास्थ्य और उचित भोजन पर ध्यान नहीं देते। यही कारण है कि जिस देश की आर्थिक अवस्था शोचनीय होती है तथा जहाँ के निवासियों का रहन-सहन नीचे दर्जे का होता है वहाँ मृत्यु-संख्या प्रायः अधिक ही रहती है।

(३) **शिक्षा और वातावरण**—जहाँ के मनुष्य अपने स्वास्थ्य का ध्यान रख कर स्वच्छतापूर्वक जीवन व्यतीत करते हैं, वहाँ मृत्यु-संख्या कम होती है। शिक्षित समाज सदैव अच्छे भोजन, वस्त्र और वातावरण का ध्यान रखता है। गन्दगी और बीमारियों से बचने की चेष्टा करता है। जिस देश में शिक्षा के अभाव के कारण इन बातों पर ध्यान नहीं दिया जाता है वहाँ मृत्यु-संख्या सदैव अधिक रहती है।

उपरोक्त कारणों के अतिरिक्त, कभी-कभी दैवी प्रकोपों से भी मृत्यु-संख्या में वृद्धि हो जाती है। उदाहरण के लिये दुर्भिक्ष, भूकम्प, राजनीतिक उपद्रव में कई सहस्र आदमी मर जाते हैं। अतः ये भी किसी देश की मृत्यु-संख्या के अङ्कों में वृद्धि कर देते हैं।

इन दोनों संख्याओं का अन्तर निकालने पर जो शेष बच रहता है, उसे हम नैसर्गिक वृद्धि अथवा जनसंख्या की वृद्धि कहते हैं। जिस देश में जन्म-संख्या

जनसंख्या की वृद्धि अथवा नैसर्गिक वृद्धि

मृत्यु-संख्या से अधिक होती है, वहाँ की जनसंख्या में जो वृद्धि होती है उसे हम "धन सूचक गति"* मानते हैं। किन्तु जब मृत्यु-संख्या अधिक होती है और जन्म-संख्या कम तो वहाँ की जनसंख्या क्रमशः घटने लगती है। ऐसी अवस्था को हम "ऋण सूचक गति"† कहते हैं। जब दोनों अवस्थाएँ समान बनी रहती हैं तो वृद्धि की गति रुक जाती है और तब उसे हम "स्थिरगति"§ कहते हैं।

जब एक देश के मनुष्य दूसरे देशों में जाकर बसने लगते हैं तो इस क्रिया

आवास-प्रवास

को हम आवास-प्रवास कहते हैं। बाहर से आकर देश में बसने वालों का उस देश में आवास कहलाता है और यदि उस देश के व्यक्ति किसी दूसरे देशों में जाकर बसने लगें तो वह प्रवास कहलावेगा।

* Positive। † Negative। § Static।

अतः जनसंख्या की वृद्धि बहुत अंशों में आवास-प्रवास पर निर्भर रहती है। जन्म-संख्या का मृत्यु-संख्या से अधिक होने पर भी यदि वहां के निवासी अन्य देशों में बसने चले जावें तो भी जनसंख्या में वृद्धि न होगी। यदि आवास से प्रवास अधिक होता है तो जनसंख्या घटती है और इसके विपरीत यदि आवास अधिक होता है तो जनसंख्या में वृद्धि होती है।

सर्वोत्तम जनसंख्या

किसी एक खास समय तथा परिस्थिति में वही जनसंख्या सर्वोत्तम मानी जायगी, जिसमें प्रति व्यक्ति पीछे औसत दर्जे सबसे अधिक धनोत्पत्ति हो और जन-संख्या के तनिक भी घटने या बढ़ने से प्रति व्यक्ति पीछे कम हो जाय। अस्तु ; केवल जनसंख्या को देखकर यह नहीं कहा जा सकता कि देश की जनसंख्या कम है अथवा अधिक।

जनसंख्या सम्बन्धी सिद्धान्त

जनसंख्या का प्रश्न सदैव ही किसी न किसी रूप में हमारे सामने उपस्थित रहता है। कभी भोजन की कमी के कारण इस बात पर विचार करना होता है तो कभी युद्ध के लिए बड़ी सेना की आवश्यकता होने पर। किन्तु खाद्य-पदार्थों की कमी होने पर जनसंख्या की वृद्धि चिन्ताजनक हो जाती है। आज यही अवस्था आ पहुंची है। आज केवल भारतवर्ष में ही नहीं संसार भर में खाद्य सामग्रियों का सर्वत्र अभाव है और दूसरी ओर जनसंख्या में क्रमशः वृद्धि हो रही है।

आज से लगभग डेढ़ सौ वर्ष पूर्व इस विषय की चर्चा सबसे पहिले यूरोप में शुरू हुई थी। सन् १७९८ ई० में टामस रॉबर्ट माल्थस नामक एक पादरी ने इस विषय पर सर्व प्रथम प्रकाश डाला। उन्होंने जनसंख्या के सिद्धान्तों को वैज्ञानिक ढंग से सिद्ध करने के लिए एक सुविख्यात निबन्ध लिखा। उन दिनों इङ्गलैण्ड की जनसंख्या में बड़ी तीव्र वृद्धि हो रही थी। सन् १८०१ में जहां उस देश में केवल ८७ लाख औरत, मर्द और बच्चों की संख्या थी, वहां १९०१ में यह संख्या बढ़कर सवा तीन करोड़ हो गई। और जहां सन् १७७१-८० ई० में गेहूं ३४ शिलिंग ७ पेंस का लगभग ७ मन आता था, वहां १८११-२० में उतनी ही मात्रा के गेहूँ का मूल्य ८७ शिलिंग ६ पेंस हो गया। इस आर्थिक दुरावस्था को देख कर माल्थस का कहना था कि जब जनता बढ़ने लगती है तो या

तो निर्धनता बढ़ती है अथवा ईश्वरीय विधान द्वारा जनसंख्या की अवनति होती है। उनका मत था कि जनसंख्या की प्रगति खाद्य-पदार्थों की प्राप्य मात्रा से अधिक तेजी से बढ़ने की रहती है और फलतः जनसंख्या सर्वदा अधिक ही पाई जाती है। माल्थस के जनसंख्या सम्बन्धी सिद्धान्तों को हम निम्न प्रकार स्पष्ट कर सकते हैं—

(१) संसार के भिन्न-भिन्न देशों के इतिहास से यह विदित होता है कि यदि किसी प्रकार का कोई प्रतिबन्ध न लगाया जाय तो उस देश की जनसंख्या वहां उत्पन्न होने वाली खाद्य-सामग्री को अपेक्षा बहुत शीघ्र बढ़ जाती है। इस प्रकार खाद्य-पदार्थों के अभाव में संघर्ष बढ़ जाता है।

(२) जिस देश में जितनी खाद्य-सामग्री उत्पन्न होती है, उसी के अनुपात में या उसी सीमा तक जनसंख्या में वृद्धि आवश्यक है। अर्थात् देश की प्राकृतिक उपज के अनुपात में ही जनसंख्या का होना अनिवार्य है। जनसंख्या की इस सीमा को ही हम उस देश की 'प्राकृतिक मांग' अथवा अधिकतम जनसंख्या (श्रम की मांग) कहते हैं। जितनी जनसंख्या उस देश में उत्पन्न होने वाली खाद्य-सामग्री पर अपना जीवन-निर्वाह कर सकती है वही उस देश की अधिकतम जनसंख्या या प्राकृतिक मांग मानी जाती है।

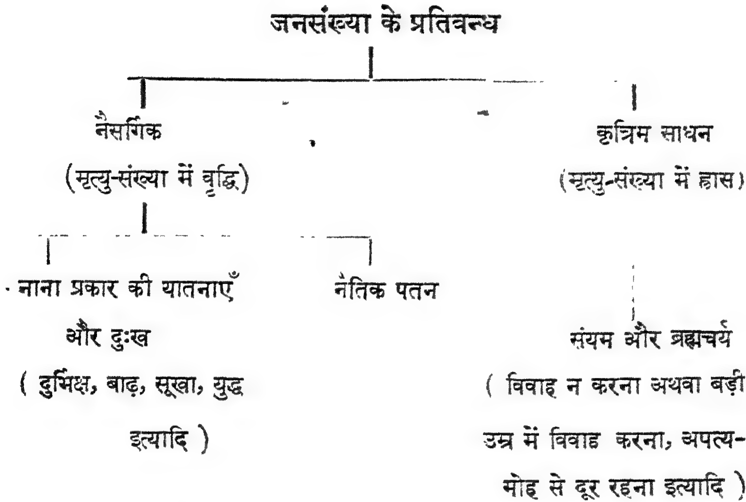
(३) उपरोक्त बातों से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि जनसंख्या में खाद्य सामग्रियों की अपेक्षा निरन्तर वृद्धि होती रहती है। यदि जनसंख्या की यह अधिक वृद्धि न रोकी जाय तो वह उस देश की प्राकृतिक मांग (श्रम की मांग) की सीमा का उल्लंघन कर जायगी और वहां के निवासियों में परस्पर भोजन के अभाव के कारण संघर्ष होने लगेगा। इस विषय में उनका मत है कि जनसंख्या की इस वृद्धि पर दो प्रकार के प्रतिबन्ध लगते हैं तब उसका नियमन होता है। एक तो नैसर्गिक और दूसरा प्रतिबंधक उपायों द्वारा।

संघर्ष नैसर्गिक प्रतिबन्ध

नैसर्गिक प्रतिबन्ध प्रकृति लगाती है। दुर्भिक्ष इसी के द्वारा पड़ते हैं। युद्ध करने की प्रवृत्तियां समाज तथा राष्ट्रों में इसी के कारण भड़कती हैं और जनसंहार करती हैं। अकाल मृत्यु, इन्फ्लुएँज़ा, हैजा, महामारी आदि बीमारियों का उद्भव नियति के इङ्गितों पर ही होता है। और इसी प्रकार विविध आकस्मिक आपत्तियों के कारण सहस्रों की संख्या में ऐसी मृत्युएं होती हैं जिन्हें हम स्वाभाविक नहीं कह सकते—

अर्थात् जिनके सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि वे अकारण हुई हैं, मनुष्य ने पूर्णायु पाकर भी उसका उपभोग नहीं किया है।

जनसंख्या के इन प्रतिवन्धों को हम निम्न चित्र द्वारा स्पष्ट करते हैं--



जनसंख्या की वृद्धि को रोकने का दूसरा प्रतिबन्ध कृत्रिम उपायों से सम्बन्ध रखता है। इन नैसर्गिक उपायों से होने वाले कष्टों से बचने के लिए इन कृत्रिम उपायों का अवलम्बन अधिक उपयुक्त रहता है। जनसंख्या की प्रगति इन प्रतिबन्धक उपायों से भी रुकती है तथा कष्ट भी कम होता है। इन प्रतिबन्धक उपायों में कुछ मुख्य निम्न प्रकार हैं--

कृत्रिम उपायों द्वारा जनसंख्या की वृद्धि रोकना

कम सन्तान उत्पन्न करना जो संयम और ब्रह्मचर्य के नियमों द्वारा हो सकता है, अथवा सन्तति-निरोध के आधुनिक साधनों के प्रयोग से भी सम्भव है। बड़ी अवस्था में विवाह करने पर भी जनसंख्या की प्रगति मन्द की जा सकती है। यदि इन कृत्रिम साधनों का उपयोग मनुष्य नहीं करता है तो प्रकृति को विवश होकर अपने नैसर्गिक अस्त्रों का प्रयोग करना पड़ता है। उस अवस्था में इनका प्रयोग कोई रोक नहीं सकता। अतएव अगर किसी देश को अपनी मृत्यु-संख्या को कम करना है तो उसे अपनी जनसंख्या को पहिले

कम करना चाहिये। इसके लिए जनता को अपने ऊपर स्वयं ऐसे प्रतिबन्ध लगाने चाहिए जिससे सन्तान कुछ समय तक उत्पन्न न हो।

माल्थस के सिद्धांतों पर किए गए कुछ आक्षेप

ज्यों-ज्यों देश में कल-कारखानों और उद्योग-व्यवसायों में उन्नति होती गई; वाष्प से चलने वाली रेलगाड़ियाँ तथा जलयान (जहाज़) चलने लगे त्यों-त्यों इङ्गलैण्ड की सुख-समृद्धि में निरन्तर प्रगति होती चली गई। इससे माल्थस के विचारों का प्रभाव घटता चला गया और जनसंख्या के इन सिद्धान्तों पर अनेक प्रकार की टीका-टिप्पणियाँ तथा आक्षेप होने लगे।

(१) प्रसिद्ध अर्थशास्त्री और दार्शनिक कैनन का मत था कि "आर्थिक विचारों में प्रायः काम आने वाली युक्ति और तर्क के स्थान पर गणित का व्यवहार ठीक और न्यायसङ्गत नहीं है; और निस्सन्देह जनसंख्या और भोज्य पदार्थों की उत्पत्ति रेखागणित और अङ्कगणित के अनुपात की कसौटी पर न कभी कसे जा सके हैं और न यह कभी सम्भव ही है।" माल्थस का कथन है कि जनसंख्या की वृद्धि प्रायः ज्यामितिक वृद्धि के अनुसार (अर्थात् १, २, ४, ८, १६, ३२ यानी अपने से दुगुना या तिगुना १, ३, ९, २७ करने की प्रवृत्ति पाई जाती है और खाद्य-पदार्थों की वृद्धि अङ्कगणित की वृद्धि के अनुसार अर्थात् १, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८ ९ यानी क्रमशः प्रगति) होती है। ऐसे विचार निराधार और भ्रमात्मक हैं और वास्तव में जनसंख्या की वृद्धि और भोज्य पदार्थों की वृद्धि में ऐसा कोई अनुपात अथवा नियम नहीं सिद्ध किया जा सकता है।

माल्थस ने यह भी भूल की कि जहाँ वे एक ओर जनसंख्या पर रोक-थाम रखने की आवश्यकता पर जोर देते रहे वहाँ उन्होंने खाद्योत्पत्ति बढ़ाने के लिये विशेष ज़ोर नहीं दिया। उन्होंने प्रायः भोजन की मात्रा को स्थिर प्राकृतिक व्यवस्था के रूप में मान लिया और इस बात की ओर ध्यान नहीं दिया कि किसी सीमा तक इसमें भी मानवीय यत्नों से उन्नति सम्भव है।

माल्थस के समय में भी तथा उसके बाद के यूरोप के सारे आर्थिक इतिहास ने उनके विचारों को भ्रमात्मक और निराधार सिद्ध कर दिया। माल्थस ने इस बात की उपेक्षा की कि आज के समृद्धि-युग में नवीन आविष्कारों और विविध उपायों से उत्पत्ति सम्बन्धी क्रमागत-ह्रास नियम रोका जा सकता है। अर्थात्

अधिक प्रयत्न करने तथा वैज्ञानिक रीतियों से खाद्य पदार्थों की उत्पत्ति में भी वृद्धि निश्चित रूप से की जा सकती है। अस्तु; माल्थस ने किसी एक देश में खाद्य सामग्री की कमी को बहुत बढ़ा-चढ़ा कर बतलाया है।

माल्थस के सिद्धांतों में सत्य

जैसा कि हम ऊपर बता आये हैं, माल्थस ने जिस समय की अवस्था का अध्ययन किया था उस समय न केवल इङ्गलैण्ड की वरन् सारे यूरोप की आर्थिक दशा अत्यन्त शोचनीय थी। उस समय न तो रेल और न जहाज़ के साधन थे और न आधुनिक उत्पत्ति के साधनों का ही विकास हुआ था। अस्तु; खाद्य सामग्री की कमी पड़ने पर उस समय सभी देशों को निराश्रित रह कर नाना प्रकार की यातनाएँ भुगतनी पड़ती थीं। किन्तु आर्थिक जीवन की प्रगति के साथ-साथ अब वे कठिनाइयाँ बहुत अंशों में दूर हो चुकी हैं क्योंकि यदि एक स्थान पर अनाज की कमी होने पर उसकी पूर्ति दूसरे देशों से हो जाती है। किन्तु आज राष्ट्रों का परस्पर सौहार्द्र नष्ट हो चुका है। योरोपीय देशों के गृह-युद्ध ने संसार-व्यापी शान्ति को भङ्ग कर दिया है। सुख और शान्ति की भित्तियाँ कम्पित और प्रायः नष्ट हो चुकी हैं। ऐसी परिस्थितियों में एक राष्ट्र दूसरे की सहायता के लिये समय पर विमुख हो सकता है अथवा युद्ध के कारण यातायात और आवागमन के साधन अवरुद्ध हो जाने पर उसे सर्वथा निराश्रित रहना पड़ेगा और माल्थस के सिद्धान्तानुसार प्रकृति की आपत्तियों का शिकार होना पड़ेगा।

जो भी हो, माल्थस के सिद्धान्त पाश्चात्य देशों में उत्पत्ति के साधनों के उन्नत और विकसित हो जाने पर आज जड़ प्रतीत होते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा सङ्घ (लीग ऑफ नेशन्स) की १९३१–३२ ईस्वी की रिपोर्ट के अनुसार जब कि १९१३ और १९२५ में संसार भर की जनसंख्या में ५ प्रतिशत वृद्धि हुई वहाँ इन्हीं दिनों में खाद्य पदार्थों की मात्रा में १० प्रतिशत वृद्धि पाई गई। १९२५ और १९२९ के बीच संसार की जनसंख्या और खाद्य पदार्थों में क्रमशः ४ और १० प्रतिशत की वृद्धि हुई है। अतः इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि जनसंख्या की अपेक्षा भोज्य पदार्थों में किसी प्रकार की कमी उत्पन्न नहीं हुई। इसके विपरीत अमेरिका जैसे व्यवसायी प्रदेशों में तो अनाज के नष्ट करने के प्रश्न पर लगभग प्रत्येक वर्ष ही विचार होता है। वहाँ आवश्यकता से अधिक

अनाज पैदा होने की समस्या का ठीक-ठीक समाधान नहीं हो पाता। इसी प्रकार फ्रांस, रूस, जर्मनी, इटली आदि देशों में जनसंख्या की वृद्धि करने के उपायों पर अधिकाधिक विचार किया जाता है। वहाँ जन्म-संख्या के अनुपात को बढ़ाने के साधनों को प्रयोग में लाना आवश्यक हो रहा है। इन परिस्थितियों में ऐसे देशों में तो माल्थस की विचारधारा सर्वथा ही निरर्थक दीख पड़ती है।

दूसरी ओर चीन और भारत जैसे कृषि-प्रधान देश हैं। इन देशों में माल्थस के सिद्धान्तों की आज भी पूरी जीत हो रही है। खाद्य पदार्थों और जनसंख्या में कोई साम्य नहीं है। इसका कारण यह है कि इन देशों में रहन-सहन का स्तर अत्यन्त ही निम्न कोटि का है। बस्तियाँ प्रायः सघन हैं और कृषिजन्य तथा अन्य खाद्य पदार्थों पर 'क्रमागत ह्रास नियम' लागू हो रहा है। उद्योग-धन्धे भी प्रायः अवनति के गर्त में हैं। अधिकांश जनसंख्या अशिक्षित और धर्मान्ध है, अतः जन्म-संख्या को रोकने वाले कृत्रिम साधनों सौटी प संयम और ब्रह्मचर्य के नियमों का भी पालन नहीं होता है। यही कारण का कथ इस जनसंख्या की इस भीषण प्रगति को रोकने के लिये इन देशों में प्रकृति को अपने विविध अस्त्रों का (दुर्भिक्ष, महामारी, धार्मिक युद्ध, बाढ़, सूखा, भूकम्प इत्यादि) उपयोग करना पड़ता है।

इकतीसवाँ अध्याय

भारतवर्ष की जनसंख्या

भारतवर्ष एक विस्तृत देश है। पिछली जन-गणना के अनुसार यहां ३८ करोड़ ८८ लाख व्यक्ति रहते हैं। इसमें से २९ करोड़ ५८ लाख (७७ प्रतिशत) मनुष्य भारत के प्रान्तों में रहते हैं और शेष २३ प्रतिशत रियासतों में। कुल जनसंख्या में से लगभग ८७ प्रतिशत मनुष्य गांवों में रहते हैं और शेष नगर-निवासी हैं। जनसंख्या की दृष्टि से भारतवर्ष का संसार में एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। समस्त मानव जनता का लगभग पांचवां भाग यहां रहता है। क्षेत्रफल के अनुसार यह संयुक्त-राष्ट्र

अमेरिका का आधा बैठता है, किन्तु जनसंख्या की दृष्टि से यहाँ उस देश की तीन गुनी संख्या निवास करती है।

यदि भारतवर्ष में सन् १८७१ से जनसंख्या की वृद्धि देखी जाय तो वह इस प्रकार बैठती है :—

वर्ष	जनसंख्या (करोड़ों में)	प्रतिशत वृद्धि
१८७१	२०.३	—
१८८१	२५.४	२३
१८९१	२८.७	१३
१९०१	२९.४	२.५
१९११	३१.५	७.८
१९२१	३२.०	०.९
१९३१	३५.३	१०.६
१९४१	३८.८	१५.०

यदि तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाय तो भारत में जनसंख्या की वृद्धि अन्य देशों की अपेक्षा धीमी गति से और कम हुई है। १८७० और १९३० ई० के बीच कुछ देशों की जनसंख्या की वृद्धि निम्न प्रकार से हुई :—

संयुक्त-राष्ट्र अमेरिका	१२५ प्रतिशत
रूस	११५ ,,
जापान	११२ ,,
इङ्गलैण्ड और वेल्स	७७ ,,
यूरोप (रूस के अतिरिक्त)	५६ ,,
भारतवर्ष	३०.७ ,,
फ्रांस	१४ ,,

उपरोक्त अंकों के देखने पर हमें यही विदित होता है कि जनसंख्या की वृद्धि में हमसे पिछड़ा हुआ केवल एक देश है—फ्रांस। सन्तानोत्पत्ति पर जो प्रतिबन्ध फ्रांस ने लगाये थे उसका फल यह हुआ कि फ्रांस को विगत महायुद्ध में पराजय

देखनी पड़ी। फ्रांस में ही नहीं आज सारे यूरोप में जनसंख्या को बढ़ाने का प्रश्न उपस्थित है। वहां जनसंख्या को बढ़ाने का अनुरोध शासन की ओर से होता है। किन्तु भारतवर्ष की दशा उन देशों से सर्वथा ही विपरीत है। यद्यपि जनसंख्या की प्रगति जैसा कि उक्त अङ्कों के देखने से स्पष्ट होता है, बहुत ही कम हुई है तथापि यहां की जनसंख्या संसार में केवल चीन को छोड़कर सबसे अधिक है।

जनसंख्या में हर दसवें वर्ष कभी कम और कभी अधिक वृद्धि होती ही जा रही है। १८९१ और १९०१ के बीच भारत में एक भीषण दुर्भिक्ष पड़ा; १९११ और १९२१ में इन्फ्लुएँजा का छूत का रोग फैला जिसके फलस्वरूप सवा करोड़ व्यक्ति मारे गए। इसी प्रकार की अनेक आपत्तियाँ हम इस देश में घटते देखते हैं। जिस देश के मनुष्य स्वयं अपनी जनसंख्या की वृद्धि को रोकने का प्रयत्न नहीं करते, वहाँ प्रकृति को अपने अस्त्र काम में लाने पड़ते हैं। अनाज की कमी होने पर दुर्भिक्ष से जनसंख्या घटती है। काफी भोजन न मिल सकने के कारण उनमें बीमारियों और महामारी के रोगों का सामना करने की क्षमता नहीं रह जाती। इस तरह अनेक घातक रोगों के शिकार होकर वे मक्खियों की भाँति बहुत बड़ी संख्या में मौत के मुँह में चले जाते हैं। अतः प्रकृति के अस्त्र जो कि क्रूर और नृशंस होते हैं उनसे वह समय-समय पर हमारा गला घोटती रहती है और हमें उन सबको सहन करना पड़ता है।

१९३१ में डॉक्टर हट्टन जन-गणना के अध्यक्ष थे। उन्होंने १९२१ और १९३१ के बीच में जनसंख्या की १०·६ की वृद्धि को 'डर का कारण' बताया था। यह वृद्धि प्रति वर्ष १ प्रतिशत के हिसाब से हुई थी; किन्तु १९३१ और १९४१ के बीच जनसंख्या की वृद्धि और भी बढ़ गई। इस बीच की कुल वृद्धि १५ प्रतिशत हुई। अर्थात् १·२५ प्रतिशत प्रति वर्ष। इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारा भय कम नहीं हुआ बल्कि बढ़ता ही जा रहा है और प्रकृति के नृशंस अस्त्रों को भी हम में से प्रत्येक प्रयुक्त होते देख रहा है।

अन्य देशों की अपेक्षा हमारा देश आर्थिक दृष्टि से हीन है और सामाजिक दृष्टि से भी पिछड़ा हुआ है। ये दोनों बातें साथ ही साथ चलती हैं। सन्

१९४१ में केवल १२.९ प्रतिशत व्यक्ति ही इस देश में पढ़े लिखे थे। १९३१ में यह संख्या ८.० प्रतिशत और १९२१ में ७.० प्रतिशत थी। १९४१ में जो वृद्धि दृष्टिगत होती हैं, वह हमें भुलावे में डालने वाली है। इसका कारण यह है कि सन् १९३१ में पढ़े-लिखे लोगों में उनको भी सम्मिलित कर लिया गया था, जो चिट्ठी पढ़ सकते थे और उसका प्रत्युत्तर भी दे सकते थे। किन्तु १९४१ में केवल पत्र पढ़ लेने वालों का भी इस संख्या में मिला लिया गया।

हमारी सामाजिक हीनता

अन्य देशों से तुलना करने पर विदित होगा कि हम इस दशा में कितने पिछड़े हुए हैं।

देश	शिक्षितों की संख्या
संयुक्त राष्ट्र अमेरिका	९५.९७ प्रतिशत (१९३०)
रूस	९०.० ,, (१९३३)
तुर्की	४४.९ ,, (१९३४)
इटली	७१.२ ,, (१९२१)

अनपढ़ों की इतनी विस्तृत संख्या से यह स्पष्ट है कि औसत भारतवासी की समझ में जनसंख्या की समस्या न आ सकती है और न वे इसकी वृद्धि को रोकने के उपायों का ही अनुकरण कर सकते हैं। अशिक्षित होने के कारण वे प्रायः धर्मान्ध और अन्धविश्वासी हैं। पुरानी लकीरों पर डटे रहने और अपने रङ्ग-ढङ्ग को न बदलने का भी उनका प्रायः स्वभाव है।

यहां जनसंख्या पर विचार करते समय, स्त्री-पुरुष सम्बन्धी भेद पर भी विचार कर लेना आवश्यक है, चूंकि इस भेद का जनसंख्या की वृद्धि पर गहरा प्रभाव पड़ता हैं। भारत में स्त्री-पुरुषों की संख्या में घोर असमानता है। पुरुषों की संख्या स्त्रियों से कहीं अधिक है। सन् १९३१ में कुल जनसंख्या में ५१.४ प्रतिशत पुरुष और ४८.६ प्रतिशत स्त्री थीं। सन् १८८१ से स्त्रियों की संख्या में लगातार कमी हो रही है, और आज पुरुषों की संख्या स्त्रियों से कहीं अधिक बढ़ चुकी है जो अगले पृष्ठ पर दिये गये अंकों के देखने से विदित हो जावेगा—

स्त्री-पुरुष का भेद

सन्	स्त्रियों की कमी	१००० पुरुषों के पीछे स्त्रियों की संख्या
१९०१	५५ लाख	९६२
१९११	७५ ,,	९५४
१९२१	९० ,,	९४५
१९३१	१ करोड़ १० लाख	९४०

केवल मद्रास ही एक ऐसा प्रान्त है जहां स्त्रियों की संख्या पुरुषों से अधिक है। पञ्जाब में प्रति सहस्र व्यक्तियों के पीछे ९३१ स्त्रियां है जब कि सन् १८८१ में वहां यही संख्या ८४० थी। अतः उक्त अंकों से हमें दो बातें विदित होती हैं-

प्रथम तो हमारे यहां प्रति सहस्र मनुष्यों के पीछे स्त्रियों की संख्या ही कम है और दूसरे इस संख्या में क्रमागत ह्रास होता चला जा रहा है।

अनेक पाश्चात्य विचारकों का मत है कि स्त्रियों की संख्या में कमी का कारण हिन्दुओं की वर्ण-व्यवस्था या जादि-भेद है। अन्तर्जातीय विवाह की प्रथा प्रचलित न होने के कारण पुरुषों की संख्या में वृद्धि होना आवश्यक है। किन्तु इस विचार को हम सचाई की कसौटी पर नहीं कस सकते हैं। स्त्रियों की संख्या में कमी का कारण कुछ अंश तक इस देश में प्रचलित छोटी उम्र में विवाह कर देने की प्रथा भी है। चूँकि छोटी उम्र में विवाह कर देने से सन्तान तो शीघ्र ही पैदा होने लगती है, किन्तु छोटी आयु में बच्चा पैदा होने के कारण अनेक स्त्रियां प्रजनन की क्रिया में ही मर जाती हैं। पैदा होने के समय भी भारतवर्ष में लड़कियों की अपेक्षा लड़कों की संख्या अधिक होती है।

इसका अनुपात १०८ : १०० का है।

स्त्रियों की इस कमी का प्रभाव हमारे चाल-चलन पर भी पड़ता है। छोटी आयु में विवाह कर देने की प्रथा इसीलिए आरम्भ हुई प्रतीत होती है। स्त्रियों की संख्या में कमी होने के कारण अनेक सामाजिक बुराइयां घर कर गई हैं और नैतिक पतन की ओर हमारी प्रवृत्ति झुक सी गई है।

आयु के अनुसार जनसंख्या का विश्लेषण

जनसंख्या का विचार करते समय किस-किस उम्र का क्या अनुपात है यह जान लेना भी आवश्यक है। इससे हमें यह विदित हो जावेगा कि हमारी कुल जनसंख्या का कितना भाग काम में जुटा रह सकता है।

सन् १९३१ में प्रति दस हजार व्यक्तियों के पीछे आयु के अनुसार जो संख्या भेद था वह निम्न प्रकार है—

आयु	स्त्री	पुरुष
०—१०	२८८९	२९०२
१०—२०	२०६२	२०८६
२०—३०	१८५६	१७६८
३०—४०	१३५१	१४३१
४०—५०	८९१	९३८
५०—६०	५४५	५६१
६०—७०	२८१	२६९
७० से ऊपर	१२५	११५

ऊपर के अङ्कों के देखने से पता चलता है कि भारतवर्ष में जन्म-संख्या का अनुपात कितना अधिक है और हर दसवें वर्ष तक कितनी ज्यादा मृत्युएं हो चुकी होती हैं। १५ और ४० वर्ष के बीच में जो काम करने योग्य व्यक्तियों की संख्या है वह कुल जनसंख्या का ४० प्रतिशत भाग ही है। इङ्गलैण्ड और फ्रांस में यही संख्या क्रमशः ६० और ५३ प्रतिशत है।

हमारे देश में काम करने वालों पर बेकार व आश्रितों का अनुपात बढ़ता ही

बेकारी की समस्या

जा रहा है। सन् १९२१ में काम में लगे हुए व्यक्तियों की संख्या ४६ प्रतिशत थी और आश्रितों की ५६ प्रतिशत। यह संख्या सन् १९३१ में बढ़ कर क्रमशः ४४ और ५३ प्रतिशत हो गई।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस देश में काम करने वाले व्यक्तियों पर बोझ बढ़ता जा रहा है और आश्रितों की संख्या में भी निरन्तर वृद्धि ही होती जा रही है। इससे भी देश में दुःख और अशान्ति बढ़ती जा रही है।

भारतवर्ष में जन्म और मृत्यु-संख्या का अनुपात संसार में सबसे अधिक है।

हमारे जन्म और मृत्यु के आंकड़े

सन् १९४१ में जन्म-संख्या और मृत्यु-संख्या प्रति सहस्र मनुष्यों के पीछे क्रमशः ३२ और २२ थी। यदि अन्य देशों से तुलना की जाय तो हमारी स्थिति इस प्रकार है—

सन् १९३१—३८

देश	जन्मसंख्या	मृत्यु-संख्या
ब्रिटेन	१५.५	१२.५
फ्रांस	१६.६	१५.७
स्वीडेन	१४.१	११.६
नार्वे	१५.३	१०.३
जर्मनी	१५.९	११.०
स्पेन	२०.९	१६.२
रूमानिया	३०.८	२०.६
इटली	२३.८	१४.०
संयुक्तराष्ट्र अमेरिका	१७.३	१०.९
जापान	३१.६	१८.१
आस्ट्रेलिया	१९.८	८.५
न्यूज़ीलैण्ड	१८.०	८.६
भारतवर्ष	३४.३	२३.८

सन् १९३८ में तो इङ्गलैण्ड और वेल्स की अपेक्षा भारत में जन्म-संख्या और मृत्यु-संख्या दोनों ही दूनी से भी अधिक थीं। संसार के अन्य देशों में जन्म और मृत्यु दोनों ही की संख्याओं में घटने की प्रवृत्ति पाई जाती है। किन्तु भारतवर्ष में विगत ५०-६० वर्षों में ऐसा कोई भी झुकाव देखने में नहीं आया। इसके लिए हम नीचे अङ्क उद्धृत करते हैं—

(प्रति सहस्र में)

सन्	जन्म-संख्या	मृत्यु-संख्या
१८८५—९०	३६	२६
१८९०—०१	३४	३१
१९०१—११	३८	३४
१९११—२१	३७	३४
१९२१—३१	३५	२६
१९३१—३५	३५	२४
१९४१	३३	२२

इन अङ्कों से तीन बातें स्पष्ट होती हैं—(१) पाश्चात्य देशों की भाँति हमारे देश में जन्म और मृत्यु दोनों के अनुपात में समय के साथ-साथ कमी नहीं हो रही है, (२) हमारी जन्म-संख्या का अनुपात अचल-सा ही बना हुआ है, और (३) हमारी मृत्यु-संख्या के अनुपात में ही घटती अथवा बढ़ती हो रही है जो हमारी जनसंख्याके निर्धारण में मुख्य है। ये बातें हमारे देश के दुर्भाग्य-चिह्न हैं।

अन्य प्रगतिशील देशों में जन्म तथा मृत्यु-संख्या किस गति से घटती रही है, यह तथ्य निम्न अङ्कों के देखने से विदित हो जायगी—

जन्म-संख्या

देश	वर्ष		
	१८८१-९१	१९२१-२५	१९२६-२७
ब्रिटेन	३२.५	२०.४	१७.२
फ्रांस	२३.९	१९.३	१८.२
संयुक्तराष्ट्र अमेरिका	—	२२.५	१९.७
जर्मनी	३६.९	२२.१	१८.४
मृत्यु संख्या			
ब्रिटेन	१९.२	१२.४	१२.३
फ्रांस	२२.१	१७.२	१६.८
संयुक्त-राष्ट्र अमेरिका	—	११.८	११.८
जर्मनी	२५.१	१३.३	११.८

भारतवर्ष में जन्म-संख्या का आधिक्य भिन्न-भिन्न देशों की ० से ५, और ५ से १० वर्ष तक की आयु वालों की तुलना करने पर भी विदित हो जायगा।

देश	आयु	
	०.५	५.१०
ब्रिटेन	७.५	८.३
संयुक्त-राष्ट्र अमेरिका	९.३	१०.३
जापान	१४.१	१२.१
भारत	१५.३	१३.०

सन् १९३१ में भिन्न भिन्न धन्धों में लगे हुए व्यक्तियों के अनुसार जन्म-संख्या का विवरण इस प्रकार था—

व्यवसाय	हर कुटुम्ब में बच्चों की औसत संख्या
कच्चा माल उत्पन्न करने वाले	४.४
तैयार माल के बनाने और बेचने वाले	४.२
सार्वजनिक नौकर तथा अन्य व्यवसायी	४.०
अध्यापक, डॉक्टर, वकील आदि	३.७

धर्म के अनुसार भारतवर्ष में सबसे अधिक सन्तान की वृद्धि एनिमिस्ट लोगों में पाई जाती है। सन् १९३१ में १५ से ४० वर्ष की आयु की विवाहित स्त्रियों की प्रतिशत संख्या में दस वर्ष से कम आयु वाले बच्चों की संख्या निम्न प्रकार की थी —

धर्म	बच्चों की संख्या
एनिमिस्ट	१९६
सिक्ख	१९२
मुस्लिम	१७८
हिन्दू	१६४
सब धर्मावलम्बियों का औसत	१७०

उपरोक्त अङ्कों के देखने से एक बात और भी स्पष्ट होती है। जन्म-संख्या में वृद्धि मुसलमानों में हिन्दुओं की अपेक्षा अधिक है। सन् १८८१ और १९३१ के बीच में जब कि हिन्दू २६.८ प्रतिशत बढ़े, वहाँ मुसलमानों की संख्या में ५५ प्रतिशत की वृद्धि हुई।

मृत्यु के प्रश्न को गम्भीरतापूर्वक समझने के लिये हमें कुछ बातें ध्यान में रखनी चाहिए। सारे योरोप की जनसंख्या (रूस के अतिरिक्त) सन् १९३१ में लगभग ३७ करोड़ ८० लाख थी और उसी काल में भारतवर्ष की जनसंख्या लगभग ३४ करोड़ थी।

हमारा स्वास्थ्य

भारत से अधिक जनसंख्या वाले यौरोप में सन् १९२३ और १९३१ के बीच लगभग सवा चार करोड़ व्यक्तियों की मृत्यु हुई और इसी समय में भारतवर्ष में मृत्यु-संख्या लगभग ५ लाख से कुछ अधिक थी। डिग्बी और

लिलिके अनुसार गत शताब्दी में हमारे यहाँ ३१ दुर्भिक्ष पड़े जिनमें लगभग सवा तिन करोड़ व्यक्तियों को जीवन से हाथ धोना पड़ा। सन् १९०१ और १९४३ के दुर्भिक्ष में क्रमशः १० लाख और ३० लाख मौत के मुँह में चले गये। रसल और राजा के अनुसार सन् १९०१ से १९३१ तक भिन्न-भिन्न रोगों द्वारा जो इस देश में मृत्युएँ हुई है, उनका विवरण इस प्रकार है—

रोग	मृत्यु-संख्या
हैजा	१ करोड़ ८ लाख
इन्फ्लुएँजा	१ करोड़ ४० लाख
महामारी (प्लेग)	१ करोड़ २५ लाख
मलेरिया	३ करोड़

उपरोक्त तथ्यों से हमें विदित होता है कि हमारे इस देश पर यमराज का राज्य है। यहाँ समय-समय पर देशके प्रत्येक कोने में छूआछूत आदि की बीमारियाँ फैलती रहती हैं जो असंख्य लोगों को मृत्यु के घाट उतार देती हैं। यहाँ जीवन मूल्यहीन हो गया है। मलेरिया तो एक प्रकार से भारतीय जनता का जीवन-सहचर बन चुका है और नियमित रूप से जोंक की भांति उनके शक्ति-स्रोत को चूसता रहता है। क्षय तथा अन्य बीमारियों द्वारा भी इसी तरह निर्विरोध जन-संहार का क्रम चलता रहता है। इनसे बचने के हमारे यहाँ उपाय भी क्या हैं?

हमारी अधिक मृत्यु-संख्या की वृद्धि में बचपन में बच्चों की और मातृत्त्व काल में माताओं की बड़े अनुपात में मौत है। छोटी आयु में ही विवाह हो जाने के फलस्वरूप यहाँ के नव-दम्पति छोटी अवस्था में ही माँ बाप भी बन जाते हैं। इस अवस्था के बालक प्रायः निस्तेज और निर्बल होते हैं और शीघ्र ही कुम्हला जाते हैं। भारत सरकार की १९३८ ई० की विज्ञप्ति के अनुसार (हेल्थ बुलेटिन नं० २३) सन् १९३५ में १२ लाख ५० हजार बच्चों की मृत्यु १ वर्ष की आयु से पूर्व ही हो गई। इनमें से अधिकांश बच्चों की मृत्यु उचित खुराक न मिलने के कारण हुई।

बच्चों की मृत्यु-संख्या

हमारे देश में प्रति सहस्र जन्मे बच्चों में से औसतन १७९ बच्चे आयु के पहिले वर्ष में ही मर जाते हैं। इङ्गलैण्ड और वेल्स में यह संख्या ६० है। और जब भारतवर्ष में ५ वर्ष की आयु तक ४५ प्रतिशत बच्चे मरते हैं तो इङ्गलैण्ड में केवल २० प्रतिशत। अगले पृष्ठ के कोष्ठक में हम भारत के कुछ नगरों में बच्चों की मृत्यु-संख्या का विवरण देते हैं —

मृत्यु-संख्या प्रति १,००० जन्मे बच्चों में

शहर	१९३५	१९३६	१९३७	१९३८	१९३९	१९४०	१९४१
बम्बई	२४८	२५०·२	२४६·३	२६७·९	२१२·२	२०१·५	२११·४
कलकत्ता	२३९	२४१·६	२५२·७	२१८·६	२०५·४	२१२·५	—
मद्रास	२२७	२१९·३	२२३·८	२२२·१	२४१·६	२०५·७	२०८·९
लखनऊ	२२४	२२४·४	२२३·५	२२६·४	२१२·२	२१४·४	१३४·९
नागपुर	२६१	२८३·५	२३४·६	२६४·२	२२६·२	२९४·६	२१८·८
दिल्ली	१९६	१७०·०	१८७·४	१५६·०	१६९·९	१७३·८	१८५·९
अहमदाबाद	२८०	३०३·४	२८०·२	२८३·०	२६७·४	३१०·२	१३३·२

अन्य देशों में शिशुओं की मृत्यु के अनुपात से तुलना करने पर हमारी स्थिति निम्न प्रकार ठहरती है —

देश सन् १९३१-३५	प्रति सहस्र शिशुओं की मृत्यु-संख्या
संयुक्तराष्ट्र अमेरिका	५९
ब्रिटेन	६५
जापान	१२४
भारत	१७१

जैसा कि हम ऊपर संकेत कर आए हैं इस देश में मृत्यु-संख्या की अधिक वृद्धि का एक महत्त्वपूर्ण कारण मातृत्व-काल में स्त्रियों की अधिक संख्या में मृत्यु है। प्रजनन के समय उचित चिकित्सा तथा अन्य सहायता न मिल सकने के कारण तथा प्रसूता को अवैज्ञानिक ढंग से जिन दूषित परिस्थितियों में रखा जाता है, ये सब कारण स्त्रियों की मृत्यु-संख्या में वृद्धि करते हैं। संसार के अन्य सभ्य राष्ट्रों में स्त्रियों को प्रसव काल में उचित सुविधाएँ दी जाती हैं तथा चिकित्सा के ढंग भी उच्चकोटि के रहते हैं। भारतवर्ष में प्रसूतिकाल में जच्चाओं की मृत्यु भी सबसे अधिक है। सर जॉन मेगा के अनुसार यहां प्रति सहस्र जच्चाओं में मृत्यु-संख्या का अनुपात लगभग २४०·५ है। इन अङ्कों के देखने से विदित हो जाता है कि भारतवासी जीवन के प्रति कितने उदासीन हैं। यहां जीवन का कोई मूल्य और महत्त्व नहीं है। यह समाज का अत्याचार है जो हमारी स्त्रियों को अल्पायु में ही गर्भ धारण के लिए बाध्य करता है। स्त्रियों में प्रवसकाल की मृत्यु के मुख्य कारण निम्नलिखित हैं—(१) शीघ्र विवाह (अल्पायु में) (२) अस्वस्थ और दूषित वातावरण ; (३) अशिक्षित और अयोग्य दाइयां ; और (४) दवाओं की कमी।

स्त्रियों की मृत्यु-संख्या

भारत में प्रजनन-काल में स्त्रियों की मृत्यु-संख्या (१५ से ४० वर्ष की आयु के बीच में) प्रति सहस्र १३·२ है और मनुष्यों की मृत्यु-संख्या इसी काल में १०·७ है। इङ्गलैण्ड में बच्चों की मृत्यु-संख्या का अनुमान ४·११ है। इस देश में जहां स्त्रियों को एक ओर अल्पायु में ही गर्भ धारण करना पड़ता है वहां दूसरी ओर उन्हें बार-बार गर्भ धारण करने का भी अत्याचार सहन करना पड़ता

है—जैसे वे कोई बच्चा पैदा करने की मशीन हों। इस प्रकार अनेक बच्चे पैदा करने के उपरान्त उनमें अधिक शक्ति शेष नहीं बचती है। इस प्रकार के जीवन-विनाश का प्रमाण यह है कि भारतीय पत्नी औसतन ४.२ बच्चों को जन्म देती है, जिनमें केवल २.९ बच्चे ही जीवित रह पाते हैं।

उपरोक्त वर्णन के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यद्यपि हमारे देश में जन्म-संख्या का अनुपात संसार के अन्य सभी देशों से अधिक है, किन्तु साथ ही मृत्यु-संख्या भी किसी देश से कम नहीं है। फलतः जनसंख्या की प्रगति संसार के अन्य राष्ट्रों के समान नहीं हुई। दश वर्ष की अवस्था समाप्त होते होते लगभग ४५ प्रतिशत भारतवासी संसार छोड़ चुकते हैं और तीस वर्ष की आयु तक लगभग ६५ प्रतिशत मृत्यु को प्राप्त हो चुकते हैं। भारतवर्ष में ३० वर्ष की आयु तक प्रति एक लाख व्यक्तियों में से ३५८०० व्यक्ति जीवित रह पाते हैं, जब कि ब्रिटेन में इसी संख्या में से ७२ हजार व्यक्ति जीवित रहते हैं। निम्न कोष्ठक में हम भारतवर्ष में आठ वर्षों में जीवित रहने वालों की संख्या दिखलाते हैं—

प्रति सहस्र व्यक्तियों में अनुमान

वर्ष	जन्म-संख्या	मृत्यु-संख्या	शेष जीवित बचे हुए
१९२६	३५	२७	८
१९२८	३७	२६	११
१९३०	३६	२७	९
१९३१	३५	२५	१०
१९३२	३४	२२	१२
१९३३	३६	२२	१४
१९३४	३४	२५	९

अपने देश के इन अङ्कों की तुलना हम भिन्न-भिन्न देशों से निम्न कोष्ठक में करते हैं—

देश	१८९०-१९०१	१९०१-११	१९२१-२५	१९२६-३०	१९३०-३५
इङ्गलैण्ड	११.७	११.८	८.०	४.९	३.३
संयुक्तराष्ट्र अमेरिका	—	—	१०.६	७.९	६.४
जापान	८.९	११.४	१२.८	१४.२	१३.५
जर्मनी	१३.९	१५.९	८.८	६.६	४.९
फ्रांस	०.६	१.२	२.१	१.४	०.८
भारतवर्ष	४.१	४.३	६.७	९.०	१०.२

उपरोक्त अङ्कों से स्पष्ट है कि हमारे देश में अन्य देशों की अपेक्षा जनसंख्या की गति भिन्न है और यहां उसमें बड़ी तीव्रता से प्रगति हो रही है।

बत्तीसवां अध्याय

श्रम की कुशलता

पिछले अध्याय में हम बता चुके हैं कि किसी देश में श्रम की पूर्ति पर दो बातों का सामान्य प्रभाव पड़ता है। देश की कुल श्रमिकों की संख्या के अतिरिक्त उनमें विशेष योग्यता की भी आवश्यकता होती है। मान लीजिये भारतवर्ष की जनसंख्या अब तीस करोड़ हैं और इङ्गलैण्ड की दस करोड़; किन्तु यदि दस करोड़ अंग्रेज उतनी ही उत्पत्ति कर लेते है जितनी कि ३० करोड़ भारतवासी तो इसका अर्थ यह हुआ कि दोनों देशों में श्रम की पूर्ति समान है और अंग्रेज भारतवासियों की अपेक्षा अधिक कुशल हैं। अतः कुशलता का प्रयोग व्यापक अर्थ में किया जाता है। इसके अन्तर्गत किसी निश्चित समय में एक श्रमिक की योग्यता और अधिक कार्य करने की क्षमता सम्मिलित रहती है। अस्तु; यदि एक अंग्रेज किसान भारतवासी की अपेक्षा एक एकड़ भूमि से तीनगुनी अधिक उत्पत्ति कर लेता है या एक एकड़ भूमि को तिहाई समय में जोत लेता है तो हम यह कह सकते हैं कि अंग्रेज़ किसान भारतवर्षीय किसान की अपेक्षा तीनगुना कुशल है। इस प्रकार हम देखते हैं कि कुशलता शब्द का प्रयोग तुलनात्मक रूप में किया जाता है। यह तो हमारे दैनिक अनुभव की बात है कि गांवों में किसान एक सी जलवायु, वातावरण, परिस्थितियों में तथा एक से ही यन्त्रों और बीजों से खेती करते हैं; किन्तु फिर भी एक की अपेक्षा दूसरे की उपज अधिक होती है। अर्थात् सब किसानों की उपज समान नहीं होती है। ऐसा क्यों होता है? सब बातों के समान रहने पर भी उपज में इतनी विषमता क्यों रहती है? इन्हीं बातों पर हमें यहां विचार करना है।

उत्पत्ति की यह विषमता कई बातों पर आश्रित रहती है। किन्तु इसमें सबसे बड़ा हाथ श्रमिक की कुशलता का रहता है। श्रमिक की कुशलता भी अनेक कारणों पर निर्भर रहती है—उसकी योग्यता, शिक्षा, उत्पत्ति के साधन, जलवायु, भोजन, स्वास्थ्य, रहन-सहन का स्तर, बंशानुगत गुण आदि। इन सबको स्थूलरूप से हम दो भागों में विभाजित कर सकते हैं—

(१) ऐसे कारण जिन पर कि श्रमिकों की योग्यता और कार्य-क्षमता आश्रित रहती है।

(२) व्यवस्थापक की उत्पत्ति के साधनों में श्रमिक की उचित व्यवस्था करने की योग्यता।

इन दोनों में पहिली श्रेणी के कारणों का विशेष महत्त्व रहता है, चूँकि व्यावसायिक कुशलता में श्रमिकों की शारीरिक, मानसिक और नैतिक गुणों का प्रभाव अधिक पड़ता है और ये नीचे लिखी बातों पर निर्भर रहती हैं। अतः यहां हम पहिले उन्हीं का विवेचन करेंगे।

जातिगत और वंशानुगत योग्यता

गांवों में प्रायः कुछ जातियां ऐसी होती हैं जिनका कि खेती-बारी के व्यवसाय पर आधिपत्य रहता है। वे जिस कुशलता और सरलता से खेती की क्रियाएँ करते हैं, उतनी अन्य जाति के किसान नहीं कर पाते हैं। उदाहरण के लिए जाट, गूजर, अहीर आदि कुछ ऐसी जातियां प्रत्येक गांव में पाई जाती हैं जिनकी प्रतिभा खेती के व्यवसाय में अन्योन्य रहती है। यह उनका जन्म-सिद्ध अधिकार है और ये गुण उनमें जातिगत पाए जाते हैं।

इसके अतिरिक्त आनुवांशिक गुणों का भी योग्यता और कुशलता पर गहरा प्रभाव पड़ता है। हमारे देश की वर्ण-व्यवस्था का प्रादुर्भाव इन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर हुआ था। आज से कुछ वर्ष पूर्व डार्विन महोदय ने भी अपनी गवेषणाओं में वैज्ञानिक सिद्धान्तों के दृष्टिकोण से इस बात को पूर्णतया सिद्ध कर दिया कि माता-पिता से जो शारीरिक, मानसिक और प्राकृतिक गुण सन्तान को मिलते हैं वे आनुवांशिकत्व के कारण ही आते हैं। और ये गुण, गैल्टन महोदय के अनुसार, सन्तान में अपने माता-पिता के आधे-आधे और अपने माता-पिताओं के चौथाई गुण, इसी प्रकार उनके माता-पिताओं के भी आठवें हिस्से के गुण प्राप्त होते हैं।

अतः कुछ जातियों में जातिगत गुणों के कारण एक व्यवसाय के करने की योग्यता होती है और उनमें ये प्रवृत्तियां अपने संस्कारों और वातावरण के अनुसार फलती-फूलती हैं। भारत में 'गण' 'संघ' और 'श्रेणियों' की व्यवस्था का आधार यही है। साथ ही साथ उसी जाति के कुछ श्रमिक अत्यधिक प्रतिभाशाली होते हैं। इसका मुख्य कारण उनमें आनुवांशिकत्व गुणों की मात्रा होती है।

जिन देशों में अधिक गर्मी या सर्दी पड़ती है, वहां के निवासी अधिक परिश्रम नहीं कर पाते हैं। इस दृष्टि से सम-शीतोष्ण जलवायु उत्तम मानी जाती है।

जलवायु

कुछ अर्थशास्त्रियों का मत है कि गर्म जलवायु वाले देशों में शारीरिक, मानसिक तथा नैतिक गुणों का ह्रास हो जाता है, किन्तु भारतवर्ष के कुछ अर्थशास्त्री इसे अतिरंजनपूर्ण बतलाते हैं। उनका मत है कि गर्म प्रदेशों के कितने ही निवासी ऐसे कठोर परिश्रमी होते हैं कि सम-शीतोष्ण जलवायु के व्यक्ति कभी उतना काम नहीं कर सकते। उनका यह भी मत है कि कोई व्यक्ति कितना काम कर सकता है, यह बहुत कुछ उस व्यक्ति की प्रकृति, उसके अभ्यास और उस स्थान के वातावरण पर निर्भर रहता है।

निस्सन्देह, श्रमिक की प्रकृति उसके अभ्यास और उस स्थान के वातावरण पर बहुत कुछ निर्भर रहता है, किन्तु जलवायु का अवश्य ही श्रमिकों की कुशलता पर प्रभाव पड़ता है। उदाहरण के लिए पंजाब या उत्तर-पश्चिमी जिलों के किसानों को लीजिये, तुलना करने पर विदित होगा कि पंजाबी किसान स्वभाव से परिश्रमी और अध्यवसायी होते हैं और इसलिये वे अपना काम बड़ी कुशलतापूर्वक सम्पन्न कर लेते हैं। किन्तु बिहार अथवा बंगाल के किसानों को कभी इतने अधिक परिश्रम करने का अभ्यास नहीं होता। वे बचपन से ही ऐसी जलवायु और वातावरण में पलते हैं कि बड़े होकर भी वे उतनी कुशलतापूर्वक अपना कार्य नहीं कर सकते हैं जितना कि पञ्जाब की जलवायु से पोषित किसान कर लेता है। इससे और अधिक स्पष्ट करने के लिए हम एक और उदाहरण देकर समझाते हैं। संयुक्त-प्रान्त में गन्ने की उपज के दो मुख्य क्षेत्र हैं। पहिला क्षेत्र तो मेरठ डिवीज़न है और दूसरा गोरखपुर डिवीज़न है। जिन्होंने इन दोनों क्षेत्रों की उपज की तुलना की है, उन्हें भली-भाँति विदित है कि मेरठ की औसत उपज और गोरखपुर की बढ़िया गन्ने की उपज लगभग बराबर बैठती है। अन्य सब बातों का विचार न करते हुए हम यहाँ केवल इतना ही स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि मेरठ का साधारण किसान अपनी जलवायु और वातावरण के कारण अत्यन्त कुशल है और उसकी समता गोरखपुर का अच्छे से अच्छा किसान नहीं कर सकता है। यह बात दूसरी है कि उसे यदि मेरठ में रखा जाय तो वह भी उतना ही कुशल हो जावेगा। प्रत्येक नियम के कुछ अपवाद अवश्य होते हैं। उनका यहाँ विचार न कर इतना

अवश्य मानना पड़ेगा कि श्रमिकों की कुशलता पर जलवायु का विशेष प्रभाव पड़ता है।

जलवायु के साथ-साथ उचित परिमाण में जीवनोपयोगी पदार्थों तथा रहन-सहन के दर्जे का भी प्रभाव पड़ता है। उचित मात्रा में पौष्टिक भोजन, स्वच्छ वस्त्र, साफ तथा हवादार, स्वास्थ्यवर्द्धक स्थान में मकान का होना परमावश्यक है। इन वस्तुओं की मात्रा में जितनी कमी होगी उसी सीमा तक उनकी कुशलता का ह्रास होगा। वे रोगी और चिन्ताग्रस्त रहेंगे और इस प्रकार उनकी कार्य कुशलता में बाधा पड़ेगी। रहन-सहन के स्तरवाले अध्याय में हम यह बता चुके हैं कि जब हम पञ्जाब और संयुक्त-प्रान्त के किसानों की तुलना करते हैं तो औसत पञ्जाबी किसान साधारण तौर पर, अधिक पौष्टिक भोजन करने के कारण, अधिक कुशल होते हैं। अतः अन्य सब बातों के समान रहने पर ऊँचे दर्जे के रहन-सहन वालों की कुशलता नीचे दर्जेवालों से सदा ही अधिक रहती है।

जीवनोपयोगी पदार्थ तथा रहन-सहन का स्तर

धनोत्पत्ति में श्रमिक की मानसिक योग्यता बड़ी सहायक होती है। यों तो थोड़ी-बहुत मानसिक योग्यता हर प्रकार के काम के लिए आवश्यक है, किन्तु खेती के व्यवसाय में इसका महत्त्व विशेष है। बात यह है कि यह कार्यक्षेत्र ही ऐसा है कि इसमें विचार करने, याद रखने और अनेक समकक्ष अवस्थाओं में से चुन कर निर्णय करने की इसमें सबसे अधिक आवश्यकता होती है। किस फसल को बोएँ, कब बोएँ, कितने बीघे में बोएँ, कितना खाद, कितना बीज, कब और कहाँ से लावें, किन यन्त्रों का उपयोग आवश्यक है, फसलों के हेर-फेर का ध्यान आदि प्रत्येक बात पर उचित ध्यान देना यह श्रमिक के मानसिक विकास और शिक्षा पर ही निर्भर रहती है।

मानसिक शक्तियाँ और शिक्षा

शिक्षा भी दो प्रकार की होती है। एक तो साधारण शिक्षा, जिससे मानसिक और नैतिक शक्तियों का विकास और वृद्धि होती है। अतः साधारण शिक्षा तो सब के लिए आवश्यक है। दूसरी शिक्षा विशेष प्रकार की होती है जो श्रमिक के व्यवसाय से सम्बन्ध रखती है। जब तक किसान को अपने व्यवसाय की पूर्ण शिक्षा प्राप्त न होगी तब तक वह अच्छी उपज करने में कभी भी समर्थ न

होगा। उदाहरण के लिए फसलों में नाना प्रकार के रोग लग जाते हैं, अनेक प्रकार के कीड़े फसलों को अन्दर ही अन्दर नष्ट करते रहते हैं। किन्तु भारतीय किसान उनसे अनभिज्ञ हैं। ऐसी दशा में उसे हम कुशल किसान नहीं मान सकते। कुशलता के लिए अपने कार्य अथवा व्यवसाय की सर्वाङ्गीण उन्नति के उपाय उसे मालूम होने चाहिए और यह सब उसे विशेष शिक्षा से ही उपलब्ध हो सकते हैं। हमारे देश के अधिकांश किसान इस लाभ से आज तक वंचित हैं।

नैतिक गुण

यदि श्रमिक सच्चा और ईमानदार होगा तो वह जो कार्य भी करेगा, मन लगा कर करेगा। इसका फल यह होगा कि वह अपने काम में सफल होकर धनोत्पत्ति की वृद्धि में सहायक होगा। प्रायः देखा गया है कि श्रमिक लोग जमींदार या किसान की उपस्थिति में तो ठीक और अधिक काम कर लेते हैं, किन्तु जैसे ही उसकी पीठ फिरती है अथवा वह चला जाता है उनके कार्य करने की गति भी मन्द पड़ जाती है। यदि वे सच्चे होंगे और अपनी जिम्मेदारी का अनुभव करेंगे तो निरीक्षकों की कोई आवश्यकता न होगी। परन्तु यह प्रायः कम देखने में आता है। बड़े-बड़े क्षेत्रों पर (फार्मों) इसीलिए निरीक्षकों के रखने की आवश्यकता होती है। यदि उनमें नैतिक पतन न हो तो वास्तव में उत्पत्ति की वृद्धि में बहुत ही सहायता मिले।

आशावादी दृष्टिकोण

भारत जैसे अनेक और भी देश हैं जहाँ के किसान निर्धन हैं और जिनकी आर्थिक अवस्था अत्यन्त ही शोचनीय है। वे परिश्रम करते अवश्य हैं, किन्तु बेमन से। शताब्दियों से वे दरिद्रता और बेबसी की चक्की में पिसते चले आए हैं। उनमें कार्य करने का उत्साह घट जाता है। भुखमरी के कारण वे अपनी कठिनाइयों को भी ठीक तरह से व्यक्त नहीं कर पाते। वर्ष भर के अनवरत परिश्रम के बाद जो कुछ वे उत्पन्न करते हैं उसे वे ऋण के भुगतान में जमीन्दार या महाजन को खलिहान में ही सौंप देते हैं। सरकार की भी दृष्टि उनकी ओर अधिक सहानुभूति की नहीं पाई जाती। ऐसी अवस्था में उनका निराशावादी होना स्वाभाविक ही है। उनसे कार्य कुशलता की वृद्धि की क्या आशा की जा सकती है? अतः कुशलता वृद्धि के लिए आशावादी दृष्टिकोण का होना आवश्यक है।

आय के प्रति सन्तोष रखना तो मुख्य बात है ; किन्तु साथ ही साथ निरीक्षक को चाहिए कि वह किसी प्रकार की बेगार उनसे न ले। आज कल जितने भी सभ्य देश हैं, उन सब में बेगार की प्रथा का प्रादुर्भाव हो चला है। अतः जहाँ बेगार की प्रथा होगी वहाँ कार्य-कुशलता निश्चय ही कम हो जावेगी। मनुष्यता का यह सबसे बड़ा अपमान है और धनोत्पत्ति के दृष्टिकोण से यह प्रथा अत्यन्त ही हानिकारक है।

पारिश्रमिक की उचित व्यवस्था

इसके अतिरिक्त ऐसी अवस्था में श्रमिक निराशावादी हो जाते हैं। जब तक कि उन्हें यह भली प्रकार विदित नहीं हो जाता कि इस कार्य के करने में उन्हें लाभ होगा वे कभी मन लगाकर उस कार्य को न करेंगे। अतः श्रमिकों के पारिश्रमिक की उचित व्यवस्था के होने की बड़ी आवश्यकता है। बेगार की प्रथा नष्ट होनी चाहिए। उन्हें उनके कार्य के अनुसार वेतन मिलना चाहिये और अच्छा कार्य करने पर पुरस्कार भी दिया जाना चाहिए।

कार्य करने के घंटों का विभाजन

लगातार एक ही काम को बराबर करते रहने में भी कुशलता कम हो जाती है। यदि एक किसान को प्रातःकाल से ही किसी कार्य के करने में लगा दिया जाय तो यह निश्चय है कि कुछ घंटे काम करने के उपरान्त वह अत्यन्त ही थक जायगा। यदि इस समय उसे विश्राम करने का अवसर न दिया गया तो उसकी कार्य-कुशलता में ह्रास होने लगेगा। यही कारण है कि बड़े-बड़े कृषि क्षेत्रों में श्रमिक को दिन भर में केवल आठ घंटे काम कराया जाता है और बीच में उसे कुछ समय के लिए विश्राम करने का अवकाश दे दिया जाता है। इस समय में वह भोजन करता है, हुक्का पी लेता है और कुछ देर सुस्ता लेता है।

कार्य-परिवर्तन

एक ही प्रकार का काम भी लगातार करते रहने पर प्रायः जी ऊब उठता है। अतः जिन स्थानों पर किसानों से वेतन पर काम कराया जाता है, वहां जमीन्दार किसान अथवा निरीक्षकों को चाहिए कि समयानुसार श्रमिक के काम में भी उचित परिवर्तन कर दें। इस प्रकार वे अधिक कुशलतापूर्वक कार्य कर सकेंगे। किन्तु जहाँ विशेष योग्यता का प्रश्न उठता है वहां यह अधिक सम्भव नहीं हो सकता है। उदाहरण के लिए जहाँ मशीनों से खेती होती है वहाँ एक ट्रैक्टर मशीन चलानेवाला हल नहीं जोत

सकता है। किन्तु यदि वह कोई दूसरा कार्य कर सकता है और परिवर्तन का इच्छुक है तो उसे इसके लिए अवश्य अनुमति दे देनी चाहिए। इसी प्रकार यदि किसी श्रमिक को केवल हल जोतने का काम ही दिया गया है तो यदि सम्भव हो सके तो दूसरी बार उसे निराई का काम दे दिया जाय, जिसमें बैठ कर वह अधिक कुशलता से काम करे।

भारतवर्ष में जहाँ खेती की व्यवस्था अभी इतनी पिछड़ी हुई है और जहाँ मशीनों का उपयोग अभी गाँवों में नहीं हुआ है ये सब बातें सम्भव नहीं हैं। हाँ, जहाँ पर बड़े-बड़े क्षेत्रों में खेती होती है (जैसे, सरकारी फार्म, बड़े-बड़े गैर-सरकारी और प्राइवेट फार्म) वहाँ पर इन सब बातों पर ध्यान देना आवश्यक है।

तैंतीसवाँ अध्याय

खेती में काम करनेवाले

व्यवसायों का विभाजन

भारतवर्ष की लगभग ८७ प्रतिशत जनता गाँवों में बसती है और शेष १३ प्रतिशत नगरों में। अन्य देशों में, ब्रिटेन में लगभग ८० प्रतिशत, कनाडा में ५३.७, संयुक्त-राष्ट्र में ५६.२ और फ्रांस में ४९ प्रतिशत जनता नगरों में रहती है। अतः हमारे देश में अन्य देशों की अपेक्षा गाँवों में रहने वालों की संख्या सबसे अधिक है। इसी प्रकार व्यवसायों में सबसे अधिक भार खेती पर ही है। अगले पृष्ठ के कोष्ठक में हम १९२१, १९३१ और १९४१ की जन-गणना के अनुसार व्यवसायों का विभाजन दिखाते हैं —

व्यवसाय	१९२१	१९३१	१९४१
(अ) कच्चा माल तैयार करने वाले			
(१) खेती और पशु-पालन	७३.१५	६५.६	६६.०
(२) खनिज	०.१७	०.२४	०.३
	७३.३२	६५.८४	६६.३
(ब) तैयार माल की उत्पत्ति और व्यवसायों में (कल-कारखाने)			
(१) उद्योग-धन्धे	१०.४९	१०.३८	१०.०
(२) यातायात	१.३७	१.६५	२.५
(३) वाणिज्य	५.७३	४.४	५.५
(स) सरकारी शासन विधान तथा अन्य कार्यों में	२.४३	२.५	३.०
(द) अन्य			
(१) अपनी आय पर आश्रित	०.१५	०.१४	०.१५
(२) घरेलू नौकर	१.४४	७.८	७.०
(३) अन्य	३ ५१	५ ०५	४.०
(४) अनुत्पादक	१.०४	१.०५	१.५

कोष्टकमें दिये गये अङ्कों के देखने से भारत की आर्थिक व्यवस्था में खेती की प्रधानता और महत्त्व का अनुमान लगाया जा सकता है। उद्योग-धन्धों में लगी हुई जनता का अनुपात केवल १० प्रतिशत रहा है, इसमें संगठित उद्योग-धन्धों का अनुपात केवल १.५ प्रतिशत ही है। हमारी इस प्रकार की आर्थिक अवस्था अत्यन्त नैराश्यपूर्ण है। जिस देश में केवल खेती पर ही इतना अधिक अवलम्बन हो, सदा डाँवाडोल रहने का भय बना रहता है। तिस पर भी भारत की खेती ! जहाँ के किसान सदा प्रकृति से अनुकम्पा की याचना करते हैं, किन्तु फिर भी असफल ही रहते हैं। खेती पर अवलम्बन करने वालों की संख्या में हमारे देश में सन् १८९१ से १९४१ तक जो परिवर्तन हुए हैं अगले पृष्ठ पर दिया जा रहा है—

सन् १८९१ में	खेती पर आश्रित	जनता का	अनुपात ६१.०	प्रतिशत
,, १९००	,,	,,	६६.०	,,
,, १९११	,,	,,	६७.०	,,
,, १९२१	,,	,,	७३.१५	,,
,, १९३१	,,	,,	६५.६	,,
,, १९४१	,,	,,	६६.०	,,

नगरों और गाँवों का अनुपात

सन् १९४१ में नगरों और गाँवों में रहने वाली जनता का अनुपात क्रमशः १३ प्रतिशत और ८७ प्रतिशत था। इस अनुपात में कमी बहुत ही धीमी गति से हुई है, जो नीचे दिये गये अङ्कों को देखने से विदित हो जावेगा।

सन्	कुल जनसंख्या का प्रतिशत गाँवों में	नगरों में
१८९१	९०.५	९.५
१९०१	९०.१	९.९
१९११	९०.६	९.४
१९२१	८९.८	१०.२
१९३१	८९.०	११.०
१९४१	८७.०	१३.०

किसानों की अवस्था

अतः खेती और अन्य उद्योग-धन्धों के अनुपात में इतनी विषमता संसार के अन्य किसी देश में भी नहीं पाई जाती है और खेती ही यहां के निवासियों का मुख्य उद्यम है। यहाँ हम खेती के इस व्यवसाय के करने वाले श्रमिकों के विषय में कुछ जानकारी करेंगे।

अधिकांश भारतीय किसान अपनी खेती में स्वयं अपने बाल-बच्चों सहित परिश्रम करते हैं; किन्तु प्रत्येक गाँव में कुछ ऐसे भी किसान होते हैं जो मज़दूर रख कर खेती करते हैं अथवा कराते हैं। कुछ ऐसे भी किसान होते हैं जो केवल आवश्यकता पड़ने पर मज़दूरों को रखते हैं, जैसे कटाई, निराई, गुड़ाई, बिनाई आदि अवसरों पर। भारतीय किसान अपने कार्यों में बहुत अंशों तक निपुण माना जा

सकता है। वह अत्यन्त परिश्रमी और देशी कृषिकला में निपुण होता है। हमारे किसानों पर प्रायः एक आक्षेप लगाया जाता है कि उनमें नवीनता के अनुकरण करने का साहस तथा बुद्धि नहीं होती। किसी सीमा तक यह सत्य माना जा सकता है। किन्तु यदि ध्यानपूर्वक सोचा जाय तो इसके पीछे एक कारण छिपा रहता है। उसका जिस वातावरण में पालन-पोषण होता है, वहां उसने नवीन उपायों द्वारा किसी को सफलता पाते हुए देखा ही नहीं है और न उसे कभी ऐसे अवसर ही मिलते हैं कि जहां जाकर वह उन्हें स्वयं अपनी आँख से देख ले। अतः वह तब तक किसी उपाय या साधन को हितकर नहीं मानता जब तक कि वह उनसे स्वयं सन्तुष्ट नहीं हो जाता। लोगों की यह धारणा है कि वह हितकर और नवीन उपायों को ग्रहण ही नहीं करता है नितान्त गलत है। जहां कहीं उसे भली-भाँति यह बताया गया है कि अमुक यन्त्र या बीज अथवा उपाय से अधिक लाभ हो सकता है, वहाँ उसने उन नवीन साधनों को अपनाने में तनिक भी विलम्ब नहीं किया। वह एक व्यवहारिक प्राणी है। केवल बात करने वालों में उसका विश्वास कम होता है। अपने पुराने उपायों व धारणाओं अथवा रीतियों को छोड़ने से पूर्व, जिनके उपयोगी होने का उसे अच्छी तरह ज्ञान हो गया है, उनकी अच्छी तरह जाँच-पड़ताल कर लेना है। यह धारणा भी सर्वथा असत्य है कि वह अपनी इस शोचनीय अवस्था में रहना पसन्द करता है और उसे सुधारने का प्रयत्न ही नहीं करता। इसके विपरीत हम यह देखते हैं कि जब कभी उसे अपनी अवस्था सुधारने का अवसर प्राप्त हुआ है, उसने उनसे अवश्य लाभ उठाया है। मेरठ डिवीज़न और पंजाब के किसान हमारे इस कथन की पुष्टि करते हैं। देश के इन भागों में हज़ारों किसान ऐसे हैं जो उत्तम बीज तथा उन्नतिशील खादों और यन्त्रों का व्यवहार करते हैं। कुछ ही वर्षों में उन्होंने अपनी आर्थिक अवस्था को सुधार लिया है। साधारण किसानों की अपेक्षा उनकी उपज कई गुनी होती है और खेत लहलहाते दृष्टिगत होते हैं। आज का उनका रहन-सहन बीस वर्ष पहिले से कहीं अधिक ऊँचा है और वे सम्पन्न हैं। अतः सच देखा जाय तो न तो हमारे किसान कठिन परिश्रम से ही अपना मुँह मोड़ते हैं और न आधुनिक उपायों का अवलम्बन करके अपनी दशा सुधारने के विरुद्ध हैं। वे ऋषि-मुनियों की भाँति विरक्त नहीं हैं। संसार के अन्य

व्यक्तियों की भाँति उन्हें भी अच्छे भोजन, अच्छे वस्त्र और सुन्दर मकान में रहने की सदा कामना बनी रहती है। और यदि ध्यानपूर्वक गम्भीरता से विचारा जाय तो उसके पास दो बातों की कमी है। एक तो यह कि वह उन उपायों को ही नहीं जानता है जिनके अनुकरण से वह अपनी खेती और उसके साथ ही साथ अपनी दशा में भी उन्नति कर ले। दूसरी बात यह है कि उसके पास उन उपायों को प्राप्त करने के साधन उपलब्ध नहीं हैं।

भारतवर्ष में किसानों की संख्या में वृद्धि निम्न अङ्कों के देखने से विदित हो जायगी—

खेती में श्रमिकों की संख्या और उनकी निर्धनता के कारण

सन्	किसानों की संख्या
१९०१	लगभग १५.१/२ करोड़
१९११	,, १७.१/४ ,,
१९२१	,, १९.१/२ ,,
१९३१	,, २३ ,,
१९४१	,, २५.३/४ ,,

जब एक ओर हम भारत के सारे किसानों की संख्या को और दूसरी ओर खेती योग्य भूमि के सारे क्षेत्रफल को देखते हैं तो हमें बड़ी आश्चर्यजनक बातें विदित होती हैं। भारत में खेती के काम में आने वाली भूमि का क्षेत्रफल लगभग ३५ करोड़ एकड़ था और खेती में काम करने वालों की संख्या २५.३/४ करोड़ थी। इससे यह मालूम होता है कि प्रत्येक किसान को एक एकड़ भूमि से कुछ अधिक भूमि ही खेती के लिये मिल पाती है। इसका फल यह होता है कि बहुधा किसानों की सारी शक्ति का उपयोग नहीं हो पाता है। ज़रा विचारें, इतने छोटे क्षेत्रफल की भूमि में वे वर्ष के पूरे ३६५ दिन काम करते हैं। खेत के जोतने व बोने के दिनों में तो उनको कठिन परिश्रम अवश्य करना पड़ता है और फसल काटते समय भी उनको मेहनत करनी पड़ती है अन्यथा वर्ष में अधिकांश दिन बेकार बैठे रहते हैं। यही उनकी निर्धनता का मुख्य कारण है। अन्य देशों में जहाँ किसानों को काफ़ी बड़ी भूमि पर काम करना पड़ता है और वे वर्ष भर थोड़ा या बहुत परिश्रम अवश्यकरते रहते हैं। हमारे देश में किसानों के पास खेती-बारी के अतिरिक्त

अन्य कोई उद्योग-धन्धा भी नहीं हैं जिन्हें वे कर सकें। अतः फल यह होता है कि उनकी श्रमशक्ति नाहक नष्ट होकर निर्धनता की क्रमशः वृद्धि करती जाती है।

उपरोक्त कथन से हमें भारतीय किसानों की कुल संख्या व उनकी दरिद्रावस्था का ज्ञान होता है। यहां अब हम उनके स्वास्थ्य और मानसिक अवस्था का वर्णन करेंगे।

कृषकों का स्वास्थ्य

सन् १९२६ में अखिल भारतवर्षीय डॉक्टरों की एक सभा हुई थी। उसके एक महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव को हम यहाँ उद्धृत करते हैं —"इस सभा का यह विश्वास है कि भारतवर्ष में प्रतिवर्ष ऐसी बीमारियों से मर जाने वालों की संख्या जिसको कि हम रोक सकते हैं औसतन पचास से साठ लाख तक है। ऐसी बीमारियों के कारण खेती-बारी में काम करने वालों की दो सप्ताह से लेकर तीन सप्ताह तक की श्रमशक्ति की हानि होती है और शक्ति का यह ह्रास प्रतिवर्ष औसतन बीस प्रतिशत के लगभग होता है और प्रतिवर्ष इसी कारण से कमाने-खाने की उम्र तक पहुँचने के पहिले ही पचास प्रतिशत बच्चे मर जाते हैं। यदि उनकी भली-भांति देख-रेख की जावे तो इनमें से ८० से ९० प्रतिशत तक जीवित रह सकते हैं। इस सभा का यह विश्वास है कि ऊपर दिए गए अंक अतिशयोक्ति नहीं है।" अतः उपरोक्त अङ्कों को यदि सत्य मान लिया जाय तो हम अनुमान कर सकते हैं कि भारतवर्ष में प्रतिवर्ष कितनी बड़ी मात्रा में धन और जन की हानि होती है।

भारतवर्ष के सभी भागों में विशेषकर संयुक्त-प्रदेश, बिहार, उड़ीसा और बङ्गाल प्रान्तों में हज़ारों किसान भादों और क्वार के महीनों में मलेरिया बुखार से ग्रसित रहते हैं। इसके दो परिणाम होते हैं। एक तो सहस्रों की संख्या में किसान उचित औषधियों और उपचार के अभाव में काल के ग्रास बन जाते हैं और दूसरे कई सहस्र शक्तिविहीन होकर नाना प्रकार की आधि-व्याधियों के घर हो जाते हैं। खेती-बारी के व्यवसाय में इसी समय श्रमिकों की सबसे अधिक आवश्यकता होती है। खरीफ की फसलें लगभग पक चुकती हैं और उनकी कटाई का समय आ गया होता है तथा रबी की फसल के लिए खेतों को तैयार करने का भी यही अवसर होता है और जुताई तथा बुवाई इन्हीं महीनों में आरम्भ हो जाती है। इसके अतिरिक्त इन प्रान्तों में कालाआज़ार रोग तथा मद्रास प्रान्त में हुकवर्म का रोग श्रमिकों की शक्ति को विध्वंस कर देता है। इन रोगों के निरन्तर आक्रमण के फलस्वरूप भारतीय

किसानों में अपने व्यवसाय के सञ्चालन की शक्ति नहीं बचती और खेती-बारी के लिए जिस परिश्रम और कार्य-कुशलता की आवश्यकता होती है उससे वे वञ्चित रह जाते हैं। और इसका अन्तिम प्रभाव खेती की उपज पर पड़ता है।

किसानों का रहन-सहन, वातावरण और शिक्षा

भारतवर्ष में जीवन के अन्यान्य पहलुओं में भी दुर्भाग्य का चक्र इसी प्रकार चलता रहता है। आयुर्वेद-विशारदों के मतानुसार भारतीय किसान स्वभाव से तो अत्यन्त ही परिश्रमी होते हैं, किन्तु उचित परिमाण में भोजन, वस्त्र और मकान की व्यवस्था न हो पाने के कारण उनकी कार्य-क्षमता घट जाती है। अनेक भागों की जलवायु का समकक्ष प्रभाव भी इन परिस्थितियों पर पड़े बिना नहीं रहता। उचित परिमाण में भोजन और वस्त्र न मिलने के कारण भारतवर्ष की खेती अन्य देशों की अपेक्षा कम लाभदायक सिद्ध होती है। खेती के सिवाय अन्य कोई भी ऐसा व्यवसाय नहीं है जहाँ कि इतने अधिक परिश्रम की आवश्यकता पड़ती हो, किन्तु यहाँ के दुर्बल और शक्तिहीन कृषक अपने स्वास्थ्य के कारण तथा उपर्युक्त जीवन-रक्षक पदार्थों के अभाव में इतना अधिक परिश्रम नहीं कर पाते। अन्य उद्योग-धन्धों में यदि श्रमिक अनपढ़ किन्तु अपने धन्धे में निपुण है, तो वह एक अनुभवी और शिक्षित व्यवसायी के आदेशानुसार काम कर सकता है, और उस व्यवसाय को कोई भी विशेष हानि न उठानी पड़ेगी। किन्तु खेती-बारी में तो किसान स्वयं ही पूँजीपति, व्यवस्थापक, प्रबन्धक और मजदूर होता है। अतः खेती-बारी में अन्य व्यवसायों की अपेक्षा किसानों को शिक्षित और उन्नतिशील विचारों के रखने की अत्यन्त आवश्यकता रहती है। इस दृष्टिकोण से हमारे किसानों की शिक्षा का प्रश्न अत्यन्त गम्भीर हो जाता है। किन्तु जब हम अपने शिक्षा के अङ्कों को देखते हैं तो हमें क्षोभ होता है। हमारे नगरों में भले ही शिक्षित व्यक्ति बसते हैं, किन्तु उनकी संख्या भी कितनी है? गांवों के अधिकतर व्यक्ति तो आज भी निरक्षर भट्टाचार्य हैं। इन परिस्थितियों की जांच करके कृषि-सम्बन्धी जाँच कमेटी निम्न निष्कर्ष पर पहुंची थी—"भारतवर्ष की उन्नति में किसानों का अशिक्षित होना ही सबसे बड़ी बाधा है। इन ९० प्रतिशत लोगों के निरक्षर होने के कारण वे किताबों में लिखी हुई अनेक लाभदायक बातों से कोई भी लाभ नहीं उठा पाते हैं, भारत की निर्धनता के कारणों का एक दूसरे से

अत्यन्त ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। एक के कारण दूसरा और दूसरे के कारण तीसरा उत्पन्न होता है, किन्तु वास्तव में इन सब कारणों का मूल कारण शिक्षा का अभाव ही है। शिक्षा को संकुचित अर्थ में हम यहाँ प्रयोग नहीं कर रहे हैं। शिक्षा से हमारा अभिप्राय केवल अक्षरज्ञान से ही नहीं है, किन्तु इसे हम यहां व्यापक रूप में प्रयोग कर रहे हैं, जिससे कृषक शिक्षित होकर अन्य देशों की भाँति अपने व्यवसाय में लाभ उठा सकें। वैज्ञानिक अन्वेषणों से लाभ उठाकर और रहन-सहन को सुधारने के साधनों का अवलम्बन करके वह शिक्षा द्वारा अपनी सर्वाङ्गीण उन्नति कर सके। हमारी उन्नति का आधार हमारे शिक्षित होने के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं है।

चौंतीसवां अध्याय

पूँजी

विगत अध्यायों में हमने उत्पत्ति के दो प्रधान साधन भूमि और श्रम के बारे में विचार किया था। इस अध्याय में हम उसके तीसरे मुख्य साधन पूँजी के विषय में सोचेंगे।

सम्पत्ति के भेद

यह तो हम पिछले अध्यायों में बता ही चुके हैं कि पूँजी का साधन के रूप में कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। यह तो केवल श्रम और भूमि का संयुक्त-फल मात्र ही है। मनुष्य के श्रम और प्रकृति की देन से जो वस्तु अथवा वस्तुएँ हमें प्राप्त होती हैं उन्हीं में से कुछ उपभोग से बचाकर हम भविष्य के उत्पादन में सहायक के रूप में एकत्रित कर लेते हैं। अतः ऐसे पदार्थों को जिन्हें हम अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उपभोग में न लाकर अधिक सम्पत्ति के उत्पादन में काम में लाते हैं, उत्पादक सम्पत्ति कहते हैं। सम्पत्ति का दूसरा भेद वह होता है जिसमें हम अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रत्यक्ष-रूप से काम में लाते हैं। ऐसे पदार्थ उपभोग्य सम्पत्ति कहलाते हैं। इस प्रकार सम्पत्ति के हम दो भेद कर सकते हैं—(१) उत्पादक-सम्पत्ति, और (२) उपभोग्य सम्पत्ति।

उत्पादक-सम्पत्ति के फिर दो भेद किये जा सकते हैं। एक तो वह जो मनुष्य द्वारा उत्पन्न न की गई हो वरन् प्रकृति की देन हो, जैसे—भूमि तथा अन्य प्रकृतिदत्त साधन। और दूसरी वह जो मनुष्य द्वारा उत्पन्न की गई हो, जैसे हल, बीज, खाद, यन्त्र इत्यादि। इन सबको हम अर्थशास्त्र के अन्तर्गत पूँजी मानते हैं। सब पूँजी धन हो सकती है, किन्तु सब प्रकार के धन को हम पूँजी नहीं मान सकते हैं। यदि एक मनुष्य के पास कुछ अन्न है, और वह बिना श्रम किए उस अन्न को खाता रहे, तो वह अन्न उसका धन तो है, किन्तु मूलधन (पूँजी) नहीं माना जा सकता है। हाँ, यदि वह इसका उपभोग करते समय धन उत्पादन का कार्य कर रहा है, तो इस स्थिति में वह अन्न मूलधन माना जा सकेगा। इसी प्रकार यदि हम अपना धन किसी दूसरे आदमी को ब्याज पर उठा दें, तो उस धन में कुछ कमी न होकर हमें उससे कुछ न कुछ आय ही होती रहेगी, इस दशा में हमारा वह धन मूलधन या पूँजी माना जावेगा। बैङ्क और डाकखानों में रुपया इसी उद्देश्य से जमा किया जाता है। किन्तु यदि उसी धन को हम दान, धर्म अथवा खाने-पीने में खर्च कर दें तो वह पूँजी न माना जावेगा।

मूलधन या पूँजी

प्राचीन काल में जीवन-संघर्ष इतना तीव्र न था। उस समय मनुष्य को जो कुछ मिलता था उसी में सन्तोष कर लेता था। और उस काल में मनुष्य प्रायः बिना पूँजी के ही धनोत्पत्ति कर लिया करते थे। परन्तु कालान्तर में, आर्थिक अवस्था में ज्यों-ज्यों परिवर्तन होने लगे, बिना पूँजी के कोई कार्य कर सकना सम्भव न रहा। आज पूँजी का बहुत अधिक महत्त्व है और अधिक उत्पत्ति के लिए सहयोग के रूप में इसका होना अनिवार्य है। पूँजी की सहायता से धनोत्पत्ति की मात्रा और शक्ति बहुत अधिक बढ़ जाती है। एक विस्तृत-क्षेत्र (फार्म) में खेती करने के लिए भूमि, पशुशाला, निरीक्षक व श्रमिकों के रहने के लिए स्थान, वेतन देने के लिए धन, हल, बैल, विविध प्रकार के यन्त्र, बीज खाद की आवश्यकता पड़ती है। इसके अतिरिक्त उपज का संग्रह, उसका विज्ञापन और निकासी के आयोजन सभी बातों का प्रबन्ध करने के लिए काफी रुपए की आवश्यकता पड़ती है। अतः इस प्रकार की धनोत्पत्ति द्वारा वही व्यक्ति अथवा कम्पनी लाभ उठा

धनोत्पत्ति में पूँजी का महत्त्व

सकती है जिसके पास यथेष्ट साधन हों—पूँजी हो। किन्तु गांव के किसान प्रायः अपनी थोड़ी सी सम्पत्ति (पूँजी) से खेती-बारी करते अवश्य हैं, किन्तु न तो वे उतनी अधिक शीघ्रता और आसानी से ये सब खेती की क्रियाएँ ही कर पाते हैं और न उन्हें अधिक लाभ प्राप्त करने में ही सफलता मिल पाती है। इस प्रकार की उत्पत्ति में प्रायः उत्पादन करने में अधिक व्यय पड़ता है और उपज की निकासी और क्रय-विक्रय में भी बहुत खर्च बैठ जाता है (इनका विस्तृत वर्णन अगले अध्यायों में किया जावेगा) अतः प्रतियोगिता में हमारे देहात के किसान हार जाते हैं। इन सब बातों से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि आजकल धनोत्पत्ति में केवल पूँजीपतियों की ही जीत होती है और कम पूँजी वालों को सदा उनके सम्मुख नतमस्तक होना पड़ता है।

पूँजी और उत्पत्ति

पूँजी निष्क्रिय है। वह स्वयं कुछ नहीं करती। किन्तु बिना पूँजी की सहायता के और उसके उपयोग किये बिना किसी प्रकार की भी उत्पत्ति सम्भव नहीं है। इसकी सहायता से व्यवसाय में प्रबन्ध किए जाते हैं, श्रमिक को वेतन दिया जाता है। यदि श्रम को बिना पूँजी के उत्पादन कार्य सौंप दिया जावे तो बहुत ही कम उत्पत्ति होगी, किन्तु जब श्रम के साथ-साथ यन्त्रों और कच्चे माल का अथवा बीज और खाद का प्रयोग किया जाता है तो उत्पत्ति की मात्रा में वृद्धि होने लगती है। अन्य सब बातों के समान रहने पर श्रमिक को उत्पादन कार्य में जितनी ही अधिक पूँजी मिलेगी उसकी उत्पत्ति उतनी ही अधिक होगी। चूंकि पूँजी के कारण श्रमिक की उत्पादन-शक्ति में वृद्धि हो जाती है। अतः पूँजी की असली विशेषता श्रम की उत्पादन-शक्ति को बढ़ा कर अधिक मात्रा में धनोत्पत्ति करना है।

अर्थशास्त्र के दृष्टिकोण से पूँजी के अनेक भेद होते हैं। यहां हम इनके विषय में कुछ जानकारी करेंगे।

पूँजी के भेद

अस्थायी अथवा चल पूँजी—जो पूँजी एक बार के ही उपयोग में आती है और थोड़े काल में ही समाप्त हो जाती है और फिर दुबारा उत्पादन कार्य के योग्य नहीं रहती उसे अस्थायी पूँजी या चल-पूँजी कहते हैं। उदाहरण के लिए जब खेत में खाद या बीज डाला जाता है तो उसके दुबारा उपयोग की आशा नहीं की जाती है। वह

नो उत्पत्ति में एक बार ही काम आ पाता है। इसी प्रकार जब हम मज़दूरों अथवा कर्मचारियों को पारिश्रमिक देते हैं तो उसके फिर से मिलने की आशा नहीं की जाती है। यह खर्च तो एक बार जो हो गया सो हो गया, फिर दुबारा तो उसका कोई उपयोग नहीं किया जाता है। बात यह है कि इस पूंजी का प्रतिफल तुरन्त ही और इकट्ठा मिल जाया करता है। इस दशा में पूँजी लगाने वाला यह विचार कर लेता है कि जो पूँजी वह लगावे उसका प्रतिफल पूँजी से प्रत्येक अवस्था में अधिक मिले। कर्मचारियों और श्रमिक को वेतन देते समय भी यही बात और सिद्धान्त दृष्किोण में रखा जाता है, कि उससे जो कार्य लिया जावे वह वेतन या पारिश्रमिक से अधिक ही हो। इसी को हम चल-पूंजी अथवा अस्थायी मूलधन कहते हैं।

अचल पूँजी या स्थायी मूलधन

इसके विपरीत जो पूँजी बहुत समय तक अनेक बार धनोत्पादन के उपयोग में लाई जा सके उसे हम स्थायी मूलधन या अचल सम्पत्ति कहते हैं। उदाहरण के लिए हल, बैल, गाड़ी खेती के काम में आने वाले नाना-प्रकार के यन्त्र—खुरपी, कुदाल, फावड़ा, कल्टीवेटर, हैरो, हैंगा, चरस इत्यादि।

यहां एक बात पर ध्यान देना आवश्यक है। स्थिति भेद के कारण वही पूँजी एक के लिए चल पूँजी और दूसरे के लिए अचल पूँजी हो सकती है। जिस कारखाने में हल, कल्टीवेटर, हैरो, हो इत्यादि बनाए जाते हैं वहाँ ये सब तैयार माल होंगे। अतः इनकी गणना चल सम्पत्ति में की जावेगी, किन्तु किसान के घर पहुँचकर ये धनोत्पत्ति में सहायता देते हैं। अतः वहाँ पर इन्हें अचल सम्पत्ति माना जावेगा। पहिली अवस्था में कारखाने का मालिक एक बार उनको बेच कर रुपया खड़ा करता है और दूसरी स्थिति में किसान उन यन्त्रों को बार-बार प्रयोग में लाकर उनसे उत्पत्ति करता है। अचल-पूंजी का लाभ कुछ स्थायी होता है और वह देर में मिलता है। इसलिए अचल पूँजी में लगाए गए धन के विषय में यह विचार करना आवश्यक होता है कि वह पूँजी कितने समय तक काम देगी और उससे कितना लाभ मिल सकेगा। अचल पूँजी का बढ़ाना किसी एक सीमा तक ही लाभदायक होता है। प्रत्येक उद्योग-धन्धे और व्यवसाय में हमें अचल पूँजी के अतिरिक्त थोड़ी बहुत चल पूँजी लगाने की भी आवश्यकता हुआ करती है।

कुछ अर्थशास्त्री पूँजी के दो भेद—भौतिक और वैयक्तिक भी मानते हैं। वे भौतिक पूँजो में उन पदार्थों की गणना करते हैं जो विनिमय-साध्य होते हैं।

भौतिक और वैयक्तिक पूँजी

इसके विपरीत वैयक्तिक पूँजी वह मानी जाती है जिसमें कि श्रमिकों की व्यक्तिगत कार्य-कुशलता और निपुणता का मूल्य आँका जाता है। श्रमिकों का यह गुण विनिमय-साध्य नहीं होता, यद्यपि इसमें पूँजी की मात्रा अधिक लगती है। इस गुण को पूँजी की श्रेणी में इसलिए रखा जाता है कि इससे धनोत्पत्ति अथवा आय बढ़ाने में सहायता प्राप्त होती है।

पूँजी के दो भेद और किये जाते हैं। एक तो उत्पत्ति पूँजी और दूसरी

उपभोग पूँजी और उत्पत्ति पूँजी

उपभोग पूँजी। मशीन और नाना-प्रकार के यन्त्र उत्पत्ति पूँजी के अन्तर्गत माने जाते हैं और उपभोग पूँजी में उन वस्तुओं को सम्मिलित किया जाता है जो अप्रत्यक्ष रूप से उत्पत्ति में सहायता पहुंचाती हैं, किन्तु प्रत्यक्ष रूप से उपभोग की क्रिया में सम्मिलित होकर मनुष्य की आवश्यकताओं को तृप्त करती हैं। उदाहरण के लिए गावों में श्रमिकों को दिया जाने वाला भोजन, वस्त्र, तम्बाकू इत्यादि।

कभी-कभी पूँजी के दो भेद—वेतन और सहायक पूँजी भी किए जाते हैं। वेतन पूँजी जैसा कि नाम से ही प्रकट होता है श्रमिकों के पारिश्रमिक अथवा

वेतन पूँजी और सहायक पूँजी

वेतन में लगाई जाती है। जब श्रमिकों को घटा कर मशीनों या अन्य साधनों पर व्यय किया जाता है तो उसे सहायक पूँजी कहते हैं। आज के इस युग में श्रमिकों के वेतन में से (वेतन पूँजी) पूँजी घटा कर सहायक पूँजी की मात्रा बढ़ाने की प्रवृत्ति अधिक दीख पड़ती है। विस्तृत-क्षेत्रों में खेती का सिद्धान्त इसी आधार पर किया जाने लगा है। यह प्रवृत्ति क्रमशः अब भारतवर्ष में भी प्रगति करती जा रही है।

इनके अतिरिक्त व्यक्तिगत, सामाजिक और राष्ट्रीय पूँजी के भेद भी कभी-कभी किए जाते हैं।

व्यक्तिगत पूँजी वह मानी जाती है जिस पर पूर्ण रूप से किसी एक व्यक्ति विशेष का अधिकार हो। जैसे किसान के हल, बैल, बीज, चरस, खाद, अन्न

इत्यादि। अथवा किसी साहूकार की दूकानें और उसकी वैयक्तिक सम्पत्ति द्रव्य आदि के रूप में।

सार्वजनिक अथवा सामाजिक सम्पत्ति में हम देवालय, अनाथालाय, गाँव की सम्मिलित चौपाल, पंचायतघर, धर्मशाला, कुँआ, चरने का स्थान, तालाव, पोखर इत्यादि मानते हैं। इनमें किसी व्यक्ति विशेष का अधिकार न रह कर सबका सम्मिलित भाग होता है।

राष्ट्रीय पूँजी के अन्तर्गत उस राष्ट्र की हर प्रकार की सम्पत्ति सम्मिलित रहती है। भिन्न-भिन्न व्यक्तियों तथा समाजों की सब सम्पत्ति मिला कर राष्ट्रीय सम्पत्ति कहते हैं।

कृषि पूँजी

जो देश कृषि-प्रधान होते हैं उनकी अधिकांश पूँजी वास्तव में कृषि-पूँजी ही होती है। जंगल, हल, बैल, खुरपी, फावड़ा, कल्टीवेटर, काँटे (हैरो) चरस, बोने के बीज, खाने का अन्न, नाना प्रकार के खाद, पशु इत्यादि, इन सबकी गणना कृषि-पूँजी में की जाती है। इन सबका वर्णन हम अगले अध्याय में विस्तारपूर्वक करेंगे।

देशी और विदेशी पूँजी

जो पूँजी की निर्धन और पिछड़े हुए राष्ट्रों को अपनी औद्योगिक उन्नति के लिए लेनी पड़ती है उसे हम विदेशी पूँजी के नाम से पुकारते हैं। उदाहरण के लिये भारतवर्ष में अधिकांश पूँजी का भाग विदेशी है। इसके अन्तर्गत रुपये-पैसे (द्रव्य) के अतिरिक्त कल-कारखानों के पुर्जे और मशीनें सम्मिलित रहती हैं। कभी-कभी विदेशी पूँजी के साथ व्याज के अतिरिक्त राजनीतिक अधिकार भी उन देशों को देने पड़ते हैं।

पूँजी की वृद्धि

पूँजी की वृद्धि में सञ्चय का भाव

हम यह ऊपर बता आये हैं कि पूँजी वह धन है, जो अपने भूतकालीन श्रम के फल में से भविष्य के धनोत्पादन के लिये बचा कर रखा जाता है। इस प्रकार के धन-सञ्चय में यह आवश्यक है कि वर्तमान काल के उपभोग के सुख का कुछ भाग कम करना

पड़ता है और उसे भविष्य के लिए स्थगित किया जाता है। इस रीति से क्रमशः पूँजी में वृद्धि हुआ करती है।

साधारणतया पूँजी की वृद्धि करने के लिए तीन बातों पर निर्भर रहना पड़ता है—

(१) सञ्चय करने की इच्छा, (२) सञ्चय करने की शक्ति, और (३) सञ्चय करने की सुविधा। धन के सञ्चय करने में सभ्यता, शिक्षा और सुव्यवस्था की अत्यन्त आवश्यकता होती है। उपर्युक्त कारणों में धन-सञ्चय करनेकी प्रबल इच्छा का होना अनिवार्य है और जब तक इस मानसिक इच्छा का अभाव होगा पूँजी की वृद्धि सम्भव नहीं है। बहुत से ऐसे व्यक्ति होते हैं जो काफी धन कमाते हैं, किन्तु वे उस सबको खर्च कर डालते हैं। ऐसे मनुष्य बहुत कम धन सञ्चय कर पाते हैं। अतः धन-सञ्चय या पूँजी में वृद्धि करने के लिये उपभोग की अपेक्षा उत्पत्ति का पल्ला सदैव भारी रहना चाहिये।

यहाँ संक्षेप में हम उन कारणों का वर्णन करेंगे जिनका प्रभाव कि धन-सञ्चय करने पर पड़ता है —

(१) स्वभाव—कुछ व्यक्तिओं का तो धन एकत्रित करने का स्वभाव होता है। और इस माया-मोह में वे हर प्रकार के कष्ट और यातनाएँ सहते हैं। पेट काट कर फटे-कटे वस्त्र पहिन कर सूम की भाँति धन जोड़ते हैं।

(२) सम्मान की आकाँक्षा—इस युग में समाज में उन्हीं व्यक्तियों का सम्मान होता है जिनके पास काफी धन हो। धन के प्रभाव से वे मान, यश, शक्ति और प्रभुत्त्व सब कुछ प्राप्त कर लेते हैं। अतः अनेक व्यक्ति इसी भावना से धन एकत्रित करते हैं।

(३) कौटुम्बिक प्रेम—अधिकांश व्यक्ति अपनी सन्तान को सुखी बनाने के लिए बहुत-सा धन एकत्रित करते हैं। स्वयं हर प्रकार का शारीरिक और मानसिक कष्ट उठाते हैं, और अपने बच्चों को सुखी और सम्पन्न बनाने के लिए बैङ्कों में धन जमा करते हैं, भूमि खरीदते हैं, मकान खरीदते तथा बनवाते हैं।

(४) दूरदर्शिता—अनेक व्यक्ति दूरदर्शी भी होते हैं। वे भविष्य की आवश्यकताओं और आने वाले कष्टों तथा आपत्तियों से बचने के विचार से धन-संग्रह करते हैं। वर्तमान काल में हर प्रकार के कष्ट सहन कर लेंगे, किन्तु भविष्य की

चिन्ता से व्याकुल होने अथवा वृद्धावस्था में जीर्ण-शीर्ण शरीर को आराम देने के निमित्त वे धन एकत्रित करते हैं।

(५) उदारता—कुछ उदारमना परोपकार के लिये धन एकत्रित करते हैं। दीन-दुखियों, अनाथों, अबलाओं को सहायता पहुँचाना वे अपना धर्म समझते हैं। वे सदा उच्च विचारों के पक्षपाती होते हैं। अपने धन को परिवार के व्यक्तियों के लिए इकट्ठा नहीं करते।

इन कारणों के अतिरिक्त अनेक और भी कारण हैं जिनसे प्रेरित होकर वे धन सञ्चय करते हैं जैसे—सफलता की कामना, सूद अथवा ब्याज द्वारा लाभ उठाने की प्रवृत्ति इत्यादि।

उपरोक्त मानसिक कारणों के अतिरिक्त कुछ ऐसी भी शक्तियाँ होती हैं जिनका प्रभाव धन के सञ्चय पर पड़ता है। मान लो किसी व्यक्ति की धन एकत्रित करने की मानसिक इच्छा अवश्य है, किन्तु यदि सञ्चय करने की सुविधा, और उस सञ्चित सम्पत्ति के सुरक्षित रखने वाले साधनों का अभाव हो तो धन एकत्रित होना असम्भव हो जायगा। एक व्यक्ति हर प्रकार के त्याग करके, नाना प्रकार के कष्ट सहन करके अपनी पूँजी की वृद्धि करता है, किन्तु यदि सुरक्षा और सुव्यवस्था का अभाव हुआ तो चोर डाकू ही उसके सारे धन को उड़ा ले जावेंगे। अतः मानसिक इच्छाओं के अतिरिक्त अनेक ऐसे भी कारण होते हैं जिनका कि पूँजी की वृद्धि पर गहरा प्रभाव पड़ता है।

मुद्रा के प्रचलन हो जाने से भी धन एकत्रित करने में अब सुविधा हो गई है। आज से सहस्रों वर्ष पूर्व जब मुद्रा का प्रचलन कम था अथवा नहीं था तो बहुधा मनुष्य अनाज, तेल, गुड़, शक्कर आदि ही भविष्य के लिए जमा करते थे। इसमें से बहुत-सा भाग तो चूहे या दीमक आदि के खा जाने से ही नष्ट हो जाया करता था, दूसरे उनको इकट्ठा करके रखने के लिये भी काफ़ी स्थान की आवश्यकता पड़ती थी। आज इन सब असुविधाओं के दूर हो जाने के अतिरिक्त कुछ अन्य लाभ भी दृष्टिगत होते हैं। बैङ्क, डाकखानों और बीमा कम्पनियों में धन के सुरक्षित रहने के साथ-साथ इस पर हमको सूद भी मिलता है, जिससे उस एकत्रित धन में निरन्तर वृद्धि होती रहती है। मुद्रा प्रचलन से दूसरी सुविधा यह भी हो गई है कि अब वस्तुओं का क्रय-विक्रय सरलतापूर्वक हो जाता है।

पैंतीसवाँ अध्याय

खेती का मूलधन

हर प्रकार के व्यापार और व्यवसाय में मूलधन या पूँजी की आवश्यकता होती है। जैसा कि विगत अध्याय में हम बता चुके हैं, मूलधन या पूँजी स्वयं तो निष्क्रिय है, किन्तु उत्पत्ति में सहायक होती है। यह भी हम बता चुके हैं कि पूँजी के मुख्य दो भेद माने जाते हैं, एक तो चल या अस्थायी मूलधन और दूसरा अचल अथवा स्थायी मूलधन। किसानों का और खेती-बारी का स्थायी मूलधन खेती के यन्त्र, बैल, भैंसा, गाड़ी, पशुशाला इत्यादि होते हैं। उसके अस्थायी मूलधन में खाद, बीज, मजदूर इत्यादि की गणना की जाती है। खेती के मूलधन का हम एक और रीति से वर्गीकरण कर सकते हैं—एक तो सजीव मूलधन जिसमें उसके हर प्रकार के पशु सम्मिलित रहते हैं और दूसरा निर्जीव मूलधन जिसमें खेती-बारी से सम्बन्धित यन्त्र और रहने के मकान तथा पशुशाला की गिनती की जाती है।

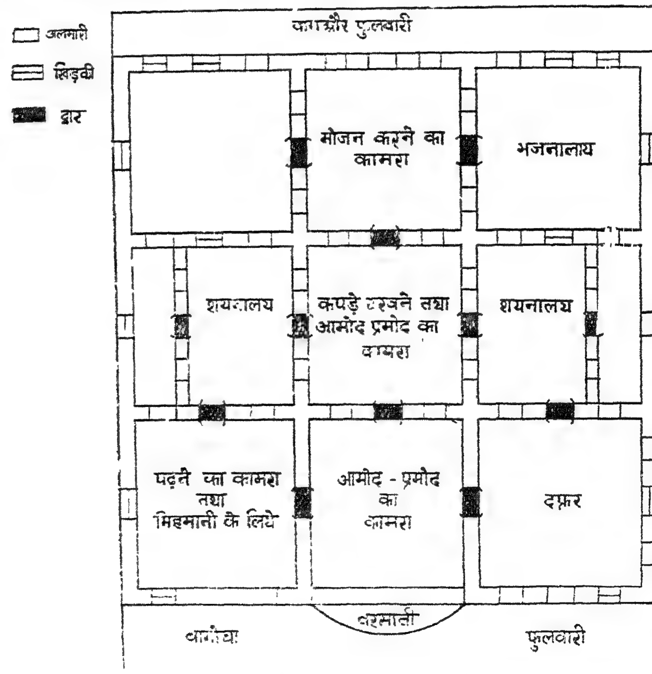
खेती के व्यवसाय में पूँजी के भेद

निर्जीव मूलधन

(१) **रहनेका स्थान**—हिन्दी में कहावत है—'खेती खसम सहेती।' अर्थात् उसी किसान की खेती सफल होती है जो उसकी सदा अच्छी प्रकार देख-रेख कर सके। ऐसा केवल तभी सम्भव है जब वह अथवा उसके स्त्री-बच्चे वहाँ चौबीस घण्टे रह सकें। इस प्रकार की कहावतें रहने पर भी न जानें क्यों भारतवर्ष में किसान अपने खेतों पर नहीं रहते हैं। पाश्चात्य देशों में विशेषकर अमेरिका, ब्रिटेन (तथा अन्य योरोपीय देशों में भी) में तो खेतों पर अथवा उसके बिल्कुल समीप ही (जैसा कि रूस में) रहने की प्रथा है। रहने के मकान बनाते समय सदा इस बात का ध्यान रहे कि खेती योग्य उपजाऊ भूमि कम से कम काम में आवे। खेत के किसी बंजर स्थान अथवा ऊँचे धरातल पर मकानों के बनाने की व्यवस्था होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त मकानों के पास किसी प्रकार की गन्दगी

अथवा पानी एकत्रित नहीं होना चाहिए; यदि इस बात की आशङ्का हो तो उसके निकास के लिए नालियों का उचित प्रबन्ध कर देना चाहिए अन्यथा मच्छरों के पैदा होने, बीमारियों के फैलने तथा मकानों को हानि पहुंचने का सदा अन्देशा रहेगा। पीने के लिए पानी की व्यवस्था भी होनी आवश्यक है। सबसे आवश्यक बात यह है कि खेत की मुख्य सड़क से एक मार्ग वहाँ तक अवश्य पहुँचना चाहिए।

पाश्चात्य देशों में तथा भारतवर्ष में भी, जहाँ विस्तृत खेतों पर खती होती है और जहाँ पर व्यवस्थापक की नियुक्ति की जाती है आधुनिक ढंग के मकान बनाए जाते हैं, तथा हर प्रकार की सुविधाओं पर भी विशेष ध्यान दिया जाता है। निम्न चित्र में हम आधुनिक ढंग के रहने के मकानों की व्यवस्था दिखलाते हैं —



बच्चों के मनोरञ्जन तथा खेलने-कूदने के लिए बाहर की ओर बाग और फुलवारी रहनी चाहिए तथा स्त्रियों के वास्ते भी उसकी व्यवस्था, यदि आवश्यक समझा जाय तो मकान के पीछे अथवा बाहर ही कर देनी आवश्यक है।

(२) **पशुशाला**—प्रचण्ड गर्मी और सर्दी से सुरक्षित रखने के लिए पशुशाला के निर्माण करने की भी आवश्यकता होती है। ठंडे प्रदेशों में तो इनका होना परमावश्यक है। किन्तु भारतवर्ष जैसे गर्म प्रदेशों में भी इनका होना कोई कम आवश्यक नहीं होता। पशुशालाएँ भी स्वास्थ्यकर, साफ़ और सुथरी होनी चाहिए। हवा और सूर्य के प्रकाश; पानी के निकास का प्रबन्ध होना भी नितान्त आवश्यक है।

पशुशालाएँ प्रायः ढोरों की संख्या के अनुसार बनाई जाती हैं। संख्या के अनुसार इन्हें हम निम्न दो भागों में विभाजित कर सकते हैं—

(अ) एक कतार वाली पशुशाला, (आ) दो कतार वाली पशुशाला।

एक कतार वाली पशुशाला—जब पशुओं की संख्या बहुत कम हो तो, एक कतार वाली पशुशाला का निर्माण करना ही लाभदायक होता है। साधारणतया इसकी चौड़ाई १७$\frac{१}{२}$ फुट रखी जाती है और लम्बाई का अनुमान पशुओं की संख्या के अनुसार घटता व बढ़ता रहता है। ऐसी पशुशाला का चित्र हम नीचे देते हैं—

एक कतार वाली पशुशाला का चित्र

दीवार १½ चौड़ा
चारा रखने का स्थान ३′ चौड़ा
मूत्रनाली १½ चौड़ा
खड़े रहने की जगह ६′ चौड़ा
आने-जाने का मार्ग ४′ चौड़ा
दीवार १½ चौड़ा

दो कतार वाली पशुशाला—जब पशुओं की संख्या अधिक होती है, तो प्रायः चौड़ाई बढ़ा कर शीर्षोन्मुख* अथवा पुच्छोन्मुख× बांधते हैं। इन दोनों प्रणालियों में पशुशाला की चौड़ाई लगभग ३४ या ३५ फुट कर दी जाती

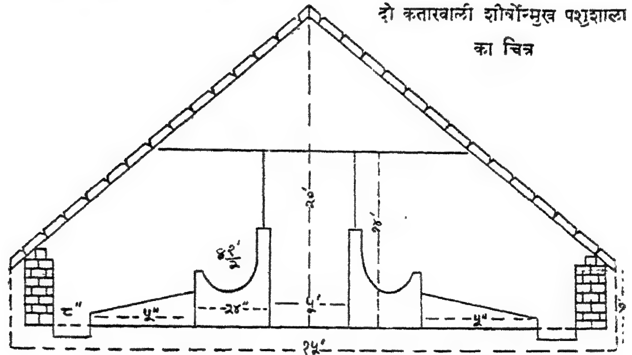
* शीर्षोन्मुख (Head to head)

× पुच्छोन्मुख (Tail to tail)

है और पशुओं के खड़े रहने के लिए ५ फुट चौड़ी जगह छोड़ी जाती है। अतः पशुओं की संख्या के अनुसार दो कतार वाली पशुशाला के हम निम्न दो विभाग कर सकते हैं—

(१) शीर्षोन्मुख पशुशाला, और (२) पुच्छोन्मुख पशुशाला।

शीर्षोन्मुख पशुशाला—जब पशुओं को इस प्रकार बाँधा जाता है कि उनके मुख एक दूसरे के सम्मुख रहते हैं, तो इस प्रकार की पशुशाला को हम शीर्षोन्मुख पशुशाला कहते हैं। इस व्यवस्था में किसान अथवा ग्वाले को जानवरों को चारा डालने में अधिक सुभीता रहता है। वह एक बार में तथा कम समय में ही दोनों कतारों के जानवरों को चारा डालता हुआ आगे बढ़ता जावेगा। किन्तु यदि इसमें गाएँ बांधी जायं तो दूध दुहने में अच्छी तरह से निगरानी न हो सकेगी। दो कतार वाली पशुशाला जिसमें पशुओं को शीर्षोन्मुख बांधा जाता है उसका चित्र हम यहाँ देते हैं—


दो कतारवाली शीर्षोन्मुख पशुशाला का चित्र

पुच्छोन्मुख पशुशाला—पुच्छोन्मुख पशुशाला में पशुओं को इस प्रकार बांधा जाता है कि उनकी पूँछें एक दूसरे के आमने-सामने रहती हैं, किन्तु मुख एक दूसरे के विमुख ही रहता है। इस व्यवस्था में व्यवस्थापक को गायों के दूध दुहते समय निगरामी करने में सरलता रहती है तथा पशुशाला की सफाई करने में भंगी को सुभीता रहता है।

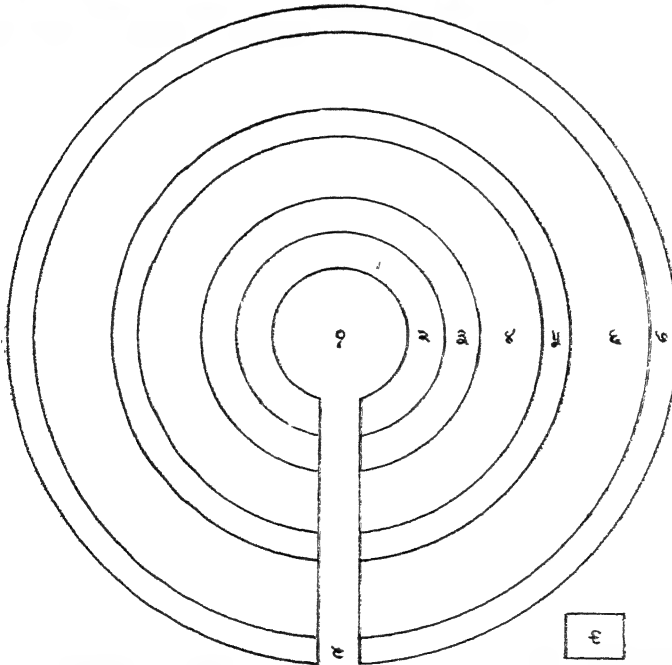
वृत्ताकार अथवा गोलाकार पशुशाला—वृत्ताकार अथवा गोलाकार पशुशाला के बनाने में कम खर्च बैठता है। फ्रेजर नामक विद्वान के मतानुसार इस प्रकार की पशुशाला में आयताकार पशुशाला की अपेक्षा दीवालों के बनाने में

२२ प्रतिशत तथा ३० से ६० प्रतिशत तक ईंट-चूना आदि सामानों में कम खर्च होता है। इसमें चारा-कूप (या भुसौरा) बीच में रखा जाता है और पशुओं को एक कतार में बांधा जाता है। जानवरों का मुख वृत्त के केन्द्र की ओर (जिधर कि चारा-कूप रहता है) रहता है। इस प्रकार की पशुशाला में तीन दोष दृष्टिगत होते हैं, जो क्रमशः निम्नलिखित हैं—

(१) चारा-कूप या भुसौरा में चारा भरने में कठिनाई होती है।

(२) यदि पशुओं की संख्या में वृद्धि हो जाती है तो इसके क्षेत्रफल को नहीं बढ़ाया जा सकता है।

(३) बीच के स्थान में जहां पशुओं का सिर रहता है, प्रकाश की कमी रहती है। वृत्ताकार पशुशाला का चित्र इस प्रकार होता है—



१—चारा-कूप या भुसौरा (Silo Tower)। २—चारा डालने के लिए स्थान। ३—नाद या चारा रखने की जगह। ४—पशुओं के आराम करने की जगह। ५—मूत्र-नाली। ६—मार्ग। ७—दीवाल। ८—प्रवेश-द्वार। ९—दुग्धशाला।

(३) गोशाला—आधुनिक गोशालाओं में उपर्युक्त किसी भी प्रणाली की एक बांधने की जगह होती है, जहां पर गाएँ रात्रि को आराम करती हैं। इसके अतिरिक्त प्रायः पुच्छोन्मुख गोशाला में उनके दूध दुहने की व्यवस्था होती है, तथा दोपहर को आराम करने और धूप खिलाने के वास्ते एक अलग अहाता होता है। इस अहाते को चारों ओर से कँटीले तारों से घेर देते हैं। आजकल साधारण तार का ही प्रयोग होने लग गया है, किन्तु इन तारों में हल्की बिजली की शक्ति डाल देते हैं ताकि गाएँ बाहर न निकल सकें।

इनके अतिरिक्त गोशाला में निम्न और स्थान होते हैं—

(१) बछड़ों के बाँधने का स्थान।

(२) सांड़ों के रहने का अलग स्थान।

(३) दुग्धशाला जिसमें दो अलग जगहें होती हैं—

(अ) दूध तौलने का कमरा—यह गोशाला के बिल्कुल ही समीप होता है।

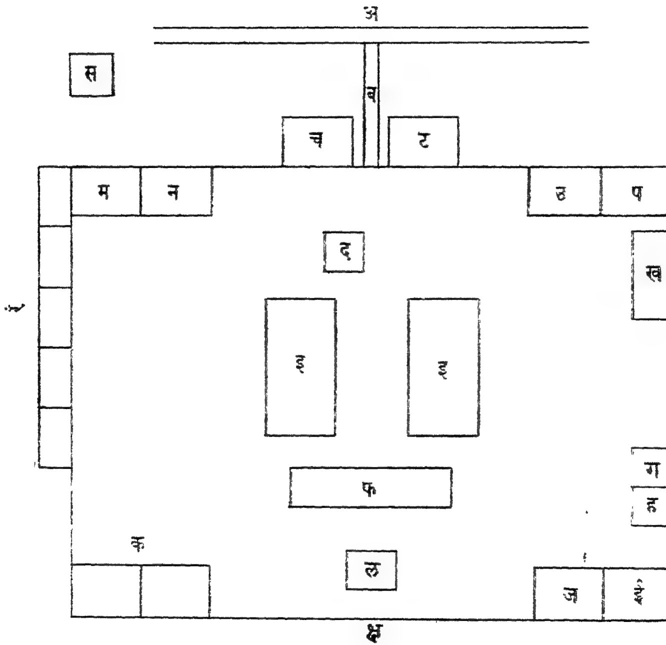
(आ) मक्खन आदि निकालने की जगह—यह कुछ दूरी पर भी हो सकती है।

(४) चारा रखने का स्थान।

(५) अनाज आदि रखने का स्थान।

क्षेत्रों (फार्म पर) में इन मकानों का निर्माण करना—स्मरण रहे कि उपर्युक्त सभी मकान या शालाएँ साधारण किसान नहीं बना सकता है, अतः इनके बनाने में अनेक बातों का विचार करना पड़ता है। सबसे मुख्य बात जो ध्यान में रखनी चाहिए वह यह है कि ये मकान एक दूसरे से दूर अवश्य हों, किन्तु इतने दूर न हों कि एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुंचने में बहुत समय लग जावे। मुख्य-मुख्य मकान सड़क के समीप होने चाहिए और अन्य स्थानों तक भी अच्छे और चौड़े मार्गों का निर्माण वांछनीय है। बड़े-बड़े क्षेत्रों पर इन मकानों का निर्माण अगले पृष्ठ के चित्र में दिखाई हुई विधि के अनुसार होता है।

(अ) मुख्य सड़क
(ब) फार्म की सड़क
(च) गोशाला
(द) दुग्ध तौलने का कमरा
(इ) दूध दुहने की शालाएँ
(फ) बछड़ों के बांधने का स्थान
(ग) साधारण पशुशाला
(गायों के आराम करने के लिए)
(ह) बछियों के बाँधने का स्थान
(ई) दूध न देने वाली गायों का कमरा
(ज) बछड़ों का कमरा
(क) सांड़ का कमरा



(ल) पानी की टंकी
(म) बैलों का कमरा
(न) मशीन तथा यन्त्रों का कमरा
(ड) गोदाम
(प) चारा काटने का स्थान
(ख) चारा-कूप
(र) नौकरों के कमरे
(स) बीमार पशु के वास्ते कमरा
(ट) व्यवस्थापक का घर
(क्ष) खेत के लिए मार्ग

अन्य निर्जीव मूलधन

अन्य प्रकार के निर्जीव मूलधन में खेती-बारी के यन्त्र, विविध प्रकार की मशीनें, खाद और बीज आदि सम्मिलित रहते हैं। इनकी संख्या और मात्रा में खेतों के क्षेत्रफल के अनुसार परिवर्तन होता रहता है। नीचे हम एक आठ एकड़ के खेत के लिये निर्जीव मूलधन का अनुमान दिखलाते हैं—

निर्जीव सम्पत्ति*

यन्त्र का नाम	संख्या	दर	कुल मूल्य (युद्ध से पूर्व के अनुमान)
देशी हल	२	३) प्रति	६)
मेस्टन हल	२	८)	१६)
विक्टरी हल	१	६५)	६५)
कानपुर कल्टीवेटर	१	४०)	४०)
लीवर हैरो	१	३५)	३५)
कुट्टी काटने की मशीन	१	४०)	४०)
जुआ	२	२)	४)
फावड़े	१०		
हँसिया	१०		२०)
खुरपी	१०		
तापमापक-यन्त्र	२		८०)
वर्षा मापक यन्त्र	१	३०)	३०)
बीज (तरकारी व अनाज)			४०)
खाद			२०)
दवाएँ			५०)
विविध			५८)
पशुशाला आदि			५००)

* निर्जीव सम्पत्ति (Dead Stock)

सजीव मूलधन

सजीव मूलधन में खेती के लिये बैलों तथा मजदूरों की आवश्यकता होती है। इस उदाहरण में ये निम्न संख्या में आवश्यक होंगी—

मजदूर	१०) प्रतिमाह	२४०)
एक जोड़ी बैल		२५०)
विविध		६)

घिसावट*

हर प्रकार के व्यवसाय में सामान की टूट-फूट और घिसावट होती है। इतनी बड़ी पूँजी सदैव एक साथ ही कोई व्यक्ति बार-बार नहीं लगा सकता है। अतः प्रत्येक माल की आनुमानिक आयु के अनुसार उस पर घिसावट या छीजन का मूल्य काट कर प्रति वर्ष एक कोष में जमा करते रहते हैं। जब सामान निकम्मा हो जाता है अथवा काम करने योग्य नहीं रहता तो इस कोष में से दूसरा यन्त्र खरीद लिया जाता है। घिसावट या टूट-फूट की दर प्रायः उस चीज की आयु के अनुसार ही निश्चित होती है। जो सामान जितने ही वर्ष अधिक चलता है उस पर घिसावट की दर उतनी की कम होती है। खेती-बारी के सामान पर घिसावट की दर निम्न होती है —

पशु-सम्पत्ति पर	१०	प्रतिशत की	दर से
ट्यूब-वेल पर	७	,,	,,
बाड़ या अहाता पर	२	,,	,,
पशुशाला या गोशाला पर	२	,,	,,
मार्गों पर तथा नालियों आदि पर	२	,,	,,
यन्त्रों तथा अन्य निर्जीव मूलधन पर	१०	,,	,,

---

* घिसावट (Depreciation)

छत्तीसवां अध्याय

भारतवर्ष में खेती का मूलधन

हर प्रकार के व्यापार और व्यवसाय में मूलधन की आवश्यकता होती है। जैसा कि विगत अध्याय में हम निर्देश कर चुके हैं, मूलधन या पूँजी स्वयं तो निष्क्रिय है, किन्तु उत्पत्ति में सहायक होता है। यह भी हम बता चुके हैं कि पूँजी के दो प्रधान भेद होते हैं, एक तो चल या अस्थायी पूँजी और दूसरी अचल अथवा स्थायी पूँजी। किसान के स्थायी मूलधन उसके खेती के यन्त्र, बैल, भैंस, गाड़ी, पशुशाला इत्यादि होते हैं। उसके अस्थायी मूलधन में खाद, बीज, श्रमिक (यदि वह मज़दूरी पर रखता है) आदि की गणना होती है। खेती के मूलधन का हम एक और रीति से भी वर्गीकारण कर सकते हैं—एक तो सजीव मूलधन जिसमें उसके पशु सम्मिलित रहते हैं और दूसरा निर्जीव मूलधन जिसमें खेती सम्बन्धी यन्त्र तथा पशुशाला आदि की गणना की जाती है।

खेती के व्यवसाय में पूँजी के भेद

अधिकांश भारतीय किसानों के पास पूँजी बहुत कम होती है। उनकी अवस्था प्रायः "जो आया सो खाया" ही रहती है। बेचारे नित्य कुँआ खोदकर पानी पीने के अभ्यस्त हो गए हैं। जैसे-तैसे निर्वाह करना भी उनके लिए दुष्कर है। नकद पूँजी तो नहीं के बराबर होती है। ऋण लेकर अपना व्यवसाय किसी न किसी प्रकार चलाते हैं और उसके बदले में अपनी गाढ़ी कमाई को ब्याज में देते हैं। इतने पर भी देहातों में रुपया सरलता से उपलब्ध नहीं होता है। वहां के महाजन भी प्रायः शहरों की अपेक्षा कम धनी ही होते हैं। किसानों की साधारण पूँजी उनके हल, फार (फाल) खुरपी, कुदाली, चरस या रहट, पाटा और कभी-कभी उन्नतिशील यन्त्र और बैलगाड़ी आदि होते हैं। इन वस्तुओं में यदि बीज, जो किसान बोता है, और खाद, जो खेतों में डालता है तथा उसके कुछ जानवरों और उनके रहने के स्थान को यदि जोड़ दिया जावे तो उसकी पूँजी का विवरण पूरा हो जायगा।

किसानों की पूँजी

बहुधा किसानों के पास अपनी उपज में से खाने से कुछ बच ही नहीं पाता, अतः बोने के लिए उसे बीज, महाजन, व्यापारी अथवा जमीन्दार से उधार लेना पड़ता है। इस अन्न (पूँजी) के उधार की दर प्रायः सवाई अथवा ड्यौढ़ी होती है। भारतवर्ष में ऐसे किसान ही अधिकांशतः मिलेंगे जो ऋण लेकर अपनी पूँजी की पूर्ति करते हैं। सुरक्षित पूँजी का भी सर्वथा अभाव ही है। कुछ संख्या में कहीं-कहीं सम्पन्न किसान भी दिखाई पड़ जाते हैं। ऐसे किसान अच्छी उपज होने पर, अपनी अन्य आवश्यकताओं को मर्यादित रखकर कभी-कभी अपनी स्त्रियों के लिए एक दो आभूषण बनवा देते हैं और जब संकट पड़ता है अथवा दुर्भिक्ष के समय ये आभूषण ही उनकी सहायता करते हैं। जब कभी दुर्भिक्ष पड़ता है तब बहुधा किसानों के चाँदी और सोने के ये आभूषण नगरों में देखे जा सकते हैं— उन्हें बेचकर वे अपनी आवश्यकताओं को पूर्ण करते हैं।

खेती के यन्त्र

भारतीय किसानों के खेती-बारी के यन्त्र अत्यन्त ही साधारण व सस्ते मूल्य के होते हैं। हमारे देहातों में प्रायः निम्नलिखित यन्त्र खेती के व्यवसाय में प्रयुक्त होते हैं। देशी हल (कभी-कभी सम्पन्न किसान मेस्टन, गुर्जर, राजा, शाबाश, पंजाब, वाह वाह आदि उन्नतिशील हलों का भी व्यवहार कर लेते हैं), पाटा या पटेला, चौंगा या नाई, जुआ, पुर अथवा चरस (रहट का प्रयोग भी होता है और कहीं-कहीं ढेंकुली, मायादास लिफ्ट, बल्देव बाल्टी, ईजिप्शियन आदि भी व्यवहृत किये जाते हैं, जुआ, खुरपी, फावड़ा, कुदाल, काँटे (हैरो) कल्टीवेटर इत्यादि मुख्य यन्त्र हमारे गाँवों में भूमि, जलवायु अथवा परिस्थितियों के अनुसार काम में लाये जाते हैं। इनका संक्षिप्त वर्णन हम नीचे करते हैं।

यही हल, जैसा कि अन्यत्र चित्र में दिखाया गया है, लगभग सारे भारतवर्ष में काम में आता है। भूमि और बैलों की अवस्था के अनुसार इनमें प्रायः परिवर्तन भी होता रहता है। संयुक्त-प्रान्त में उत्तर-पश्चिमी ज़िलों के हल भारी होते हैं और उनका लोहे का फल भारी और चौड़ा होता है; किन्तु ज्यों-ज्यों पूर्व की ओर बढ़ते हैं वे लम्बाई में छोटे, वजन में हल्के होते जाते हैं और लोहे का फल भी हल्का किन्तु अधिक नुकीला होता है। धुरी भी कहीं-कहीं बांस की देखी जा

सकती है। जहाँ की भूमि रेतीली होती है वहाँ भी प्रायः हलके हल काम में लाये जाते हैं और राजपूताने के हलों में तो प्रायः हल की फाल भी लकड़ी की ही बनी हुई होती है। अतः हमारे भारतवर्ष के हल वैसे आकार में तो लगभग एक से ही होते हैं किन्तु भूमि की बनावट और पशुओं की शक्ति के अनुसार उनके वजन और फाल में अन्तर पड़ता रहता है।

मेस्टन, राजा, गुर्जर आदि उन्नतिशील हलों में धुरी के अतिरिक्त अन्य सब भाग लोहे के होते हैं। ये वज़न में कुछ भारी अवश्य होते हैं, किन्तु जुताई गहरी करते हैं। साधारण बैल उनको सरलता से खींच भी सकते हैं। इनका लोहे का फाल मजबूत, चौड़ा व नुकीला होता है। इनसे गहरी जुताई होने के कारण भारत के कई भागों में इनका प्रयोग होने लग गया है। सम्पन्न किसानों के अतिरिक्ति सरकारी और गैर-सरकारी क्षेत्रों पर बहुधा इनका ही प्रयोग अधिक होता है। देशी हल की अपेक्षा शुरू में ये कुछ मँहगे तो अवश्य पड़ते हैं, किन्तु इनकी आयु और उपयोगिता उससे कहीं अधिक होती है।

जुआ, जो बैलों के कन्धे पर रखा जाता है, भी प्रायः लकड़ी का बना हुआ होता है, किन्तु पूर्वीय संयुक्त-प्रान्त, बिहार, बंगाल में इसे बांस का भी बना लेते हैं। इसका कारण यह है कि एक तो इन प्रान्तों में बैल नाटे कद के होते हैं और दूसरे बांस भी बहुतायत से पैदा होता है। लकड़ी का जुआ प्रायः भारी होता है। अतः यह उन्हीं स्थानों में अथवा वे किसान ही इनका प्रयोग करते हैं जहां अथवा जिनके पास बैल सुडौल और मजबूत होते हैं। लकड़ी के बने हुए इन जुओं में अब कृषि-विभाग द्वारा कुछ उन्नति भी हो गई है जिससे कि बैल अथवा भैंसों के कन्धे छिलते नहीं हैं। जुए के अन्दर एक चमड़े अथवा रस्सी की डोरी या पट्टी होती है जो बैलों के गले में घुमाकर फिर जुए में बांध दी जाती है।

पाटा या पेटला कई प्रकार का होता है। भूमि की बनावट और बैलों की शक्ति के अनुसार ही इसे भी बनाया जाता है। पंजाब और संयुक्त-प्रान्त के कुछ भागों में तो यह प्रायः ८ से १० फीट लम्बा और प्रायः ९" से ११" चौड़ा तथा ४ से ६" मोटा होता है। किन्तु ज्यों-ज्यों पूरब की ओर बढ़ते हैं यह भी बांस के टुकड़ों को जोड़ कर बना लिया जाता है। खेत को भली प्रकार से जोत लेने के बाद मिट्टी के ढेलों को तोड़ने के लिए इसे खेत में चारों तरफ घुमाया जाता

है। इससे भूमि में नमी भी स्थिर बनी रहती है और ढेले टूट जाने के बाद भूमि सख्त बना दी जाती है। खेत में बीज बखेर देने के बाद भी इसका उपयोग किया जाता है। उन्नतिशील क्षेत्रों में यह लोहे का बना हुआ होता है।

चोंगा अथवा नाई बीज बोने के काम में आती है। जब फसलें कतारों में बोई जाती हैं तब इसका उपयोग किया जाता है। यह बाँस या बेंत का बना हुआ होता है। ऊपर का भाग कीमे के आकार का होता है और शेष भाग खोखले बाँस का बना होता है। यह हल की मूँठ के पास पीछे की ओर बँधा रहता है। हल जोतते समय जो कूँड़ या नाली हलकी फाल के द्वारा बनती है उसी के ठीक ऊपर बाँस की नली का भाग रहता है। कीमे या कुप्पी में किसान बीज छोड़ता जाता है जो उस नली द्वारा नाली या कूँड़ में जाकर गिरते जाते हैं। इससे बीज बोने में सुभीता भी रहता है तथा बोने में बीज भी कम खर्च होते हैं। उन्नतिशील चोंगे लोहे के बने होते हैं और कभी-कभी एक ही चोंगे द्वारा कई कतारों में बोया जा सकता है। इस प्रकार के चोंगे में बीज भरने के लिए एक सन्दूक की व्यवस्था होती है, जिसमें तीन से पांच तक नालियाँ नीचे लगी रहती हैं। इनका उपयोग बड़े-बड़े सरकारी अथवा गर-सरकारी क्षेत्रों पर ही किया जाता है।

मोट, पुर अथवा चरस सिंचाई के काम में लिया जाता है। यह चमड़े का एक गोलाकार भारी थैला होता है। रस्सी से इसे बाँध कर गड़ारी पर लटका दिया जाता है जो कुएँ में जाकर गिरती है। दूसरी ओर की भूमि ढालू होती है जहाँ बैल इसे खींचते हैं और इस प्रकार जल ऊपर आ जाता है। ढेकुली, मायादास और बल्देव बाल्टी इत्यादि सिंचाई के अन्य सरल यन्त्र होते हैं जो पानी की गहराई के अनुसार प्रयोग में लाए जाते हैं। कहीं-कहीं पर रहट या अरहट का भी प्रयोग किया जाता है जिसमें लोहे अथवा मिट्टी की छोटी-छोटी बाल्टियाँ एक पहिये पर घूमा करती हैं। इसका एक भाग (बाल्टियों का) सदैव पानी में डूबा रहता है। बैल अथवा ऊँट इसे खींचते हैं। सम्पन्न किसान प्रायः इसका व्यवहार अधिक करते हैं।

खुरपी या खुरपा निराने के काम में आते हैं। फावड़ा और कुदाल गुड़ाई के लिये प्रयोग किए जाते हैं। हँसिया द्वारा फसल काटी जाती है। पाँचा, पँचावरा

या कलारी भूसा आदि उठाने के काम में आता है। इनके अतिरिक्त गंडासे, टोकरी, रस्सी, लालटेन आदि अन्य बहुत से छोटे यन्त्र खेती के काम में आते हैं।

बहुधा कृषि-विशषज्ञों द्वारा भारतीय खेती-बारी के इन यन्त्रों पर अनेक आक्षेप लगाये जाते हैं। कई कारणों से ये अनुपयुक्त तक ठहरा दिये जाते हैं। किन्तु

भारतीय कृषि-यन्त्रों की उपयोगिता

यदि गम्भीरतापूर्वक विचारा जाय तो जिन परिस्थितियों में भारत का किसान अपनी जीविका उपार्जन करता है, उन में वे सर्वथा उपयुक्त हैं। हां, इनमें जहाँ-तहाँ सुधार की आवश्यकता अवश्य है। देशी हल को ही ले लीजिये—यह हमारी खेती-बारी में कई काम करता है। खेत जोतने के अतिरिक्त इससे गुड़ाई का भी काम ले लिया जाता है। अतः आर्थिक दृष्टिकोण से यह हमारे दो कार्य हल कर देता है जो उन्नतिशील दो यन्त्र मिलकर करते। आवश्यकतानुसार धुरी के छिद्रों में कीली घटा या बढ़ा कर लगा देने से गहरी अथवा हल्की दोनों प्रकार की जुताई भी की जा सकती है। भूमि की बनावट और बैलों की शक्ति को देखते हुए भी इनमें भिन्न-भिन्न परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तन कर लिया-जाता है। सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह भी है कि निर्धन किसान के पास इन उन्नतिशील यन्त्रों के लिए इतना रुपया भी तो नहीं रहता और साथ ही अच्छे सुडौल और मजबूत बैल जो उन्हें खींच सकें उनका भी प्रायः अभाव ही रहता है। अतः देहात के किसानों की आर्थिक परिस्थितियों को दृष्टि में रखते हुए तथा भूमि की अवस्था तथा बैलों की शक्ति को देखते हुए हमारे प्राचीन काल के ये यन्त्र सर्वथा उपयुक्त हैं। हां, केवल इनमें कुछ सुधार की आवश्यकता अवश्य है।

इन बातों के अतिरिक्त ये अत्यन्त ही सादे होते हैं व ऐसी वस्तुओं के बने होते हैं कि जो लगभग प्रत्येक स्थान पर सरलतापूर्वक उपलब्ध हो जाती हैं और टूट-फूट जाने पर आसानी से इनकी मरम्मत गांव के ही लुहार और बढ़ई मिलकर कर देते हैं। वजन के इतने भारी भी नहीं होते कि जिन्हें एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाने में अधिक कष्ट उठाना पड़े। इन बातों का संक्षिप्त निष्कर्ष यही है कि हमारी जो आज देहातों की परिस्थितयाँ हैं, उनके लिए हमारे एसे यन्त्र सर्वथा ही उपयुक्त हैं। इनमें परिवर्तन की भी तभी आशा करनी चाहिए जब हमारे आर्थिक-जीवन में सर्वाङ्गीण परिवर्तन होने की सम्भावना हो। शिक्षा, धन

तथा क्षेत्रफल के अनुसार आज भी किसान अपनी स्थिति में जैसे-जैसे सुधार करते जा रहे हैं, वे सुधार तो हर समय फिर भी चल सकते हैं। इस समय इन सब यन्त्रों का कुल मूल्य लगभग ३००) या ४००) होगा। विगत युद्ध से पूर्व इन सबकी कीमत लगभग १००) या १२५) थी।

इनकी अनुपयोगिता

जहाँ हम इन यन्त्रों में अनेक उपयोगिताएँ पाते हैं, वहाँ ये अनेक दृष्टिकोण से अनुपयुक्त भी हैं, इसमें किंचित् मात्र भी सन्देह नहीं। निस्सन्देह हमारे किसान अशिक्षित और निर्धन हैं तथापि हमारे बहुत से यन्त्र आधुनिक युग में जब कि अन्य देश आशातीत उन्नति कर चुके हैं, बहुत ही पिछड़े हुए हैं। खेती-बारी जिस पर कि हमारी कुल जनसंख्या का इतना बड़ा भाग आश्रित है, उसमें अत्यन्त ही उन्नति की आवश्यकता है। सरकारी कृषि-क्षेत्रों पर अच्छे हलों तथा अन्य यन्त्रों द्वारा काफी अधिक उपज पैदा कर ली जाती है। ऐसी अवस्था में हमें इन्हें अपनाना आवश्यक है। उदाहरण के लिए हम देशी हल को ही लेते हैं—भारत के अधिकांश देहातों में और विशेष रूप से राजपूताने में हल भूमि को जोतने की बजाय केवल खुरचता मात्र है। ऐसी अवस्था में जो उत्पत्ति होगी उसकी तो हम स्वयं ही कल्पना कर सकते हैं। ठीक इसी प्रकार की हालत हमारे सिंचाई के यन्त्रों की भी है। यदि हम इनमें आवश्यक परिवर्तन नहीं करते हैं तो हमारी आर्थिक अवस्था और भी अधिक शोचनीय होती चली जावेगी। इन यन्त्रों से केवल छोटी मात्रा में उत्पत्ति सम्भव है।

खेती में मशीनों का उपयोग

जो काम बहुत भारी, बारीक और थकाने वाले होते हैं, जिन्हें मनुष्य हाथ द्वारा नहीं कर सकता है अथवा बहुत कठिनाई से कर सकता है और जिनके करने में बहुत अधिक सावधानी की आवश्यकता होती है, वे सब काम प्रायः मशीन द्वारा ही किये जाते हैं। मशीन ने वर्तमान युग में उत्पत्ति की कायापलट कर दी है। मशीन द्वारा धनोत्पत्ति की शक्ति और पैमाने ही बदल दिए हैं, प्रतिस्पर्द्धा को बहुत बढ़ा दिया है और साथ ही परिमित भी कर दिया है, एकाधिपत्य का प्रभुत्त्व बढ़ता जा रहा है। इसके अतिरिक्त श्रम के गुण पर और जीवन-बेकारी तथा वेतन पर बहुत गहरा प्रभाव डाला है।

खेती-बारी के व्यवसाय में कुछ मुख्य प्रकार की मशीनें निम्नलिखित हैं—

ट्रैक्टर—सड़क कूटने वाले इञ्जिन की भाँति ही इसका आकार-प्रकार होता है। साधारण ऊँची-नीची भूमि में भी यह चलाया जा सकता है। इसके चलाने में निर्जीव शक्ति का प्रयोग होता है। इसका उपयोग प्रायः विस्तृत-क्षेत्रों में ही किया जाता है। ट्रैक्टर मशीन में बड़े-बड़े मिट्टी पलटने वाले हल जोड़ दिए जाते हैं। ये हल गहराई तक भूमि में चले जाते हैं और नीचे की मिट्टी को ऊपर लाकर पलट देते हैं। इस प्रकार भूमि अधिक उपजाऊ हो जाती है जिससे कि वनस्पति और पेड़-पौधों को उपयुक्त भोजन आवश्यक मात्रा में मिल जाता है। ट्रैक्टर मशीन के साथ-साथ अन्य यन्त्रों का भी उपयोग किया जाता है। निराई और गुड़ाई करने के लिये भिन्न-भिन्न प्रकार के कल्टीवेटर, हैरो, हो तथा बोने की मशीनों का भी प्रयोग होता है। इस प्रथा से केवल वैज्ञानिक रीतियों से खेती होती है। जो काम साधारण हलों अथवा यन्त्रों की सहायता से अनेक दिनों में समाप्त होते हैं उन्हें ट्रैक्टर की सहायता से कुछ दिनों में ही अधिक कुशलता से पूरा कर लिया जाता है।

खेती का सजीव स्थायी मूलधन

खेती के स्थायी मूलधन का दूसरा भाग सजीव स्थायी मूलधन है, जिसे प्रायः हम 'गोधन' भी पुकारते हैं। एक भारतीय किसान के पास बहुधा एक जोड़ी बैल या भैंसे होते हैं। उनकी आर्थिक सम्पन्नता के साथ ही साथ इनकी संख्या में भी प्रायः परिवर्तन होता रहता है। एक जोड़ी बैल से (ज्वारे) दस से पन्द्रह एकड़ भूमि जोती जा सकती है। भारतवर्ष में प्रायः खेती में बैलों को ही काम में लाया जाता है, किन्तु बहुत से निर्धन किसान भैंसों से भी खेती-बारी करते हैं। भैंसों की अपेक्षा बैल खेती के लिए अधिक उपयुक्त रहते हैं। बैलों में प्रत्येक ऋतु में उतनी ही तीव्रता और शक्ति से काम करने की शक्ति होती है और भैंसे वर्षा ऋतु में ढीले पड़ जाते हैं, अतः किसान लोग इससे अधिकतर काम लेना पसन्द नहीं करते हैं। निर्धन किसान जिनके पास भूमि अधिक नहीं होती वे ही प्रायः भैंसों को खरीदते हैं। आजकल साधारण जोड़ी बैल का मूल्य लगभग चौगुना हो गया है—अर्थात् द्वितीय महायुद्ध से पहिले एक जोड़ी बैल का मूल्य लगभग २००) या १५०) था, किन्तु आज ८००) से १०००) तक है।

जैसा कि हम अपने विगत अध्यायों में बता चुके हैं, संख्या के विचार से भारतवर्ष में दुनिया में सबसे अधिक चौपाये हैं। हमारे यहाँ गाय-बैलों की संख्या संसार की कुल संख्या का $\frac{३}{४}$ भाग है तथा भैंसें भी $\frac{२}{३}$ संख्या में हैं। निम्न कोष्ठक में हम भिन्न-भिन्न प्रान्तों में कुल बैल व भैंसों की संख्या, तथा एक ज्वारे के पीछे कहाँ-कहाँ कितनी खेती होती है इसका अनुमान भी बतलाते हैं :—

प्रान्त	खेती का कुल क्षेत्रफल	कुल बैल और भैंसे	प्रति ज्वारे पीछे खेती का क्षेत्रफल (एकड़ में)
	(००००० और जोड़ दीजिये)	(००००० और जोड़ दीजिये)	
मद्रास	३३८	६५	१०.३
बम्बई	३१२	३३	१८.५
बंगाल	२३८	९१	५.२
संयुक्त-प्रान्त	३४८	१०९	६.३
पंजाब	२६०	४६	११.२
बिहार व उड़ीसा	२५१	७६	६.५
मध्य-प्रदेश	२४८	४२	११.५
आसाम	५८	१८	६.३
अजमेर मेरवाड़ा	३	१	५.४
कुर्ग	१	५	५.२
दिल्ली	२	.३	१०.६

इन अङ्कों के देखने से विदित हो जाता है कि इस देश में एक स्थान से दूसरे स्थान तक बैलों और भैंसों के एक ज्वारे के पीछे खेतों के क्षेत्रफल में विचित्र विभिन्नता पाई जाती है। यह विभिन्नता वहाँ की भूमि की बनावट और फसलों के कारण ही मुख्य रूप से पाई जाती है। सिचाई की रीतियों के अनुसार भी भिन्न-भिन्न स्थानों में प्रति ज्वारे पीछे भूमि के क्षेत्रफल अन्तर पड़ जाता है। इनके अतिरिक्त बैलों के कद, उनके शरीर की बनावट तथा ताकत का भी यथेष्टरूप में प्रभाव पड़ता है।

जिस स्थान पर गन्ना, कपास अथवा गेहूं की खेती होती है, अथवा जहां की भूमि अधिक चिकनी या कड़ी होती है या जहां पर बार-बार सिंचाई की आवश्यकता होती है, वहां बैल की एक जोड़ी से बहुत ही कम भूमि पर खेती की जा सकती है। जिन प्रान्तों में नहरों द्वारा सिंचाई होती है वहां एक ज्वारे से काफी भूमि पर खेती की जा सकती है। इसी प्रकार जहाँ अच्छी नस्ल के सुन्दर, मज़बूत और सशक्त बैल मिलते हैं वहां एक ज्वारे से अधिक भूमि पर खेती की जा सकती है।

निम्न कोष्ठक में संसार के कुछ देशों के आँकड़े दिये जाते हैं, जिनमें यह दिखाया गया है कि इन देशों में प्रति १०० एकड़ कृषि-भूमि पीछे तथा प्रति १०० मनुष्यों के पीछे कितने पशु हैं। ये अङ्क इण्टरनेशनल एग्रीकल्चरल ईयरबुक से उद्धृत किये गए हैं —

देश का नाम	कृषि भूमि लाख एकड़ों में	पशु संख्या* लाखों में	प्रति सौ एकड़ पर पशुओं की संख्या	प्रति सौ मनुष्यों पीछे पशु संख्या
न्यूजालण्ड	२०	३८	१९०	२७१
स्विट्जरलैण्ड	१२	१६	१३३	४०
द० अमेरिका	९३	१०७	११६	१३४
नीदरलैण्ड	२३	२४	१०४	३२
ग्रेट-ब्रिटेन	१२६	७१	५६	१६
भारत	३०८७	२२२०	५०	४३
अर्जेण्टाइना	६४०	३२२	५०	२९२
आस्ट्रिया	४८	२२	४६	३४
डेनमार्क	६९	३१	४५	९१
आस्ट्रेलिया	३०४	११२	३७	१७२
जर्मनी	५०७	१८४	३२	२९

* इन अङ्कों में केवल गाय-बैल, भैंसे और भैंसों को ही सम्मिलित किया गया है।

उक्त अङ्कों के देखने से विदित होता है कि भारतवर्ष में यद्यपि ढोरों की संख्या सबसे अधिक है, तथापि औसत श्रेणी का भारतीय किसान जिन जानवरों से काम करता है वे बहुधा दुर्बल, ठिंगने और शक्तिहीन होते हैं। हिन्दुस्तानी जानवरों की अपेक्षा उसी उम्र व उसी जाति का हॉलैण्ड का एक जानवर वज़न में दुगुना होता है। मिश्र देश के साधारण से साधारण जानवर भी भारतीय पशुओं से आकार में बड़े होते हैं। अतः संक्षेप में भारतीय पशु चाहे अन्य देशों से संख्या में भले ही अधिक हों किन्तु और सब बातों में उनकी अवस्था अत्यन्त ही शोचनीय है। जिन स्थानों में ढोरों के पालन-पोषण की समस्या जितनी ही अधिक बुरी है वहां वे उतनी ही अधिक संख्या में पाये जाते हैं। इससे गायें दुर्बल और शक्तिहीन हो जाती हैं तथा उनसे पैदा होनेवाले बछड़े भी उतने ही अधिक अशक्त, ठिंगने तथा कमजोर होते हैं। किसानों को इस अवस्था से सन्तोष नहीं होता और वे अच्छे बैल पैदा करने की चिन्ता में निरन्तर बच्चे पैदा कराते जाते हैं इस प्रकार बैलों की संख्या बढ़ती ही चली जाती है। इस प्रकार की निरन्तर वृद्धि के फलस्वरूप चरागाहों का क्षेत्रफल घटता चला जाता है, चारे की कमी भी प्रायः बढ़ती जाती है और गायें भी परिणामस्वरूप दुर्बल होती जाती हैं और अन्त में अच्छे बछड़े पैदा करने की आशा समाप्त हो जाती है। अत: भारत में आज ठिंगने, अशक्त तथा अनावश्यक पशुओं की वृद्धि एक बड़ा भारी बोझा है और खेती के व्यवसाय के लिये एक गहन समस्या है।

अस्थायी मूलधन

किसान का अस्थायी मूलधन तीन प्रकार का होता है—(१) खाद (२) बीज और (३) श्रमिकों को वेतन आदि देने के लिए कुछ नकद रुपये। भारतवर्ष में प्रायः बहुत कम किसान ऐसे मिलेंगे जो अपनी आवश्यकता के अनुसार सारा स्थायी व अस्थायी मूलधन स्वयं लगाते हों। हाँ, खाद के विषय में यह बात नहीं कही जा सकती है। अधिकतर किसानों के पास खाद तो अपना निजी अवश्य होता है। अन्य प्रकार के अस्थायी मूलधन के लिए उन्हें दूसरों पर ही आश्रित रहना पड़ता है।

किसान कई प्रकार के खाद अपने खेतों में डालते हैं। अन्य देशों की भाँति

हमारे यहां भी अब कुछ सम्पन्न किसान तथा सरकारी और गैर सरकारी क्षेत्रों में रासायनिक खादों का व्यवहार होने लग गया है; किन्तु अधिकांश भारतीय किसान आज भी अपनी खेती की सफलता के लिए साधारण खादों पर ही आश्रित रहते हैं। गाँवों में कई प्रकार की खादें प्रयुक्त की जाती हैं, जैसे गाय भैंस का गोबर, जानवरों की हड्डी का चूरा, खली, हरी खाद इत्यादि। इन सबमें गोबर का खाद ही सबसे अधिक व्यवहृत होता है। गोशाला आदि स्थानों से गोबर इकट्ठा करके किसी एक निश्चित स्थान पर (घूरा) एकत्रित किया जाता है। प्रतिदिन गाँव का लगभग प्रत्येक किसान, अपने घर को साफ करने के बाद, उस घूरे पर गोबर के अतिरिक्त राख, कूड़ा-कर्कट इत्यादि भी फेंकते रहते हैं। इस प्रकार का यह खाद खेत के जोतने-बोने से पूर्व ही खेतों में डाल दिया जाता है।

खाद

गोबर के खाद के विषय में हमें कुछ महत्वपूर्ण बातों पर ध्यान देना आवश्यक है। गाँवों में वर्ष के प्रायः आठ महीने तक तो गोबर के उपले बनाकर जलाये जाते हैं और बरसात के केवल चार महीनों में गोबर को न जलाकर घूरे में डाला जाता है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण से भी हमारे गावों में बनाए गये गोबर के खाद में उपयोगी तत्त्वों का अभाव रहता है। यदि हर प्रकार से सावधानी रख कर गोबर से खाद तैयार किया जाय तब उसमें नोषजन (Nitrogen) की मात्रा ०·५ से ०·६ प्रतिशत रहती है; किन्तु गाँवों में खाद के बनाने में बहुत ही असावधानी बरती जाती है। गोबर को यों ही खुले हुए किसी ऊँचे-नीचे स्थान पर फेंक देते हैं। उसे सुरक्षित रखने की कोई भी व्यवस्था नहीं की जाती है। फल यह होता है कि वर्षा में पानी के बहाव के साथ उसके बहुत कुछ उपयोगी अंश व्यर्थ ही वह जाते हैं और प्रचण्ड गर्मी के कारण अनेक प्रकार की हवाएँ (जैसे अमोनिया) शुष्क होकर वायु के साथ मिल जाती है। इन कारणों के परिणाम स्वरूप गाँवों में तैयार किए गए गोबर के खाद में उपयोगी तत्त्वों के अंश बहुत कम हो जाते हैं।

निम्न कोष्ठक में हम भिन्न भिन्न प्रकार के खादों की बनावट और उनके तत्त्वों का वर्णन करते हैं—

क्रमसंख्या	खाद का नाम	प्रतिशत मात्रा		
		नोषजन	स्फुरिकाम्ल	सज्जी (पोटास)
१	गोबर का खाद	०'४	१'१	२'२
२	कम्पोस्ट	१'२	१'३	२'७
३	मूँगफली की खली (छिलका उतारी हुई)	७'३८	१'८८	१'३८
४	,, (छिलका सहित)	४'७९	१'६५	१'५८
५	रेंड़ी की खली	४'६३	२'१०	१'९१
६	दुँआ ,,	५'५६	१'७२	३'०८
७	नीम ,,	६'३९	१'७८	२'७४
८	महुआ ,,	३'१२	०'९६	१'४३
९	तिल ,,	४'७	०'२	०'९

क्रम संख्या	खाद का नाम	प्रतिशत मात्रा		
		नौषजन	स्फुरिकाम्ल	सज्जी (पोटास)
१०	कुसुम खली	५·८	१·५	०·९
११	अलसी	५·०	२·५	३·०
१३	मछली का खाद	०·९	·१	०·२
१४	पक्षियों की बीट	५·५	५·५	१·५
१५	घोड़े की लीद	०·४५	०·३	०·३५
१६	रासायनिक खाद (अमोनियम सल्फेट)	२०·६	—	—
१७	" (सोडियम नाइट्रेट)	१५·२	—	—
१८	(पोटेशियम नाइट्रेट)	१४·०	—	३९·०
१९	" (सुपर फास्फेट)	—	३९·५	—

श्री० सी० एन आचार्य ने भारतवर्ष में प्राप्त होने वाले खाद की मात्रा तथा सम्भावित खाद की कुल मात्रा (Potential Supplies) का वर्णन निम्न प्रकार दिया है।

सम्भावित खाद की मात्रा

विवरण	(अ) २००० लाख पशु		(ब) खेती-बारी का कूड़ा-कर्कट	(स) भारत की जनसंख्या		(द) नगरों का कूड़ा-कर्कट इत्यादि
			तरकारी; पेड़-पौधों की पत्तियाँ, टहनियाँ शाखाएँ जड़ें, खर-पतवार आदि सब का कुल अनुमान } १००० लाख टन			
कुल सम्भावित खाद की मात्रा लाख टनों में	(१) गोबर १७७०	(२) मूत्र ३५४	८००	(१) विष्ठा ६४	(२) मूत्र ८०	४००
			कुल योग—३६५८ लाख टन			

प्राप्त खाद की मात्रा

प्राप्त खाद की मात्रा लाख टनों में	६२५	२५	२५	
		कुल योग—६७५ लाख टन सम्भावित खाद की मात्रा का प्रतिशत—१७.६६		

भारतवर्ष में खली को खाद के लिए व्यवहार में अवश्य लाते हैं, किन्तु उससे पूरा-पूरा लाभ नहीं उठाया जाता है। हमारे देश में खली का दुरुपयोग दो प्रकार से होता है—(१) प्रथम तो इस देश से तिलहन का निर्यात काफी मात्रा में होता है और (२) शेषका आधिकांश भाग जानवरों को खिला दिया जाता है और उनके गोबर को उपले बनाकर जला दिया जाता है। अगले कोष्ठक के अंकों से हमें अपनी तिलहन सम्बन्धी निर्यात की स्थिति का अनुमान हो जावेगा—

निर्यात (००० हज़ार रुपयों में)

तिलहन	१९४२-४३	१९४३-४४	१९४४-४५
मूँगफली	४०.६०	५१.९	६३.१
बिनौला	५३	७४	७७
अलसी	३६.९	१११.४	१०५.३
अन्य तिलहन	१०५.१	३०.४	२७.४
खली	६	१	५

इन अंकों के औसत से यह पता लगता है कि भारतवर्ष से लगभग २० से २५ प्रतिशत तिलहन की उपज व खली अन्य देशों को भेज दी जाती है। इस प्रकार इससे हमारे देश की खेती को कितनी अपार क्षति उठानी पड़ती है इसका अनुमान सहज ही किया जा सकता है।

खाद सम्बन्धी हानि का अन्त केवल यहीं समाप्त नहीं हो जाता है। हमारे देश में मरे हुए जानवरों को गाँव से बाहर के अनुपजाऊ खेतों में फेंक दिया जाता था जहाँ वे सड़ और गल कर मिट्टी में मिल जाते थे, किन्तु इधर अब कुछ वर्षों से पशुओं की हड्डियाँ और चमड़ा विदेशों को भेजा जाने लगा है। खली की भाँति हड्डियों के निर्यात से जो देश की उपज को घाटा होता है इसकी कल्पना की जा सकती है। आगे के कोष्ठक में गत २५ वर्षों का हड्डियों का निर्यात दिखलाते हैं।

सन्	टनों में मात्रा (०००)	मूल्य लाख रुपयों में
१९२०-२१	३०	५२४
१९२४-२५	४५	६७३
१९२८-२९	६०	९४७
१९३२-३३	२७	२७६
१९३६-३७	४३	४३५
१९४०-४१	१७	३०८
१९४४-४५	१२	३९५

मनुष्यों की विष्ठा भी खाद के लिए अति उत्तम है, किन्तु भारतीय किसान अपनी मानसिक संकीर्णता के कारण इसके लाभ से सर्वथा वंचित रह जाता है। यदि भारतीय किसान चीन के भाँति इसका उपयोग करना सीख लें तो भी हमारी खेती की उपज को काफी लाभ हो सकता है। यदि शौच-क्रिया से निवृत्त होकर वे विष्ठा पर रेत ही डाल दिया करें तो भी हमारे खेतों को उपयोगी खाद के तत्त्व मिल सकें। इस प्रकार विष्ठा की दुर्गन्ध—जिसमें खाद के आवश्यक तत्त्व रहते हैं—व्यर्थ इधर-उधर नही फैल सकती और वायु भी दूषित होने से बच जावेगी।

रासायनिक खादों का प्रयोग भी भारत के कुछ भागों में अब किया जाने लगा है। इन खादों से निस्सन्देह उपज में वृद्धि होती है चूँकि जैसा कि हम पीछे के कोष्ठकों में बता आए हैं इसमें आवश्यक तत्त्व काफी परिमाण में उपस्थित रहते हैं। किन्तु अज्ञान और निरक्षरता के रहते हुए इन खादों का उपयोग जितना भी कम किया जाय उतना ही अच्छा है। साधारण किसान इनके प्रयोग में वे सब सावधानी नहीं रख सकते जिनके रखने से उपज अच्छी होती है। अनेक बार का यह अनुभव है कि इन रासायनिक खादों से लाभ की अपेक्षा हानि ही अधिक हुई है। यही कारण है कि भारत के साधारण किसानों में इन खादों का चलन अभी व्यापक रूप में नहीं आ पाया है।

बीज

किसानों को प्रायः हम यह कहते सुनते हैं कि "जैसा बोवेगा वैसा काटेगा।" किन्तु वास्तव में इस महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त पर वे कितना ध्यान देते हैं इसे गाँवों में जाकर ही भली-भांति देखा जा सकता है। सच तो यह है कि अधिकांश किसान निर्धन होते हैं और उन्हें अपनी खेती के मूलधन के लिये प्रायः साहूकार और महाजनों का ही आश्रय लेना पड़ता है। केवल सम्पन्न किसान ही आगामी वर्ष के बोने के लिए अपनी फसल में से कुछ अनाज सावधानी के साथ जमा रख पाते हैं, किन्तु भारतवर्ष में ऐसे धनी और सम्पन्न किसान कितने हैं? अतः इस देश के अधिकतर किसान बोने के लिए बीज प्रायः अन्य लोगों से ही प्राप्त करते हैं।

साहूकार या महाजन के पास अन्न किसानों से ही आता है। वह उस सब को मिलाकर एक स्थान पर ही रख लेते हैं—बीज के नाम पर कहीं अलग उठा कर अनाज नहीं रखा जाता है। फल यह होता है कि बुबाई के लिए जो बीज किसानों को मिलता है उसमें कई प्रकार के बीजों का सम्मिश्रण रहता है। इसके अतिरिक्त कभी-कभी वे सड़े-गले अथवा घुने भी होते हैं। किसान को इस प्रकार का बीज अधिक मात्रा में बोना पड़ता है, फिर भी अच्छी फसल नहीं उगा पाता।

दूसरी ओर जो किसान बोने के लिए बीज बचा लेते हैं, वे उन्हें रखने में काफी सावधानी दिखाते हैं। बीज को घुनने से बचाने के लिए उनके साथ राख, नीम की पत्ती अथवा हींग मिला देते हैं। खत्ती, भसेरों अथवा घड़ों में रखते समय उन्हें अच्छी प्रकार साफ कर लेते हैं। अच्छा भूसा अथवा पयाल या नीम की पत्तियों की तह लगाते हैं। कभी-कभी बालू या राख की भी तह लगाई जाती है। अनाज को भली प्रकार साफ करके और सुखा कर उनमें भरा जाता है। साहूकार, जमीन्दार या महाजन इतनी सावधानी नहीं रख सकता। उस के पास ढेरों अनाज होता है। अतः इतने मन गल्ले के लिए वह उचित और पर्याप्त स्थान नहीं दे पाता, फल यह होता है कि किसानों को अच्छा बीज मिलना कठिन हो जाता है।

पाश्चात्य देशों में बोने के लिए बीज इकट्ठा करने में किसान विशेषरूप से जागरूक रहते हैं। वे अपने खेतों को हर प्रकार के खर-पतवार अथवा अन्य फसल के पौधों से साफ रखते हैं ताकि फसल के काटते समय विशुद्धरूप से केवल वही अनाज उनको प्राप्त होता है। दूसरी सावधानी जो वे रखते हैं वह यह होती है कि खेत में खड़ी हुई फसल में से केवल अच्छे और तन्दुरुस्त पौधों को ही वे बीज के लिए काटते हैं। इसमें वे खास तौर से सावधान रहते हैं। इस प्रकार इन शुद्ध और तनदुरुस्त बीजों को वे साफ और सुरक्षित स्थानों में रखते हैं। नाना प्रकार के रासायनिक पदार्थों को जलाकर वे खत्तियों को साफ करते हैं और वहाँ अपनी आगामी फसल के लिए बीज को सुरक्षित रखते हैं।

सरकारी बीज गोदामों से भी अब कुछ वर्षों से बाँटने की व्यवस्था हो गई है। किन्तु अभी इस ओर सरकार को आशातीत सफलता नहीं मिल सकी है। केवल कुछ अनाजों में जैसे गेहूँ, धान तथा गन्ना, कपास आदि के बीज ही अब तक अधिक बाँटे जा सके हैं। इन फसलों के बीज भी कुछ शहरों और तहसीलों के निकटवर्तीय गाँवों तक ही पहुँच पाए हैं। सड़क से १५ या २० मील दूर के गाँव तो आज भी अछूते हैं।

निम्न कोष्ठक में हम संयुक्त प्रान्त में उन्नतिशील बीजों का वितरण दिखाते हैं —

क्षेत्रफल हजार एकड़ों में

वर्ष	गेहूँ	चना	जौ	कपास	धान	मक्का	ज्वार	गन्ना
१९३१-३२	१९४०	—	—	२७१	—	—	—	१११८
१९३२-३३	२०९६	—	—	३०५	—	—	—	१२९०
१९३८-३९	४८५	५४	१९५	४	१७७	·५	१	११३७
१९४०-४१	५७१	४१	५३	३·२	४७	१·५	·८	२४४
१९४१-४२	५३५	५०	५१	३·२	३८	१·०	२·३	१५८

इन अंकों के देखने से हमें यही विदित होता है कि केवल उन्हीं बीजों के वितरण में सरकारी गोदामों को सफलता मिली है जिन्हें किसान या तो अन्तर्राष्ट्रीय बाज़ारों में बेचने के निमित्त बोता है अथवा जिनके बेचने से उसे रुपया मिलते हैं। चना, जौ, ज्वार, मक्का आदि अनाजों के क्षेत्रफल में अभी तक विशेष वृद्धि नहीं हो पाई है। उनके लिए बीज तो वह गाँव के साहूकार या महाजन से ही प्राप्त करता है।

सैंतीसवाँ अध्याय

श्रम-विभाग तथा विशिष्ट प्रकार की मशीनें

आदिम निवासी मनुष्य समाज जब जंगल का रहना त्याग कर घर बनाकर रहने लगा, तो धीरे धीरे वहां छोटी-मीटी बस्तियाँ बनने लगी, अन्त में वे बस्तियाँ बढ़ कर गाँव हो गईं। सबसे पहिले मनुष्य केवल अपनी बनाई हुई वस्तुओं से ही काम चला लेता था, किन्तु शनैः शनैः उसे यह अनुभव होने लग गया कि दूसरों की बनाई हुई वस्तुओं के बिना भी उसका काम नहीं चल सकता। तब वह धीरे-धीरे एक ही तरह का काम करने लगा। उससे वह जो वस्तुएँ तैयार करता था उन्हें वह अन्य व्यक्तियों को देकर उनकी उत्पन्न की हुई वस्तुओं को अपनी आवश्यकनानुसार उनसे ले लेता था। इस प्रकार समाज में विविध प्रकार के पेशे प्रचलित हो गए। अन्त में उन पेशों में भी अनेक भाग और उप-विभाग होने आरम्भ हुए। इस प्रकार आज प्रत्येक व्यक्ति किसी एक पेशे के एक भाग का कार्य करता है। वह जो चीज़ तैयार करता है, वह चीज़ उससे आगे आने वाले विभाग के व्यक्तियों के लिए कच्चे काल का काम देती हैं। इस तरह एक बढ़ई द्वारा बनाया गया हल एक किसान के लिए फसल उत्पन्न करने के काम में सहायक होता है। किसान जो माल तैयार करता है कह एक व्यापारी अथवा व्यवसायी के लिए कच्चा माल होता है। वह व्यवसायी उस कच्चे माल से फिर कोई नवीन वस्तु तैयार कर देता है और यही क्रम लगातार चलता रहता है और अन्त में एक अभीष्ट वस्तु तैयार हो जाती है। आजकल कल कारखानों अथवा विस्तृत क्षेत्रों (फार्मों) में श्रम-विभाजन और भी अधिक सूक्ष्म हो गया है। उदाहरण के लिए कपड़ा बुनने का काम लगभग अस्सी उप-विभागों में विभक्त है। इस प्रकार इस युग में श्रम-विभाग का अत्यन्त ही महत्वपूर्ण स्थान है और इसके बिना कोई भी कार्य सफलता पूर्वक नहीं किया जा सकता।

श्रम-विभाग के साधारणतः तीन मुख्य रूप होते हैं।

१—विविध पेशों अथवा कार्यों का अलग अलग होना।

२—प्रत्येक पेशे अथवा कार्य के ऐसे विभाग करना जो प्रत्येक अपने आप में पूर्ण हो।

३—प्रत्येक विभाग में ऐसे उप-विभाग करना जो अपने आप में पूर्ण हों।

जब सुभीते के लिए किसी समाज के भिन्न-भिन्न व्यक्ति अलग-अलग पेशों को को श्रम-विभाग के अनुसार इस प्रकार करने लगते हैं कि एक पेशे की आदि से अन्त तक की सम्पूर्ण क्रियाएँ एक ही व्यक्ति करता है तो उसे साधारण श्रम-विभाजन कहते हैं। उदाहरण के लिए यदि एक किसान अपने खेत में हल जोतने से लगाकर बाजार तक अपनी फसल को बेचने तक की सबी क्रियाएँ स्वयं ही बिना अन्य किसी की सहायता के करता है तो इसे हम साधारण श्रम-विभाग कहेंगे। किन्तु जब एक ही काम में भिन्न-भिन्न क्रमों के अनुसार भिन्न-भिन्न उपविभाग हो जाते हैं तो उसे सूक्ष्म या जटिल-श्रम विभाग कहते हैं—अर्थात् हल एक व्यक्ति जोतता है, बोने का काम कोई दूसरा करता है, निराई-गुड़ाई की क्रियाएँ कोई अन्य करते हैं, फसल को काटने, उसाने आदि की क्रियाएँ भी इसी प्रकार जब पृथक पृथक व्यक्तियों द्वारा सम्पन्न की जाती हैं। अतः जब एक ही काम के क्रम को अनेक उप विभागों में बाट दिया जाता है, इन विभागों का वर्गीकरण ही जटिल श्रम विभाग कहलाता है।

श्रम विभाग प्रत्येक अवस्था में लाभदायक नहीं होता है। अनेक ऐसी परिस्थितियां आ जाती हैं जब हम यदि श्रम विभाग के अनुसार काम करने लगे तो सफलता की अपेक्षा विफलता भले ही मिलने लगे। नीचे लिखी अवस्थाओं में ही श्रम विभाग सम्भव तथा लाभदायक हो सकता है।

श्रम विभाग तभी सम्भव है जब अनेक व्यक्ति उस काम के करने में लगाये जावें, और कार्य क्रम को इस प्रकार बांटा जा सके कि प्रत्येक विभाग का कार्य अलग अलग हो और क्रम के अन्त में विभिन्न विभागों के श्रम का फल वही एक काम अथवा वस्तु हो। यदि क्रम विभाग न होगा तो श्रम विभाग न माना जायगा चाहे अनेक व्यक्ति मिल कर ही उस काम को क्यों न करें। उदाहरण के लिए यदि अनेक व्यक्ति मिल कर एक खेत को जोतें तो वह श्रम विभाग न माना जावेगा; किन्तु यदि एक व्यक्ति खेत को जोते दूसरा उसमें खाद मिलावे तीसरा बीज डाले चौथा पटेला फेरे तभी ये सब क्रियाएँ श्रम विभाग के अन्तर्गत

मानी जावेंगी। ऐसा केवल विस्तृत क्षेत्रों पर ही सम्भव हो सकता है, जहाँ उत्पत्ति अधिक मात्रा में की जाती है। जब क्षेत्रों के निकट कोई बड़ी मंडी होती है जहां किसी एक वस्तु की मांग अधिक होती है, वहां उस वस्तु की उत्पत्ति बड़े पैमाने पर की जाती है और उसके उत्पन्न करने के लिए प्रत्येक क्रिया श्रम विभाग के अनुसार ही होती है। उस वस्तु को तैयार करने के लिए वहां अधिक मनुष्य लगाये जाते हैं और उसके बनाने के क्रम में ही श्रम के विभाग किए जाते हैं।

श्रम विभाग के लिए दूसरी आवश्यकता यह है कि उत्पादन कार्य निरन्तर होता रहना चाहिए। यदि उत्पादन की क्रियाएँ लगातार न होंगी तो श्रमी अपने एक खास क्रम विभाग को कायम न रख सकेगा और इस प्रकार श्रम विभाग का होना सम्भव न होगा। इस दृष्टि से खेती बारी में श्रम विभाग की गुंजाइश कम है। फिर भी जहाँ विविध प्रकार की फसलें वर्ष भर में उगाई जाती हैं वहाँ थोड़ा बहुत श्रम विभाग कर ही लिया जाता है। श्रम विभाग में सबसे अधिक लाभ तभी होता है जब प्रत्येक श्रमी काम के कम से कम क्रम में बराबर और निरन्तर लगा रहे और प्रत्येक क्रम ऐसा हो कि उस श्रमी को अपनी सबसे अधिक कार्य कुशलता तथा शक्ति लगानी पड़े; और वह क्रम ऐसा हो कि श्रमी की योग्यता, कुशलता, क्षमता और शिक्षा के सर्वथा उपयुक्त हो और उस क्रम के लिए उत्तम मशीन अथवा यन्त्र उस श्रमी को उपयोग के लिए दिए जायँ। उदाहरण के लिए एक ट्रैक्टर चलाने वाले श्रमी जिसने इस विषय की पूरी पूरी योग्यता प्राप्त करली है यदि उसे उचित मशीन और यन्त्र न मिलें तो वह उसमें अपनी कुशलता के अनुसार कार्य न कर सकेगा और न वह ट्रैक्टर के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार के कार्य के करने में अपनी क्षमता और निपुणता का दिग्दर्शन कर सकेगा।

श्रम-विभाग के होने पर उत्पत्ति और उत्पादन शक्ति दोनों में ही वृद्धि होती है। अन्य बातों के पूर्ववत् रहने पर जितना ही अधिक श्रम-विभाग होगा उतनी ही अधिक उत्पत्ति की योग्यता और क्षमता बढ़ जावेगी। श्रम-विभाग द्वारा धनोत्पत्ति की योग्यता में वृद्धि निम्न प्रकार से कार्य होती है—

श्रम-विभाग से लाभ

कार्य कुशलता और निपुणता की वृद्धि—जब एक व्यक्ति किसी एक कार्य के ही भाग अथवा अंश को निरन्तर करता रहेगा तो उस क्रिया के करने में उसका दक्ष

हो जाना स्वाभाविक ही है। वह उस कार्य के करने में भली प्रकार मंज जाता है। इसके विपरीत यदि एक ही व्यक्ति को उस कार्य की सारी क्रियाएँ स्वयं करनी पड़े तो उतनी निपुणता आना असम्भव है।

समय की बचत—जब एक ही व्यक्ति को किसी पूरे काम को स्वयं करना पड़ता है तो उसे एक क्रम से दूसरे क्रम में लगने और एक प्रकार के औजारों या यन्त्रों के बदलने में काफ़ी समय व्यर्थ नष्ट करना पड़ता है। उदाहरण के लिए एक ही व्यक्ति हल जोतता है और उसी को यदि अब खेत में पाथा फेरना है तो हल को खोल कर जुआ में पाटा बाँधने में समय नष्ट होगा ही, फिर उसी मनुष्य को यदि बीज भी बोना है तो एक बार हल जोतकर उसमें चौंगा लगाना पड़ेगा आदि। अतः यदि उसे काम के एक ही अंश में बराबर लगा रहना पड़े तो औज़ारों अथवा यन्त्रों को बार-बार बदलने में व्यर्थ समय नष्ट न करना पड़ेगा। इस प्रकार श्रम-विभाग द्वारा हम व्यर्थ के नष्ट होने वाले समय की बचत कर सकते हैं।

शारीरिक और मानसिक शक्तियों का पूर्ण उपयोग—शरीरिक और मानसिक शक्तियों के विकास के अनुसार श्रम-विभाग करने पर कार्य-कुशलता में वृद्धि होती है तथा उत्पत्ति की मात्रा भी बढ़ जाती है। श्रम विभाग द्वारा जो जिस कार्य के करने के लिए उपयुक्त होगा उसको उसी काम के करने में लगाया जावेगा इस प्रकार देश के हर प्रकार के व्यक्तियों का उनकी सामर्थ्य के अनुसार उपयोग किया जा सकता है। निर्बल बलवान, मूर्ख, बुद्धिमान, कुशल, अकुशल, स्त्री, पुरुष, बालक और वृद्ध सभी तरह के व्यक्ति उत्पादन करने में कुशलतापूर्वक लगाये जा सकते हैं। श्रम-विभाग के न होने पर एक कुशल श्रमी को बहुत सा ऐसा कार्य करना पड़ेगा जिसे एक अकुशल व्यक्ति सरलता पूर्वक कर सकता था। इस प्रकार कुशल श्रमी की कुशलता का पूरा-पूरा लाभ न उठाया जा सकेगा और साथ ही अनुकूल श्रमी को ऐसा कार्य भी करना पड़ेगा जिसके लिए की कुशलता की आवश्यकता है। दूसरी ओर जब एक ही व्यक्ति को समस्त उत्पादन कार्य करना पड़ता तो देश के बहुत से श्रमिकों का उपयोग नहीं हो पाता और इस प्रकार राष्ट्र की बहुत सी शक्ति व्यर्थ नष्ट चली जाती है। श्रम-विभाग द्वारा इस तरह की सब अड़चनें दूर हो जाती हैं।

यन्त्रों का अधिक उपयोग तथा मितव्ययिता —श्रम विभाग द्वारा यन्त्रों, मशीनों और औजारों के उपयोग तथा माल के बनाने में बहुत मितव्ययता होती है। जब एक ही श्रमिक को अनेक कार्य अथवा किसी एक कार्य के अनेक उप-विभागों की सब क्रियाएँ करनी पड़ती हैं तो उसे अनेक प्रकार के यन्त्रों से काम करना पड़ता है। वह सभी यन्त्रों का उपयोग एक ही समय में एक साथ नहीं कर सकता है। कुछ न कुछ तो हर समय व्यर्थ और बेकार पड़े रह जावेंगे। दूसरी ओर उनके रखने में भी वह उतनी सावधानी नहीं रख सकता है। यदि एक व्यक्ति को किसी कार्य के एक ही उप-विभाग का कार्य करना पड़े तो उस अवस्था में वह अपने यन्त्रों को पूरी तरह काम में लावेगा और उनका पूर्ण सदुपयोग करेगा। उन यन्त्रों को बेकार न रहने देगा तथा हर प्रकार से सावधानी के साथ रखने का प्रयत करेगा। एक ही उप-विभाग के कार्य करने पर वह कच्चे माल को भी खराब न कर सकेगा और छीजन के रूप में जो पदार्थ बचेंगे उनका भी वह उचित सदुपयोग कर सकेगा। जो काम अनेक उप-विभागों में बाँट दिया जाता है तो प्रत्येक उपविभाग की क्रिया सरल हो जाती है और उत्पादन कार्य के लिए क्षमता बढ़ जाती है।

परस्पर सहयोग में वृद्धि—जब उत्पादन कार्य श्रम-विभाग द्वारा अनेक उप विभागों में विभक्त हो जाता है तो जब तक प्रत्येक क्रम द्वारा उस वस्तु के बनाने की अन्तिम क्रिया समाप्त नहीं हो जाती तब तक उस वस्तु का उपयोग नहीं हो सकता है। अस्तु श्रमजीवी एक दूसरे पर बहुत कुछ निर्भर रहते हैं।

उत्पादन शक्ति में वृद्धि और सस्ते मूल्य पर वस्तु का बनाना—श्रमविभाग हो जाने पर मनुष्यों की कार्य-क्षमता बढ़ जाती है वह कुशलतापूर्वक अच्छी, बढ़िया और एक प्रकार की वस्तुएँ बनाने में समर्थ हो जाता है। उत्पादन शक्ति के बढ़ जाने पर खर्च कम पड़ता है और वस्तु सस्ते मूल्य पर बन जाती हैं। इस प्रकार अधिक मनुष्य उसे खरीद कर उपभोग कर लेते हैं और रहन-सहन का स्तर भी ऊंचा हो जाता है। प्रत्येक उपविभाग की क्रिया सरल, सुबोध और परिमित होने के कारण हर प्रकार की उन्नति और मितव्ययिता की गुञ्जाइश बनी रहती है।

ऊपर हमने श्रम-विभाग द्वारा होने वाले लाभों का वर्णन किया है। किन्तु

श्रम-विभाग से होने वाली हानियाँ

जहां एक ओर इस व्यवस्था से उत्पत्ति में लाभ होते हैं, वहां दूसरी ओर कुछ हानियां भी दृष्टिगत होती है। अतः यहां उन हानियों पर प्रकाश डालना भी न्यायसंगत हो जाता है।

(१) श्रमिक मशीन की भाँति उत्साहहीन हो जाता है—एक ही काम को निरन्तर करते रहने पर उस काम में उसे वह आनन्द नहीं हो पाता जितना कि समय-समय पर परिवर्तन कर देने पर होता है। श्रमिक को अन्त में वह कार्य करना अत्यन्त नीरस और शुष्क प्रतीत होने लगता है। उसका उत्साह घट जाता है और वह केवल मशीन की भाँति ही उस कार्य को करता रहता है। उसे अपने मस्तिष्क और बुद्धि के विकास का कोई अवसर नहीं मिल पाता। एक ही प्रकार का कार्य निरन्तर करते रहने के कारण वह निर्जीव मशीन की भाँति उसी रट में लगा रहता है जो जीवन के लिए हानिकर है।

(२) स्वास्थ्य को हानि—जब श्रमिक को निरन्तर और पूरे समय एक ही कार्य करते रहना पड़ता है तो वह उत्साह-विहीन हो जाता है। स्वास्थ्य के लिए यह अत्यन्त ही घातक है। इसके अतिरिक्त श्रम-विभाग हो जाने के कारण अनेक श्रमिकों को एक ही स्थान पर रहकर और मिल कर कार्य करना पड़ता है, स्वास्थ्य के विचार से यह भी हानिकर है।

(३) बेकारी—श्रम-विभाग हो जाने पर कोई व्यक्ति एक ही काम को सीखने की और उसमें कुशलता प्राप्त करने की चेष्टा करता है। अन्य प्रकार के कार्यों को जानने की उसे आवश्यकता नहीं होती। किन्तु परिस्थितिवश यदि उस व्यवसाय में उसके काम की मांग घट जाय तो निश्चय ही उसे कुछ काल के लिये इधर उधर बेकार भटकना पड़ेगा। इस प्रकार जहाँ श्रम-विभाग होने पर अनेक लाभ हैं वहाँ इसके द्वारा जनित अनेक बुराइयां भी हैं और इनमें सबसे उग्र बेकारी की समस्या है।

संक्षेप में, श्रम-विभाग द्वारा उत्पत्ति की क्षमता में वृद्धि हुई है और इससे मनुष्य को अनेक नीरस, अरुचिकर और कष्टदायक कामों से छुटकारा मिल गया है। अपने स्वभाव प्रकृति और रुचि के अनुसार वह किसी एक प्रकार के कार्य में योग्यता

और निपुणता बढ़ाकर अपनी उन्नति कर सकता है। उन्हें इसके द्वारा अधिक विश्राम, मनोरञ्जन और आत्मोन्नति का अवकाश मिल गया है। कार्य करने में जो अधिक समय लगता था उसमें कमी हो गयी और श्रमिकों के वेतन में वृद्धि हो गई है। इस प्रकार सभ्यता में वृद्धि हुई है। श्रम-विभाग द्वारा होने वाली हानियों का प्रतिकार शीघ्रता से किया जा रहा है।

विशिष्ट प्रकार की मशीनें

आदि काल से ही मनुष्य की प्रवृत्ति कम से कम श्रम और प्रयत्न द्वारा अधिक उत्पत्ति करने की रही है। इसी धुन और प्रेरणा द्वारा उसने विविध प्रकार के आविष्कार किये हैं, नाना प्रकार के यन्त्रों और मशीनों की रचना की है। पशुओं से काम लिया है; जल, वायु, वाष्प, तेल तथा बिजली आदि शक्तियों को भी जीत कर उन्हें उत्पत्ति के कार्यों में प्रयुक्त किया है। शनैः-शनैः वह अपने पुराने यन्त्रों में भी सुधार करता आया है और अपने इन सुधारों द्वारा आज उसने इतनी उन्नति कर दिखाई है कि जो काम बहुत भारी, कष्टकर और थकाने वाले होते हैं; अथवा जो कार्य अत्यन्त ही बारीक होते हैं और जिन्हें मनुष्य अपने हाथ से सरलतापूर्वक नहीं कर सकता, जिनमें अधिक सचाई और शुद्धता की आवश्यकता पड़ती है और जो कार्य नित्य-नियमित रूप से बराबर एक ही तरह से किये जाते हैं वे सभी मशीन द्वारा शीघ्रता और आसानी से ठीक-ठीक ढङ्ग से सम्पन्न कर दिये जाते हैं। यही मशीन-युग है।

सच पूछा जाय तो मनुष्य ने उत्पत्ति की कायापलट ही कर दी है। :उत्पत्ति की शक्ति और पैमाने ही सर्वथा परिवर्तित हो चुके हैं। आज परिमित रूप में उत्पत्ति में लाभ दृष्टिगत नहीं होता। अतः मशीन द्वारा परस्पर प्रतिस्पर्द्धा की भावना भी जागृत हो उठी है। मशीन द्वारा सामाजिक जीवन में भी बड़ा भारी परिवर्तन हो गया है—श्रमिक के गुण और जीवन पर; उसकी क्षमता और योग्यता पर, उसके वेतन और बेकारी पर इसका समान प्रभाव पड़ता है।

मशीन का प्रभाव

उत्पत्ति में जो मशीन द्वारा अनेक परिवर्तन हुए हैं, उनका वर्णन संक्षेप में हम यहाँ करेंगे —

(१) मशीन की सहायता से भारी से भारी अथवा कठिन कार्य भी आज सरलतापूर्वक प्रतिपादित कर लिये जाते हैं। जिस भूमि को मनुष्य आसानी से नहीं जोत सकता था अथवा जिसके समतल करने में उसे अत्यन्त ही शक्ति व्यय करनी पड़ती थी, आज वे सब ट्रैक्टर मशीन द्वारा बड़ी सरलतापूर्वक पूर्ण हो जाते हैं।

(२) मशीन द्वारा कार्य बड़ी शीघ्रता और तेज़ी से सम्पन्न हो जाते हैं। जिन कार्यों के करने में मनुष्य को अनेक दिन लगते हैं, उन्हें आज मशीन कुछ घंटों में ही समाप्त कर देती है। मशीन की शक्ति द्वारा अब उन्नतिशील हलों से कई सौ एकड़ भूमि एक दिन में जोत और बो दी जाती है। इसी प्रकार जिन फसलों के काटने में किसानों को कई सप्ताह लग जाते हैं वे कुछ घण्टों में ही अब मशीनों की सहायता से काट ली जाती हैं।

(३) खेती में जो फसलें नियत दूरी पर बोई जानी चाहिये, वे मशीनों द्वारा बड़ी आसानी से और उतनी ही दूरी पर बोई जा सकती हैं। हाथों द्वारा उतनी दूरी उतनी सरलतापूर्वक नहीं रखी जा सकती है।

(४) बहुत ही महीन, बारीक और नाजुक कार्य उतनी सचाई और दुरुस्ती से हाथों द्वारा नहीं किए जा सकते हैं। मशीन द्वारा वे सब काम आसानी से पूर्ण हो जाते हैं।

(५) मशीन द्वारा उत्पादन-शक्ति में वृद्धि हो गई है। मशीन मनुष्य को यान्त्रिक युक्तियों द्वारा प्राकृतिक शक्तियों को अधिक से अधिक वश में रखने की क्षमता प्रदान कर देती है और इस प्रकार उत्पत्ति में वृद्धि की जाती है।

(६) मशीन द्वारा उत्पत्ति अधिक होने के कारण कम लागत में वस्तुएँ सस्ती ही तैयार हो जाती हैं। जो वस्तुएँ पहिले अप्राप्य और दुर्लभ रहती थीं वे आज जन-साधारण को भी सुगमतापूर्वक प्राप्त हो जाती हैं, इस प्रकार रहन-सहन का स्तर भी ऊँचा होता है और सभ्यता की वृद्धि होती है।

(७) मशीन द्वारा उद्योग-धन्धों की परस्पर विभिन्नता और पृथकता बहुत

अंशों में दूर हो गई है। समय और दूरी की नाना प्रकार की कठिनाइयाँ कम होती जा रही हैं। बात की बात में लाखों मन गल्ला एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचा दिया जाता है। सहस्रों मील दूर की मंडी के भाव मालूम करके एक देश दूसरे देश से वाणिज्य और व्यवसाय में लाभ उठाते हैं।

(८) भारी, कष्टदायक, नीरस और थकाने वाले कार्यों को सरलतापूर्वक सम्पन्न कर देने में मशीनों का पूरा योग रहता है। इस प्रकार समय की बचत हो जाती है।

जहाँ एक ओर मशीन से मनुष्य समाज को अनेक लाभ हुए हैं, वहां इनसे आज परस्पर प्रतिस्पर्द्धा, प्रतिद्वन्द्विता, संघर्ष, अशान्ति भी बहुत फैली है। पारस्परिक सद्भावना लुप्त-प्राय हो चुकी है और आए दिन युद्ध के बादल गरजते सुनाई पड़ते हैं। अतः इस दृष्टि से मशीनों द्वारा होने वाली हानियों का अध्ययन करना भी आवश्यक हो जाता है। मशीनों से होने वाली बुराइयाँ संक्षेप में निम्न-लिखित हैं—

(१) मशीनों द्वारा बेकारी फैलती है। एक मशीन अकेले सहस्रों व्यक्तियों के बराबर काम कर देती है। इस प्रकार अनेक उद्योग-धन्धों से बहुत से मजदूर बेकार हो जाते हैं। खेती-बारी के व्यवसाय में यह समस्या अत्यन्त ही भीषण और उग्र रूप धारण कर लेती है। अन्य व्यवसायों में तो काम से अलग किए गए मजदूरों में से तो कुछ मशीन बनाने में लग जाते हैं और कुछ उस वस्तु के निमित्त कच्चा माल तैयार करने में लगाये जा सकते हैं, किन्तु खेती में तो सर्वथा कच्चा माल ही बनता है। अतः इस व्यवसाय में मशीन द्वारा जो आदमी बेकार होते हैं उनके लिए अन्य व्यवसायों में कार्य देने की योजना का होना आवश्यक है।

(२) मशीन द्वारा उत्पत्ति अधिक मात्रा में और शीघ्रता से हो जाती है। इस कारण अधिक माल तैयार कर लिया जाता है। किन्तु इस अधिक माल की खपत इतनी शीघ्रता से नहीं हो सकती है। यदि खेती के इस तमाम माल की खपत शीघ्रतापूर्वक न हो तो उसके यों ही सड़-गल कर नष्ट होने की सम्भावना रहती है। अमेरिका जैसे देशों में जहां खेती की उत्पत्ति मशीनों से होती हैं आये वर्ष फसलों को नष्ट करना पड़ता है।

गई है और अन्तर्राष्ट्रीय जगत में बड़ा संघर्ष और मनोमालिन्य पैदा हो गया है। प्रत्येक शक्तिशाली राष्ट्र अशक्त और पिछड़े देशों में कच्चा माल भेजने की घात में रहता है। इस प्रवृत्ति के कारण युद्ध के काले बादल सदा मँडराते दीख पड़ते हैं।

(४) जिन देशों में मशीनों का प्रयोग अधिक होता है, वहाँ पूँजीपतियों और मजदूरों में भीषण-संघर्ष होता रहता है, और समय-समय पर हड़तालें होती हैं तथा तालाबन्दी की भी नौबत आ पहुँचती है। बेकारी, व्यापारिक तेजी-मंदी, वेतन आदि के प्रश्नों का सुलझाना दुष्कर हो जाता है। कारखानों के निकट अथवा मजदूरों की बस्तियों के गन्दे वातावरण के कारण स्वास्थ्य और सदाचार पर भी गहरा असर पड़ता है।

(५) मशीन द्वारा की गई उत्पत्ति में मनुष्य को स्वयं बहुत कम परिश्रम करना पड़ता है, यह तो सत्य है; किन्तु इससे श्रमिक के मानसिक विकास और उसको बुद्धि लगाने का बहुत कम अवसर मिलता है। वह स्वयं कल-पुर्जों की भाँति निर्जीव होकर काम करता रहता है। एक-सा काम करते रहने के कारण उसके जीवन में कोई नवीनता, सरसता और उमंग नहीं आ पाती। इससे उसका शारीरिक, मानसिक और नैतिक पतन होने लगता है।

अड़तीसवाँ अध्याय

खेती-बारी की व्यवस्था

उत्पत्ति के विभिन्न अवयवों (साधनों) को इस प्रकार से धनोत्पादन के काम में लगाना चाहिये कि कम से कम खर्च और श्रम के लगाने पर अधिकाधिक माल तैयार हो और लाभ की मात्रा भी बढ़ती जाय। इन सब बातों का अध्ययन प्रबन्ध के अन्तर्गत ही किया जाता है। खेती-बारी के व्यवसाय के प्रबन्ध में नीचे लिखी बातों पर विशेषरूप से ध्यान देना पड़ता है—

(१) खेत कहाँ और कितना होना आवश्यक है। अर्थात् सब प्रकार की सुविधाओं को दृष्टि में रखते हुए कौन-सा स्थान खेती-बारी के लिए उपयुक्त होगा और वहाँ कितने क्षेत्रफल का खेत लेने में अधिक लाभ होगा।

(२) उस खेत में किस प्रकार की फसलों की उत्पत्ति की जाय और उसका परिमाण क्या होना चाहिये।

(३) किस प्रकार के यन्त्र, मशीनों का प्रयोग करना श्रेयस्कर होगा।

(४) किस प्रकार का श्रम, किस प्ररिमाण में काम में लाना सबसे अधिक हितकर होगा और श्रम-विभाग के अन्तिम सिद्धान्त के अनुसार उससे अधिकाधिक लाभ किस प्रकार उठाया जा सकता है।

(५) उत्पत्ति के साधनों को कब, किस अनुपात और परिमाण में लगाने से हमें सबसे अधिक लाभ होने की आशा है।

(६) बाजार की स्थिति कब कैसी रहती है और कब, किस बाज़ार में किस प्रकार माल को भेजना अथवा वहां से मँगाना चाहिए। माल का विज्ञापन किस प्रकार करने से अधिक बिक्री होगी आदि।

नीचे हम इन बातों पर एक-एक करके विचार करेंगे—

खेत की स्थिति

खेती-बारी में सबसे आवश्यक बात खेत की स्थिति है। इसमें वहाँ की भूमि की दशा तथा बनावट और उस स्थान की स्थिति तथा जलवायु आदि बातों पर ध्यान रखा जाता है। खेत के निकट यदि फसल को नष्ट करने वाले पशु-पक्षियों अथवा चोर-डाकुओं का आधिक्य है तो ऐसे स्थान पर उस व्यवसाय में निरन्तर हानि होगी। मंडी के निकट अथवा रेल या सड़क से हमारा खेत कितनी दूर है, ये बातें भी खेती में विचारणीय होती हैं। इन्हीं के अनुसार हमें अपनी फसलों के उगाने, उनके बेचने तथा हानि-लाभ आदि बातों पर निर्णय करना पड़ता है।

खेत का आकार और विस्तार

सब सुविधाओं को दृष्टि में रखते हुए फिर हमें उस खेत के तल पर भी ध्यान देना आवश्यक है। समतल खेतों में उपज अच्छी होती है। यदि खेत ऊँचा-नीचा है तो यह विचारना पड़ता है कि उसे समतल बनाने में कितना व्यय होगा, और समतल कराने के बाद हमें उससे कितना लाभ होगा? सबसे उत्तम खेत

खेत वही माना जाता है, जो कम से कम टुकड़ों में विभक्त हो। ऐसी अवस्था में मशीनों का प्रयोग सरलतापूर्वक किया जा सकता है और श्रम पर होने वाले व्यय में भी बचत की जा सकती है। अनुभवी किसानों का मत है कि १० या १५ एकड़ से कम के खेतों में हल चलाने में डेढ़गुना अधिक समय लगता है। छोटे-छोटे खेतों के प्रत्येक मोड़ पर हल मोड़ने में लगभग आधा मिनट से एक मिनट तक लग जाता है। ये सब असुविधाएँ बड़े-बड़े खेतों में ओझल हो जाती हैं। समय की बचत प्रायः पाँच एकड़ तक के खेतों में ही सबसे अधिक होती है। श्रम और समय की बचत जिस प्रकार हल जोतने में होती है उसी प्रकार पाटा फेरने, बीज बोने, निराई-गुड़ाई और फसलों के काटने के अवसर पर भी होती है। इनमें बचत का अनुमान निम्न प्रकार से होता है—जब खेत २ एकड़ और ५ एकड़ के बीच के होते हैं तो १/५ समय की बचत होती है, और ५ से १५ एकड़ तक के खेतों में लगभग २/५ समय तक की बचत हो जाती है। अतः जहाँ तक सम्भव हो वहाँ तक खेत को छोटे-छोटे टुकड़ों में विभाजित न करना चाहिये। खेत के केवल उतने ही टुकड़े करने आवश्यक हैं जितनी कि फसलें उनमें हेर-फेर (Rotation) के साथ उगानी हैं। प्रबन्ध और व्यवस्था की सुविधा से खेत अधिक लम्बे नहीं होने चाहिये। क्योंकि ऐसे खेतों के चारों ओर वर्गाकार खेतों की अपेक्षा तार लगाने में अधिक खर्च बैठता है और दूसरी हानि अधिक लम्बे खेतों के होने पर यह होती है कि उनमें क्यारियाँ या पाले बहुत छोटे-छोटे हो जाते हैं। अतः सबसे अच्छे खेत वे ही माने जाते हैं जिनकी लम्बाई चौड़ाई की अपेक्षा तीनगुनी हो—अर्थात् आयताकार क्षेत्र। इन खेतों में खेती की क्रियाएँ—जैसे, जुताई, बुवाई, निराई-गुड़ाई आदि—लम्बी भुजाकी ओर की जाती हैं।

खेतों के आकार के विषय में दूसरी ध्यान देने योग्य बात यह रहती है कि वे अधिक टेढ़े-मेढ़े भी न हों; चूँकि ऐसे खेतों में भी बहुधा काफी समय और शक्ति व्यर्थ नष्ट हो जाती है। खेतों के उचित प्रबन्ध के लिए सदा खेतों (plots) की डाँड़ या मेंड़ खेत (farm) की बीच वाली सड़क के समानान्तर होनी चाहिये। किन्तु भूमि के समतल न होने पर उसकी अवस्था के अनुसार परिवर्तन होना भी स्वाभाविक है।

खेतों में बाड़ अथवा चहारदीवारी का प्रधान उद्देश्य हिंसक पशुओं, चोर-डाकुओं से फसलों की रक्षा करना होता है। बाड़ लगाने में काफी व्यय होता है, अतः इसके बनाने में काफी सावधानी की आवश्यकता होती है। बाड़ के लगाने में सदा इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि उससे उपजाऊ-भूमि कम से कम मात्रा में नष्ट हो और खेती की क्रियाओं में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित न हो। पाश्चात्य देशों में तो प्रत्येक खेत की बाड़ बांधी जाती है, जो आवश्यकतानुसार थोड़े समय बाद बदल दी जा सकती है। इसके लिए वे लोहे के लट्ठों में कँटीले तारों का प्रयोग करते हैं, जो समयानुसार उखाड़े और गाड़ दिये जा सकते हैं। अमेरिका आदि देशों में तो अब तारों में विद्युत्-शक्ति भी पहुंचा कर बाड़ लगाने की प्रथा चल पड़ी है।

खेत की बाड़ या चहारदीवारी

बड़े-बड़े और विस्तृत क्षेत्रों में मशीनों, हलों, पशुओं तथा श्रमिकों के चलने के लिए मार्ग बने होते हैं। इनसे सबसे बड़ा लाभ तो यह होता है कि बोई हुई फसलें नष्ट नहीं होने पातीं। मार्ग जहां तक बन पड़े काफ़ी चौड़े होने चाहिए। चौड़े मार्ग वर्षा-ऋतु में खराब नहीं होते और न चौपायों को चोट लगने का ही भय रहता है। मार्गों की चौड़ाई दो से चार लाठों तक रखी जा सकती है।

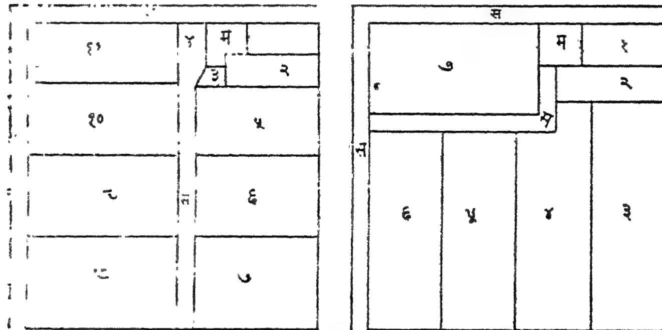
खेतों के मार्ग

भारतवर्ष तथा अन्य पूर्वी देश ही कुछ ऐसे हैं, जहाँ पर खेत और रहने के मकान दूर-दूर होते हैं, किन्तु पाश्चात्य देशों में खेतों के बीच में ही मकान और गोशाला की व्यवस्था रहती है। इस प्रथा से अनेक लाभ होते हैं। एक तो खेती-बारी की पूरी तरह से निगरानी की जा सकती है। दूसरे जानवरों के गोबर, खेतों के कूड़े-कर्कट, पत्तियों और खर-पतवार आदि की उत्तम खाद तैयार की जा सकती है। समय की काफ़ी बचत होती है।

गोशाला तथा रहने का स्थान

रहने का स्थान ऐसी जगह बनाना चाहिये जहाँ से कि खेत तथा सड़कें दोनों ही निकट रहें। इसके लिए सदैव इस बात का प्रयत्न करना चाहिये कि वे खेत के बीच से गुज़रने वाली सड़क के समीप हों, अथवा खेत के एक कोने में हों। कोने में बनाने से जानवरों और मशीनों के चलने-फिरने से बच्चे सुरक्षित रह

सकते हैं। पाश्चात्य देशों में तो रहने के मकानों का क्षेत्रफल लगभग तीन एकड़ तक रहता है (अमेरिका में) जिसमें १.७ एकड़ में गोशाला तथा बगीचा रहता है, १.२ एकड़ में बाग ; ०.३२ एकड़ में चरागाह और शेष में रहने का मकान बना होता है।



उपर्युक्त चित्रों में रहने के मकान, खेतों के मार्ग तथा खेतों के आकार और विस्तार को दिखाया गया है, सच पूछा जाय तो खेती-बारी के सुप्रबन्ध और सुव्यवस्था के लिये चित्र में दिखाई विधि के अनुसार अनुकरण करना सबसे लाभदायक रहता है, किन्तु भारतवर्ष में ऐसी व्यवस्था के लिये कई अड़चनें आती हैं। सबसे बड़ी अड़चन है खेतों का छोटा-छोटा और दूर होना। भारतवर्ष के प्रत्येक प्रान्त में खेतों की जो दशा है, वह अगले पृष्ठ में कोष्ठक के अङ्कों के देखने पर विदित हो जावेगी।

भारतवर्ष में खेतों की अवस्था

म — मकान। स — सड़क।

प्रान्त	१०० साधारण किसानों के पास भूमि के क्षेत्रफल का अनुमान
आसाम	२९६ एकड़
बङ्गाल	३१२ ,,
बिहार व उड़ीसा	३०९ ,,
बम्बई	१२१५ ,,
मध्य-प्रान्त व बरार	८४८ ,,
मद्रास	४९१ ,,
पञ्जाब	९१८ ,,
संयुक्त-प्रान्त	२५१ ,,

डॉक्टर हैरोल्डमान ने बम्बई प्रान्त के एक गांव की जांच करके यह पता लगाया था कि उस गांव के ७२९ खेतों में से ४६३ खेत ऐसे थे जिनका कि क्षेत्रफल एक एकड़ से भी कम था। संयुक्त-प्रान्त में किसानों के खेतों का औसत क्षेत्रफल अगले पृष्ठ के कोष्ठक में दिखाया जाता है—

ज़िला	प्रति किसान खेतों का औसत क्षेत्रफल	ज़िला	प्रति किसान खेतों का औसत क्षेत्रफल
पीलीभीत	६.५	इटावा	६.०
खेरी	६.८	हरदोई	५.६
सीतापुर	६.८	उन्नाव	४.७
बहराइच	६.६	कानपुर	६.३
गोंडा	५.३	लखनऊ	४.९
बस्ती	४.०	बाराबंकी	४.८
गोरखपुर	४.१	रायबरेली	४.५
सहारनपुर	१०.४	फतेहपुर	६.६
बिजनौर	९.१	फैज़ाबाद	४.२
मुरादाबाद	६.७	सुल्तानपुर	४.२
मुज़फ्फरनगर	११.५	परतापगढ़	४.०
मेरठ	८.७	इलाहाबाद	५.७
बुलन्दशहर	७.९	आज़मगढ़	३.४
अलीगढ़	१०.३	जौनपुर	३.५
मथुरा	९.८	बनारस	४.६
आगरा	७.६	गाज़ीपुर	४.९
बरेली	५.३	बलिया	५.१
बदायूँ	५.७	झांसी	११.७
एटा	६.५	जालौन	१२.४
मैनपुरी	५.९	हमीरपुर	११.९
शाहजहांपुर	५.७	बांदा	१०.९
फर्रुखाबाद	५.३	मिर्ज़ापुर	५.०

श्री बुद्धिप्रकाश जैन ने संयुक्त-प्रान्त के कुछ गाँवों की जाँच की थी। उनके जाँचों का परिणाम इस प्रकार निकला था—

एकड़में	सहारनपुर	मुज़फ्फरनगर	इलाहाबाद	बलिया
०.१ से कम	०.७	०.७	०.२	१९.७
०.१ से ०.२ तक	८.४	४.३	७.३	२६.०
०.२—०.५	३२.१	१३.४	३५.१	२९.९
०.५—१.०	३२.६	२२.८	३५.९	२३.९
१—२	२०,५	२७.८	१६.६	०.६
२—५	५.०	२२.७	३.०	०
५—१५	०.६	६.६	०.१	०
१५ से ऊपर	०.१	१.६	०	०

उपरोक्त दोनों कोष्ठकों के अंकों के देखने से विदित होगा कि संयुक्त-प्रान्त के पूर्वी भागों के किसानों के पास भूमि का कुल क्षेत्रफल भी कम है, तथा जितनी भी भूमि है, वह अधिकांशतः छोटे-छोटे कई टुकड़ों में विभाजित रहती है। इसे हम निम्न कोष्ठक के अंकों द्वारा व्यक्त करते हैं—

जिला बलिया

एकड़	खेतों के टुकड़े	खेतों के टुकड़े प्रति सैकड़ा
·०४ एकड़ से कम	८४	३.२
·०४ से ·०८	२७५	१०.५
·०८ से ०.१	१५६	६.०
०·१ से ०.२	६८१	२६.०
०.२ से ०.४	७८५	२९.९
०.४ से ०.६	३२८	१२.५
०.६ से ०.८	१६३	६.३
०.८ से १.४	१२९	५.०
१.४ से २.९	१५	०.६

इस प्रकार की शोचनीय दशा संयुक्त-प्रान्त की ही नहीं, वरन् समूचे भारतवर्ष की है। पंजाब और बम्बई प्रान्त में जहाँ काफी सुधार हो चुका है वहां पर खेतों का क्षेत्रफल इस प्रकार है—

खेतों की संख्या प्रति सैकड़ा

एकड़	पंजाब	बम्बई
५ से कम	४२.९	४८
५ से १०	२७.४	
१० से २०	२०.०	४०
२० से ऊपर	१०.५	१२

जैसा कि हम ऊपर बता आए हैं हमारे देश में खेत छोटे ही नहीं हैं, किन्तु दूर-दूर भी बँटे और बिखरे हुए हैं। यदि एक किसान के पास १० खेत हैं तो वे सब दस स्थानों पर भिन्न-भिन्न दिशाओं में बिखरे हुए मिलेंगे। इस सम्बन्ध में हम फिर श्री बुद्धिप्रकाशजी जैन की जाँच के अनुसार संयुक्त-प्रान्त के तीन ज़िलों की अवस्था का विवरण देते हैं —

जोतने वाले किसानों की संख्या

खेत संख्या	सहारनपुर	मुज़फ्फरनगर	इलाहाबाद
१ से ४	५०	८८	९९
५ से १०	१६	४७	४५
१० से २५	१८	१६	१४
२५ से ऊपर	१७	०	०

इतना ही नहीं इन छोटे-छोटे खेतों के टुकड़ों की शक्ल और आकार भी बहुत ही अनोखा होता है। एक त्रिभुजाकार है तो दूसरा पंचभुजाकार और अन्य किसी और शक्ल तथा आकार के होते हैं, जो पृष्ठ ४०८ पर दिये गए चित्र के देखने से भली-भांति विदित हो जाता है।

अतः इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतवर्ष में खेती-बारी प्रायः छोटे-छोटे और बिखरे हुए खेतों में होती है। दूसरे शब्दों में इसे हम छोटी मात्रा की उत्पत्ति कह सकते हैं।

खेती में छोटी मात्रा में होनेवाली उत्पत्ति से हानियां

छोटी मात्रा में उत्पत्ति होने से वस्तु की प्रत्येक इकाई के पीछे बहुत अधिक व्यय होता है। कुशल और अधिक वेतन वाले श्रमिकों को नहीं रख सकते हैं। अच्छी उन्नतिशील मशीनों, यन्त्रों और औज़ारों का प्रयोग सम्भव नहीं है और न नवीन आविष्कारों तथा अनुसंधानों के परीक्षण अथवा उनके द्वारा

सिद्ध लाभों के प्रयोग करने की ही अधिक गुंजाइश होती है। श्रम-विभाग के जो अनेक लाभ गत अध्याय में हमने बताये थे उनसे भी वंचित रह जाते हैं। केवल एक ही व्यक्ति को आदि से अन्त तक खेती की सभी क्रियाएँ स्वयं ही करनी पड़ती हैं। क्रय-विक्रय में भी उसे काफी घाटा सहन करना पड़ता है। छोटे-छोटे खेतों में खेती करने से जो मुख्य हानियां होती हैं, उन्हें संक्षेप में हम इस प्रकार कह सकते हैं :—

(१) एक स्थान से दूसरे स्थान तक आने-जाने में काफी समय नष्ट हो जाता है।

(२) छोटे-छोटे खतों में खेती करने पर समय अधिक लगने के अतिरिक्त आधुनिक मशीनों और वैज्ञानिक आविष्कारों का पूर्णरूप से लाभ नहीं उठाया जा सकता है।

(३) खेतों में फसलों की ठीक-ठीक रखवाली नहीं हो सकती है।

(४) उन खेतों में जाने के लिए मार्ग बनाने में बड़ी अड़चन पड़ती है और बहुधा बोये हुए खेतों के अन्दर से ही पगडंडियां ही निकालनी पड़ती हैं। इससे कठिन परिश्रम का एक बहुत बड़ा भाग यों ही पैरों तले कुचल कर नष्ट हो जाता है।

(५) नहरों अथवा कुँओं से पानी ले जाने में बाधा पड़ती है।

(६) किसानों में पारस्परिक झगड़े उठ खड़े होते हैं और मार-पीट की नौबत आ जाती है तथा मुकद्दमों में व्यर्थ बहुत-सा धन नष्ट हो जाता है।

(७) मेंड़ आदि के बनाने में बहुत सी भूमि व्यर्थ चली जाती है।

इन सब कारणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि छोटी मात्रा की उत्पत्ति अर्थात् छोटे-छोटे खेतों में खेती करने पर किसान को लाभ की बहुत कम आशा होती है।

खेती में छोटी मात्रा की उत्पत्ति से होने वाले लाभ

खेती के व्यवसाय में छोटे-छोटे खेतों में केवल हानि ही हानि हो, सो बात नहीं है। इस प्रकार की उत्पत्ति के कुछ अपने लाभ भी हैं। इनका वर्णन यहां किया जाता है। छोटी मात्रा में उत्पत्ति करने पर उत्पत्ति करने वाले और उपभोक्ताओं में परस्पर अत्यन्त ही निकट सम्पर्क बना रहता है। इस प्रकार

के निकटः सम्पर्क रहने के कारण उत्पत्ति करने वालों को उपभोक्ताओं की आवश्यकताओं की ठीक-ठीक जानकारी रहती है और उसी के अनुसार उत्पत्ति का क्रम चलता है और उनका उपभोग भी तत्काल ही हो जाता है। इनसे न तो अधिक उत्पत्ति की आशंका रहती है और न व्यर्थ पड़े रहने के कारण माल के खराब होने की नौबत ही आती है। केवल इतना ही नहीं, व्यापारिक तेजी और मंदी के कारण जो संघर्ष प्रायः दीख पड़ते हैं, वे सब भी इस प्रथा से ओझल हो जाते हैं। उत्पादकों को इतना अधिक लाभ भी नहीं होता जिससे कि थोड़े से व्यक्तियों के पास ही धन एकत्रित हो जाय और असमान वितरण की समस्या उठ खड़ी हो। इस प्रकार की उत्पत्ति में प्रायः स्त्री और बच्चों की सहायता ले ली जाती है, जो बड़ी मात्रा की उत्पत्ति में सम्भव नहीं हो पाता, दूसरे उन्हें अपनी इच्छा और सुविधानुसार काम करने की स्वतंत्रता रहती है। इससे काम करने की सदा इच्छा बनी रहती है और वह काम उन्हें नीरस और कष्टकर अनुभव नहीं होता है तथा शारीरिक, मानसिक और नैतिक पतन होने से मुक्ति प्राप्त हो जाती है। छोटी मात्रा में उत्पत्ति करने में व्यवस्थापक (अर्थात् किसान या जमींदारों) का सीधा सम्बन्ध अपने मज़दूरों से रहता है जिसके कारण कार्य के निरीक्षण में सुविधा हो जाती है तथा अधिक कार्य होने की संभावना रहती है। इसके अतिरिक्त परस्पर सहयोग रहता है और संघर्ष नहीं बढ़ने पाता। आपसी बर्ताव अच्छा रहने के कारण जो भी शिकायतें अथवा त्रुटियाँ रहती हैं वे शीघ्र ही दूर हो जाती हैं और काम करने वाले श्रमिक को हर प्रकार का उत्साह मिलता है। छोटी मात्रा की उत्पत्ति द्वारा श्रमिक को अपनी योग्यता, कुशलता और क्षमता के प्रदर्शन का तथा उनमें यथासम्भव उन्नति करने का अवसर भी मिलता है। इस प्रकार की उत्पत्ति में अधिक निगरानी और देख-रेख नहीं करनी पड़ती है। अतः इन पर होने वाले खर्च में भी कमी हो जाती है।

बड़ी मात्रा में उत्पत्ति

अपने विगत अध्याय में हमने छोटी मात्रा की उत्पत्ति के विषय में विचार किया था। कुछ देशों को छोड़कर, अधिकांश देशों में खेती-बारी का व्यवसाय प्रायः छोटी मात्रा में ही सम्पन्न होता है। अन्य व्यवसायों की भांति, जब कोई किसान

अपने व्यवसाय की प्रगति चाहता है तो वह और अधिक भूमि खरीद कर, उसमें काम करने के लिए श्रमिकों की संख्या में तथा मूलधन में वृद्धि करके पूर्ण कर सकता है। इसके विपरीत यदि उसे अपने व्यवसाय में लाभ की मात्रा घटती हुई दीख पड़ती है तो वह अपनी भूमि को बेच देता है और दूसरों के यहां मिहनत-मज़दूरी करके धनोपार्जन करता है। अब प्रश्न यह उठता है कि व्यवसाय में प्रगति करने के लिये अधिक भूमि का खरीदना और उसमें श्रमिकों की संख्या तथा मूलधन में वृद्धि करना—बड़ी मात्रा में उत्पत्ति करना माना जावेगा अथवा नहीं। यहां हम पहिले इसी बात पर विचार करेंगे।

जब किसी एक वस्तु का उत्पादन, एक समय में, एक उत्पादन इकाई में, अधिक तादाद में होता है तो उसे बड़ी मात्रा की उत्पत्ति कहते हैं। इस सम्बन्ध में उत्पादन की इकाई का विचार करना अत्यन्त आवश्यक है। एक गाँव में स्वतंत्र-रूप से बहुत से किसान भिन्न-भिन्न उत्पादन इकाइयों में किसी एक फसल का उत्पादन करते हुए भी बड़ी मात्रा की उत्पत्ति करते हुए न माने जावेंगे, चाहे उस स्थान में वह वस्तु कुल मिलाकर कितनी ही बड़ी तादाद में क्यों न तैयार की जाती हो। इसी प्रकार यदि एक जमींदार किसी एक फसल को अलग-अलग खेतों में उगाकर चाहे कितनी ही अधिक उत्पत्ति क्यों न बढ़ा ले, किन्तु फिर भी वह बड़ी मात्रा की उत्पत्ति न मानी जावेगी। बड़ी मात्रा को उत्पत्ति के लिए यह आवश्यक है कि किसी एक फसल को उगाने के लिए जितने क्षेत्रफल में खेती की जा रही है, उसी में पहिले की अपेक्षा उत्पत्ति की मात्रा अधिक हो।

खेती के व्यवसाय में, अन्य व्यवसायों के विपरीत, उत्पत्ति की मात्रा का अनुमान खेतों के क्षेत्रफल से प्रकट किया जाता है। खेतों का क्षेत्रफल प्रायः एकड़ों द्वारा सूचित किया जाता है। किन्तु उत्पत्ति की मात्रा की तुलना इन एकड़ों की इकाई से भी सन्तोषजनक नहीं हो पाती है; चूंकि इन एकड़ों से इस बात का कोई अनुमान नहीं होता है कि खेती किस गहराई से की जा रही है। अस्तु; ५० एकड़ के एक खेत में गहरी खेती करके शाक-भाजी पैदा की जाती है और दूसरे ५० एकड़ के खेत में केवल जानवरों का चरागाह है—इन दोनों में बड़ा भेद है। अतः केवल क्षेत्रफल के आधार पर उत्पत्ति की मात्रा की तुलना करना नितान्त भ्रमपूर्ण माना जावेगा। बड़ी मात्रा की उत्पत्ति को नापने के लिए दो

माप माने गए हैं—(१) खेत पर काम करने वाले श्रमिकों की संख्या और (२) उस खेत की कुल उत्पत्ति की मात्रा का अनुमान। उदाहरण के लिए यदि हम इङ्गलैण्ड की खेती की उत्पत्ति की मात्रा का अन्य व्यवसायों से तुलना करें तो हमें विदित होगा कि वहां अन्य उद्योग-धन्धों में औसतन ३० व्यक्ति कार्य करते हैं और खेती में केवल चार ही काम करते हैं। इसी प्रकार अन्य व्यवसायों में उत्पत्ति की कुल मात्रा का अनुमान (धन में) खेती की अपेक्षा लगभग १५ गुना अधिक होता है।

बड़ी मात्रा की उत्पत्ति से होने वाले लाभ

खेती में भी अन्य व्यवसायों की ही भांति, बड़ी मात्रा में उत्पत्ति करने के के कुछ लाभ हैं। इन लाभों को हम दो श्रेणी में विभक्त कर सकते हैं। एक तो बड़ी मात्रा में पैदावार के विनियोग सम्बन्धी लाभ और दूसरा खेती की क्रियाओं के व्यय में मितव्ययिता। यहां हम इन दोनों पहलुओं पर अलग-अलग विचार करेंगे—

बड़ी मात्रा में पैदावार के विनियोग में वस्तु का भाव सस्ता पड़ता है। अधिक माल लाने और ले जाने में रेल और मोटर आदि का भाड़ा कम देना पड़ता है और अन्य अनेक प्रकार की सुविधाएँ आसानी से प्राप्त हो जाती हैं। माल बेचने में भी दाम अच्छे मिल जाते हैं। यह बात तो सभी जानते हैं कि जब व्यापारियों को सीधे किसानों से व्यवहार करना पड़ता है तो वे भाड़े आदि में दाम बढ़ा कर अधिक मुनाफ़ा ले लेते हैं। उदाहरण के लिए जब कोई व्यापारी गाँव में किसानों से अन्न खरीदने जाते हैं तो वह उनको बड़े जमींदार की अपेक्षा (जिसके पास बेचने के लिए साधारण किसान की अपेक्षा अधिक गल्ला होता है) कम दाम बताता है, जैसे यदि गेहूँ का भाव आजकल २०) प्रतिमन है तो व्यापारी किसानों से १९॥) प्रतिमन खरीदने को तैयार होगा और जमींदार से वह १९॥।) प्रतिमन की दर से खरीद सकता है। इसका कारण यह है कि उसे अनेक छोटे-छोटे किसानों से खरीदते समय कई जगह गल्ला तौलना पड़ेगा, भरना और उठाना पड़ेगा और इन सब क्रियाओं में काफ़ी अन्न भी व्यर्थ नष्ट होने की सम्भावना रहती है तथा उसे अनेक स्थान पर मोटर या ठेले से ले जाने पर व्यय करना होगा। बड़े जमींदार से खरीदते समय उसे इन सब बातों से छुटकारा मिल जाता है। अतः बड़ी

मात्रा में उत्पत्ति करने पर किसानों और जमीन्दारों को उनके विनियोग में लाभ होने की सम्भावना सदैव अधिक रहती है।

छोटी मात्रा में उत्पत्ति करने वाले किसानों को बहुधा अपनी पैदावार के विनियोग के लिए व्यापारियों और महाजनों पर ही आश्रित रहना पड़ता है, और यदि वे स्वयं अपनी उपज को मंडी लेकर जाते हैं तो उनको अनेक आपदाओं का सामना करना पड़ता है, तिस पर भी उन्हें उतने दाम नहीं मिलते हैं जितने कि उसे घर बैठे व्यापारी से मिल जाते। इसके विपरीत जो किसान या जमीन्दार कि बड़ी मात्रा में उत्पत्ति करते हैं वे यदि चाहें तो कोई ऐसी संस्था स्थापित कर सकते हैं जिसके द्वारा खरीदने और बेचने का कार्य स्वयं प्रतिपादित हो सकता है। इस प्रकार वे बीच के अनेक व्यापारियों से मुक्ति पा सकते हैं।

इसके अतिरिक्त बड़ी मात्रा की उत्पत्ति के लिए बड़े और अनेक बाजारों की आवश्यकता होती है। इस कारण स्थायित्व रहता है और उन्हें बहुत ही कम आर्थिक-सङ्कटों का सामना करना पड़ता है, क्योंकि अनेक बाजार होने के कारण एक बाजार में तेजी-मन्दी होने पर वे दूसरे बाजारों में बेचकर लाभ उठा सकते हैं। अतः उन्हें हानि की सम्भावना बहुत ही कम रहती है। छोटी मात्रा में उत्पत्ति होने पर परिमित बाजारों पर ही प्रायः आश्रित रहना पड़ता है। फलतः उनके लिए ऐसे सुभीते नहीं रहते। दूसरी ओर बड़ी मात्रा की उत्पत्ति के लिए अधिक पूँजी की आवश्यकता होती है। अतः हर प्रकार के संकटों का सामना सरलतापूर्वक किया जा सकता है और अपने प्रतिद्वन्द्वियों से हर तरह मुठभेड़ की जा सकती है तथा समय पड़ने पर स्वयं कीमत घटा कर उन्हें हानि पहुँचा सकते हैं।

दूसरी ओर, खेती की विविध क्रियाओं में होने वाले खर्चों में भी अनेक प्रकार से बचत और किफायत की जा सकती है। इन्हें संक्षेप में हम इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं —

(१) ज्यो-ज्यों बड़ी मात्रा में उत्पत्ति की जावेगी त्यों-त्यों मकानों और गोशाला आदि के व्यय में कमी होती जावेगी। मान लो यदि हमें चारगुनी अधिक मात्रा में उत्पत्ति करनी है तो उसके लिये आवश्यक मकानों—जैसे बीज गोदामों, गोशाला, भुसैरा आदि के बनाने में कम व्यय करना पड़ेगा। अगर इसी

चारगुनी उत्पत्ति के लिये यदि चार भिन्न-भिन्न स्थानों पर हमें मकान, बीज-गोदाम, भुसैरा आदि बनवाने पड़ें तो अवश्य ही अधिक दाम खर्च करने पड़ेंगे; चूँकि छोटे-छोटे मकानों के बनवाने में सदैव अधिक खर्च पड़ता है। इसे और अधिक स्पष्ट करने के लिये हम इस प्रकार कह सकते हैं। मान लो एक गोशाला ८० फीट लम्बी और १८ फीट चौड़ी है। अब यदि हमें चारगुनी अधिक उत्पत्ति करने के लिये एक नई गोशाला बनवानी पड़े तो हमें चारगुनी लम्बी जगह के लिये अवश्य अधिक व्यय करना पड़ेगा, किन्तु दीवालें तो उतनी ही रहेंगी। परन्तु जब चार विभिन्न स्थानों पर ऐसी गोशालाएँ बनवाईं जातीं तो हर गोशाला में नई-नई दीवालें बनवाने की आवश्यकता पड़ती।

(२) बड़ी मात्रा की उत्पत्ति में विशिष्ट प्रकार की मशीनों, यन्त्रों, औजारों और आविष्कारों का उपयोग लगातार किया जा सकता है। जुताई, बुवाई, कटाई आदि खेती की अनेक ऐसी क्रियाएँ हैं जो मशीनों द्वारा सरलतापूर्वक थोड़े समय में पूरी कर ली जाती हैं। इनके प्रयोग से खर्च में बचत होती है तथा उत्पत्ति की मात्रा में भी वृद्धि हो जाती है।

(३) बड़ी मात्रा की उत्पत्ति में अनेक तरह के कुशल और अकुशल साधारण श्रमिकों और कारीगरों को रखकर उनसे अधिक से अधिक कार्य लिया जा सकता है और उन्हें उनके उपयुक्त कार्य में लगाया जा सकता है। इसके साथ-साथ प्रबन्धक भिन्न-भिन्न कार्यों के लिये अच्छे से अच्छे व्यक्तियों को अच्छे वेतन पर रख कर स्वयं स्वतन्त्रतापूर्वक अन्य लाभपूर्ण बातों पर मनन कर सकता है। इन सब बातों से उत्पत्ति में काफ़ी बचत होने की सम्भावना रहती है।

(४) श्रम-विभाग द्वारा बड़ी मात्रा की उत्पत्ति में किफायत हो जाती है। जहाँ विशिष्ट प्रकार की खेती (Specialized farming) होती है, वहाँ प्रत्येक व्यक्ति को उसकी योग्यता और निपुणता के अनुसार काम सौंपा जा सकता है और इस प्रकार उत्पत्ति की मात्रा में भी वृद्धि हो सकती है तथा अधिक लाभ भी प्राप्त किया जा सकता है।

(५) बड़ी मात्रा में उत्पत्ति होने पर माल सस्ता पड़ता है, इससे उपभोक्ताओं को वस्तुएँ सस्ते मूल्य पर आसानी से और अधिक मात्रा में मिल सकती हैं। इससे उपभोक्ताओं तथा समाज दोनों का ही बड़ा लाभ होता है। दूसरे श्रमिकों

को अपेक्षाकृत अधिक वेतन मिलता है और उनके कामों में अनेक प्रकार की और अधिक सुविधाएँ दी जाती हैं।

अतः बड़ी मात्रा की उत्पत्ति में जो बचत होती है, वह दो तरह की है। एक तो बाह्य और दूसरी आभ्यंतरिक। आभ्यंतरिक बचत खेती की क्रियाओं में सुधार करने पर होती है। जैसे, श्रम-विभाग, विशिष्ट प्रकार की मशीनों का व्यवहार, सञ्चालक-शक्ति इत्यादि। इन सबसे उत्पादन व्यय में कमी होती है। बाह्य बचत आन्तरिक व्यवस्था पर निर्भर नहीं रहती। इसमें खरीद, ढुलाई, उठाई आदि बाह्य कारणों पर होने वाले व्यय सम्मिलित रहते हैं।

बड़ी मात्रा की उत्पत्ति की सीमा

बड़ी मात्रा की उत्पत्ति केवल उसी सीमा तक लाभदायक होगी जब तक कि उसमें बाह्य तथा आभ्यंतरिक बचत की गुञ्जाइश हो। यदि बचत की गुञ्जाइश न होगी तो बड़ी मात्रा की उत्पत्ति की वृद्धि रुक जावेगी। खेती के व्यवसाय में उत्पत्ति के क्रम में तब तक वृद्धि होती है जब तक कि श्रम, मशीन आदि के उपयोग में बचत हो तथा बाहरी लोगों से मिलने वाली सुविधाओं, रियायतों, छूटों आदि में वृद्धि होती चली जाय, जिससे उत्पादन-व्यय में कमी हो सके। एक ऐसा समय भी आता है, जब बड़ी मात्रा द्वारा होने वाली बचत बन्द हो जाती है और औसत उत्पादन व्यय बढ़ने लगता है। इस स्थिति पर आकर बड़ी मात्रा की उत्पत्ति में और अधिक वृद्धि करना हानिकारक होने लगता है। अस्तु, वह रोक दी जाती है। बड़ी मात्रा की उत्पत्ति की वृद्धि निम्न दो बातों पर निर्भर रहती है —

(१) किसान या जमींदार (व्यवस्थापक) की योग्यता और क्षमता तथा

(२) बाजार की स्थिति पर।

व्यवस्थापक—एक मनुष्य उतना ही प्रबन्ध उचित रूप से कर सकता है जितना कर सकने की उसमें योग्यता, क्षमता और शक्ति होगी। इसके बाद वह ठीक से प्रबन्ध नहीं कर सकता। सीमा के बाहर होने पर जो भी कार्य किया जायगा उसका प्रबन्ध ठीक से न होगा। इस कारण उसमें उत्पादन व्यय अधिक बैठेगा और लाभ घट जावेगा।

बाज़ार की स्थिति—किसी वस्तु की उत्पत्ति केवल तभी तक हो सकेगी जब तक कि बाज़ार में उसके खपत होने की सम्भावना हो। बाज़ार में उस वस्तु की

माँग तथा खपत होने पर ही उसमें लाभ हो सकेगा। यदि बाज़ार घटता चला जाय तो उस वस्तु की मांग भी घट जावेगी। अतः उत्पत्ति भी उसी के अनुपात में कम कर देनी पड़ेगी और यदि उत्पत्ति कम न की गई तो सब माल बिक न सकेगा और उसके सड़कर नष्ट होने की सम्भावना बनी रहेगी। इसके विपरीत बाज़ार जितना ही अधिक बढ़ेगा, उस वस्तु की मांग भी उतनी ही अधिक बढ़ेगी और उसी के अनुपात में उत्पत्ति की मात्रा में भी वृद्धि होती जावेगी।

उन्तालीसवां अध्याय

उत्पत्ति के नियम

अपने पिछले अध्यायों में हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि किसी वस्तुः की उत्पत्ति उसके विभिन्न साधनों—भूमि, श्रम, पूँजी और व्यवस्था (प्रबन्ध तथा साहस)—के सहयोग से ही होती है। इस प्रकार की उत्पत्ति में किन नियमों का कब, कहाँ और कैसे प्रयोग होता है तथा उनका व्यावहारिक जीवन में किस प्रकार अनुसरण किया जाता है, इन सब बातों का अध्ययन हम यहां करेंगे।

बहुधा जब किसी वस्तु की उत्पत्ति के कार्य में ज्यों-ज्यों लागत-खर्च बढ़ाया जाता है, त्यों-त्यों उत्पत्ति की कुल मात्रा में लागत खर्च के अनुपात में वृद्धि अधिक होती है। इस प्रकार की वृद्धि को हम क्रमागत उत्पत्ति-वृद्धि कहते हैं। परन्तु जब लागत-खर्च के बढ़ाये जाने पर कुल व्यय के अनुपात में उत्पत्ति की मात्रा में समान अथवा बराबर की वृद्धि हो—अर्थात् जिस अनुपात में लागत-खर्च बढ़ाया जाय उसी अनुपात में उत्पत्ति की मात्रा में वृद्धि हो, तो इस प्रकार की वृद्धि क्रमागत उत्पत्ति-समता कहलावेगी। किन्तु यदि लागत-खर्च के बढ़ाये जाने पर भी उत्पत्ति की मात्रा में वृद्धि कम होती जाय तो ऐसी अवस्था में उसे हम क्रमागत उत्पत्ति-ह्रास कहते हैं। प्रत्येक वस्तु के उत्पादन-कार्य में लागत-खर्च के क्रमशः बढ़ाने से ऊपर के तीनों नियमों में से किसी न किसी एक नियम के अनुसार ही उत्पत्ति क्रम चलता रहता है। लगभग प्रत्येक उत्पादन कार्य में ये नियम क्रमशः ही लागू हुआ करते

हैं, अर्थात् पहिले-पहल जब लागत-खर्च बढ़ाया जाता है तो उत्पत्ति में भी क्रमागत वृद्धि होती है। इसके बाद एक सीमा ऐसी आती है जब लागत-खर्च के क्रमशः बढ़ाये जाने पर उत्पत्ति की मात्रा कुल लागत-खर्च के अनुपात में समान हो जाती है, और अन्त में एक स्थिति ऐसी भी पहुंच जाती है जब कि लागत-खर्च में वृद्धि करने पर भी उत्पत्ति की मात्रा में कोई परिवर्तन नहीं आता और यथासम्भव घट भले हो जाती है। गांवों में किसानों को बहुधा कहते सुना जाता है कि—"इधर कई वर्षों से बराबर यही देख रहे हैं कि हम चाहे जितना परिश्रम कर लें, लागत लगाने में भी एक के स्थान पर डेढ़ खर्च कर लें, किन्तु उपज बढ़ना तो दूर रहा, उतनी भी नहीं होती, जितनी कि पिछले कुछ वर्षों पूर्व थी। ऐसा जान पड़ता है, मानो हम पर कोई ईश्वरीय प्रकोप है।" कृषि-अर्थशास्त्र में इस नियम को हम भौतिक उपज का क्रमागत-ह्रास नियम (Principle of Diminishing Physical Output) कहते हैं। खेती के व्यवसाय में इस सिद्धान्त को हम दो प्रकार से व्यक्त कर सकते हैं—

(१) सम्पूर्ण उपज (उत्पत्ति की कुल मात्रा) लागत-खर्च के बढ़ाने पर पहिले तो बढ़ती है; किन्तु ज्यों-ज्यों लागत-खर्च में क्रमशः वृद्धि की जाती है, उत्पत्ति की वृद्धि का अनुपात क्रमशः घटने लग जाता है।

(२) किसी भी वस्तु की उत्पत्ति में पहिल इकाई की मात्रा बढ़ाये जाने पर उपज में या तो तुरन्त ही, अथवा पहिले थोड़ी वृद्धि होने के उपरान्त फिर क्रमशः उसमें क्रमागत-ह्रास का नियम लागू हो जाता है।

इन्हें हम अपने व्यावहारिक जीवन में नित्य-प्रति घटते देखते हैं। अतः यहाँ हम उनका एक-एक करके वर्णन करते हैं—

खाद और क्रमागत-ह्रास नियम

माना कि एक किसान के पास आठ खेत हैं, जिनका प्रत्येक का क्षेत्रफल एक एकड़ है। वह उसमें गन्ना बोना चाहता है। उसने अपने पहिले खेत में बिल्कुल भी खाद नहीं दिया, किन्तु दूसरे खेत में ३०० मन खाद डाला है, तीसरे में ६०० मन, चौथे में ९०० मन, और फिर क्रमशः उसने अन्य खेतों में १,२०० मन, १,५०० मन, १,८०० और २,१०० मन खाद डाला है। इस प्रकार खाद डालने के बाद जो उत्पत्ति होती है उसे हम अगले पृष्ठ के कोष्ठक द्वारा व्यक्त करते हैं—

खेत का क्रम	खाद की मात्रा	सम्पूर्ण उपज मनों में	उपज में अतिरिक्त वृद्धि
१	० मन	१६० मन	—
२	३०० ,,	३०० ,,	१४० मन
३	६०० ,,	४२० ,,	१२० ,,
४	९०० ,,	५२० ,,	१०० ,,
५	१,२०० ,,	५७० ,,	५० ,,
६	१,५०० ,,	६०० ,,	३० ,,
७	१,८०० ,,	६०० ,,	० ,,
८	२,१०० ,,	५८० ,,	२० ,,

नोट—(१) क्रमागत वृद्धि ; (२) उत्पत्ति समता ; (३) क्रमागत ह्रास ।

इस तालिका के अंकों को देखने पर विदित होता है कि ज्यों-ज्यों खेतों में खाद की मात्रा बढ़ाई जाती है, त्यों-त्यों उपज में भी वृद्धि होती जाती है और उपज में यह वृद्धि छठे खेत तक जारी रहती है, सातवें खेत में आकर उत्पत्ति समान हो जाती है, और वृद्धि रुक जाती है ; किन्तु ज्यों ही और अधिक खाद की मात्रा बढ़ाई जाती है, उत्पत्ति बढ़ने को बजाय घट ही जाती है। दो नम्बर के खेत में सम्पूर्ण उपज ३०० मन है और उपज की यह मात्रा पहिले नम्बर के खेत की अपेक्षाकृत १४० मन अधिक है। तीसरे नम्बर के खेत में जब ६०० मन खाद डाला गया है तो सम्पूर्ण उपज अवश्य बढ़ती हुई दृष्टिगत होती है, किन्तु उपज की अतिरिक्त वृद्धि दूसरे खेत के मुकाबले में २० मन (१४०—१२० मन) कम बैठती है। यह क्रम छठवें नम्बर के खेत तक बराबर चलता रहता है—अर्थात् सम्पूर्ण उपज में निरन्तर वृद्धि तथा उपज की अतिरिक्त वृद्धि में कमी होती जाती है। सातवें नम्बर के खेत में आकर सम्पूर्ण उपज तो छठें खेत के बराबर ही बनी रहती है, किन्तु उपज की अतिरिक्त वृद्धि शून्य हो जाती है। यहाँ तक कि अन्तिम खेत में आकर वृद्धि के स्थान पर दोनों अवस्थाओं में ही ह्रास हो जाता है।

निराई-गुड़ाई आदि खेती की अन्य क्रियाएँ तथा क्रमागत ह्रास-नियम

उपरोक्त उदाहरण में हम देख चुके हैं कि एक सीमा के बाद खाद की मात्रा बढ़ा देने पर सम्पूर्ण उपज तथा अतिरिक्त उपज दोनों की मात्राओं में क्रमशः ह्रास होने लगता है। हमने यह भी देखा था कि सम्पूर्ण उपज में तो ह्रास क्रमशः होता है, किन्तु अतिरिक्त उपज की वृद्धि आरम्भ से ही घटने लग जाती है। यहाँ हम खेती-बारी की अन्य क्रियाओं का उत्पत्ति की मात्रा पर जो प्रभाव पड़ता है, उस पर विचार करेंगे—

मान लो मक्का को एक एकड़ वाले आठ खेतों में बोया गया है। पहिले खेत में बिल्कुल निराई नहीं की जाती है और उस खेत में कुल ८ मन मक्का की उपज होती है। दूसरे खेत में जब एक बार निराई कर दी जाती है तो २७ मन मक्का पैदा होती है। इस अवस्था में एक निराई कर देने से १९ मन मक्का की अतिरिक्त उपज हुई। तीसरे खेत में किसान ने दो बार निराई की और इस दशा में कुल उपज ३८ मन हुई—अर्थात् दूसरे की अपेक्षा ११ मन मक्का की अतिरिक्त उपज हुई। इसी क्रम से जब उसने अपने चौथे खेत में तीन बार निराई करवाई तो कुल उपज बढ़ कर ४४ मन हुई, किन्तु इन तीन बार की निराई से अतिरिक्त उपज केवल ६ मन मक्का की ही हुई। अन्य खेतों में जो कुल उपज हुई वह तो निरन्तर थोड़ी-थोड़ी मात्रा में बढ़ती गई किन्तु अतिरिक्त वृद्धि क्रमशः घटती चली गई। अन्त में आठवें खेत में आकर कुल उपज तथा अतिरिक्त उपज दोनों ही घट गई, जो अगले पृष्ठके कोष्ठक में दिखाई गई है —

निराई करने से उपज में अन्तर

खेत में कितनी बार निराई की गई	कुल उपज (मनों में)	अतिरिक्त उपज (मनों में)
०	८	—
१	२७	१९
२	३८	११
३	४४	६
४	४८	४
५	५१	३
६	५२	१
७	५०	२

इस तालिका के अंकों के देखने पर विदित हो जाता है कि एक बार निराई करने पर पैदाकर में वृद्धि होती है और ज्यों-ज्यों:अधिक निराई की जाती है कुल उपज भी बराबर बढ़ती ही चली जाती है, किन्तु ऐसा क्रमागत ह्रास नियम के अनुसार ही होता है। परन्तु जब आवश्यकता से अधिक निराई की जाती है तो खर-पतवार (weeds) के स्थान पर हम असली फसल के पौधों को भी छोटे-छोटे पौधों के साथ उखाड़ देते हैं और इस प्रकार कुल उत्पति में वृद्धि न हो कर फिर क्रमशः ह्रास ही होने लग जाता है।

यह नियम जितना सत्य इस उदारहण द्वारा प्रगट होता है उतना ही सत्य अन्य दशाओं में भी होगा। मशीनों के प्रयोग में सिंचाई की मात्रा बढ़ाने पर या अधिक गुड़ाई कर देने पर, सभी अवस्थाओं में फिर हमें लाभ की अपेक्षा क्रमशः हानि दृष्टिगत होने लगती है।

श्रम और क्रमागत ह्रास-नियम

यद्यपि खेती-बारी में अधिकांश काम प्रकृति स्वयं सम्पन्न करती है, फिर भी अधिक उत्पत्ति के लिए मनुष्य का श्रम भी थोड़ी-बहुत मात्रा में आवश्यक होता है। वह अपनी आवश्यकता के अनुसार बीज को भूमि में डालता है और उन फसलों को उगाता है जिन्हें या तो वह स्वयं अपने उपभोग में लावेगा अथवा बाजार में बेचेगा

या अपने ढोरों को खिलावेगा। जिन फसलों का उपभोग वह स्वयं करता है अथवा बाज़ार में बेचता है उन्हें तो वह काट कर उनमें से अनाज अलग कर लेता है; किन्तु जो चारे के लिए फसलें उगाई जाती हैं उन्हें या तो वह धीरे-धीरे खेत से काट कर जानवरों को खिलाता रहता है अथवा उन्हें भी काट कर किसी भुसैरा में रख लेता है। अन्त में इस चारे को खिला कर या तो उन पशुओं से उसे दूध मिलता है अथवा उनसे शक्ति प्राप्त होती है या उनका मांस भक्षण के लिए प्रयोग किया जाता है। जो भी हो, इतने सब काम किसान यदि चाहे तो स्वयं अकेला भी कर सकता है, किन्तु उस हालत में वह इन सब कामों को केवल परिमित रूप में ही सम्पन्न कर सकेगा। वह परिमित भूमि पर इन सब क्रियाओं को ध्यानपूर्वक पूरा करेगा और सदा अधिक से अधिक लाभ उठाने की चेष्टा में रहेगा। किन्तु यदि उसे अब एक और सहायक मिल जावे तो उसी क्षेत्रफल की भूमि में वह अधिक से अधिक सुधार करने का प्रयत्न करने लगेगा। वे दोनों मिल कर अब खेत के चारों ओर बाड़ लगावेंगे ताकि हिंसक पशुओं और चोर-डाकुओं से वह अपनी पैदावार की रक्षा कर सकें। इसके अतिरिक्त वे भूमि को अधिक जोतेंगे और निरावेंगे और इस प्रकार दो व्यक्तिओं के हो जाने पर उत्पत्ति में वृद्धि हो जावेगी। अतः श्रम की संख्या बढ़ा देने पर कुल उपज में वृद्धि हो जाती है। मान लो एक तीसरा व्यक्ति और आकर उनके साथ काम करने लग जाता है तो वे अब उसी क्षेत्रफल वाली भूमि में अन्य ऐसे सुधार करेंगे जिनसे कुल उपज में और भी अधिक वृद्धि हो सके। सम्भव है तीसरा व्यक्ति आकर अब गढ़्हों में खत के कूड़े-कर्कट को जमा करके खाद बनावे, ओर गाय-भैंसों को अच्छी तरह से चारा काट कर खिलावे इत्यादि। उसके आने पर उत्पत्ति में वृद्धि होती है। किन्तु खेती में यह अवस्था अधिक काल तक नहीं चल सकती है। एक सीमा के बाद यदि और अधिक व्यक्तियों को उतने ही क्षेत्रफल के खेत में काम करना पड़ा तो अवश्य उत्पत्ति में ह्रास होने लगेगा। श्रम के अधिक बढ़ाने पर, खेती के व्यवसाय में, क्रमागत ह्रास नियम बहुत शीघ्र ही लागू होने लग जाता है। इस तरह फिर उन्हें और खेती की तलाश करनी पड़ती हैं।

अगले पृष्ठ के कोष्टक में हम यह दिखलाते हैं कि श्रमिकों की संख्या बढ़ाने पर

खेती का काम किस प्रकार होता है, अर्थात् क्रमागत-ह्रास नियम किस प्रकार लागू होता है। इस कोष्ठक में मक्के के खेत की जुताई का विवरण दिया जाता है और बताया गया है कि श्रमिकों की संख्या बढ़ा देने पर किस तरह खेती के काम में शीघ्र ही क्रमागत ह्रास नियम लागू होने लगता है।

श्रमिकों की संख्या	कुल क्षेत्रफल	अतिरिक्त क्षेत्रफल
८	२३	—
१३	४३	२०
१८	६१	१८
२३	७८	१७
२८	९४	१६
३३	१०७	१३
३८	११९	११
४३	१२६	८

उपर्युक्त उदाहरणों द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि खेती के व्यवसाय में श्रम और पूंजी के बढ़ाने पर उत्पत्ति की मात्रा में पहिले तो कुछ काल तक वृद्धि होती रहती है, किन्तु एक सीमा ऐसी भी आ जाती है कि फिर उसमें क्रमशः ह्रास होने लग जाता है। पिछले उदाहरणों में हमने देखा था कि एक बार निराई करने पर ही मक्का की उत्पत्ति में सबसे अधिक वृद्धि हुई थी, किन्तु कुल उपज तो छठी निराई करने पर ही सबसे अधिक हुई थी। ऐसी अवस्था में क्या उसे एक बार निराई कर देने के बाद ही रुक जाना चाहिए, या छः बार तक निराना लाभदायक होगा; अथवा पहिली और छठी निराई के बीच की अवस्था सबसे अधिक लाभदायक होगी?

अधिकतम लाभ कहाँ होता है?

इन प्रश्नों का उत्तर देते समय हमें बाज़ार के भाव पर भी ध्यान रखना आवश्यक होता है। अधिकतम लाभ की मात्रा तो बाज़ार के प्रचलित भाव, तथा उत्पत्ति के कुल लागत-खर्च पर ही मुख्यतः निर्भर रहता है। मान लो, खेत की जुताई, खाद, बीज, सिंचाई आदि में १०) प्रति एकड़ व्यय होता है और मान लो निराने, रखाने तथा प्रबन्ध करने के लिए एक व्यक्ति को प्रतिदिन १=) देना पड़ता है। इस प्रकार एक बार निराई करने के बाद कुल लागत-खर्च ११=)।

हो जाता है ; दो बार निराई करने पर १२।≡) और तीन बार करने पर १३।।-) होगा, जैसा कि निम्न कोष्ठक में दिखाया गया है।

निराई की संख्या	कुल उपज मनों में	अतिरिक्त उपज (मनों में)	कुल व्यय (लागत-खर्च)	४) प्रति मन की दर से कुल उपज का मूल्य	४) प्रति मन की दर से अतिरिक्त उपज का मूल्य	अधिक निराई से हानि अथवा लाभ
०	८	—	१०)	३२)	—	—
१	२७	१९	११≡)	१०८)	७६)	+ ७४।।।-)
२	३८	११	१२।=)	१५२)	४४)	+ ४२।।।-)
३	४४	६	१३।।)	१७६)	२४)	+ २२।।।-)
४	४८	४	१४।।।)	१९२)	१६)	+ १४।।।-)
५	५१	३	१५।।।≡)	२०४)	१२)	+ १०।।।-)
६	५२	१	१७=)	२०८)	४)	— २।।।-)
७	५०	२	१८।-)	२००)	—८)	— ६।।।-)

इस उदाहरण में हम देखते हैं कि छठवीं निराई करने के बाद अतिरिक्त उपज में केवल एक मन की ही वृद्धि हुई ; और ४) प्रति मन की दर से इस १ मन अतिरिक्त, उपज का मूल्य ४) हुआ ; ६ वार की निराई में हमने ७=) व्यय किया। अतः हमारा सीमान्त लाभ पाँच और छः निराई के बीच में होगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जिस सीमा तक निराई पर किया गया व्यय उत्पत्ति की मात्रा को बढ़ाकर लाभ प्रदान करता है, वहाँ तक तो किसान सहर्ष अपने खेत को निराने का प्रयत्न करेगा ; किन्तु जैसे ही उसे अपने लाभ की मात्रा में कमी अनुभव होने लगेगी वहीं पर वह उस क्रिया को समाप्त कर देगा। अतः जिस सीमा पर आकर लागत-खर्च और उसके द्वारा प्राप्त लाभ समान हो जाते हैं। ऐसी अवस्था को हम "सीमान्त अवस्था" कहेंगे तथा उस पर होने वाले व्यय को हम "सीमान्त-व्यय" और इस प्रकार होने वाले लाभ को "सीमान्त-लाभ" कहेंगे।

चालीसवां अध्याय

फसलों की पैदावार का खर्च या खेती का बही-खाता

यदि किसी किसान से यह पूछा जाय कि उसे एक मन गेहूं उगाने में कुल कितना खर्च बैठा तो वह इसका उत्तर सरलतापूर्वक नहीं दे सकता है। इसका

प्राक्कथन

कारण यह है कि किसी फसल के उगाने में जो खर्च बैठता है वह अनेक बातों पर निर्भर रहता है। उदाहरण के लिए श्रमिकों का वेतन, बीज, खाद, यन्त्र आदि के दाम, लगान, सिंचाई की दर, निराई, गुड़ाई, जुताई आदि पर हुआ व्यय इत्यादि। इन खर्चों में एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त; एक जिले से दूसरे जिले; एक गाँव से दूसरे गाँव; एक किसान से दूसरे किसान, तथा एक ही किसान के परस्पर दो खेतों में अन्तर पड़ता रहता है। अतः इस प्रश्न का उत्तर बिल्कुल निश्चयपूर्वक कोई भी नहीं दे सकता, वरन् जो भी उत्तर दिया जावेगा वह एक सीमा के अन्तर्गत होगा और उसे व्यक्त करने के लिए लगभग

शब्द का प्रयोग करना होगा। किन्तु लगभग शब्द का व्यवहार करना आजकल उचित प्रतीत नहीं होता, अतः इसे मालूम करने के लिए हम अनेक किसानों के खर्च का औसत मालूम कर लेते हैं।

किसी फसल की उत्पत्ति का खर्च मालूम करना अत्यन्त ही कठिन कार्य होता है। वैज्ञानिक खोज और अनुसन्धानों की भाँति उसे निश्चय करने के लिए अत्यन्त ही धैर्य और सतत् प्रयत्नों की आवश्यकता होती है। उसके बही-खाते को बनाने में हमें बड़ी सावधानी रखनी पड़ती है। बहुधा हम एक फसल को उगाने में जितना व्यय करते हैं वह कुल उसी फसल के काम नहीं आ जाता, किन्तु आगे बोने वाली फसल के लिए भी काम देता है। उदाहरण के लिए आलू की फसल में हम जितना खाद डालते हैं वह सबका सब आलू की वह फसल उपयोग में नहीं ला पाती है, वरन् उसमें से जो भाग शेष बच रहता है वह आगे बोई जाने वाली ज्वार की फसल के लिए भी उपयोगी होता है। इसी प्रकार जब खेत से आलू की निकासी होती है तब खुरपियों से खेत को खोदना पड़ता है। इस प्रकार की खुदाई अधिक नहीं तो कम से कम खरीफ में बोई जाने वाली फसल की एक बार की जुताई के लिए पर्याप्त होती है। ऐसी अवस्था में इन खर्चों को किस फसल के हिसाब में जोड़ा जाय, इसके निश्चय करने में बड़ी कठिनाई होती है। बहुत सी फसलें मिश्रित (मिलाकर) बोई जाती हैं, जैसे, ज्वार के साथ अरहर ; रबी में तिलहन के साथ चना। इनके बोने का समय तो एक ही होता है, किन्तु कटाई अलग-अलग समय पर होती है। ऐसी दशा में हम कितना खर्च किस ओर जोड़ें और उनका अनुपात किस प्रकार निश्चय किया जाय, ये गुत्थियाँ आजतक पूरी तरह से नहीं सुलझाई जा सकी हैं। संक्षेप में हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि खेती-बारी के व्यवसाय में पैदावार का खर्च मालूम करना सरल कार्य नहीं है। ये खर्च एक प्रकार से अनिश्चित रहते हैं और जो अनुभव द्वारा ही कूते जाते हैं। जल्दबाजी और शीघ्रता के स्थान पर यहाँ हमें अत्यन्त ही धैर्य और उत्साह से काम लेना पड़ता है। लगान और पूँजी के सूद को इस खर्च में जोड़ा जाय अथवा नहीं, यह भी आज तक विवादपूर्ण प्रश्न बना हुआ है। बहुत से अर्थशास्त्री इनके जोड़ने के पक्ष में हैं और कुछ विपक्ष में अपना निर्णय देते हैं।

खेती-बारी के व्यवसाय में अन्य उद्योग-धन्धों की भाँति, इस प्रकार आय-व्यय का विवरण रखने से अनेक लाभ होते हैं, जो संक्षेप में निम्नलिखित हैं—

खेती में इस प्रकार के बही-खाते के रखने से होने वाले लाभ

(१) भविष्य में निर्देश के लिए व्यवसाय-सम्बन्धी पूरी-पूरी जानकारी इस प्रकार के विवरण से हमें मिल सकती है।

(२) इस प्रकार के बही खाते से हमें खेती-बारी की विभिन्न प्रतिक्रियाओं की झलक मिल जाती हैं।

(३) इस विवरण को देख कर भविष्य में किसान अपने अनावश्यक खर्चों को कम कर सकेगा और जहाँ अधिक आवश्यकता होगी वहाँ पूँजी लगाकर अधिक से अधिक लाभ उठा सकेगा।

(४) किन-किन क्रियाओं के करने पर हमें अधिक लाभ होगा और उन्हें अन्य किन बातों से मिला कर व्यवसाय सफलतापूर्वक चलाया जा सकता है, इन सब बातों का ज्ञान हमें इस प्रकार के बही-खाते के रखने से होता है।

(५) खेती-बारी के व्यवसाय-सम्बन्धी शिक्षा और खोज के लिए हमें इन बही-खातों के रखने से बहुमूल्य सामग्री मिल जाती है।

(६) राजनीतिज्ञ इन बही-खातों के आधार पर किसानों की आय में वृद्धि करने के लिए अथवा श्रमिकों के वेतन को बढ़ाने के लिए प्रयत्न कर सकते हैं। आवश्यकतानुसार जहाँ लाभ की गुंजाइश होगी, उस दिशा में वे नए विधानों द्वारा परिवर्तन कर सकते हैं।

बही-खातों की मदें

पैदावार का कुल खर्च मालूम करने के लिए प्रायः बही-खातों में निम्न बातों पर विचार किया जाता है—

(१) मनुष्य का शारीरिक परिश्रम (मनुष्य कृत श्रम)
(२) बैल, ऊँट, भैंसे आदि जानवरों का परिश्रम (पशु कृत श्रम)
(३) बीज
(४) यन्त्र और मशीन आदि
(५) सिंचाई
(६) खाद
(७) लगान
(८) विविध खर्च

शारीरिक परिश्रम—इस मद में जो खर्च होता है उसे दो श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है—(अ) जो किसान स्वयं परिश्रम करते हैं, अथवा बड़े-बड़े जमीन्दार जो स्वयं खेती नहीं करते वरन् स्थायी श्रमिक रख कर खेती कराते हैं। दोनों अवस्थाओं में जो प्रचलित मासिक वेतन की दर है वह जोड़ी जावेगी। उदारहण के लिए जैसे जमीन्दार जो अपनी खेती स्थायी नौकरों द्वारा कराता है २०) प्रति माह के हिसाब से वेतन देता है तो वह किसान जो स्वयं खेती करता है और किसी दूसरे को वेतन नहीं देना—हिसाब रखते समय हम उसके परिश्रम का मूल्य भी इसी प्रचलित वेतन की दर से लगावेंगे। यदि इन स्थायी नौकरों को उत्सवों पर कुछ 'हक' या जजमानी मिलती है तो उसका उल्लेख भी हम यहीं कर देते हैं। अनेक जिलों में श्रमिकों को वेतन के अतिरिक्त कुछ पीने के लिए तम्बाकू, वर्ष में दो कुर्ते, दो धोती एक जोड़ी जूते दिये जाते हैं। इन सबका मूल्य उसके वेतन में जोड़ देना चाहिये। फसलों के कट जाने पर कहीं-कहीं उनको गुड़, भूसा तथा थोड़ा-सा अनाज भी दे दिया जाता है। इन सब वस्तुओं का मूल्य प्रचलित भाव के अनुसार जोड़ देने पर कुल वेतन मालूम हो जाता है। हम एक श्रमी का कुल वेतन, जो संयुक्त-प्रान्त के कुछ जिलों में दिया जाता है, उसका विवरण यहां देते हैं—

मद		वार्षिक वेतन
वेतन की दर २०) प्रति माह	...	२४०) वार्षिक
वस्त्रादि (दो कुर्ता, दो धोती, एक जोड़ी जूते)	...	१८) ,,
तम्बाकू, गुड़, भूसा, अन्न आदि	...	१०) ,,
		२६८) ,,

प्रति दिन का औसत वेतन लगभग ॥।)

(ब) इन स्थायी श्रमिकों के अतिरिक्त कभी-कभी मज़दूरों की और भी आवश्यकताएं हुआ करती हैं। निराई, गुड़ाई, कपास और आलू की बिनाई, फसल की कटाई आदि के समय पर हमें कुछ मज़दूर और रखने पड़ते हैं। ये दैनिक वेतन पाते हैं। आजकल उन्हें प्रायः रुपये ही दिये जाते हैं। किन्तु बहुत से गाँवों में तो अब भी कुछ अनाज और खाने के लिए थोड़ा सा कलेवा दिया जाता है। इन सबका निकटतम मूल्य निकाला जा सकता है। दैनिक वेतन इनका प्रायः एक रुपया है।

जानवरों द्वारा किया गया श्रम—बड़े-बड़े और विस्तृत क्षेत्रों में इन पशुओं पर जितना व्यय होता है उसे वर्ष के ३६५ दिनों में बाँट देते हैं इस प्रकार प्रति दिन का खर्च निकल आता है। कभी-कभी जितने दिन पशुओं ने उस फसल में काम किया होता है, उतने दिन का खर्च प्रचलित भाड़े की दर से लगा लेते हैं। जैसे गाँवों में बहुत से किसान अपनी एक जोड़ी बैल और उसके साथ जो आदमी जाता है उसके प्रतिदिन के ५) या ३) लेते हैं।

यन्त्र—यन्त्रों पर जितना धन व्यय होता है उस पर सूद लगाया जाता है और जितने दिन तक उन यन्त्रों के चलने की अवधि (मियाद) होती है उसी के अनुसार टूट-फूट का खर्च (Depreciation charges) भी बाँट दिये जाते हैं। बहुत से यन्त्र विशिष्ट प्रकार के होते हैं जो केवल विशेष फसलों में ही प्रयुक्त किये जाते हैं, इनका खर्च केवल उन्हीं फसलों पर बाँटा जाता है जैसे गन्ने के लिए कोल्हू, कपास से बिनौला अलग करने की मशीन आदि। दूसरी श्रेणी में साधारण यन्त्रों की गणना की जाती है और इन पर होने वाले व्यय को सब फसलों पर आवश्यकतानुसार बाँट दिया जाता है।

सिंचाई—जहाँ नहरों से पानी लिया जाता है वहाँ उस फसल के लिये सिंचाई की जो दर होती है वह जोड़ दी जाती है। इसी प्रकार जब ट्यूब-वेल के कुँओं से सिंचाई होती है तो उसमें भी यही सिद्धान्त लागू होता है। इस खर्च में भी मनुष्य के श्रम की आवश्यकता होती है, अतः उसका वेतन भी जोड़ दिया जाता है। किन्तु जब साधारण कुँओं से सिंचाई होती है तो उस हालत में जितने दिनों तक मनुष्य और बैलों से काम लिया जाता है उन दोनों के दाम जोड़ दिये जाते हैं।

खाद—खाद का मूल्य बाजार मूल्य पर लगा लेना सरल रहता है। यदि हरे खाद का व्यवहार किया गया है तो जिस प्रकार अन्य फसलों की पैदावार का खर्च निकाला जाता है वही निकाल कर जोड़ दिया जाता है। खाद के दामों का विवरण निम्न प्रकार से करना चाहिये—

(१) पहिली फसल में, जिसमें कि वह खाद डाला गया है, कुल मूल्य का ५० प्रतिशत भाग लगाना चाहिये।

(२) दूसरी फ़सल में जो उसके बाद बोई जावे उसमें ३० प्रतिशत भाग लगाना चाहिये।

(३) तीसरी फसल में २० प्रतिशत भाग लगाना चाहिये।

लगान—जितना भी दिया जाता है।

अन्य—खेती-बारी के व्यवसाय में अनेक और भी ऐसे खर्च होते हैं, जिनकी गणना उपर्युक्त मदों में नहीं हुई। अतः उन्हें अलग-अलग जोड़ दिया जाता है और उनका पूरा विवरण रखते हैं।

फसलों की पैदावार के बही-खाते का नमूना संक्षेप में इस प्रकार होता है—

किसान का नाम.......... फसल नाम...........

गाँव......... तहसील......... जिला......

खेत का क्षेत्रफल......... खेत की मिट्टी की बनावट व किस्म......

सिंचाई का साधन.........

खसरा नं० .... तारीख.........

१—खेती की क्रियाएं तथा मज़दूरी

विभिन्न क्रियाओं के नाम	कितना समय लगा	श्रम की मात्रा	वेतन	कुल वेतन
जुताई				
पाटा फेरना (भूमि समतल करना)				
बुवाई				
सिंचाई				
निराई-गुड़ाई				
कटाई				
अन्न को अलग करना और उसाना				
कुल योग				

२—अस्थायी मूलधन

वस्तु का नाम	मात्रा	दर	मूल्य	निरूपण
बीज				
खाद				
कुल योग				

३—व्याज

कितना धन उधार लिया	कितने समय के लिये	व्याज की दर	कितना रुपया अदा किया	निरूपण
कुल योग				

४—टूट-फूट तथा मरम्मत

यन्त्र का नाम	आनुमानिक आयु	मूल्य	टूट-फूट की दर (छीजन)	अन्य बातें
		रु० आ० पा०		
बैल				
हल				
जुआ				
चरस				
फावड़ा				
खुरपी				
पाटा या पटेला				
हँसिया				
टोकरी				
अन्य				
कुल योग				

५—सिंचाई

खेत का कुल क्षेत्रफल जिसमें सिंचाई हुई है	प्रति एकड़ सिंचाई की दर	कुल दाम	अन्य बातें
कुल योग			

६—लगान

खेत का क्षेत्रफल	लगान की दर प्रति एकड़	कुल लगान	कितना लगान दिया	अन्य बातें
कुल योग				

७—फसल का विनियोग

खर्च की मदें	कीमत	अन्य बातें
(१) मंडी तक ले जाने का मूल्य (२) चुँगी आदि (३) अन्य खर्च		
कुल योग		

८—फसलों से आय

पदार्थ	मात्रा	दर	कुल दाम	अन्य बातें
फसल				
भूसा या चरी इत्यादि				
कुल योग				

९—हानि और लाभ का विवरण

व्यय		आय	
	रु० आ० पा०		रु० आ० पा०
१. मज़दूरी २. खाद और बीज इत्यादि (अस्थायी मूलधन) ३. व्याज ४. टूट-फूट (छीजन) ५. सिंचाई ६. लगान ७. विनियोग में खर्च ८. कुल लाभ		फसल भूसा या चरी	
कुल योग		कुल योग	

१०—सारांश

व्यय की मदें	खर्च	प्रतिशत	अन्य बातें
१. मज़दूरी			
२. अस्थायी मूलधन (खाद, बीज आदि)			
३. ब्याज			
४. टूट-फूट (छीजन)			
५ सिंचाई			
६. लगान			
७. विनियोग खर्च			
कुल योग			

यहाँ हम उत्तर-प्रदेश के कुछ गाँवों से प्राप्त किसानों की विभिन्न फसलों की पैदावार के खर्चों का विवरण देते हैं—

मक्का—फसल खरीफ

किसान का नाम—हरवंश सिंह जाट ; गाँव–लालड़ा ; तहसील–जानसठ ; जिला–मुजफ्फरनगर

खसरा नं० ७०३ ; खेत का क्षेत्रफल—१.५ एकड़

भूमि की किस्म—दुमट (माँझा)–सिंचाई का साधन—नहर

ता० ५ नवम्बर, १९४५

(अ) खेती की क्रियाएँ—

(१) खेत की जुताई — ४ बार मेस्टन हल से

(२) खाद — १२ गाड़ी घूरे की खाद

(३) बीज की मात्रा — १० सेर प्रति एकड़

(४) निराई — ३ बार

(५) गुड़ाई — १ बार

(६) सिंचाई — २ बार

(७) खेत की रखवाली तथा चिड़ियों को भगाना

(ब) मज़दूरी—

स्थायी श्रम—जिसमें वह और उसके स्त्री-बच्चों का सहयोग रहता है। ये सब मिल कर खेती-बारी करते हैं। इनकी मज़दूरी उसी दर से लगाई गई है जो गाँव में प्रचलित है—अर्थात् जिस दर पर बड़े-बड़े जमींदार स्थायी श्रमिकों को अपने यहाँ काम करने के लिए लगाते हैं। ये प्रचलित दर निम्न प्रकार हैं—

(१) वेतन—१८) प्रति माह ··· २१६) वार्षिक

(२) वस्त्रादि—२ धोती, २ कमीज, १ जोड़ी जूते और एक साफ़ा ··· १८) वार्षिक

(३) गुड़, तम्बाकू, भूसा तथा उत्सवों पर कुछ नकद रुपया ··· १०) वार्षिक

योग २४४)

प्रति दिन का औसत—१२ आने।

अस्थायी श्रम—निराई, गुड़ाई आदि अवसरों पर अस्थायी मज़दूर लगाने पड़ते हैं, उनको १) प्रति दिन दिया जाता है।

बैल—गाँवों में चारे आदि के खिलाने का कोई हिसाब-किताब नहीं रखा जाता है, अतः यहाँ पर उन दरों के हिसाब से खर्च लगाया गया है, जिस दर पर कि प्रायः भाड़े पर बैल मंगाये जाते हैं। यह दर प्रति जोड़ी २) प्रति दिन है।

(स) **बीज**—गाँव में मक्का की दर ८॥) प्रति मन है। बीज किसान का अपना था, अतः यही दर लगाई गई है।

(द) **खाद**—खाद भी किसान का अपना निजी था, अतः यहाँ चुङ्गी की दर के अनुसार कीमत लगाई गई है। चुङ्गी के खाद की दर २) प्रति गाड़ी है।

(ध) **सिंचाई**—नहर की सिंचाई की दर ५) प्रति एकड़ है।

(च) **लगान**—वह ८) प्रति एकड़ लगान देता है।

(छ) **सूद**—उसके कुल यन्त्रों की लागत का अनुमान लगाकर १० प्रतिशत के हिसाब से सूद लगाया गया है।

नोट—खेतों में एक दिन में प्रायः मनुष्य और बैल ८-१० घण्टे तक काम करते हैं; और इतने समय में वे एक एकड़ भूमि को सरलतापूर्वक जोत सकते हैं। जितना काम कि एक व्यक्ति १० दिन में कर सकता है, उतने ही काम को १० व्यक्ति एक दिन में कर सकते हैं। अतः जब कोई किसान एक मज़दूर को दस दिन निराई करने के लिये बुलाता है, तब हम उसका अनुमान उतना ही मानते हैं जितने कि १० व्यक्ति एक दिन में काम करते। इसी प्रकार हल और बैलों के विषय में भी इसी सिद्धान्त का अनुकरण किया है।

निम्न कोष्ठक में फसल पर किये गए व्यय का अनुमान इसी आधार पर दिखाते हैं—

मदें	श्रम	बैल	यन्त्र	मूल्य रू० - आ० - पा०
३ बार जुताई	४ $\frac{1}{2}$	४ $\frac{1}{2}$	४ $\frac{1}{2}$	१२ - ६ - ०
१० गाड़ी खाद	१ $\frac{1}{2}$	१ $\frac{1}{2}$	१ $\frac{1}{2}$	१५ - १० - ०
बुवाई	१ $\frac{1}{2}$	१ $\frac{1}{2}$	१ $\frac{1}{2}$	४ - २ - ०
बीज	—	—	—	४ - ० - ०
सिंचाई	१	—	—	० - १२ - ०
सिंचाई के पानी की कीमत	—	—	—	७ - ८ - ०
३ बार निराई	१८ $\frac{1}{2}$	—	—	१८ - १४ - ०
१ बार गुड़ाई	१ $\frac{1}{2}$	१ $\frac{1}{2}$	१ $\frac{1}{2}$	४ - २ - ०

मदें	श्रम	बैल	यन्त्र	मूल्य रु० - आ० - पा०
चिड़ियों से रखवाली	६०	—	—	४५ - ० - ०
फसल की कटाई	१५	—	—	११ - ४ - ०
लगान	—	—	—	१२ - ० - ०
पूँजीपर १० प्रतिशत की दर से सूद	—	—	—	४ - ८ - ०
कुल योग				१४० - २ - ०
प्रति एकड़ व्यय				९३ - ६ - ०
उपज का विवरण—				मन सेर छटांक
मक्का				१२ - ३० - ०
गिल्लियाँ				१३० - ० - ०
खर-पतवार (हरा चारा)				२ - ० - ०
उपज का मूल्य—				रु० आ० पा०
मक्का				७२ - ४ - ०
गिल्लियाँ				६५ - ० - ०
खर-पतवार (हरा चारा)				१ - ० - ०
कुल योग				१३८ - ४ - ०
प्रति एकड़				९२ - २ - ८
लाभ या हानि				—१ - ३ - ४

मक्का

कृषि-विद्यालय नैनी, इलाहाबाद

खेतों का नम्बर—१६, ६, १२, १६ अप १९ ; क्षेत्रफल १० एकड़

खाता नं०—एल ५३ और ५४--सिंचाई--७·४ एकड़ सिंञा हुआ

खर्च की मदें	श्रम	बैल	यन्त्र		मूल्य
			किस्म	न	रु० आ० पा०
खेतों की जुताई इत्यादि	२८॥	२८	पी एच	२८	५०-६-०
„ बुवाई	१६	७	„	७	१५-१-०
बीज (दो मन बीस सेर)	...	—	—	—	२०-०-०
सिंचाई	४९	११२	—	११२	१६-५-०
पानी का मूल्य	...	—	—	—	४६-०-०
खेत नं० ६ और १६ अप की निराई	१४१	—	—	—	३९-८-०
गुड़ाई (खेत नं० ६ और १२)	५	२॥	कल्टी०	२॥	५-६-०
भुट्टों की तुड़ाई	५०	—	—	—	१३-५-०
खेत की कटाई तथा इसके खेत से लाने का खर्च	१०२	३।४	गाड़ी	१	२९-१५-०
खेत की रखवाली	१५५	—	—	—	४१-१०-०
संरक्षक	—	—	—	—	७५-१४-०
५ प्रतिशत की दर से सूद	—	—	—	—	२-७-०
खेत के लगान का मूल्य	—	—	—	—	९०-०-०
कुल योग	—	—	—	—	४४५-१३-०
प्रति एकड़ व्यय	—	—	—	—	४४-९-३
आय--					
खर-पतवार	—	—	—	—	२-८-०
भुट्टों का मूल्य	—	—	—	—	२९४-२-६
गिल्लियों का मूल्य	—	—	—	—	२८६-११-०
कुल योग					५८३-५-६

गन्ना

किसान का नाम— पं० रामचन्द्र ; गाँव–नगरा ; तहसील–खैर ; जिला–अलीगढ़ ;

खेत का नं०—५०६ खेत का क्षेत्रफल—४ एकड़, भूमि—दुमट

सिंचाई—नहर द्वारा ता० जनवरी २५ सन् १९४६

खर्च की मदें	श्रम	बैल	यन्त्र	खर्च
				रु० आ० पा०
खेत की जुताई (१० बार मेस्टन हल)	४८	४०	४०	११० ० ०
खाद	३६	६	६२	२१२ ० ०
बुवाई	६०	५	५	६५ ० ०
बीज का दाम (१) प्रति मन की दर २४० मन)	—	—	—	२४० ० ०
सिंचाई	४	—	—	४ ० ०
नहर के पानी का मूल्य	—	—	—	४८ ० ०
६ बार निराई	१२०	—	—	१२० ० ०
५ बार गुड़ाई	१००	२०	—	९० ० ०
२ बार मिट्टी चढ़ाना	४०	—	—	४० ० ०
पौधों की बँधाई (१।।) प्रति दिन की दर से)	४०	—	—	६० ० ०
फसल की कटाई	२००	—	—	२०० ० ०
लगान	—	—	—	६० ० ०
यन्त्रों की टूट-फूट तथा पूँजी का सूद	—	—	—	५ ८ ०
विविध खर्च	—	—	—	५० ० ०
कुल खर्च				१३०४ ८ ०
कुल उपज				२५७५ मन गन्ना

इकतालीसवाँ अध्याय

विनिमय

यह तो हम पहिले ही बता चुके हैं कि ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, आर्थिक जीवन का भी विकास होता गया। आज हम अपनी प्रत्येक आवश्यकता की पूर्त्ति स्वयं नहीं कर पाते। उनके लिए हमें दूसरों पर आश्रित रहना पड़ता है। हम अपने श्रम से तैयार की गई वस्तुओं को अथवा सेवाओं को अन्य व्यक्तियों से बदलते हैं। बदले में हम उनकी सेवाओं अथवा उनकी बनाई हुई वस्तुओं को प्राप्त करते हैं। अतः अब प्रत्येक देश तथा समाज के विभिन्न व्यक्ति परस्पर एक दूसरे को भिन्न-भिन्न वस्तुएँ दे-लेकर अपनी आवश्यकताओं को पूर्ण करते हैं। इसी को अर्थशास्त्र में विनिमय कहते हैं।

विनिमय का अर्थ

विनिमय के मुख्य दो भेद होते हैं। एक तो वस्तु-परिवर्तन या अदल-बदल और दूसरा क्रय-विक्रय। जब कोई व्यक्ति अपने श्रम द्वारा बनाई गई वस्तु अथवा सेवा के बदले में अपनी आवश्यकता को पूर्ण करने के लिए अपनी वांछित वस्तु ही प्राप्त करता है, तो इस क्रम को हम वस्तु-परिवर्तन कहते हैं। उदाहरण के लिए एक किसान जब अपने अनाज के बदले में किसी जुलाहे से कपड़ा बदलता है; अथवा पैंठ (हाट) में जाकर वह अनाज के बदले में नमक, तेल और दियासलाई लाता है, तो इस प्रकार के परिवर्तन को हम वस्तु-परिवर्तन या अदल-बदल कहते हैं। किन्तु दूसरी दशा में जब कोई किसान अपनी सेवा या श्रम से तैयार की हुई वस्तु के बदले में द्रव्य अथवा धन प्राप्त करता है और उस धन से फिर अपनी इच्छित वस्तु को खरीदता है, जैसे पैसा देकर कपड़ा, साबुन, तेल अथवा दियासलाई खरीदे तो इसे हम क्रय-विक्रय कहते हैं।

विनिमय के भेद

द्रव्य अथवा धन एक ऐसी सर्वमान्य वस्तु है जिसके बदले में हम सरलता-पूर्वक चाहे जब अपनी वांछित वस्तुओं को प्राप्त कर सकते हैं। जिनके पास

धन है वह अपने उस धन से अपनी आवश्यकता के पदार्थ खरीद लेता है। द्रव्य देकर उसके बदले में कोई वस्तु प्राप्त करना क्रय कहलाता है; किन्तु जब द्रव्य लेकर किसी वस्तु को दिया जाता है तो वह विक्रय माना जाता है।

वस्तु-परिवर्तन

विनिमय के इस भेद में दो ऐसे व्यक्तियों की आवश्यकता होती है, जिनमें से प्रत्येक के पास एक-एक ऐसी वस्तु हो जिसे दूसरा चाहता हो और उस वस्तु के बदले में वे अपनी वस्तु देने के लिए तैयार हों। इसके अतिरिक्त अदला-बदली की प्रथा में कोई वस्तु एक के अधिकार से निकलकर दूसरे के पास पहुँच जाती है, अर्थात् वस्तु-परिवर्तन में अधिकार परिवर्तन भी हो जाता है। अधिकार परिवर्तन में यह आवश्यक नहीं होता कि वस्तु को अपने स्थान से हटाना ही पड़े। जब मकान, दूकान अथवा भूमि की अदला-बदली होती है तो केवल अधिकार परिवर्तन ही होता है, स्थान परिवर्तन नहीं। किन्तु अधिकांश पदार्थों की अदला-बदली में जैसे, शाक, भाजी, साबुन, कपड़ा, चाय, तेल, अन्न इत्यादि में अधिकार परिवर्तन के साथ-साथ स्थान परिवर्तन भी हो जाता है। एक गाँव का किसान पैंठ (हाट) से अन्न के बदले में जब अपनी आवश्यकता की वस्तुएँ लाता है, तो वस्तु-परिवर्तन करने के साथ ही साथ वह उनके स्थान में भी परिवर्तन कर देता है। अर्थात् वह उन्हें वहाँ से अपने गाँव को ले आता है।

वस्तु-परिवर्तन द्वारा जब विनिमय होता है तो उसके लिए यह अनिवार्य है कि दोनों पक्ष यह अनुभव करें कि इसके द्वारा उन्हें लाभ होगा; यह तभी सम्भव हो सकेगा जब दोनों व्यक्तियों को अपने पास की वस्तु से अधिक उपयोगिता दूसरे के पास वाली वस्तु से प्राप्त होती दीख पड़ेगी। दूसरे शब्दों में हम यों कह सकते हैं कि कोई व्यक्ति, अपनी वस्तु को तभी दूसरी वस्तु के लिए देगा जब वह इस बात का भली प्रकार निर्णय कर लेगा कि दूसरी प्राप्त होने वाली वस्तु की सीमान्त उपयोगिता उसकी अपनी वस्तु से अधिक है। इस सिद्धान्त को हम निम्न उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं --

मान लो, सीताराम के पास ६ गायें हैं और कमल सिंह के पास ६ बछड़े। एक गाय के बदले में एक बछड़ा मिलता है। यदि इनकी सीमान्त उपयोगिता

निम्न कोष्ठक में दिखाये हुए अंकों के समान हों तो वस्तु-परिवर्तन निम्न प्रकार से होगा—

गाय और बछड़ों की संख्या	सीताराम के लिए गायों की सीमान्त उपयोगिता	सीताराम के लिए बछड़ों की सीमान्त उपयोगिता	कमल सिंह के लिए बछड़ों की सीमान्त उपयोगिता	कमल सिंह के लिए गायों की सीमान्त उपयोगिता
१	२००	२२०	२४०	२७०
२	१९८	२१०	२३०	२५०
३	१९६	१९०	२२०	२००
४	१९२	१७०	१९२	१४०
५	१८६	१४०	१७०	७०
६	१७६	१००	१२०	४०

मान लो, पहिले सीताराम ने कमल सिंह को एक बछड़े के बदले में एक गाय दी। इस पहिली गाय की उपयोगिता कमल सिंह को २७० होगी, किन्तु सीताराम के लिए वह अन्तिम गाय होगी जिसकी उपयोगिता उसके लिए केवल १७६ है। इसी प्रकार जो बछड़ा कमल सिंह सीताराम को देगा वह भी उसके लिए छठा होगा जिसकी उपयोगिता उसके लिए केवल १२० है। किन्तु वही बछड़ा सीताराम के लिए पहिला होगा जिसकी कि उपयोगिता उसको २२० होगी। अतः इन दोनों में जब परस्पर परिवर्तन होगा तो सीताराम को २२०—१७६=४४ उपयोगिता मिलेगी और कमल सिंह को २७०—१२०=१५० उपयोगिता मिलेगी।

दूसरी बार के परिवर्तन में सीताराम को गाय के बदले में जो दूसरा बछड़ा मिलेगा उसकी उपयोगिता उसे २१० होगी। उसके बदले में जो वह गाय देगा वह उसकी पाँचवें नम्बर की गाय होगी जिसकी उपयोगिता उसे १८६ है। इस प्रकार सीताराम को दुबारा २१०—१८६ = २४ उपयोगिता का लाभ होगा। कमल सिंह को जो दूसरी गाय मिलेगी उसकी उपयोगिता उसे २५० होगी और उसके बदले में जो अपना पाँचवें नम्बर का बछड़ा देगा उसकी उपयोगिता उसके लिए केवल १७० के बराबर है। अतः इस बार के परिवर्तन में उसे २५०—१७० = ८० उपयोगिता प्राप्त होगी।

अब हम तीसरी बार की अदला-बदली के सम्बन्ध में विचार करेंगे। तीसरे सौदे में जो तीसरी गाय कमल सिंह को मिलेगी उसकी उपयोगिता उसको केवल २०० होगी और इसके बदले में जो वह अपना चौथा बछड़ा सीताराम को देगा उसकी उपयोगिता उसे १९२ रहेगी। अतः उसे इस बार के परिवर्तन में २०० – १९२ = ८ उपयोगिता मिल सकेगी। किन्तु ; दूसरी ओर सीताराम को इस सौदे में जो तीसरा बछड़ा मिलेगा उसकी उपयोगिता उसे केवल १९० होगी और उसके बदले में जो वह अपनी चौथी गाय देगा उसकी उपयोगिता १९२ रहेगी। ऐसी अवस्था में वह इस बार वस्तु-परिवर्तन के लिए कभी राज़ी नहीं होगा। यद्यपि कमल सिंह इस सौदे के लिए बड़ा की उत्सुक दीख पड़ेगा। किन्तु उसकी इतनी अधिक उत्सुकता पर भी हानि की सीमा आ जाने के कारण यह सौदा न पट सकेगा।

अतः अब यह स्पष्ट है कि वस्तु-परिवर्तन में निम्न बातों का होना अत्यन्त आवश्यक है।

(१) प्रत्येक सौदे में दो व्यक्तियों का होना।

(२) दोनों व्यक्ति एक दूसरे की वस्तु लेने के लिए तैयार हों।

(३) वस्तु-परिवर्तन में दोनों पक्षों को उपयोगिता का लाभ हो।

(४) अधिकार परिवर्तन का होना और आवश्यकतानुसार स्थान परिव न की भी सम्भावना का होना।

क्रय-विक्रय

साधारणतः वस्तु-परिवर्तन इतना सरल नहीं होता जितना कि बहुत से समझते हैं। इसमें कई असुविधाएँ आती हैं और यह तभी सम्भव हो सकता है जब एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति के पास वाली वस्तुओं की आवश्यकता हो। मान लो, सीताराम अपनी गायें देना चाहता है और बदले में उसे बछड़े लेने की आवश्यकता है तो उसे सबसे अधिक परिश्रम इसी बात के ढूँढ़ने में करना पड़ेगा कि कोई व्यक्ति उसे बछड़ा दे दे और बदले में उससे गाय लेने को तैयार हो जाय। यदि उसे उसकी गायों के बदले में कोई बकरी देने को राजी हो तो इससे उसकी

आवश्यकता पूरी न होगी, अतः वस्तु-परिवर्तन होना भी कठिन हो जायगा। फिर मान लो, यदि उसे कोई ऐसा व्यक्ति मिल भी जावे जो उसे गाय के बदले में अपना बछड़ा दे दे, तो किस अनुपात और मात्रा में यह सौदा तय हो इसके निर्णय करने में एक दूसरी असुविधा और कठिनाई आ उपस्थित होगी। अतः संक्षेप में हम कह सकते हैं कि वस्तु-परिवर्तन में दो मुख्य कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है— प्रथम तो ऐसे व्यक्तियों के तलाश करने में बड़ी कठिनाई होती है जो बदले में किसी व्यक्ति को उसकी आवश्यक वस्तु दे सके, और द्वितीय यदि सौभाग्य से मिल भी जावे तो परिवर्तन करने की दर निश्चित करने की कठिनाई हमारे सम्मुख आवेगी। इन कठिनाइयों को दूर करने के लिए मुद्रा का प्रचलन हुआ जिसमें पैसा देकर सरलतापूर्वक क्रय-विक्रय हो जाता है।

वस्तु-परिवर्तन और क्रय-विक्रय में सबसे बड़ा अन्तर यह है कि प्रत्येक क्रय-विक्रय के अवसर पर एक वस्तु का मुद्रा से ही परिवर्तन होता है। क्रय-विक्रय भी तभी होता है जब एक खरीदने वाला हो और दूसरा बेचने वाला। ग्राहक अथवा खरीददार को दूकानदार या बेचने वाले के माल की आवश्यकता होती है और बेचनेवाले को खरीददार के रुपये की।

विनिमय का महत्व और उससे होने वाले लाभ

यह तो हम ऊपर बता ही आये हैं कि वर्तमान आर्थिक स्थिति विनिमय पर ही अवलम्बित है। ज्यों-ज्यों इस संसार में उत्तरोत्तर उन्नति हो रही है उसी के साथ-साथ विनिमय का महत्त्व भी बढ़ता जा रहा है। यदि पदार्थों का विनिमय न हो तो उनका उत्पादन कार्य ही व्यर्थ हो जाय; वितरण और उपभोग असंभव हो उठें। विनिमय के द्वारा ही राष्ट्र की अतुल सम्पत्ति व शक्ति का पूर्ण उपयोग होता है और इसकी निरन्तर उन्नति होते रहने पर राष्ट्र की उत्पादक शक्ति की वृद्धि और उसका विकास होता है।

यदि विनिमय न हो तो प्रत्येक व्यक्ति को अपनी आवश्यकता की प्रत्येक वस्तु स्वयं ही उत्पन्न करनी पड़े, फिर चाहे वह उस वस्तु को उत्पन्न करने में समर्थ हो अथवा असमर्थ या कुशलतापूर्वक उसको उत्पन्न कर सकेगा या नहीं। इस प्रकार राष्ट्र की विशेष शक्तियों का तथा श्रमिकों की कुशलता का पूरा पूरा उपयोग न होकर वे शक्तियां प्रायः नष्ट हो जावेंगी। यदि विनिमय द्वारा प्रत्येक

राष्ट्र श्रमिकों की कुशलता और शक्तियों के अनुसार वस्तुओं की उत्पत्ति करे और अपनी आवश्यकता के पदार्थ वह विनिमय द्वारा अन्य वस्तुओं से प्राप्त करे तो निश्चय ही उत्पादन में वृद्धि होगी और वहाँ श्रमिकों की कार्य-क्षमता भी अधिक बढ़ जावेगी तथा उस राष्ट्र को अनन्य लाभ होगा।

विनिमय के कारण ही सम्पत्ति का उत्तम प्रकार से उपभोग किया जा सकता है। यदि विनिमय के साधन न होते तो वे पदार्थ उपयोग में आए बिना ही व्यर्थ नष्ट हो जाते। यही कारण है कि आज एक देश विनिमय द्वारा अपने अधिक मात्रा में उत्पन्न होने वाले पदार्थों को दूसरे देशों में भेज देता है और बदले में वहाँ से अपनी आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त कर लेता है। इतना ही नहीं, विनिमय द्वारा आज सभ्यता की भी उन्नति हुई है। जैसा कि हम ऊपर बता आए हैं विनिमय के कारण उत्पत्ति में उन्नति तथा वृद्धि होती है जिसके कारण माल सस्ते मूल्य पर अधिक मात्रा में पैदा किया जा सकता है। फलतः व्यक्ति सस्ते दाम पर उनका अधिक उपयोग करने में समर्थ हो सकते हैं, उनके रहन-सहन का स्तर भी ऊँचा हो जाता है। रहन-सहन का दर्जा बढ़ जाने से मनुष्य फिर और भी अधिक मात्रा में नवीन आविष्कारों और यन्त्रों की सहायता से उत्पत्ति करने लग जाते हैं और अपने माल की खपत बढ़ाने की चेष्टा करते हैं। इस प्रकार मंडी का विस्तार भी बढ़ जाता है।

विनिमय के साधन

विनिमय के निम्नलिखित चार मुख्य साधन माने जाते हैं—(१) मंडी, (२) व्यापारी, (३) संवाद-वाहन तथा आवागमन के साधन, और (४) द्रव्य या धन। इन्हीं के द्वारा विनिमय सुचारु रूप से चलता है और ये ही विनिमय की क्रिया की उन्नति के आधार-स्तम्भ हैं। इनके बिना कार्य चलना कठिन ही नहीं असम्भव भी है।

बयालीसवां अध्याय

मूल्य और उसका निर्णय

इम पिछले अध्याय में बता चुके हैं कि वस्तु-परिवर्तन में एक वस्तु के बदले में दूसरी वस्तु बदली जाती है, अथवा द्रव्य खर्च करके हम किसी वस्तु को खरीद सकते हैं। अतः एक वस्तु के बदले में जिस गुण अथवा शक्ति के कारण हमें जब कोई अन्य वस्तु या वस्तुएँ उपलब्ध हो जाती हैं; या जब किसी वस्तु में अपने बदले में अन्य वस्तुओं के प्राप्त करने की अथवा खरीदने की जो सामर्थ्य और क्षमता होती है, वही उस वस्तु का मूल्य है। दूसरे शब्दों में, विनिमय की शक्ति को ही हम मूल्य कह सकते हैं। उदाहरण के लिये यदि एक गाय के बदले में चार बकरियाँ अथवा एक हल, या पाँच मन गेहूं, अथवा साढ़े सात मन चना मिल सकते हैं, तो यही उस गाय का मूल्य हुआ। दूसरी ओर यदि एक बैल के बेचने पर हमें ४००) रुपये, अथवा चार तोले सोना या ३२० तोला चांदी मिल जाती है तो वही उस बैल का मूल्य हुआ।

मूल्य क्या है ?

आज सारे समाज का आर्थिक-जीवन मूल्य पर केन्द्रित है। वर्तमान अर्थ-शास्त्र और आर्थिक-जीवन का आधार-स्तम्भ भी इसी को माना गया है। चूँकि मूल्य और कीमत के प्रश्न समाज के प्रत्येक व्यक्ति के दैनिक जीवन में भारी कोलाहल और उथल-पुथल पैदा कर देते हैं। मूल्य के घट या बढ़ जाने से अनेक आर्थिक समस्याएँ उठ खड़ी होती हैं। जब भी बाजार में मंदी हो जाती है तो त्राहि-त्राहि मच जाती है और हम भीषण परिवर्तन होते देखते हैं। अतः मूल्य पर ही आज हमारा सारा दारोमदार निर्भर है।

इसका महत्त्व

उपभोग के नियमों में हमने क्रमागत ह्रास नियम का वर्णन किया था। इस सम्बन्ध में हम बता चुके हैं कि जब मनुष्य किसी पदार्थ की अधिकाधिक इकाइयों का उपभोग करता है, तो क्रमशः उसकी आवश्यकता तृप्त होती जाती है और अन्त में वह पूर्ण रूप से सन्तुष्ट हो जाती है। इस सीमा के बाद यदि उस पदार्थ का अधिक उपभोग किया जाय तो वह

मूल्य का निर्णय

पदार्थ हमें अरुचिकर प्रतीत होने लगता है और फिर उससे हानि होने की सम्भावना होने लगती है। इसी प्रकार आवश्यकताओं और उनके लक्षणों का वर्णन करते समय हमने यह बताया था कि भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की रुचि भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है। किसी एक वस्तु की आवश्यकता एक मनुष्य को बहुत अधिक होगी, किन्तु दूसरे को उतनी नहीं। इन दोनों बातों का मूल्य निर्णय में बड़ा प्रभाव पड़ता है।

जब एक व्यक्ति को किसी वस्तु की आवश्यकता अत्यन्त ही तीव्र अथवा व्यापक होगी तो वह उस वस्तु को प्राप्त करने के लिये काफी मूल्य देने को तैयार हो सकेगा और यदि कम हुई तो उसी के अनुसार वह कम देगा। दूसरी ओर जब वस्तु का परिमाण बढ़ जाता है तो आवश्यकता की तीव्रता में क्रमशः कमी होने लगती है। अस्तु; जब किसी वस्तु का परिमाण मंडी में थोड़ी मात्रा में (पूर्त्ति) हो तो वह सबसे पहिले उन्हीं व्यक्तियों के हाथ में जावेगी जो उसके बदले में सबसे अधिक वस्तु या रुपया-पैसा दे सकें। उदाहरण के लिये जब बाजार में गेहूँ या चावल की कमी होती है तो केवल वे ही व्यक्ति उन्हें खरीद पाते हैं जो सबसे अधिक मूल्य उसका दे सकें। छोटे-छोटे गाँवों में प्राय: देखा जाता है कि आलू, चीनी या खरबूजा आदि जब तेज होता है, अथवा सबसे पहिले थोड़ी मात्रा में उस गांव में पहुँचता है तो केवल वे ही सम्पन्न परिवार के किसान उन्हें खरीद पाते हैं जो बदले में अधिक अनाज दे सकें या रुपया दे सकें। और जब उन वस्तुओं का परिमाण बढ़ जाता है तो उनकी कीमत भी घट जाती है। तो वे व्यक्ति जो पहिले ऊँचे दाम होने के कारण नहीं खरीद सकते थे, वे भी उन्हें खरीदने लगते हैं ; तथा जो व्यक्ति पहिले उन्हें खरीद रहे थे वे अब और अधिक मात्रा में खरीद पाते हैं। इस प्रकार यहाँ हम देखते हैं कि जब मंडी में किसी वस्तु की मात्रा (पूर्त्ति) बढ़ जाती है तो उसका मूल्य गिर जाता है (घट जाता है), इसका कारण यह है कि बढ़ी हुई मात्रा के अंश को यदि पहिले वाले खरीददार लेंगे तो उनकी उस आवश्यकता की पूर्त्ति होगी जो पहिले की अपेक्षा कम तीव्र और व्यापक होगी, अतः वे मनुष्य उस वस्तु के लिये अब उतना मूल्य कदापि देने को तैयार न होंगे जितना कि वे पहिले देते थे। नए ग्राहक जिन्होंने कि पहले उस वस्तु को इस कारण नहीं खरीदा था कि वे उसके बदले में उतने परिमाण

में दाम अथवा वस्तु नहीं दे सकते थे, वे अब कम दामों के बदले में ही उसे प्राप्त कर सकेंगे। इस दिशा में बढ़ी हुई पूर्त्ति के कारण बदले में उन्हें अपेक्षाकृत कम ही परिमाण में वस्तुएँ अथवा द्रव्य देना पड़ेगा। पहिले उनकी आवश्यकता की तीव्रता परिमाण में दी जाने वाली वस्तु के आगे नहीं ठहरती थी।

प्रत्येक वस्तु का मूल्य दो बातों पर निर्भर रहता है, एक तो मंडी में उसकी पूर्त्ति अथवा परिमाण तथा दूसरे उसकी मांग पर। यदि मांग अधिक होगी और पूर्त्ति कम तो उस वस्तु का मूल्य सदैव अधिक होगा। इसके विपरीत यदि माँगें कम होगी और पूर्त्ति अधिक तो मूल्य कम होगा। इसी आधार पर मंडी में मूल्य का निर्णय हुआ करता है। किसी वस्तु का मूल्य तभी होता है जब उसकी माँग होती है और साथ ही वह इतने परिमित परिमाण में होती है कि कुल माँग पूर्ण रूप से पूरी नहीं की जा सकती है। माँग प्रायः व्यक्तियों की चाह अथवा इच्छा पर निर्भर रहती है। प्रत्येक व्यक्ति उसे कितने परिमाण में लेना चाहता है, और जो व्यक्ति उस वस्तु को चाहता है उसके बदले में देने के लिये उसके पास अन्य वस्तुएँ कितनी मात्रा में हैं। यदि अधिक व्यक्तियों को किसी पदार्थ की मांग होती है तो मूल्य बढ़ जाता है और उसके लिये इच्छा घट जाती है तो मूल्य भी घट जाता है। यदि बदले में देने के लिये जो वस्तु उसके पास हैं वे उसे इस वस्तु की अपेक्षा कम पसन्द हैं अथवा कम आवश्यक हैं तो वह बदले में उन वस्तुओं को अधिक परिमाण में दे सकेगा।

माँग और पूर्त्ति तथा मूल्य

यदि अन्य पदार्थों की अपेक्षा किसी एक वस्तु का परिमाण बढ़ जाता है तो उसका मूल्य स्वतः घट जाता है। इसकी प्रत्येक इकाई के बदले में अन्य वस्तुओं की इकाई कम मिलेगी। किन्तु यह बात तभी सम्भव है जब कि उस वस्तु के परिमाण के बढ़ने के साथ ही समाज में किसी कारण से उसकी माँग न बढ़े। इसी प्रकार जब किसी वस्तु के अनेक उपयोग निकल आते हैं अथवा जब उसका प्रयोग अधिक व्यक्ति करने लगते हैं (यदि उसकी उत्पत्ति की मात्रा में अधिक वृद्धि न हो) तो वस्तु की माँग बढ़ जाती है और साथ ही उसका मूल्य भी बढ़ जाता है।

किसी वस्तु का मूल्य सदैव एक-सा नहीं बना रहता है। कभी अधिक रहता

है तो कभी कम। मंडी में मूल्य का निर्णय, और सब बातें यथावत् रहने पर, समय की गति के अनुसार ही होता है और उसी के अनुसार बदलता रहता है। अतः समय के अनुसार ही वस्तुओं की उत्पत्ति होती रहती है। यदि बिक्री द्वारा लागत मूल्य से भी कम मूल्य मिलने की जब सम्भावना हो जाती है, तो उस वस्तु का उत्पन्न करना ही बन्द कर दिया जाता है।

समय और मूल्य

समय के अनुसार जो वस्तुओं की कीमत निश्चय होती है, वह निम्न प्रकार से विभक्त की जा सकती है—(१) अल्पकालीन, (२) अति अल्पकालीन, (३) दीर्घकालीन, और (४) अति दीर्घकालीन। नीचे हम संक्षेप में इनका वर्णन करते हैं। जब थोड़े समय में ही मंडी के भावों में परिवर्तन होने लग जाता है तो इस प्रकार के मूल्य परिवर्तन को हम अल्पकालीन कहेंगे। यह प्रायः मांग पर ही निर्भर रहता है। यहाँ समय की कमी के अनुसार माल का परिमाण तो बढ़ाया नहीं जा सकता, अतः जितनी भी मात्रा उस वस्तु की मंडी में रहती है, उतने ही परिमाण में उसकी पूर्त्ति होती है। अब यदि उपभोक्ताओं पर परस्पर स्पर्धा के कारण माँग बढ़ जाती है तो उस वस्तु का मूल्य बढ़ जाता है और इसके विपरीत यदि उपभोग का परिमाण घट जाता है तो भाव गिर जाते हैं। जब कभी खरीददारों की कमी पड़ जाती है तो भाव विवश होकर घटा देने पड़ते हैं। उदाहरण के लिए यदि मंडी में बाजरे के खरीददारों की कमी हो जाय तो भाव एक दम गिर जायगा।

अल्पकाल

अल्पकालीन कीमत बढ़ते समय तो काफी अधिक बढ़ जाती है, जो प्रायः माँग की लोच के ऊपर निर्भर है। अल्पकाल में किसी वस्तु की कीमत की ऊपरी सीमा खरीददार के तत्कालीन धन के अनुपात में होती है। किन्तु अल्पकाल की कीमत की निचली दर अस्थायी व्यय के बराबर होती है। अतः यदि किसी किसान को अपने खाने, बैल के दाने और खेत के बीज आदि के दाम भी मिल जाते हैं तो वह अपना अनाज बेच देता है। यदि उसे स्थायी मूलधन पर होनेवाला व्यय तुरन्त ही नहीं मिलता है तो वह सन्तोष के साथ बैठ जाता है। उसे प्राप्त करने की आशा वह भविष्य के लिए छोड़ देता है। उदाहरणस्वरूप

अति अल्पकाल

यदि उसने किसी फसल को उत्पन्न करने के लिए नये हल और बैल खरीदे तो उनकी कीमत के अनुसार उसे तुरन्त दाम नहीं मिल सकेंगे। अतः अल्पकाल में वस्तुओं का मूल्य स्थायी मूलधन के व्यय के बराबर अवश्य मिल जाना चाहिये। जब किसी वस्तु की पूर्त्ति घटनेवाली होती है तो व्यापारी उसका बेचना कम कर देते हैं। फलतः वस्तु पर दाम बढ़ जावेंगे। परन्तु दाम ऐसे होंगे जिसमें जितनी पूर्त्ति हो वह सब बिक जाय। इसी प्रकार यदि कोई वस्तु ऐसी अधिक मात्रा में आनेवाली हो जिसके कारण कीमत गिरने का डर हो, तो दूकानदार पहिले से ही उस वस्तु को बेच देने का प्रयत्न करेंगे। फलतः वे समय से पहिले ही वस्तु की कीमत गिरा देते हैं। अल्पकाल में पूर्त्ति माँग के बराबर नहीं की जा सकती है।

प्रत्येक वस्तु के लिए अल्पकाल में सम्मिलित दिनों की संख्या भिन्न-भिन्न हुआ करती है। मक्खन, मछली और अंडे बेचने वालों के लिए एक या दो दिन ही अल्पकाल माने जाते हैं। गेहूँ की पूर्त्ति वर्ष से पहिले नहीं घटाई बढ़ाई जा सकती। यदि इस वर्ष माँग अधिक है तो अगले वर्ष किसान अधिक क्षेत्रफल में गेहूँ बोएगा। अल्पकाल में कीमत घटने-बढ़ने से व्यापारी और किसान मालदार भी बन सकते हैं तथा अपनी जमा भी खो सकते हैं।

जिन वस्तुओं की उत्पत्ति में क्रमागत वृद्धि नियम लागू रहता है उनका दीर्घकाल बहुधा कई वर्ष तक चलता रहता है। यदि आज मक्खन, मछली और

दीर्घकाल

अंडों की मांग बाजार में बढ़ जाती है तो उसकी पूर्त्ति अल्पकाल में की जा सकती है। यदि किसी कारणवश मशीन से बनी वस्तु की मांग बढ़ जाय तो उसकी कीमत बहुत दिनों तक बढ़ी रहेगी। धीरे-धीरे अधिक व्यक्ति उस वस्तु को बनाने की दक्षता प्राप्त करेंगे। धीरे-धीरे सरलतापूर्वक तथा अधिक मात्रा में बनाने के लिए मशीनें तैयार की जावेंगी, तत्पश्चात् उस वस्तु की पूर्त्ति बढ़ सकेगी और कीमत घटने की सम्भावना होगी।

उत्पत्ति में प्रायः आन्तरिक तथा वाह्य दो प्रकार की बचत होती है। संगठन या प्रबन्ध के कारण जो बचत होती है, उसे हम आन्तरिक बचत कहते हैं। इसके अन्तर्गत कुशल मजदूरों का रखना, उचित मशीनों का प्रयोग तथा कार्य की

देख-रेख करना सम्मिलित रहता है। और नवीन आविष्कारों के फलस्वरूप नई मशीनों की उत्पत्ति से जो उत्पादन-व्यय घटता है और उत्पत्ति की मात्रा बढ़ती है, उसे हम बाह्य बचत कहते हैं। दीर्घकाल में उत्पत्ति की इस तमाम बाह्य बचत का लाभ हो जाता है।

दीर्घकालीन कीमत में स्थायी तथा अस्थायी उत्पादन व्यय दोनों शामिल रहते हैं। अल्पकाल से वस्तु की कीमत अस्थायी लागत खर्च के बराबर हो भी सकती है, किन्तु उत्पादक को स्थायी खर्च भी करना ही पड़ता है। यदि मूल्य से इतना धन न भी मिल सके कि स्थायी खर्च पूरा हो जाय तो अवश्य घाटा उठाना पड़ेगा और उत्पादन कार्य बन्द कर देना होगा। यही कारण है कि किसी भी वस्तु के लागत खर्च (उत्पादन-व्यय) में दीर्घकालीन स्थायी तथा अस्थायी दोनों प्रकार के खर्च शामिल रहते हैं।

हर प्रकार की उत्पत्ति में कच्चे माल (अस्थायी मूलधन) की आवश्यकता हुआ करती है। इस कच्चे माल का व्यय अर्थात् अस्थायी मूलधन सबका सब लागत खर्च यानी उत्पादन व्यय में जोड़ दिया जाता है। खेती-बारी के व्यवसाय में इस प्रकार का खर्च खाद और बीज के ऊपर करना पड़ता है। इस अस्थायी मूलधन से भूमि, श्रम, पूँजी और व्यवस्था के सहयोग से उत्पत्ति की जाती है। भूमि का लगान, मजदूरों का पारिश्रमिक, पूँजी पर का सूद, प्रबन्धक का वेतन आदि सभी लागत खर्च में जोड़ना आवश्यक होता है। इनके अतिरिक्त लागत खर्च में निम्न मदें भी जोड़ी जाती हैं, जैसे—मशीनों आदि की घिसावट (Depreciation) या ह्रास-मूल्य, मशीनों को चलाने के लिए जिस शक्ति का प्रयोग किया जाता है उसका मूल्य आदि। इन सब मदों को जोड़कर किसी वस्तु का लागत-मूल्य अथवा उत्पादन व्यय मालूम किया जाता है। किन्तु खेती की उपज में आर्थिक लगान को उत्पादन व्यय में सम्मिलित नहीं किया जाता है।

पिछले अध्यायों में हम यह स्पष्ट बता चुके हैं कि प्रत्येक किसान का लागत खर्च अथवा उत्पादन-व्यय भिन्न होता है और यह एक कोने से दूसरे कोने तक तथा एक खेत से दूसरे खेत तक भिन्न-भिन्न रहता है। प्रत्येक किसान अपने खेत में किसी फसल को उसी सीमा तक उगाता है जब उसका सीमान्त

खर्च उस वस्तु की कीमत के बरावर होता है, अन्यथा वह उसका उगाना बन्द कर देता है। प्रत्येक किसान इसी सिद्धान्त के अनुसार उत्पत्ति करता है। इसलिए दीर्घकाल में वस्तु की कीमत प्रत्येक किसान की सीमांत लागत खर्च के बराबर रहती है। जो किसान अधिक कार्यकुशल रहता है, वह अतिरिक्त लाभ प्राप्त कर लेता है। किन्तु जो किसान कार्यकुशल तो हैं, किन्तु किसी विशेष असुविधा के कारण औसत उत्पादन-व्यय, सीमान्त लागत खर्च से अधिक रहता है ; और यदि वे उसे कुछ काल के बाद कम न कर सकें अथवा वस्तु की कीमत में उस अनुपात से वृद्धि न हुई तो उनको उस वस्तु का उगाना बन्द कर देना पड़ता है। इससे पूर्त्ति में कमी पड़ जाती है और कीमत बढ़ने लगती है। इसके विपरीत जब किसानों का औसत उत्पादन-व्यय सीमान्त लागत खर्च से कम रहता है तो वे अधिक पूँजी लगाकर अधिक उत्पत्ति की चेष्टा करते हैं। इससे उस वस्तु की पूर्त्ति दीर्घकाल में बढ़ जाती है और उसकी कीमत कम हो जाती है तथा अन्त में अतिरिक्त लाभ होना भी वन्द हो जाता है। इन दोनों सीमाओं के बीच में कुछ ऐसे भी किसान होते हैं, जिनका कि औसत लागत-खर्च और सीमान्त उत्पादन-व्यय बराबर रहता है। ऐसे ही किसानों के औसत लागत खर्च के बराबर वस्तुओं की कीमत दीर्घकाल में रहती है और अल्पकालीन कीमत इसी दीर्घकालीन कीमत के आस-पास घटती या बढ़ती रहती है।

अति दीर्घकाल में मूल्य पर फैशन आदि बातों का बहुत प्रभाव पड़ता है।

अति-दीर्घकालीन

अति-दीर्घकाल की विशेषता यह रहती है कि उसमें वस्तुओं के उत्पादन के तरीकों में परिवर्तन होने के लिए काफी समय रहता है। विभिन्न आविष्कारों का उपयोग होने के कारण उत्पत्ति में यथेष्ट समय की आवश्यकता रहा करती है। अति-दीर्घकाल में मूल्य अधिकतर केवल उस वस्तु के उत्पादन-व्यय पर ही निर्भर न रहकर उस वस्तु की उत्पत्ति के काम में आनेवाले साधनों के उत्पादन-व्यय पर भी निर्भर रहता है। अस्तु, साधनों के उत्पादन में जो व्यय होता है उसी के अनुसार साधनों की उजरत दी जाती है। इस उजरत को हम वस्तु के उत्पादन-व्यय में सम्मिलित कर लेते हैं। अतः इस प्रकार वस्तु के उत्पादन में काम आनेवाले साधनों के उत्पादन-व्यय का भी मूल्य पर यथेष्ट प्रभाव पड़ा करता है।

तैंतालीसवाँ अध्याय

मंडी

साधारणतः मंडी से हमें उस स्थान का बोध होता है, जहाँ हमें अपनी आवश्यकताओं को पूर्ण करने के पदार्थ उपलब्ध होते हैं। जहाँ पर तरह-तरह की दूकानें होती हैं और भिन्न-भिन्न प्रकार की वस्तुएँ खरीदी व बेची जाती हैं। गाँव का एक चमार अथवा लुहार अपनी बनाई हुई वस्तुओं को या तो गाँव के अन्दर ही बेच देता है अथवा बहुत हुआ तो उसके निकट वाली किसी हाट में उन्हें बेचने के लिये ले जाता है। इसी प्रकार नगरों में जो तरकारी खरीदी जाती है, वह शहर छोड़कर न तो बाहर जाती है और न बाहरवाले तरकारी लेने वहाँ आते हैं। अतः तरकारी का बाजार सीमित हुआ। अर्थशास्त्री इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु की मंडी या बाज़ार अलग मानता है। आज आर्थिक उन्नति के कारण मंडी से अर्थशास्त्र में उन सब स्थानों का समावेश रहता है, जहां एक वस्तु के खरीदनेवालों और बेचनेवालों में परस्पर स्वतंत्र और प्रतियोगितापूर्ण संबन्ध हो। अतः मंडी विनिमय करनेवालों का वह स्थान है, जहाँ विक्रेता और खरीददारों में परस्पर एक दूसरे के साथ क्रय-विक्रय करने में प्रतिस्पर्धा होती रहती है।

अर्थशास्त्र में मंडी का अर्थ

जब से मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की पूर्त्ति के सब पदार्थ स्वयं उत्पन्न न करके केवल कुछ अथवा किसी एक के उत्पन्न करने में ही अपनी कुल शक्ति, योग्यता और धन लगाने लग गया है, तब से उसे अन्य पदार्थों की प्राप्ति के लिए समाज और विभिन्न देशों के अन्यान्य व्यक्तियों पर आश्रित रहना पड़ता है। मंडी का अस्तित्त्व तभी से आरम्भ हुआ है और आर्थिक विकास तथा उत्तरोत्तर उन्नति के साथ ही साथ मंडी की स्थिति में भी उन्नति हुई है। आज बिना मंडी के किसी प्रकार का भी विनिमय असम्भव हो गया है।

मंडी का महत्त्व

किसी मंडी में विनिमय के लिए कुछ आवश्यक बातों अथवा साधनों की

जरूरत पड़ा करती है, जो निम्नलिखित हैं—(१) खरीदने और बेचने वालों के दल का होना, (२) उनमें परस्पर क्रय-विक्रय को लेकर प्रतियोगिता का होना, और (३) किसी एक समय में वस्तु की कीमत का निश्चित अथवा एक होना। यदि सूक्ष्मतः देखा जावे तो आज बाजार में विक्रेता और खरीददार परस्पर बिना रोक-टोक के भाव-ताव करने में स्वतंत्र हैं। विक्रेताओं में आपस में तथा विक्रेता और खरीददारों में पूर्ण प्रतिस्पर्द्धा के भाव मिलते हैं। यही कारण है कि बाजार में वस्तु विशेष की कीमत सर्वत्र एक ही प्रचलित रहती है। जितनी ही अधिक सुव्यवस्थित तथा सुसंगठित कोई मंडी होगी, क्रय-विक्रय करनेवालों में परस्पर स्वतंत्रतापूर्वक प्रतिस्पर्धा की भावना उतनी ही अधिक होगी तथा वहाँ किसी एक समय में वस्तु विशेष की कीमत की गति अधिक समान होने की बनी रहेगी। आज भिन्न-भिन्न मंडियों की कीमत में जो अन्तर हमें दृष्टिगत होता है उसका कारण वहां तक उस वस्तु की ढुलाई के खर्च में अन्तर होने के कारण ही होता है। यह विभिन्नता उसी अंश तक होगी जितने अंश में कि वहाँ तक उस वस्तु के लाने में अन्तर पड़ता है, अन्यथा उस समय उस वस्तु की कीमत सर्वत्र एक ही तथा समान होगी।

मंडी के मुख्य अंग अथवा साधन और उनका प्रभाव

मंडी में स्वतंत्रता के भाव का होना अति आवश्यक है। विक्रेता और खरीदने वाले क्रय-विक्रय करने और कम या अधिक कीमत लगाने के लिए पूर्ण स्वतंत्र रहते हैं। इसके अतिरिक्त वे एक स्थान से दूसरे स्थान तक आ जा सकते हैं और उसमें किसी प्रकार की बाधा अथवा रुकावट नहीं पड़ती। उन्हें मंडी के विभिन्न भागों का, वस्तु के भंडार का, उपभोक्ताओं की रुचि और फैशन का तथा माँग और पूर्त्ति आदि सभी बातों का पूर्ण ज्ञान रहता है। कुशल व्यापारी को इनके अलावा विक्रेताओं और खरीददारों के क्रय-विक्रय की शक्ति तथा भविष्य की आनुमानिक माँग तथा उसकी पूर्त्ति आदि का पूरा-पूरा ज्ञान रहता है।

मंडी के भेद

मंडी के भेद दो तरह से किये जा सकते हैं—एक तो स्थान की दृष्टि से, और दूसरे समय के विचार से। समय के विचार से मंडी के दो विभेद हैं—(१) अल्पकालीन मंडी, और (२) दीर्घकालीन मंडी। बहुत से बाजार थोड़े समय के लिए ही लगते हैं, जैसे पैंठ या हाट,

प्रदर्शनी, मेला और अन्य उत्सवों आदि समयों पर। इन सबसे हमें अल्पकालीन मंडी का बोध होता है। किन्तु अधिकांश मंडी इस श्रेणी की नहीं होतीं। वे तो एक बार स्थापित होकर वर्षों तक निरन्तर चलती रहती हैं, इन्हें हम दीर्घकालीन मंडी कहते हैं।

स्थान की दृष्टि से मंडी के तीन भेद किए जा सकते हैं—स्थानीय मंडी, (२) राष्ट्रीय मंडी, तथा (३) अन्तर्राष्ट्रीय मंडी। स्थानीय मंडी की सीमा अत्यन्त ही सीमित रहती है। जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं, तरकारी का बाजार नगरों तक ही सीमित रहता है, गाँव के चमार और लुहारों का बाजार गाँव और हाटों तक सीमित रहता है। इन सबकी गणना स्थानीय मंडी में होती है। राष्ट्रीय मंडी के अन्तर्गत उस राष्ट्र के वे सम्पूर्ण बाजार आ जाते हैं, जो वहां के गांवों और नगरों तक सीमित रहते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय मंडी का क्षेत्र विस्तृत तथा व्यापक होता है। वह किसी एक देश तक सीमित न रह कर समूचे संसार में व्याप्त मानी जाती है। अर्थात् संसार के सारे देश एक बड़ी मंडी का रूप धारण कर लेते हैं।

मंडी का विस्तार

प्रत्येक वस्तु के बाजार के लिए यह आवश्यक नहीं है कि विक्रेता और खरीददार दोनों परस्पर सम्मुख और आमने-सामने ही रहें। आज यदि हम चाहें तो घर बैठे ही सोना, अनाज या अपनी अन्य कोई आवश्यक वस्तु खरीद सकते हैं। सेठ-साहूकार अथवा सटोरियों (सट्टेबाज) को ही ले लीजिए, टेलीफोन और तार के द्वारा वे लाखों मन का वारा-न्यारा कर लेते हैं। बाजार का विस्तार अनेक बातों पर निर्भर रहता है, जो संक्षेप में निम्नलिखित हैं—

(१) विस्तृत माँग, (२) पूर्त्ति की मात्रा, (३) वहनीयता, (४) टिकाऊपन अथवा क्षयशीलता (५) यातायात की सुविधाओं का होना (६) शीघ्र-बोधित्व (७) सरकार की शक्ति व सुव्यवस्था।

(१) **विस्तृत माँग**—जितने ही अधिक स्थानों से और जितने अधिक व्यक्तियों की अधिक किसी वस्तु के लिए माँग होगी, उस वस्तु की मंडी उतनी ही अधिक विस्तृत होगी।

(२) **पूर्त्ति की मात्रा**—जो वस्तुएँ छोटी मात्रा में उत्पन्न की जाती हैं

उनका उपभोग प्रायः वहीं हो जाया करता है और वे उत्पत्ति-स्थान से बहुत दूर नहीं भेजी जातीं। किन्तु जो वस्तु जितनी ही बड़ी मात्रा में उत्पन्न की जा सकेगी उसकी मंडी स्वाभाविक रूप से ही बड़ी होगी।

(३) **वहनीयता**—जो वस्तु अधिक सुविधा और आसानी से दूर तक ले जाई जा सकती है और जिसका आकार और वजन उसके मूल्य के अनुपात में जितना ही कम होगा उसकी ढुलाई में लाने और ले जाने में उतनी ही कम बाधाएँ आवेंगी तथा किराया कम लगेगा। ऐसी दशा में उस पदार्थ की माँग अधिक होगी और उसका बाजार विस्तृत होगा।

(४) **टिकाऊपन अथवा क्षयशीलता**—बहुत सी ऐसी वस्तुएँ होती हैं जो अधिक दिन तक नहीं ठहर सकतीं और अति शीघ्र ही नष्ट हो जाती हैं, उदाहरण के लिए कच्चा दूध, फल, तरकारी, अंडे, मांस और मछली इत्यादि। इनका बाजार प्राय: अधिक विस्तृत नहीं होता है। अतः जो वस्तु जितनी ही अधिक टिकाऊ होगी और जिसके शीघ्र बिगड़ने, खराब होने अथवा नष्ट होने की संभावना कम होगी, उसका बाजार उतना ही अधिक विस्तृत होगा।

(५) **यातायात की सुविधाओं का होना**—वस्तुओं का बाजार यातायान की सुविधाओं और साधनों पर भी निर्भर रहता है। उत्तम तथा सस्ते साधनों के होने पर छोटी मात्रा की उत्पत्ति होते हुए भी तथा कम टिकाऊ पदार्थ भी दूर-दूर तक भेजे जा सकते हैं। आज रेलों में ठंडे और सुरक्षित स्थानों (cold-storage) में रख कर दूध, मक्खन, घी, अंडा, मांस-मछली, तरकारी और फल-फूल बहुत दूर-दूर तक और सस्ते दामों पर भेजे जा सकते हैं।

(६) **शीघ्र-बोधित्व**—जिस वस्तु का वर्णन जितनी अधिक आसानी से किया जा सकेगा उतनी ही आसानी से और जल्दी खरीददार उसके विषय में समझ सकेंगे तथा उतना ही अधिक विस्तृत उसका बाजार होगा। इसके लिए दूर-दूर तक सूचना करने और विज्ञापन के लिए प्रेस, समाचार-पत्र, बैंङ्क इत्यादि सहायक होते हैं।

(७) **सरकार की शक्ति व सुव्यवस्था**—मंडी के विस्तार तथा देश की सरकार की शक्ति तथा सुव्यवस्था का घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। जिस देश में

लूट-मार आदि का भय रहता है, वहां अन्य देशों के माल पहुँचने में बाधा और कठिनाई होती है।

किस वस्तु की मंडी विस्तृत न होगी

बहुत-सी ऐसी वस्तुएँ होती हैं, जो आकार में बड़ी होती हैं तथा उनका मूल्य कम होता है। बाहर भेजते समय रेल या मोटर आदि में काफ़ी स्थान घेर लेती हैं तथा शीघ्र नष्ट होने वाली भी होती हैं। ऐसी अवस्था में एक तो प्रति इकाई पर व्यय अधिक करना पड़ता है तथा बहुत अधिक सावधानी रखने की आवश्यकता हुआ करती है और तिस पर भी उनके शीघ्र नष्ट होने की अथवा सड़ने की सम्भावना बनी रहती है। कुछ ऐसी वस्तुएँ भी होती हैं, जो केवल थोड़े ही मनुष्यों के लिये उपयोगी होती हैं तथा परिमित मात्रा में उत्पन्न हो जाती हैं। ऐसी अवस्था में इन पदार्थों की माँग अधिक नहीं होती, उनकी खपत बहुधा वहीं हो जाती है। उदाहरण के लिये साधारण ईंट, चूना, पत्थर, बालू आदि। ऐसे पदार्थ या तो प्रत्येक स्थान पर बनाये जा सकते हैं अथवा वहीं उपलब्ध हो जाते हैं। आकार में बड़े और वज़न में भारी होने के कारण इनकी ढुलाई का मूल्य बहुत अधिक बढ़ जाता है, अतः उत्पादन-व्यय भी बढ़ना आवश्यक है, ऐसी दशा में निर्दिष्ट स्थान तक पहुंचते-पहुँचते वे अत्यन्त महंगी हो जाती हैं। यही कारण है कि इनकी मांग अधिक नहीं होती और फलस्वरूप न इनकी मंडी ही विस्तृत होती है। ताज़ा फल, दूध, तरकारी, घी, मक्खन, मांस-मछली और अंडे शीघ्र ही नष्ट होने वाले पदार्थ हैं, तथा इनमें से अधिकांश भारी होते हैं। अतः इन पदार्थों को बाहर भेजने में भी खर्च उत्पादन-व्यय में वृद्धि कर देता है। यही कारण है कि इनकी मांग भी बहुत अधिक विस्तृत नहीं होती। इसके अतिरिक्त बहुत से ऐसे पदार्थ भी होते हैं जो विशेष परिस्थिति और रुचि के अनुसार ही उपयोग में लाये जाते हैं। इनकी माँग तथा मंडी भी सीमित ही रह जाती है। उदाहरण के लिये पान सभी स्थानों में नहीं खाया जाता, या हर देश के मनुष्य एक ही प्रकार के वस्त्र नहीं पहिनते। अतः भिन्न-भिन्न स्वभाव और रुचि के जितने भी पदार्थ होते हैं, उनकी मंडी भी विस्तृत नहीं होती है।

अब विचारणीय प्रश्न यह उठता है कि कौन-से पदार्थों की माँग विस्तृत होगी और वे कहाँ तक बाहर भेजे जा सकते हैं। इस विषय में हम ऊपर बता

ही चुके हैं कि केवल उन्हीं वस्तुओं का विस्तार अधिक होगा जिनमें उपर्युक्त सात गुण पाये जावेंगे। यह तो निश्चय है कि सभी वस्तुओं की मंडी विस्तृत नहीं होगी, फिर भी वर्तमान समय में अधिकांश वस्तुओं की गति विस्तृत होने की है। उदाहरण के लिये आज से लगभग ५० वर्ष पूर्व भारतवर्ष की गेहूं, अलसी, तिलहन, कपास, मूंगफली आदि की फसलें गाँवों में उगाई जाती थीं, जो अधिकांश तो वहीं उपभोग में आ जाती थीं, और शेष निकट की हाटों तथा नगरों में बिकने आ जाती थीं। किन्तु आज वे गाँवों और भारतीय नगरों के अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय मंडियों में भी भेजी जाती हैं।

कौन-सी वस्तुओं की मंडी विस्तृत होती है?

चौवालीसवां अध्याय

भारतवर्ष में पैदावार का विनियोग

खेती-बारी का व्यवसाय बहुधा गाँवों में ही होता है और यह प्रायः बिखरा हुआ तथा पृथक्कर्णीत (Isolated industry) है। अतः इसकी पैदावार के विनियोग में अनेक बाधाएँ और कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं। भारतवर्ष में प्राचीन काल में वस्तुओं के आदान-प्रदान (अदल-बदल) तथा क्रय-विक्रय के लिये विशेष उत्सवों और मेलों का आयोजन होता था। हमारे बहुत से सामाजिक उत्सवों और मेलों की उत्पत्ति इसी सिद्धान्त पर हुई है और उनके अवशेष आज भी विद्यमान हैं। ऐसे अवसरों पर भारतीय जनता वहाँ एकत्रित होती थी तथा वहां पर आवश्यकताओं के ऐसे पदार्थों का विनियोग होता था जो गाँवों में तथा आस-पास में कहीं भी नहीं प्राप्त होते थे। यहाँ यह भी बता देना असंगत न होगा कि ऐसे उत्सव तथा मेले प्रायः नदियों के किनारे वाले स्थानों, तीर्थों, बन्दरगाहों तथा राजधानियों में ही होते थे और ये स्थान आगे चलकर प्राचीन भारत की मुख्य मंडी बन गये। उदाहरण के लिये देहली, मथुरा, आगरा,

भारतवर्ष में विनियोग का विकास क्रम

प्रयाग, काशी, मिर्जापुर, पाटलिपुत्र (पटना), जगन्नाथपुरी, रामेश्वरम्, कलकत्ता, मद्रास, बम्बई आदि। किन्तु ज्यों-ज्यों आर्थिक जीवन का विकास आरम्भ हुआ, मनुष्यों को ऐसे पदार्थों की भी आवश्यकता होने लगी जो गाँव में तो उत्पन्न नहीं होते थे, परन्तु आस-पास के दस-पांच गाँवों में अवश्य मिल जाते थे। ऐसी वस्तुओं को प्राप्त करने के लिये किसी मुख्य स्थान पर 'हाट' अथवा पैंठ जुड़ा करती थी, जहां गांव के किसान आकर उन वस्तुओं को खरीद और बेच सकते थे। इन हाटों में प्रायः इन्हीं गांवों के किसान, कारीगर और शिल्पकार इकट्ठे हुआ करते थे और दैनिक जीवन की आवश्यकताओं का, जैसे नमक, मसाले, दियासलाई, कपड़ा, जूते तथा खेती-बारी के सामानों का विनियोग होता था। इन हाटों में चतुर शिल्पकार अपनी अनेक वस्तुएँ बेंचने लाते थे और ये हाट सप्ताह में एक बार अथवा दो बार लगा करती थी।

अतः आज से लगभग पचास वर्ष पूर्व तक भी भारतीय गाँवों में पदावार के विनियोग की समस्या इतनी जटिल नहीं थी। गाँवों में बहुधा अपनी आवश्यकतानुसार और केवल उन्हीं अनाजों और वस्तुओं की उत्पत्ति होती थी जिनकी कि उनको आवश्यकता होती थी। कुछ साधारण पदार्थ जो गांव में उत्पन्न नहीं होते थे उनकी पूर्त्ति इन अल्पकालीन मंडियों (हाटों) से हो जाया करती थी। अतः उस काल में मनुष्य स्वावलम्बी थे और उनके अतिरिक्त उपज (जो कुछ भी हो जाती थी) के लिये अधिक 'बिचलगुओं (Middlemen) की आवश्यकता नहीं होती थी। किन्तु क्रमशः आर्थिक जीवन का विकास हुआ और विस्तृत तथा विशिष्ट प्रकार की मंडियों की उत्पत्ति और वृद्धि होने लगी। स्वेज की नहर खुल जाने के बाद तो भारत का आर्थिक जीवन एकदम बदल गया। आज किसान अपनी आवश्यकता के पदार्थों के अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय मंडियों के लिये भी फसलों की उत्पत्ति करते हैं। अतः इन अल्पकालीन मंडियों का महत्त्व बहुत कुछ घट गया है। दीर्घकालीन तथा अन्तर्राष्ट्रीय मंडियों में उसका भी विशिष्ट स्थान है। इस प्रकार अब वह स्वावलम्बी न रहकर अधिकांश में परावलम्बी हो गया है। उसके उपभोग के पदार्थ विदेशों से आते हैं (जैसे, छाते, हल, मशीनें, कपड़े, दवाएँ इत्यादि) इसी तरह विदेशी उपभोक्ता भी गेहूं, कपड़ा, नमक, जूट, चाय, कपास, चमड़ा, तिलहन इत्यादि के लिये उस पर आश्रित हैं। ऐसी दशा में इन दूर-दूर के

उपभोक्ताओं को मिलाने के लिये इन बिचलगुओं की श्रृङ्खला में भी आशातीत वृद्धि हो चुकी है। किन्तु अधिकांश भारतीय किसान आज भी उतने भोले-भाले हैं; वे अशिक्षित और निर्धन हैं। उन्हें इनसे सामना करने में बड़ी कठिनाई अनुभव होती है। उसके लिये यह एक प्रकार की भूल-भुलैया है। जिसमें आकर वह बहक जाता है, उसे मार्ग ही नहीं मिलता और अन्त में वह ठग लिया जाता है। भारत में पैदावार के विनियोग की वृद्धि में और मंडियों की स्थापना तथा विस्तार में दो बातों का प्रमुख हाथ रहा। एक तो यातायात के साधनों की उन्नति तथा प्रगति, तथा दूसरे मुद्रा का प्रचलन। स्वेज़ की नहर के बन जाने के उपरान्त भारत भी अन्य देशों, विशेषकर पाश्चात्य देशों के बहुत ही निकट आ गया है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की वह एक प्रमुख मंडी आज से पचास वर्ष पूर्व का भारतवर्ष का एकान्त और पृथकत्त्व टूट गया। यहां से अब अन्य देशों को कच्चा माल भेजा जाता है तथा बाहर से उसके बदले में यहां मशीनों का बना माल आता है। यातायात और संवाद-वाहन के साधनों में उन्नति होने के कारण हमारे आर्थिक-जीवन और पैदावार के विनियोग में जो परिवर्तन हुए हैं उसके विषय में शाही-कृषि-कमीशन के विचार ध्यान देने योग्य हैं। "भारत के वाणिज्य (व्यापार) और उत्पत्ति पर उन्नतिशील यातायात के साधनों का विशेष प्रभाव पड़ा है। इनके कारण भारत की स्वावलम्बिता और पृथक्करण बहुत अंशों में नष्ट हो गई हैं। अन्तर्राष्ट्रीय मंडियों के निकट आ जाने के कारण अब यहां व्यावसायिक फसलों (Money crops or Cash crops) की जैसे, कपास, जूट, तिलहन इत्यादि की उत्पत्ति बढ़ गई है और उनको अब पहिले की अपेक्षा कई गुनी मात्रा में उत्पन्न करता है। आज वह अपने कुटुम्ब की वर्तमान आवश्यकताओं के अतिरिक्त भी उत्पत्ति करने लग गया है, तथा मंडी की मांग ही अब उसकी उत्पत्ति का निर्णय करती है।"

पैदावार के विनियोग, व्यापार, फसलों की अधिक उत्पत्ति तथा व्यावसायिक फसलों के उगाने में मुद्रा के प्रचलन ने भी काफी प्रोत्साहन दिया है। पहिले मजदूरों को पारिश्रमिक, टैक्स, सूद और लगान अनाज के रूप में ही दिया जाता था। किन्तु जब से मुद्रा का प्रचलन हुआ है किसान को अपनी उपज का कुछ भाग लगान, टैक्स, सूद आदि चुकाने के लिए बेचना पड़ता है और व्यावसायिक

फसलों तथा उपज के अतिरिक्त भाग को वह बड़ी मंडियों में अथवा अन्तर्राष्ट्रीय मंडियों में विनिमय के लिये भेज देता है जिसके बदले में उसे धन मिलता है जिससे वह अपनी नाना-प्रकार की आवश्यकताओं को पूर्ण करता है। टैक्स, लगान और सूद चुकाने के लिए अपनी उपज का जो अंश उसे तुरन्त बेचना पड़ता है उसका विनियोग प्रायः अल्पकालीन मंडियों में ही होता है; किन्तु शेष भाग तथा अपनी व्यावसायिक फसलों को वह प्रायः अन्तर्राष्ट्रीय अथवा दीर्घकालीन मंडियों में ही बेचता है। अल्पकालीन मंडियों में तो वह स्वयं आकर अपनी उपज को बेच देता है, किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय या दीर्घकालीन मंडियों के लिए उसे दलाल, आढ़ती, महाजन, साहूकार आदि अनेक बिचलगुओं पर निर्भर रहना पड़ता है। व्यावसायिक कमीशन (Industrial Commission) ने आज से लगभग तीस वर्ष पूर्व इन बिचलगुओं की बढ़ती हुई शृंखला (malicious spiral of middlemen) के विषय में निम्न असन्तोष के विचार प्रगट किए थे—"देहातों की फसलों का जो निर्यात होता है, उनके विनियोग में बहुत से अनावश्यक बिचलगुओं का समावेश रहता है, जो किसानों के अधिकांश लाभ को स्वयं ही हड़प कर जाते हैं।...... किसान प्रायः निर्धन और अशिक्षित होता है और वह अपनी इन फसलों की उत्पत्ति छोटे-छोटे खेतों तथा कम मात्रा में करता है। ऐसी अवस्था में इस थोड़ी-सी उपज को किसी बड़ी मंडी (अथवा अन्तर्राष्ट्रीय मंडी) में ले जाकर स्वयं बेचने में वह अपने को असमर्थ पाता है, जहां पर कि उसे गाँव में प्राप्त दर से अच्छी कीमत मिल सकती है। यह शोचनीय अवस्था मुख्यतः बंगाल, बिहार और उत्तर-प्रदेश के किसानों की ही है।"

उपरोक्त वर्णन से हमें अपनी वास्तविक शोचनीय अवस्था का अनुमान हो जाता है, इस अध्याय में हम किसानों की पैदावार के विनियोग का वर्णन करेंगे। यहां सबसे पहिले अतिरिक्त उपज के विषय में विचार करेंगे।

गाँवों में किसानों की अतिरिक्त उपज का निर्णय

किसानों की इस अतिरिक्त-उपज का निर्णय करने के लिए हमें अनेक बातों का ध्यान रखना पड़ता है। अतिरिक्त-उपज प्रायः निम्न बातों पर निर्भर रहती है।

(१) प्रत्येक किसान की आर्थिक स्थिति, (२) उसके कुल खेतों का क्षेत्रफल, (३) कैसी फसल उगाई गई है,

(४) उसमें से वह कितनी मात्रा बेचने को तैयार है, तथा (५) उसके गाँव की स्थिति तथा वातावरण।

बहुधा यही देखा जाता है कि भारतीय किसान के पास खेती-बारी के साधन अत्यन्त ही परिमित होते हैं। वह अत्यन्त ही छोटे-छोटे तथा अव्यवस्थित और बिखरे हुए खेतों में खेती करता है। उसकी आर्थिक स्थिति अत्यन्त ही शोचनीय रहती है तथा वह एक प्रकार से महाजन, साहूकार या आढ़ती का आर्थिक दास होता है। इस आर्थिक पराधीनता के कारण वह अपनी पैदावार के विनियोग के लिए मुक्त नहीं होता। उसे अधिकतर अपनी फसल को तुरन्त ही उन व्यक्तियों के हाथ बेच देना पड़ता है जिनसे कि उसे खेती के अस्थायी मूलधन के निमित्त कुछ रुपया उधार मिला था अथवा जिनके पास कि उसने अपनी फसल को एक प्रकार से गिरवीं (रेहन) रख दिया जाता है अथवा जिनसे कि उसे जमींदार को लगान देने तथा साहूकार का सूद चुकाने के लिए तुरन्त ही रुपया मिल सकता है।

फसलों की उत्पत्ति करने में दो बातों का विचार करना पड़ता है। एक कृषि-साल (Agricultural Season) में प्रायः दो फसलें खरीफ और रबी की उगाई जाती हैं। कहीं-कहीं सिंचाई की सुविधा होने पर जायद की एक तीसरी फसल भी पैदा कर ली जाती है। खरीफ की फसल में ज्वार, बाजरा, मक्का आदि सस्ते अनाज की ही पैदावार अधिक होती है। थोड़ी मात्रा में कुछ व्यावसायिक फसलें जैसे कपास, मूँगफली, तिल इत्यादि भी उगा ली जाती हैं। इस फसल में से किसान अनाज का अधिकांश भाग अपने खाने के लिये रखने की चेष्टा करता है और प्रायः अपनी व्यावसायिक फसलों को ही बेचता है। अगले पृष्ठ के कोष्ठक में हम उत्तर-प्रदेश के (अनेक गांवों की खोजों में से) एक गाँव के कुछ किसानों के इस फसल में से बेचने वाली फसलों का भाग दिखलाते हैं।

कोष्ठक नं० १

गांव के सम्पन्न किसानों ने खरीफ की फसल में कितनी उत्पत्ति की तथा उसमें से उसने कितने भाग को बाजार में बेचा—

क्रम संख्या	किसान का नाम	फसल का नाम	क्षेत्रफल जिसमें कि खेती की गई		कुल उपज		फसल की मात्रा जो कि बाजार में बेची गई	
			बी०	बि०	मन	सेर	मन	सेर
१.	चिरंजी लाल	मक्का	१६	१०	४४	१०	२८	०
		ज्वार	१५	६	२४	२०	२०	०
		बाजरा तथा उर्द	२५	०	बा०—३०	२०	१५	०
					उर्द— ५	२०	२	२०
		कपास	१०	१०	५	३०	५	३०
२.	सोहन लाल	मक्का	१०	०	२६	०	१५	०
		ज्वार	१२	५	१८	०	६	०
		बाजरा	१५	१०	१९	०	९	०
		कपास	१०	०	५	०	५	०
३.	पन्नालाल	मक्का	१२	८	३०	२०	१५	०
		ज्वार	९	०	१४	०	६	०
		बाजरा	१५	०	२१	०	१४	०
४.	प्रेम सिंह	मक्का	८	०	२०	०	११	०
		बाजरा	१२	१०	१८	०	१०	०
		ज्वार	१०	०	१२	०	६	०
५.	केहरी	मक्का	१५	५	४०	०	२८	०
		ज्वार	९	१०	१२	०	७	०
		बाजरा	१७	०	२०	२०	१२	०
		कपास	५	०	३	१०	३	१०

नोट—(१) ५ बीघा = १ एकड़।

(२) कपास बिनौले निकाल कर बताई गई है।

कोष्ठक नं० २

गांव के कुछ निर्धन किसानों ने खरीफ़ की फसल में कितनी उत्पत्ति की तथा बाज़ार में उसका कितना भाग बेचा इसका विवरण निम्न कोष्ठक के अङ्कों के देखने से विदित हो जावेगा—

क्रम संख्या	किसान का नाम	फसल का नाम	कुल क्षेत्रफल जिसमें कि उसने खेती की		कुल उपज	उपज का भाग जो बाज़ार में बेचा गया
			बीघा	बिस्वा	मनों में	मनों में
१.	पैमा	मक्का	५	१०	१४·५	२·५
		ज्वार	८	०	१२·८	३·०
		बाजरा } उर्द }	३	५	बा० ४·३ उ० १·५	— —
२.	खिच्चू	कपास	५	०	३·०	३·०
		ज्वार	५	५	९·९	२·०
		बाजरा } मूँग }	६	८	बा० ८·६ मूं० ३·०	२·५ २·०
३.	श्रीलाल	मक्का	४	०	१२·०	४·०
		ज्वार	६	५	११·५	३·०
		बाजरा	५	५	८·७	१·५
		कपास	२	५	१·३	१·३
४.	होती	ज्वार } उर्द }	६	०	ज्वा० ९·० उ० २·५	३·० १·०
		बाजरा	४	५	६·९	१·५
		मक्का	५	८	१५·०	६·०
		कपास	२	२०	२·५	२·५
५.	जौहरिया	कपास	३	५	२·७	२·७
		ज्वार	६	०	१०·१	३·५
		बाजरा	४	५	६·९	२·३

यह विवरण उत्तर-प्रदेश के अलीगढ़ ज़िले के किसानों का है। इन दो कोष्ठकों में दो प्रकार के किसानों की उपज का वृत्तान्त है। पहिली कोष्ठक के किसान सम्पन्न हैं, अतः अपनी फसल के अधिकांश भाग को वे बेच देते हैं, वे अपनी उपज में से बहुत थोड़ा भाग अपने खाने-पीने के लिये बेचते हैं। किन्तु दूसरी कोष्ठक में बताए गए किसान अधिकांशतः निर्धन हैं। वे अपनी फसल में से बहुत-सा भाग अपने खाने के लिये रख लेते हैं तथा कपास और दाल आदि फसलों को वे बेच डालते हैं, जिससे वे लगान और सूद चुकाते हैं। जितना अन्न भी वे रोकते हैं उतना भी उनके लिये पर्याप्त नहीं होता है, अतः उन्हें आगे चलकर फिर उधार लेना पड़ता है। जितनी फसल भी वे बचाते हैं उसमें से कुछ भाग तो उनको नाई, धोबी, धीवर, बढ़ई, भंगी आदि को दे देना पड़ता है। शेष भाग को वे महाजन या साहूकार से छिपा कर रखने का भरसक प्रयत्न करते हैं। जब उन्हें अन्न उधार लेना पड़ता है तो वह बहुधा सवाये अथवा ड्यौढ़े दर पर मिलता है। रबी की फसलों के उगाने में किसानों को विशेष सावधानी रखनी पड़ती है तथा इनके उगाने में उसको मूलधन भी अधिक लगाना पड़ता है। ये फसलें खरीफ़ की भाँति सस्ती नहीं होतीं और इनका मूल्य भी उसे उनकी अपेक्षा कहीं अधिक मिलता है। दाम अधिक मिलने के कारण इस फसल की उपज का अधिकांश भाग किसान लोग बेच डालते हैं, तथा अपने तईं वे केवल खेत की बीनन-फटकन (scrapings) या असल फसल का बहुत कम भाग ही रखते हैं। फसल का जो भाग वे अपने लिये बचा कर रखते हैं वह मिहमानों की खातिर-दारी तथा विवाह-शादी के उत्सवों के लिये ही बचाते हैं। खेत के बीनन और फटकन को वे उत्सवों पर काम में लाते हैं; तथा जौ, चना, बेझर (बेर्रा) आदि को वे अपने खाने के काम में लाते हैं। धोबी, नाई, बढ़ई, चमार तथा मज़दूरों को पारिश्रमिक कुछ तो वे अपने खेत के बीनन-फटकन में से तथा शेष इन सस्ते अनाजों में से देते हैं। इसके विपरीत सम्पन्न किसान इस फसल के अनाजों में से गेहूं इत्यादि का अधिकांश भाग तो अपने खाने, उत्सवों और विवाह; श्राद्ध, मुण्डन आदि अवसरों के लिये रख लेते हैं और शेष भाग को वे बेच डालते हैं। इस फसल में तिलहन-सरसों, अलसी आदि भी उगाये जाते हैं, जो व्यावसायिक फसल होने के कारण उनके लिये लगान आदि की व्यवस्था करने में सहायक होती है।

निम्न कोष्ठक में हम इस फसल की उपज के विनियोग वाले भाग दिखलाते हैं—

कोष्ठक नं०—१

मथुरा ज़िले के कुरसण्डा गाँव के एक किसान की उपज का विवरण—

क्रम-संख्या	खेत का क्षेत्रफल	फसल का नाम	कुल उपज	बिक्री
१	१५ बीघा	गेहूं	५० मन	४५ मन
२	४ बीघा	गुरचनी (चना तथा गेहूं)	१४ मन	—
३	८ बीघा	जौ	२७ मन	२२ मन
४	१२ बीघा	बेझर (चना तथा जौ)	३३ मन	२४ मन
५	२ $\frac{1}{2}$ बीघा	गोजई (गेहूं तथा जौ)	६ मन	—
६		खेत की बीनन-फटकन	७ मन	—

१ एग्रीकल्चरल मार्केटिंग—बी० एन० भार्गव की पुस्तक से उद्धृत।

ऊपर दी हुई कोष्ठक को देखने से यही विदित होता है कि किसान ने अपने खाने के लिए केवल वे ही अनाज रखे हैं जो कि सस्ते हैं और अन्य के अधिकांश भाग को उसने विनियोग के लिए दूसरे को दे दिया। इन सब बातों से हमें अपने किसानों की निर्धनता, परिस्थितियों तथा असहायता का दिग्दर्शन होता है। वे प्रायः अशिक्षित होते हैं। उनके खेत छोटे-छोटे तथा अस्त-व्यस्त रहते हैं। ऋण-ग्रस्त होने के कारण अपनी पसीने की कमाई का अधिक लाभ वे स्वयं नहीं उठा पाते वरन् वह भाग प्रायः बिचलगुओं के हाथ लगता है।

ऊपर हमने गांव के किसानों की अतिरिक्त उपज का निर्णय किया है। अब हम उनकी इस अतिरिक्त उपज के विनियोग के विषय में विचार करेंगे। एक

गांव में पैदावार का विनियोग

ऋण-ग्रस्त किसान को वहुधा अपनी फसल को तुरन्त ही बेच देना पड़ता है। उसे अपनी उपज से लाभ होने की तनिक भी छूट नहीं दी जाती है। महाजन या साहूकार जो कि किसान को समय-समय पर उसकी आवश्यकता के अनुसार रुपया उधार देता है,

फसल को उसी को बेच देने के लिए विवश करता है। वह रुपये की अपेक्षा अनाज में ऋण का धन वसूल करना लाभदायक समझता है। अतः फसल के कटते ही वह तकादा करना शुरू कर देता है और अनाज को तुरन्त ही बेच देने के लिए आग्रह करता है। कभी कभी गांव के महाजन से रुपया न मिलकर उसे सीधे आढ़तिये से भी रुपया मिल जाया करता है। ऐसी हालत में फसल आढ़तिया को बेचनी पड़ती है। कुछ किसान व्यापारियों से रुपया उधार लिया करते हैं। ये व्यापारी अपने रुपये पर या तो बहुत कम सूद लेते हैं अथवा बिल्कुल ही नहीं लेते; किन्तु वे इस शर्त पर रुपया देते हैं कि बदले में उसे अनाज ही मिलेगा। इस अवस्था में किसान को अपना माल मंडी की प्रचलित दर से सस्ता देना पड़ता है। जिस दर पर किसान अपनी उपज को व्यापारी के हाथ बेचता है उसमें और मंडी की प्रचलित दर में जो अन्तर रहता है उसमें मूलधन का व्याज तथा मंडी तक माल को ले जाने तक का खर्च जुड़ा रहता है। अतः यदि मंडी में गेहूँ १६) मन की दर से बिक रहा है तो व्यापारी उसे गांव में १५।) मन के हिसाब से लगावेगा। यदि उसने बहुत ही दया दिखाई तो एक आना या दो आना अधिक दे देगा।

इसी प्रकार गांव का महाजन भी ऋण देकर कुछ किसानों को अपने चंगुल में फंसा लेता है। किसान को आवश्यकता पड़ने पर महाजन से ही अधिकतर रुपया मिला करता है। फसल को बोने, जोतने और काटने के लिए अथवा मुंडन, श्राद्ध, दवा-दारू आदि जिसके लिए भी उसे रुपये की आवश्यकता होती है, वह महाजन के पास सहायता के लिए दौड़ आता है। रुपया देते समय महाजन भी अपनी शर्त रखता है। यहाँ भी उसे ऋण अनाज के रूप में ही चुकाना पड़ता है तथा कभी-कभी उसे अधिक तुलाई तथा भाव में भी कमी करनी पड़ती है। अर्थात् तौल में कुछ अधिक देना पड़ता है और सस्ते भाव पर बेचना होता है। इस दशा में भी भाव में जो अन्तर रहता है, उसमें मंडी तक ले जाने का खर्च तथा मूलधन का व्याज सम्मिलित रहता है।

अन्तिम श्रेणी में ऐसे किसान रहते हैं, जो यद्यपि ऋण-ग्रस्त तो नहीं होते, किन्तु उनकी उपज का भाग इतना थोड़ा होता है कि उसे स्वयं बाजार में ले जाकर बेचना लाभदायक नहीं होता अथवा उनके पास मंडी तक माल के ले जाने के लिए बैलगाड़ी आदि साधनों का अभाव रहता है। इस कारण वे अपनी उपज

को या तो गांव के बनिये के हाथ बेच देते हैं अथवा तेली, कुम्हार आदि के हाथ बाजार में भेज देते हैं। ऐसे व्यक्ति जब किसान से माल खरीदते हैं तो अपने मुनाफे के अतिरिक्त मंडी तक ले जाने का खर्च भी जोड़ लेते हैं।

जमींदार और बड़े-बड़े किसान ही गांव में कुछ ऐसे व्यक्ति होते हैं, जिन्हें अपनी फसल के बेचने पर कुछ अधिक लाभ हो जाता है। इनके पास निजी साधन होते हैं और चूंकि वे ऋण-ग्रस्त नहीं होते, अतः इन्हें तुरन्त ही माल बेचने की कोई आवश्यकता नहीं होती। ये लोग अपने घरों में, खत्तियों में अथवा गोदामों में काफी समय तक उपज को'जमा रख सकते हैं और उसी समय बेचते हैं जब कि मंडी में भाव बढ़ जाता है; अन्यथा गांव में ही किसानों को सवाये या ड्यौढ़े दर पर अनाज उठा देते हैं।

यहाँ यह बता देना भी असंगत न होगा कि गाँव में किसानों को मंडी की दर सदा मालूम रहती है। इस बात का उसे कभी अभाव नहीं रहता है। प्रति दिन गाँव का कोई न कोई व्यक्ति मंडी जाता-आता रहता है, अथवा अन्य गांव के आदमी वहाँ होकर निकलते हैं। उन दिनों सभी किसान एक दूसरे से बाजार के भाव-ताव पूछते रहते हैं। इस प्रकार हम यह नहीं कह सकते कि भाव न जानने के कारण उससे कोई सस्ते भाव पर उसका माल खरीद लेगा। किन्तु जब कभी उसे सस्ते भाव में अपनी फसल बेचने को बाध्य होना पड़ता है, तो उसमें उसकी दीनता और असहायता ही प्रधान कारण होते हैं।

गाँव में मंडी की अपेक्षा भाव सदव ही गिरे हुए या सस्ते रहते हैं। जो गांव मंडी से जितनी ही अधिक दूरी पर होगा वहां से मंडी तक माल पहुंचाने में उतना अधिक किराया लगेगा। अतः ऐसे गावों में मंडी की अपेक्षा आजकल आधा सेर प्रति रुपया तक का अन्तर रहता है। औसतन दूर के गांवों में मंडी की अपेक्षा भाव ८ से १० प्रतिशत तक कम होते हैं। यदि मंडी में चने का भाव ९॥) प्रति मन है तो गांव में उसका भाव ८॥≶) प्रति मन होगा। इनके अतिरिक्त किसान को गांव में माल बेचते समय कुछ और भी खर्च करने पड़ते हैं। उदाहरण के लिए गड़वान (गाड़ी हांकने वाला) को सेर दो सेर तक तथा तौला को सेर से डेढ़ सेर तक अनाज देना पड़ता है। आज कल महँगी के कारण यह प्रथा कम होती जा रही है।

मंडी में पैदावार का विनियोग

खेती में भी अन्य व्यवसायों की ही भाँति उत्पादन विस्तृत और दीर्घकालीन मंडियों के लिए किया जाता है। यह तो हम पिछले अध्याय में बता ही चुके हैं कि ऐसी मंडियों में उत्पादक और उपभोक्ताओं को मिलाने के लिए कुछ व्यक्ति-विशेषों की आवश्यकता होती है। इन्हें अर्थशास्त्र में 'बिचलगुआ' या 'दलाल' कहते हैं। ये विनियोग के मुख्य साधक होते हैं और इन्हीं पर क्रय-विक्रय की सफलता निर्भर रहती है।

खेती के व्यवसाय में तो इनका स्थान सर्वोच्च है। खेती-बारी, जैसा कि हम बता आए हैं, अलग-अलग खेतों में होती है, जो छोटे-छोटे तथा अव्यवस्थित होते हैं। ऐसे किसानों के पास उपज को अधिक दिन तक इकट्ठा रखने के साधन नहीं होते और न ये स्वयं ही उपज को उपभोक्ताओं तक पहुँचा सकते हैं। अतः ये सब कठिनाइयां इन बीच के दलालों द्वारा सरलतापूर्वक हल कर दी जाती हैं। ये दलाल इन किसानों के छोटे-छोटे खेतों से उपज को जमा कर के मंडियों में लाते हैं और उन्हें गोदामों में सुरक्षित रखते हैं; तथा मांग के अनुसार उपभोक्ताओं की पूर्ति करते हैं। इस दृष्टिकोण से दलाल का स्थान अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण जचता है; किन्तु लाभ का जो भाग ऐसे दलाल हड़प लेते हैं, वह उनके परिश्रम और योग्यता दोनों से कहीं अधिक मात्रा में होता है। इन दलालों में से कुछ तो वास्तव में उपयोगी सेवाएँ करते हैं, किन्तु अधिकांश जोंक की भाँति ही होते हैं।

उत्पादक और उपभोक्ताओं के बीच में जो दलाल होते हैं, वे क्रमशः निम्न होते हैं। किसानों को अपनी फसल के विनियोग में सबसे पहिले व्योपारी अथवा महाजन से सम्पर्क होता है। ये व्यक्ति सम्पूर्ण उपज के ३० से ३५ प्रतिशत भाग का विनियोग करते हैं। गाँव में इनके अतिरिक्त कुम्हार, तेली और बनिया भी इसमें सहयोग देते हैं और वे कुल मिलाकर लगभग २० से २५ प्रतिशत भाग का विनियोग करते हैं। शेष भाग किसान स्वयं मंडी में लाते हैं। इस प्रकार दो या अधिक से अधिक तीन महीनों के अन्दर ही गांव की कुल उपज का लगभग ७०-८० प्रतिशत भाग मंडी में पहुँच जाया करता है। निकट की मंडियों में इस विक्रय का (अर्थात् ७०-८० प्रतिशत भाग का) लगभग २५ प्रतिशत भाग पहुँचता है और शेष बड़ी मंडियों को सीधे ले जाया जाता है। मंडी में पहुँच कर किसान को निम्न मदों पर खर्च करने पड़ते हैं—(१) चुंगी—नगर के चारों ओर चुँगी

की ओर से महसूल लेने के लिए कर्मचारी होते हैं जो भिन्न-भिन्न वस्तुओं पर अलग-अलग चुँगी लेते हैं। मात्रा के अनुसार चुंगी घटती-बढ़ती रहती है।

कच्चा आढ़ती

चुंगी देकर किसान कच्चे आढ़ती के यहाँ पहुँचता है। आढ़ती या तो स्वयं ही अथवा व्योपारी के द्वारा किसानों को रुपया उधार देता है जिसके फलस्वरूप उसके यहाँ अनाज आता है। ये व्यक्ति वैसे तो अत्यन्त चतुर होते हैं किन्तु 'मिठबोले' होते हैं और बड़ी आवभगत दिखाते हैं। किसान को यह व्यवहार बड़ा भला मालूम होता है। इसके यहाँ गाड़ियों, गधों, ठेलों, ऊँटों आदि के ठहराने की तथा हुक्का और तम्बाकू आदि की उचित व्यवस्था रहती है। इनकी ओर से बहुधा दलाल भी प्रातः ६ बजे से पहिले चुंगियों की ओर भेज दिये जाते हैं, जो किसानों को उनके यहां लाते हैं।

प्रातःकाल के सात या आठ बजे तक कच्चे आढ़ती की दूकान पर पक्के आढ़ती के यहाँ से दलाल आते हैं। जब पांच या छः दलाल इकट्ठे हो जाते हैं तो या तो माल नीलामी बोली द्वारा बेच दिया जाता है अथवा प्रचलित दर से उसका विक्रय हो जाता है। विक्रय से पूर्व गरदा (करदा) धूल इत्यादि का निर्णय कर लिया जाता है। इसका निर्णय करते समय कच्चे आढ़ती सदा पक्के आढ़-तियों का पक्ष लेते हैं। ऐसा करने से उन्हें माल का मूल्य उसी दिन मिल जाता है अन्यथा प्रथानुसार वह तीसरे दिन मिल पाता है। आजकल अधिकांश फसलों में गरदा इत्यादि की मात्रा सरकार की ओर से निश्चित की जाती है।

पक्के आढ़ती

ये इस व्यापार के सर्वोच्च साधक माने जाते हैं। ये लोग ही उपज को एकत्रित करके गोदामों में जमा करते हैं, अन्य देशों को माल भेजने का काम भी इन्हीं का होता है। मांग के अनुसार मंडी की पूर्त्ति तथा भावों को अधिक गिरने या बढ़ने से रोकने का काम भी इन्हीं के द्वारा सम्पन्न होता है। कच्चे आढ़तियों को बाज़ार की प्रगति की सूचना ये ही दिया करते हैं। कच्चे और पक्के आढ़ती में माल को जमा करने का भेद होता है। पक्के आढ़ती अधिक दिन तक माल को एकत्रित करके रखते हैं तथा अन्य देशों को भेजने का काम भी ये ही व्यक्ति करते हैं। कच्चे आढ़ती एक सप्ताह से अधिक अपने यहाँ माल को जमा नहीं होने देते।

दलाल प्रायः कच्चे तथा पक्के आढ़ती और विक्रेता तथा खरीददारों को मिलाने

वाले व्यक्ति होते हैं। इन्हें दूर से ही पहिचान लिया जा सकता है। इनके

दलाल

कन्धे पर एक लाल अंगोछा होता है तथा कान में एक पेन्सिल तथा कमीज़ की जेब में एक डायरी लगी होती है। इन्हें व्यापार का पूरा-पूरा अनुभव रहता है और खरीददारों को ये सच्ची सलाह दिया करते हैं। मंडी में अनुभव के दृष्टिकोण से इनका शानी अन्य कोई नहीं होता। इन्हें विक्रेता तथा खरीददार दोनों से ही पारिश्रमिक मिलता है।

इनके अतिरिक्त मंडी में और भी बहुत से व्यक्ति तथा संस्थाएँ ऐसी होती हैं, जिन्हें किसान अपनी उपज का थोड़ा-थोड़ा अंश देता है। उदाहरण के लिये—तौला, मुनीम, पल्लेदार, भिश्ती, भंगी, भिखारी, गौशाला और रामलीला का कोष इत्यादि।

क्रय-विक्रय का ढंग—प्रातःकाल जब व्यापारी मंडी में पहुँच जाते हैं तो माल को आढ़ती की दूकान के सामने खोल लिया जाता है। इसके बाद विक्रय दो प्रकार से होता है—

(१) दड़ा पर—इसमें ढेरी लगा कर बोली बोल दी जाती है।

(२) नमूना देखकर—इस प्रथा में दलाल आधा सेर से लगाकर डेढ़ सेर तक नमूना ले लेते हैं और उसे खरीददारों को दिखलाते हैं। पसन्द आने पर सौदा तय कर लिया जाता है।

आजकल अधिकांश फसलों पर सरकारी मूल्य-नियन्त्रण होने के कारण ये सब प्रथाएँ लुप्तप्राय हो चली हैं।

आज से कुछ वर्ष पूर्व मंडियों में अनेक दूषित प्रथाएँ प्रचलित थीं। आढ़ती के बाटों में अन्तर रहता था। खरीदते समय नकली बाटों से तौलता था और बेचते समय असली बाटों से अथवा हलके बाटों से। तौला भी एक बार के तौलने में आधा पाव घटा-बढ़ा लेता था। इसी प्रकार अन्य कई ऐसी बातें थीं जिनके कारण भोला किसान लूट लिया जाता था। अब सुधार हो रहा है, किन्तु पूर्ण सुधार हो चुका है, इसमें अभी सन्देह है।

अगले पृष्ठ के कोष्ठक में हम डॉक्टर बलजीत सिंहजी के अनुसार पंजाब और उत्तर प्रदेश की मंडियों में विनियोग के खर्च दिखलाते हैं। यह कोष्ठक ह्विदर एग्रीकल्चर इन इण्डिया से उद्धृत की गई है—

प्रति १००) पर खर्च

मदें	पञ्जाब						उत्तर-प्रदेश						बरेली		
	कोलोनी			अन्य			हापुड़			गाज़ियाबाद					
जो व्यापारी को देनी पड़ती हैं—	रु०	आ०	पा०	रु०	आ०	पा०	रु०	आ०	पा०	रु०	आ०	पा०	रु०	आ०	पा०
ढुलाई —	०	११	८	०	७	९	०	१०	६	०	६	३	०	११	०
करदा और ढालता —	०	०	९	०	६	६	—	—	—	—	—	०	०	१०	०
कमीशन—	०	१५	२	०	०	०	०	७	६	—	—	०	१	०	०
दलाली—	०	१	२	०	१	७	—	—	—	०	२	६	०	२	०
दान—	०	१	०	०	०	९	०	१	०	०	१	०	०	१	९
अन्य—	०	३	०	०	६	८	०	२	६	०	२	६	०	३	९
योग	२	०	९	१	७	३	१	५	६	०	१२	३	२	१२	६
महसूल चुंगी इत्यादि	०	०	६	०	९	७	—	—	—	०	१०	०	३	९	०
जो खरीददार देता है—															
ढुलाई और															
कमीशन आदि	०	१३	१०	१	१०	७	१	१	१०	२	३	०	१	७	६
कुल योग	२	१५	१	३	११	५	२	७	४	३	९	३	७	१३	०

निम्न कोष्टक में हम विनियोग में होने वाले खर्चों को विस्तृत रूप से दिखाते हैं। ये खर्च आगरे की बेलनगंज की मंडी के हैं :—

१००) की लागत पर खर्च

मदें	रुपयों में	अनाज में	विशेष विवरण
	रु० आ० पा०	म० से० छ०	
१ चुँगी	० १४ ०		
२ मंडी का महसूल	—	० १ ०	प्रति गाड़ी
३ तौलाई खर्च	१ ९ ०		एक पैसा प्रति रुपया की दर से
४ कच्चो आढ़ती का कमीशन	० १२ ०		
५ दलाली	० ४ ०		
६ शाहगिर्दी	० ४ ०		
७ पल्लेदारी			
(अ) गाड़ी से उतारने पर	० ५ ०	—	
(ब) अनाज की सफाई	—	० २ ०	
(स) तराजू में भरना	—	० ० ८	
८ करदा या गरदा	—	० २ १२	जहां सफाई हो जाती है वहाँ नहीं दी जाती
९ बारी पकड़ने वाले को		० ० ६	
१० चाकरी	—		
(अ) भंगी	—	० ० ८	
(ब) भिस्ती	—	० ० २	
(स) ब्राह्मण (रसोइया)	—	० ० ८	
(द) चौकीदार	—	० ० ८	
११ धर्मादा			
(अ) धर्मशाला या रामलीला	० १ ०		
(ब) गोशाला	० ० ६		
१२ विविध			
(अ) भिखारी (ब) जानवर (स) अन्य	—	० १ ०	
योग	४ १ ६ २ ५ ०	० ९ ४	दस रुपया प्रति मन की दर से ९ से० ४ छ० का दाम
कुल योग	६ ६ ६		

निम्न कोष्ठक में हम उन खर्चों को दिखलाते हैं जो बाहर के व्यापारियों को यहां देने पड़ते हैं।

प्रति १००) लागत पर खर्च

मदें	खर्च		
	रु०	आ०	पा०
१ ढुलाई, सीना व भरना	०	०	६
२ बोरों के लिए सुतली का दाम	०	०	३
३ मंडी से गोदाम तक ठेला की ढुलाई	०	२	६
४ दड़ा बनवाई	०	१	०
५ फिर से बोरों में भरना, तौलना व सीना	०	१	६
६ सुतली का दाम	०	०	३
२॥ मन के एक बोरे पर खर्चा	०	६	०
तुलाई	०	२	९
बोरे का दाम	०	१०	०
स्टेशन पर का खर्चा	०	६	०
योग	१	२	९
दलाली	०	५	०
तुलाई	०	०	३
गोदाम में रखने का भाड़ा प्रति बोरा	०	०	६
गोशाला	०	१	०
योग	०	६	९
कुल योग	१	१५	६

इसके अतिरिक्त जहाँ से माल आता है और जहाँ को माल जाता है उसका किराया इसमें और जोड़ दिया जावेगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि उपभोक्ता और

उत्पादक के बीच में आजकल दलालों की एक बहुत बड़ी संख्या काम करती है। इनमें से कुछ तो उपयोगी और आवश्यक हैं और शेष जोंक की भाँति किसानों का शोषण करते हैं।

भारतवर्ष में मंडियों के मुख्य दोष निम्नलिखित हैं —

(१) अनावश्यक दलालों की उपस्थिति जो ऊपर के वर्णन से स्पष्ट है।

(२) विविध प्रकार के बाट (तौल—भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न प्रान्तों में तथा एक ही प्रान्त के विविध जिलों में अब भी बाटों में अन्तर रहना प्रचलित है, जिससे कि व्यापारी किसानों से माल लेते समय तौलते हैं, किन्तु मंडी में ७५) के वजन का सेर है।

३. यातायात के उन्नतिशील साधनों का अभाव—गाँवों और मंडियों के बीच की सड़कें बहुतायत टूटी-फूटी रहती हैं। इसके कारण माल के लाने में बहुत सी असुविधाएँ होती हैं। दूसरी ओर जैसा कि ऊपर बता चुके हैं, भारतवर्ष में गाँवों से २-३ महीनों के अन्दर ही ७०-८० प्रतिशत तक उपज मंडियों में आ जाती है। ऐसी अवस्था में इन दिनों में तो सड़कों की अवस्था और भी शोचनीय हो जाती है। इससे एक तो पशुओं को काफी कष्ट उठाना पड़ता है और दूसरी ओर मंडी तक लाने में खर्च भी बहुत पड़ता है, जो निम्न कोष्ठक के अङ्कों को देखने से ही विदित हो जावेगा—

एक	बैलगाड़ी द्वारा	१६	मील तक	ले जाने का भाड़ा	।=)	लगता है
”	”	२५	”	”	॥)	”
”	”	३०	”	”	१)	”
”	”	३२	”	”	१।)	”
”	”	४८	”	”	१॥)	”

इसके अतिरिक्त जानवर और बैलगाड़ी बहुत ही मन्दगति से चलते हैं तथा वे एक बार में अधिक माल भी नहीं ढो सकते जैसा कि अगले पृष्ठ के कोष्ठक को देखने से पता लग जावेगा—

क्रम-संख्या	साधन	अधिक से अधिक दूरी	मात्रा (मनों में)
१	एक बैल वाला ठेला	५–१० मील	१५
२	दो बैलों की गाड़ी	२५–३५ ,,	४०
३	तीन ,, ,,	५०–६० ,,	४०
४	ठेला	४—५ ,,	१०
५	खच्चर या गधा	३—४ ,,	५
६	ऊँट	७—८ ,,	८-९
७	सिकरम	३०–४० ,,	२५-३०
८	भैंसा गाड़ी	३०–४० ,,	२५-३०
९	मोटर लौरी	१००–१५० ,,	१००-१२५

अतः विनियोग में खर्च घटाने के लिये उन्नतिशील साधनों का होना परम आवश्यक है।

४. तौल में बेईमानी—गाँव और मंडी दोनों ही जगह तौला प्रायः बेईमान होते देखे गए हैं। एक बार में वे आधा पाव तक गलत तौल सकते हैं। इसके तराजू में पासंग होता है।

५. गोप्य तरीके—वस्तुओं की दर किसानों के सम्मुख तय नहीं की जाती। यह प्रायः दलाल और आढ़ती हाथों को अगोछे या रूमाल में छिपाकर अंगुलियों के इशारों से निश्चित करते हैं। इसी प्रकार दाम देते समय न तो किसान और व्यापारी को किसी प्रकार की रसीद ही दी जाती है और न उसे पूरा-पूरा खच विवरण ही ठीक रीति से बताया जाता है।

६. अच्छे गोदामों का अभाव—भारतवर्ष की मंडियों में सबसे बड़ी कमी अच्छे गोदामों की है। २–३ माह के अन्दर जितना भी माल गाँव से आता है यदि उसे सुरक्षित रखने के उपयुक्त साधन हों तो एक तो व्यर्थ नष्ट हो जाने वाला अनाज, जिसकी मात्रा कई सहस्र मन तक पहुंच जाती है, बचाया जा सकता है। दूसरे कीमतों के घटने और बढ़ने को रोका जा सकता है। सरकार को चाहिये कि प्रत्येक बड़ी मंडी में सहकारी गोदामों की संख्या में और अधिक वृद्धि करे।

७. वर्गीकरण (Grading)—अभी तक हमारी मंडियों में वस्तुओं के वर्गीकरण की उचित व्यवस्था नहीं है। जिन वस्तुओं का भी वर्गीकरण हुआ है वह भी अधिक सन्तोषजनक नहीं हैं। अनेक पदार्थों में गन्दी वस्तुओं का मिश्रण कर दिया जाता है और वे दूषित कर दी जाती हैं। सरकार ने इसे रोकने के लिए "आगमार्का" की योजना तैयार की है, जिसका वर्णन संक्षेप में निम्न प्रकार है।

"आगमार्का"

वस्तुओं में शुद्धता, शुचिता और उचित श्रेणी बनाए रखने के लिए सन् १९३७ में एक एक्ट पास हुआ जिसे हम "ग्रेडिंग और मार्किंग एक्ट" कहते हैं। इस नियम के अनुसार कुछ वस्तुओं का वर्गीकरण कर दिया गया और प्रत्येक पदार्थ में एक निश्चित सीमा तक शुचिता का माप बना दिया गया था। आगमार्का योजना में निम्न खाद्यपदार्थ सम्मिलित किए गए हैं—फल, तरकारी, अंडा, घी, दूध व मक्खन, तम्बाकू, कहवा, अचार-मुरब्बे, आटा, तेल, वनस्पति घी, चावल, गेहूं, गन्ना, गुड़ इत्यादि तथा चमड़ा, हड्डी, लाख, सन आदि अखाद्य पदार्थ। इन पदार्थों की परीक्षा करने के बाद इन पर अंग्रेजी में 'AG MARK' (आगमार्क) की मुहर लगा दी जाती है। परीक्षा करने के बाद ये वस्तुएँ टिन के डिब्बों में या बंडलों में बन्द कर दी जाती हैं। मुहर लगाने के बाद एक कृषि-मार्केटिंग सलाहकार का प्रमाण पत्र भी दिया जाता है। सन् १९४२ तक इसके लिए देश में ७३६ केन्द्र थे, जिनमें लगभग २४१ लाख रुपयों के माल की भिन्न-भिन्न श्रेणियों की परीक्षा की गई थी। इन पदार्थों को उचित रूप से इकट्ठा किया जाता है और परीक्षा करने के बाद उनकी शुचिता के अनुसार भिन्न-भिन्न श्रेणियों में विभाजित कर दिया जाता है। कानपुर की प्रयोगशाला में सन् १९४१ में लगभग ६००० से ऊपर घी तथा ३०० तेल के नमूनों की परीक्षा की गई थी।

पैंतालीसवाँ अध्याय

मुद्रा

साधारण शब्दों में मुद्रा का अर्थ चिह्न है। बहुत से व्यक्ति मुद्रा का अर्थ हर प्रकार के सिक्कों तथा कागज के नोटों से लगाते हैं, किन्तु क्या वास्तव में ये सब मुद्रा के अन्तर्गत माने जाते हैं? इस प्रश्न का उत्तर देने से पहिले हम एक प्रश्न करते हैं। यदि आपके पास एक हजार रुपये का नोट हो तो उसे बाजार में ले जाकर देखिये, न तो आपको उसके बदले में वांछित वस्तु ही मिल सकेगी, न उसके कोई दस रुपये के सौ नोट देगा और न डाकखाने वाले तथा बैंक वाले उसे आपके नाम में जमा करेंगे। इसी प्रकार यदि आपके पास विक्टोरिया के चिह्न का रुपया है तो उसके बदले में भी आपको कोई वस्तु नहीं मिल सकेगी। यद्यपि उन रुपयों में प्रचलित रुपयों की अपेक्षा चांदी की मात्रा अधिक है, फिर भी आपसे उसे कोई नहीं लेता और न बदले में कोई वस्तु ही देने को तैयार होता है। ऐसा क्यों होता है? यदि आप ध्यानपूर्वक विचार करें तो आप स्वयं ही इसका उत्तर दे सकेंगे। इनका प्रचार कानूनन बन्द हो चुका है। सरकार ने इनको लेना बन्द कर दिया है और एक निश्चित समय तक ये सब वापिस बैंकों अथवा डाकखानों में जमा करने के लिए मांग लिये गये थे। जिन्होंने ऐसा नहीं किया वे हानि में रहे। अतः उस तारीख के बाद उनका कोई मूल्य नहीं रहा। अतः मुद्रा का अर्थ उन सिक्कों (अथवा नोटों) से लगाया जाता है जिनका कि राजकीय नियमों द्वारा प्रचलन मान्य है। जिसके बदले में हम अपनी आवश्यकता के पदार्थों को खरीद सकते हैं। जिसे शासन की आज्ञा (राजाज्ञा) द्वारा वैध माना गया है और कर्ज चुकाने, बैंकों में जमा करने तथा क्रय-विक्रय के लिए प्रत्येक को स्वीकार करना पड़ेगा। यही कारण है कि अर्थशास्त्र में मुद्रा का अर्थ राजाज्ञा द्वारा वैध सिक्कों से ही लिया जाता है। किन्तु राजाज्ञा द्वारा मान्य होने पर भी कभी-कभी जनता किसी सिक्के को स्वीकार नहीं करती है। उदाहरण के लिए अमेरिका की संघ-सरकार (फेडरल

मुद्रा का अर्थ

गवर्नमेन्ट) ने ग्रीनबैक्स नामक नोटों का प्रचलन किया था, जिसको केलीफोर्निया वालों ने जन-क्रान्ति (अमेरिकन सिविल वार) के अवसर पर स्वीकार करना बन्द कर दिया। शेष अमेरिका के प्रान्तों में तो उनका प्रचलन क्रम जारी रहा। तो, यद्यपि सरकार द्वारा वे नोट मान्य थे, किन्तु फिर भी वे कुछ लोगों द्वारा स्वीकार नहीं किए जाते थे। अतः किसी सिक्के को मुद्रा तभी कहा जायगा जब उसमें दो मुख्य लक्षण पाये जांय। (१) वह सिक्का राज्य द्वारा स्वीकृत तथा वैध हो, तथा (२) प्रजा उसे स्वीकार करने के लिये तैयार हो। इन बातों के आधार पर हम कह सकते हैं कि भारत सरकार अथवा रिजर्व बैङ्क द्वारा चलाए गये कागज के नोट भी सिक्के हैं, चूँकि प्रजा उन्हें सिक्के के रूप में स्वीकार करती है। वेतन देने, कर्ज चुकाने, क्रय-विक्रय आदि सभी बातों में उसका प्रचलन होता है। चांदी के रुपये, तांबे के पैसे भी सिक्के हैं, चूँकि इनके बदले में हम अपनी आवश्यकता के पदार्थ खरीद सकते हैं। किन्तु इसके विपरीत चेक (Cheque) को हम सिक्का नहीं मान सकते, चूंकि इसे लेकर यदि हम बाजार जायँ तो हमें बदले में कोई भी वस्तु प्राप्त न होगी। साधारण चांदी या सोने के टुकड़े, यद्यपि मूल्यवान हैं और उन्हीं से सिक्के बनते हैं, तो भी मुद्रा के अन्तर्गत नहीं आते। किन्तु जब वे टुकड़े ठीक तौल के हों और प्रमाण स्वरूप उन पर कोई चिह्न बना दिया जाय, तो इस प्रकार उस सिक्के को हम मुद्रा मानेंगे।

अदल-बदल की व्यवस्था से असुविधा और मुद्रा या सिक्के की आवश्यकता

एक क्षण के लिये हम यह कल्पना करें कि एक ऐसा समाज है जिसमें सिक्का है ही नहीं; और फिर अपने मन में इस बात का विचार करें कि बिना सिक्के के उस समाज में दैनिक क्रय-विक्रय और लेन-देन का व्यवहार कैसे चलेगा। मान लीजिये, ऐसे समाज में एक व्यक्ति के पास कुछ अन्न है और कुछ पुस्तकें भी हैं। उसके दूसरे पड़ोसी के पास कुछ कपास है और कुछ भूसा भी है। एक तीसरे व्यक्ति के पास कुछ घी और कुछ तेल है। अब ये तीनों व्यक्ति प्रातःकाल उठ कर कुछ शाक-भाजी और दूध खरीदने के लिये निकलते हैं और दूध और तरकारी बेचने वालों के पास पहुँचते हैं। दूधवाल से एक ने कहा कि मेरे पास कुछ पुस्तकें हैं, उन्हें तुम ले लो और बदले में मुझे दूध दे दो। इसी तरह तरकारी बेचने वाले से इसने

कहा कि कुछ तरकारी दे दो और बदले में मुझसे कुछ अन्न ले लो। परन्तु तरकारी और दूध बेचने वाले दोनों व्यक्तियों में से किसी को न पुस्तकें चाहिये और न अन्न ही। इसलिये या तो वे अन्न और पुस्तकों के बदले तरकारी और दूध देने को तैयार न होंगे, अथवा इनके बदले में वे इतने अधिक परिमाण में अन्न और पुस्तकें मांगेंगे कि शायद वे व्यक्ति बिना दूध और तरकारी के रहना पसन्द करेंगे। फल यह होगा कि वे बिना तरकारी और दूध के ही घर वापिस लौट आवेंगे।

दूसरे पड़ोसी के पास कुछ कपास और भूसा है। दूध बेचने वाले को भूसे की आवश्यकता है। अतः भूसे के बदले दूध देने को तो वह तैयार हो जावेगा, किन्तु कपास को न लेगा। फलतः उस पड़ोसी के पास कपास ज्यों की त्यों पड़ी रह जावेगी।

अब ये तीनों व्यक्ति कुछ मसाला लेने निकलते हैं। मसाले वाले को कुछ पुस्तकों की आवश्यकता है, वह उनको पुड़िया बनाने के काम में लेगा। इसलिए पहिले व्यक्ति की पुस्तकें लेकर वह बदले में उसे मसाला दे देता है। पर उसे अन्न नहीं चाहिये, अतः वह उसके पास ज्यों का त्यों शेष बच रहता है। अन्य व्यक्तियों की किसी भी वस्तु की उसे आवश्यकता नहीं है, अतः घी, तेल, कपास और भूसा भी वह लेने से इनकार कर देता है, जिन्हें लेकर वे वापिस घर आ जाते हैं।

अब प्रथम व्यक्ति को दूध, तरकारी और मसाले में से केवल मसाला मिला। इनके पड़ोसियों को भी तीन चीजें लेनी थीं। उनमें से केवल एक को दूध मिला। अब ये तीनों इसी खोज में हैं कि जो वस्तुएँ इनके पास हैं उनकी चाह वाला कोई दूध, तरकारी और मसालेवाला मिले जो इन लोगों को इनकी इच्छित वस्तुएँ दे दें। जब तक परस्पर की इस अदला-बदली की चाह वाले व्यक्ति नहीं मिलते तब तक इन्हें अपनी आवश्यक वस्तुओं के बिना ही निर्वाह करना पड़ेगा। इन लोगों के पास जो चीजें हैं उनकी अवश्य किसी न किसी को चाह है। इसी प्रकार जिनके पास दूध, तरकारी और मसाला है उन्हें भी इन वस्तुओं के बदले में दूसरी वस्तुएं लेनी हैं। किन्तु जब तक परस्पर की अदला-बदली वाले ये मनुष्य नहीं मिल पाते तब तक सभी को अपनी इष्ट वस्तुओं की प्राप्ति के लिये बैठा रहना पड़ेगा।

जिसमें किसी को कोई चीज़ चाहिये और किसी के पास कोई वस्तु आवश्यकता से अधिक है, जिसके लिये वह ग्राहक ढूंढ़ रहा है। ये व्यक्ति आपस में अदला-बदली के लिये सुबह से शाम तक ग्राहकों को ढूंढ़ते-ढूंढ़ते थक जावेंगे फिर भी कदाचित् उनका सौदा समाप्त न हो पावेगा। अतः इस प्रकार से समाज का कितना समय नष्ट होगा, कितनी अव्यवस्था होगी, भोले आदमियों की कितनी ठगाई होगी, इन सबकी कल्पना सहज ही में की जा सकती है।

सिक्के की समाज में कितनी आवश्यकता है, इसके बिना कितनी असुविधा हो सकती है, इसका उत्तर तो पाठकों को उपयुक्त काल्पनिक उदाहरण से समझ में आ गया होगा। बिना सिक्के के समाज में अराजकता छाई रहती है, नित्य-प्रति झगड़ा, तकरार, ठगी के साथ-साथ समाज में सदा अदला-बदली के कारण वस्तु की जाति बिगड़ने, तौल-जोख में उनके बरबाद होने, समय की बरबादी, चीजों की बरबादी और क्रय-विक्रय में कठिनाई होगी। बिना सिक्के के समाज में लेन-देन के राज्य में इस प्रकार के अंधेर होने अनिवार्य हैं। संक्षेप में सिक्के से मुख्य लाभ निम्नलिखित होते हैं—

सिक्के से लाभ

(१) वस्तुओं के आदान-प्रदान तथा क्रय-विक्रय को सरल बना देता है। उपर्युक्त उदाहरणों द्वारा इसको हम स्पष्ट कर चुके हैं और यह भी बता चुके हैं कि बिना सिक्के के समाज में वस्तुओं के आदान-प्रदान में कितनी कठिनाइयाँ तथा अराजकता बनी रहती है।

(२) इनके अतिरिक्त यह बता देना भी आवश्यक है कि अदला-बदली में परिमाण की मात्रा का अनुपात सरलता से निश्चय नहीं किया जा सकता। यदि हो भी जावे तो बहुत-सी वस्तुओं को बाँटना ही असम्भव हो जाय। उदाहरण के लिये दो गाय के बदले में पाँच बकरी मिलती है, किन्तु किसान के पास केवल एक ही गाय है, तब क्या तीसरी बकरी के दो टुकड़े करके बांटा जावेगा? यह एक कठिन समस्या है जो मुद्रा के प्रचलन से हल हो जाती है। मुद्रा की सहायता से वस्तुएँ कीमत के अनुसार खरीदी तथा बेची जाती हैं, अतः उपर्युक्त सभी बाधाएँ इसके प्रचलन से दूर हो जाती हैं। यदि दो गायों की कीमत ५०) और पाँच बकरियों का मूल्य १२५) है तो ऐसी दशा में एक गाय के बदले में हम सरलतापूर्वक क्रय-विक्रय कर सकेंगे।

(३) संचित कर रखने का गुण होना—सिक्के से होने वाला तीसरा लाभ यह है कि हम अपनी भविष्य की आवश्यकताओं के निमित्त इसको संचित करके रख सकते हैं। सिक्के की अनुपस्थिति में यह सब असम्भव है। इसका कारण यह है कि बहुत-सी वस्तुएँ तो अल्पकाल ही में नष्ट हो जाती हैं, और दूसरे मनुष्य को भविष्य की मांग निश्चय करने में कठिनाई होती है। सम्भव है आगे चलकर कपास का मूल्य इतना न रहे जितना आज है, तो कपास को जमा करके रखना उसके लिये लाभदायक न होगा। इसके विपरीत सिक्के में यह गुण विद्यमान रहता है और इसे काफ़ी समय तक संचित करके रखा जा सकता है। फिर आवश्यकता के समय यह आसानी से उपलब्ध हो जाता है। अर्थशास्त्री मुद्रा में इन्हीं गुणों पर विशेष जोर देते हैं।

(४) विलम्बित रुक्कों का धन मिल सकता है। जब एक साहूकार किसी को कर्ज देता है तो सौदा सिक्कों (धन) के अर्थ में किया जाता है—अर्थात् भविष्य में व्याज लगा कर इतना रुपया मिलेगा। यह इसीलिये होता है चूँकि वह जानता है कि सिक्का का मूल्य स्थिर रहता है।

अब प्रश्न यह उठता है कि सिक्का सरकार ने ही क्यों चलाया? इन अदला-बदली करने वालों अथवा व्यापारियों ने ही इसे क्यों नहीं चला लिया? इन प्रश्नों का उत्तर देना कठिन नहीं है। यदि लोग जिन्सों की अदला-बदली छोड़ कर सिक्के से ही प्रत्येक वस्तु का परिवर्तन करें, जैसा कि आजकल होता है, तो इसके लिये यह आवश्यक है कि उस मुद्रा या सिक्के की साख ज़बर्दस्त हो। उसको लेने तथा ग्राह्य करने में किसी को तनिक भी सन्देह की गुञ्जाइश न रहे। वस्तु-परिवर्तन में प्रायः जो असन्तोष और वाद-विवाद माप-तौल, निरख-परख आदि में होता है वैसी कठिनाइयाँ सिक्के की माप-तौल और निरख-परख के सम्बन्ध में न रहे—अर्थात् सिक्कों में जो धातु है उसकी जाति और तौल सदा एक-सी बनी रहे। इस निश्चितता के होने पर ही सिक्के की धाक व साख जम सकती है। यदि सिक्के के सम्बन्ध में भी उपर्युक्त कठिनाइयाँ और बाधाएँ बनी रहें तो सिक्का होने पर भी उसी प्रकार अराजकता फैल सकती है, जो जिन्सों की अदल-बदल में होती है। ऐसी अवस्था में सिक्का भी निकम्मा सिद्ध होगा।

सिक्का सरकार ने ही क्यों चलाया

मुद्रा का आविर्भाव करते समय उसकी कीमत इन्हीं बातों के आधार पर की गई। अर्थात् इसमें कौन सी और कितनी अच्छाई की धातु हो। धातु की कीमत और उपयोगिता पर ही सिक्के की साख होती है। मान लो, सुवर्ण-मुद्रा में एक तोला सोना १०० उपयोगिता का है, तो उस मुद्रा की कीमत एक मुद्रा= १०० उपयोगिता का सोना। जब एक किसान एक भैंस एक सुवर्ण मुद्रा में बेचता है तो उसे यह विश्वास रहता है कि उसे १०० उपयोगिता का सोना मिल रहा है। कहने का तात्पर्य यह है उस मुद्रा की साख इस बात पर थी कि निश्चय रूप से उसमें एक तोला सोना है और उस मुद्रा की उपयोगिता १०० है। भैंस बेचने वाले किसान को इन दोनों बातों के सम्बन्ध में तनिक भी सन्देह नहीं होना चाहिये कि मुद्रा में सोना एक तोले से भी कम है अथवा उसकी उपयोगिता १०० की बजाय ८० है। किन्तु इस बात का निर्णय कैसे हो?

उत्तर सीधा और सरल है। जब तक मुद्रा की उपयोगिता और तौल के विषय में कोई वैध नियम अथवा कोई ज़ोरदार व्यक्ति जामिन (surety) नहीं होता तब तक जनता के हृदय में उसे मानने अथवा स्वीकार करने में सन्देह रहेगा। यही कारण है कि राजा को इस काम को स्वयं अपने शासन के अन्तर्गत लेना पड़ा।

प्रजा या कोई व्यक्ति विशेष मुद्रा प्रचलन करे और लोभवश वह उसमें से सोने की मात्रा कम कर दे तो अन्य लोगों का दिवाला निकल जाय तथा वे सब चौपट हो जायं और वह स्वयं उनकी अटूट श्रद्धा से लाभ उठा कर मालोमाल हो जाय। इस प्रकार अविश्वास, धोखेबाजी, तौल और उपयोगिता में अटूट श्रद्धा बनाये रखने तथा हर प्रकार की हानि का आश्वासन केवल राजा अथवा सरकार स्वयं ही दे सकती है।

मुद्रा के भेद

मुद्रा का अर्थ तथा उसकी आवश्यकता जान लेने के बाद अब हम मुद्रा के भेद के विषय में विचार करेंगे। हम अधिकांश देशों में सोने-चाँदी के सिक्के प्रचलित देखते हैं। सिक्के तो किसी जिन्स के भी कायम किए जा सकते थे। उदाहरण के लिए एक सेर अनाजों के भी तो सिक्के हो सकते थे। किन्तु ध्यानपूर्वक सोचा जाय

प्राचीन काल में मुद्रा या नोट

तो विदित होगा कि इसमें कितनी भारी अड़चनें पड़तीं। एक सेर अनाज का सिक्का चलाने के लिये हमें एक सेर के अलग-अलग थैले बनाने पड़ेंगे जिसमें काफी समय और दूसरी वस्तु का प्रयोग करना होगा। इतना ही नहीं, कुछ समय बाद अनाज और थैले दोनों ही बेकाम होकर फट जावेंगे और थैले के फट जाने पर समस्त अनाज भूमि पर बिखर जावेंगे। अतः लोग केवल नये थैलों में अच्छे अनाज को तो स्वीकार कर लेंगे, किन्तु पुराने थैलों में नहीं। इस प्रकार नये और पुराने सिक्कों में अन्तर आ जावेगा और पुराने सिक्के में बट्टा लगने लगेगा—अर्थात् उसकी कीमत नये की अपेक्षा कम होगी और उसकी उपयोगिता में ह्रास होना शुरू हो जावेगा। इसके अतिरिक्त ऐसे सिक्कों की एक दूसरी असुविधा वजनी होने की भी है। ऐसे सौ-पचास सिक्कों का एक साथ लेना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य हो जावेगा, रखने के लिये भी पर्याप्त स्थान की आवश्यकता होगी।

प्राचीन काल में धन का माप और क्रय-विक्रय पशुओं और अनाजों से होता था। भारतवर्ष में 'पंचगु' 'पंचाखा' का उल्लेख मिलता है। इङ्गलैण्ड में भी होमर कवि ने वस्तुओं की कीमत सदा बैलों की संख्या में बतलाई। अंग्रेजी में पीकुनीयरी (Pecuniary) शब्द का व्यवहार 'आर्थिक' रूप में किया जाता था, जिसका अर्थ है—ढोर। धन की माप भी प्राचीन काल में पशुओं से की जाती है। उदाहरण के लिए यदि किसी किसान के पास ५० गाय-बैल होते थे तो वही उसकी सम्पत्ति मानी जाती थी, इसी प्रकार जब दान-धर्म में इनका व्यवहार होता था तो वहां भी ये माप के द्योतक होते थे। यह अवस्था देशों में प्रायः तभी तक रही जब तक कि वे कृषि-प्रधान देश रहे, किन्तु क्रमशः आर्थिक जीवन के विकास के साथ ही साथ मुद्रा के इस प्रचलन में भी अन्तर आने लगा और आज उन वस्तुओं का स्थान सोने-चांदी ने ले लिया है। भारतवर्ष में तो आज भी गाँवों में सम्पत्ति और मान के सूचक ढोर और भूमि का क्षेत्रफल माना जाता है। इससे यह स्पष्ट है कि हमारा देश अभी तक कृषि-प्रधान देश है।

वर्तमान समय में मुद्रा के दो मुख्य भेद पाए जाते हैं :—

(१) स्वयं-सिद्ध मुद्रा— जिसमें सोने, चांदी आदि धातु के सिक्के रहते हैं, और (२) प्रतीक-मुद्रा (नोट)।

सिक्का, जैसा कि हम ऊपर बता आए हैं, अपनी कीमत स्वयं लेकर चलता है।

एक सुवर्ण-मुद्रा में यदि सौ उपयोगिता का एक तोला सोना भरा पड़ा है तो वह कीमत उस मुद्रा के अन्दर भरी पड़ी है। स्वयं-सिद्ध मुद्रा में यही सिद्धान्त निहित है। उसके अन्दर जितनी धातु लगी है, वही उसका मूल्य होता है।

प्रतीक मुद्रा या नोट—वैसे तो कागज ही है, किन्तु मुद्रा-प्रसारक संस्था (Reserve Bank) ने उसमें प्राण प्रतिष्ठा स्थापन करके उसे सजीव बना दिया है और उसे कीमत का संपूर्ण प्रतिनिधित्व दे दिया है। इन सबका वर्णन विस्तारपूर्वक हम अगले अध्याय में करेंगे। किन्तु स्वयं-सिद्ध मुद्रा और प्रतीक मुद्रा तो प्रचलित सिक्कों के अन्तर्गत ही माने जाते हैं।

अतः प्रचलित सिक्के (Actual money) वे ही माने जाते हैं जो कि क्रय-विक्रय तथा वेतन आदि के लिये दिये जाते हैं। उदाहरण के लिए भारतवर्ष में रुपये का सिक्का। हमारे यहां जितने भी हिसाब-किताब हैं वे सब रुपये में ही रखे जाते हैं। प्रचलित सिक्कों के अन्तर्गत प्रतीक-मुद्रा और अन्य छोटे-बड़े सिक्के भी सम्मिलित रहते हैं।

प्रामाणिक द्रव्य (Standard money)—उसे कहते हैं जो किसी देश में क्रय-विक्रय तथा विनिमय की अन्य क्रियाओं में प्रामाणिक रूप से स्वीकार किया जाता हो, और जितने भी उस देश के हिसाब हैं वे सब उसी के अनुरूप रखे जाते हों। भारतवर्ष का रुपया, अमेरिका का डालर तथा इङ्गलैण्ड का पौंड प्रामाणिक द्रव्य के रूप हैं। प्रामाणिक द्रव्य में दूसरा गुण उसके भीतर और बाहर की कीमत बराबर हो। अर्थात् यदि एक सुवर्ण-मुद्रा १००) के बराबर मानी गई है तो हमें उसे बेचने पर या गलाने पर वास्तव में १००) रुपये ही मिल सकें। इन्हें कितनी ही मात्रा में स्वीकार किया जा सकता है, यह इनका तीसरा गुण है। और प्रजा का कोई भी व्यक्ति टकसाल में जाकर उस धातु के सिक्के बनवा सकता है। यह प्रामाणिक द्रव्य होने का अन्तिम गुण है। ये सोने और चांदी दोनों के बने हो सकते हैं।

सांकेतिक द्रव्य (Token money)—वे होते हैं जिनका भीतरी मूल्य बाहर की अपेक्षा कम होता है—अर्थात् उनमें धातु उनकी कीमत से कम लगी होती है। यदि एक अधन्ने या पैसे को गलाया जाय तो उसमें उतनी धातु न निकलेगी। इन्हें कानूनन अपरिमित मात्रा में लेने के लिये कोई बाध्य

नहीं होता और न ये टकसाल में अपरिमित मात्रा में बनाये ही जाते हैं। ये तो केवल जनता की मांग के अनुसार बनते हैं।

भारतवर्ष में रुपया ही एक प्रामाणिक द्रव्य है। सरकारी तथा गैर-सरकारी सभी हिसाब रुपयों में रखे जाते हैं; तथा सभी बैङ्क, डाकखाने, डाक-तार आदि के महकमे, नौकरी-चाकरी, क्रय-विक्रय में इसका प्रयोग होता है। सरकार द्वारा यह वैध घोषित है और कानून द्वारा ग्राह्य ; ऐसी अवस्था में जो भी इसका तिरस्कार करे, उसे सज़ा भुगतनी पड़ सकती है। यह स्वयं-सिद्ध मुद्रा भी माना जा सकता है, किन्तु अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों के अनुसार यह बात सत्य नहीं है। चूँकि रुपये में पहिले कुल १६५ ग्रेन अर्थात् ११।१२ तोला चांदी थी और उस चांदी की कीमत आज से कुछ वर्षके भाव से (अर्थात् ६२॥ रु० फी १०० तोले की दर से) कुल नौ आना ढाई पाई की थी। हाल में जो नया रुपया ढाला गया है इसमें चाँदी की मात्रा पहिले की अपेक्षा बहुत कम है अर्थात् १८० ग्रेन में कुल ९० ग्रेन चांदी रहती है। चांदी का भाव इस समय प्रति १०० तोले १२०) है। इस दर से भी नये रुपये में चांदी की कीमत प्रायः उतनी ही सी रहती है। इसके अर्थ यह हुए कि यदि सरकार की अवहेलना (बैंक जिसने रुपया चलाया है) करके यदि रुपये की मुद्रा के अन्दर की चांदी की कीमत के आधार पर ही हम इस रुपये को बेचें, तो उसकी कुल कीमत प्रायः हमें साढ़े नौ आना मिले। अतः इसे हम अर्थशास्त्र के सिद्धान्त से मुद्रा नहीं कह सकते। यद्यपि रुपया भारतवर्ष का प्रामाणिक द्रव्य माना जाता है, फिर भी इसका टकसाल में मुद्राङ्कन बिना मूल्य के नहीं किया

रुपये के अतिरिक्त भारतवर्ष में अठन्नी, चवन्नी, दुअन्नी, इकन्नी, अधन्ना, पैसा, अधेला और पाई इत्यादि सांकेतिक द्रव्यों का भी प्रचलन है। ये प्रामाणिक द्रव्य के सहायक के रूप में काम आते हैं। इनका वितरण आवश्यकतानुसार प्रायः खजानों और प्रसारक-संस्थाओं (Reserve Banks) की शाखाओं द्वारा होता है।

प्रचलित द्रव्य में नाना-प्रकार के सिक्के होते हैं। ये सिक्के प्रायः निश्चित

मुद्राङ्कन

रूप, रंग, तौल, आकार-प्रकार के होते हैं और प्रमाणस्वरूप उन पर राज्य का कोई चिह्न टकसाल में लगा दिया जाता है। आरम्भ में अनेक प्रकार की धातुएँ तौल के अनुसार मुद्रा की जगह

प्रयोग में लाई जाती थीं। पर ज्यों-ज्यों मुद्राङ्कन-कला में प्रगति होने लगी इनके रूप और आकार-प्रकार में उन्नति होने लगी। अब ये अनेक नाम, तौल और कीमत के बनाए जाते हैं। इनके किनारों को सपाट और चिकना कर दिया जाता है।

स्वतंत्र मुद्राङ्कन

प्रत्येक देश में सरकार की ओर से ही निश्चित टकसालों में मुद्रा की ढलाई की व्यवस्था होती है। और कभी-कभी जनता को धातु के सिक्के बनवाने की स्वतंत्रता दे दी जाती है। ऐसे अवसरों पर टकसाल उन व्यक्तियों से धातु (सोना या चांदी) ले लेती है और वहां उनके लिए उस धातु के सिक्के बना दिये जाते हैं। इस प्रकार के मुद्राङ्कन को हम स्वतन्त्र सिक्का ढलाई कहते हैं। जनता को टकसाल में धातु ले जाकर सिक्का बनवाने की स्वतन्त्रता सन् १९१४ तक रही और भारतवर्ष में यह व्यवस्था सन् १८९३ तक रही।

परिमित सिक्का ढलाई

जब सरकार स्वतंत्र ढलाई की व्यवस्था बन्द कर देती है तो फिर परिमित मुद्राङ्कन ही शेष बच रहता है। आजकल भारतवर्ष में जनता को टकसाल में चांदी ले जाकर रुपये बनवाने की प्रथा बन्द कर दी गई है और अब सरकार स्वयं अपनी इच्छानुसार और आवश्यकतानुसार सिक्कों की ढलाई करती है—अर्थात् अब परिमित सिक्कों की ढलाई होती है।

निःशुल्क सिक्का ढलाई

यह तो सभी जानते हैं कि प्रत्येक काम के करने में कुछ न कुछ व्यय अवश्य होता है। जब जनता को सिक्कों की ढलाई का कुछ भी खर्च सहन नहीं करना पड़ता और राज्य स्वयं ही इस भार को वहन करता है तो इस प्रथा को हम निःशुल्क ढलाई कहते हैं। निःशुल्क ढलाई में मुद्रा के अन्दर लगी हुई धातु का मूल्य और सिक्के की प्रचलित कीमत दोनों ही बराबर होती है।

मुद्रा ढलाई अथवा टंकण मूल्य

किन्तु जब सरकार मुद्रा ढलाई के खर्च को ले लेना स्वीकार करती है और वह केवल उतना ही खर्च जनता से लेती है जितना कि उसकी ढलाई में व्यय हुआ है, तो इस खर्च को हम मुद्रा ढलाई या टंकण मूल्य मानते हैं। इस प्रथा में सिक्के में धातु की मात्रा में कुछ

कमी कर दी जाती है और यह कमी ठीक उतनी ही होती है जितनी कि मुद्रा ढलाई में व्यय हुआ है।

यदि सरकार सिक्के की ढलाई में लगे खर्चा की अपेक्षा और अधिक दाम वसूल करती है तो वह मुद्रा ढलाई लाभ माना जाता है। इस दशा में सिक्का

मुद्रा ढलाई लाभ

प्रचलित दर में कितनी धातु आती है उस मात्रा में से जो लाभ सरकार लेना चाहती है, उतने मूल्य की धातु कम लगाती है। अतः जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं, हमारे प्रामाणिक द्रव्य रुपये की ढलाई से सरकार को आजकल अत्यधिक लाभ हो रहा है।

छियालीसवाँ अध्याय

प्रतीक-मुद्रा (कागज़ी-मुद्रा)

प्रतीक मुद्रा अथवा नोट यों तो केवल कागज़ का ही टुकड़ा है, जिस पर कुछ अङ्क लिखे रहते हैं और एक दो चित्र बने रहते हैं। किन्तु यदि इतना ही

अर्थ।

इसका महत्त्व होता तो जिन्स या श्रम खरीदने में बहुत ही कठिनाई उठानी पड़ती। लेकिन मुद्रा प्रसारक संस्था ने उसमें प्राण प्रतिष्ठा करके उसे सजीव बना दिया है और उसे कीमत का पूर्ण प्रतिनिधित्त्व दे दिया है। नोट की कीमत आश्वासन पर अवस्थित है। अतः इसके बदले में हमें जिन्स या श्रम के खरीदने में अथवा अन्य वस्तुओं के क्रय विक्रय में कोई कठिनाई नहीं होती। आवश्यकता पड़ने पर हम नोट निकालने वाली मुद्रा प्रसारक संस्था से जब चाहें उसकी कीमत वसूल कर सकते हैं। हाँ, यदि किसी कारणवश नोट निकालने वाली संस्था नष्ट हो जाय अथवा उसका दिवाला निकल जाय तो अवश्य ही उसकी कीमत उस समय एक कागज़ के टुकड़े के समान नष्ट हो जावेगी। संक्षेप में, नोट एक प्रकार की बेमियादी हुण्डी होती है, जो चाहे जब नोट निकालने वाली संस्था से सिकराई जा सकती है।

आर्थिक-जीवन के विकास के साथ-साथ जब संसार का लेन-देन बढ़ा तथा जब लाखों और करोड़ों रुपयों का वारा-न्यारा होने लगा तब स्वभावतया जिस मुद्रा को हमने 'कम वज़नी और धन-मूल्य वाला' माना था वह भी अब अधिक वज़नी मालूम देने लगा। यदि एक व्यापारी को दूसरे के यहां एक लाख रुपये भेजने हैं तो पहिले तो आप इनके वज़न का अनुमान लगाइये और फिर अन्य असुविधाओं का विचार कीजिये। इन सिक्कों का वजन लगभग ३१ $\frac{१}{४}$ मन हुआ। इस वज़न को उठाने के लिये कितने व्यक्तियों की आवश्यकता होगी? दूसरी ओर इनके गिनने में जो समय नष्ट होगा उसकी कल्पना करना तो सरल है। इनके अतिरिक्त रुपयों द्वारा भुगतान करने में सिक्कों की परस्पर कितनी घिसाई होगी और कितनी छीजन निकलेगी, इससे राष्ट्र को जो नुकसान होगा, इन सब बातों से बचने के लिये प्रतीक मुद्रा का प्रचलन आरम्भ हुआ। अब १००) के नोट एक हजार निकाल कर दे दीजिये व्यापारी का भुगतान हो जावेगा।

नोट (प्रतीक-मुद्रा) चलाने की आवश्यकता ?

किन्तु व्यापार का लेन-देन जब इस मात्रा तक बढ़ गया कि एक-एक पल अमूल्य माना जाने लगा तब इतना गिनना भी असह्य और कष्टसाध्य हो गया। स्वयं-सिद्ध मुद्रा का प्रतिनिधित्व तो प्रतीक-मुद्रा को मिल गया; लेकिन मुद्रा-प्रचलन ने चेक का आविर्भाव करके सभ्यता और उन्नति को एक कदम और आगे बढ़ा दिया। चेक एक तरह का आज्ञापत्र होता है, जो आज्ञा देने वाला अपने बैङ्क के नाम लिखता है कि इतना रुपया अमुक सज्जन या पत्र-वाहक को दे दिया जाय। इसे विश्वास-पात्र प्रतीक चिह्न कह सकते हैं। वर्तमान समय में कदाचित् कोई ऐसा देश होगा जहाँ स्वयं-सिद्ध मुद्रा का प्रचलन हो।

और चेक क्यों चला ?

जैसा कि विगत अध्याय में बता चुके हैं सन् १९३३ तक अमेरिका में डॉलर स्वयं-सिद्ध मुद्रा थी। किन्तु क्रमशः अब वहाँ भी प्रतीक-मुद्रा का ही प्रचलन आरम्भ हो गया है, और अनुमानतः आज सभी सुसभ्य देशों में नोटों का ही चलन अधिक है। हमारे देश में प्रतीक मुद्रा का प्रचलन यों तो सर्वत्र है, किन्तु बड़े-बड़े नगरों में ये सर्वाधिक चलते हैं और

प्रतीक-मुद्रा युग

घटते-घटते छोटे-छोटे गाँवों में तो अब भी परस्पर क्रय-विक्रय अनाज से ही होता है। रुपयों को उनमें बहुधा जमीन में गाड़ने की ही प्रवृत्ति पाई जाती है। प्रतीक-मुद्रा को वे ले तो लेते हैं, किन्तु जल्दी से जल्दी ही उसे निकालने की चेष्टा करते हैं। किन्तु आजकल के रुपये भी तो एक प्रकार से प्रतीक-मुद्रा के रूप ही हैं।

यह सत्य है कि आज कोई देश ऐसा न होगा जो कि नोट के बदले सोना या चांदी दे दे, फिर भी इससे नित्य-प्रति के व्यवहार में कोई बाधा नहीं होती है।

प्रतीक-मुद्रा (नोट) से होने वाले लाभ

यदि बदले में हमें सुवर्ण-मुद्रा मिल भी जाय तो उसका उपयोग भी हम क्रय-विक्रय, श्रमिक को वेतन देने आदि में करते हैं। यही काम नोट भी कर देते हैं। इसलिए, यदि देश की साख सुरक्षित रहे और धातु के सिक्कों का चलन न भी हो तो भी, मुद्रा का अभाव (स्वयं-सिद्ध मुद्रा) किसी को भी नहीं खटकता है। इससे होने वाले लाभ संक्षेप में निम्नलिखित हैं —

(१) वज़न कम होता है, (२) लेन-देन और व्यापार में गिनती करने में समय की बचत होती है, (३) धातु का छीजन और घिसाई कम होती है, अतः राष्ट्रीय सम्पत्ति की बचत होती है। जैसा कि स्पष्ट किया जा चुका है बार-बार मुद्रा को हाथ में लेने में, गिनने में, तथा एक साथ मिला कर रखने में वे परस्पर एक दूसरे से टकराते हैं जिससे इस प्रकार वे घिसते रहते हैं और क्रमशः धातु नष्ट होती रहती है। (४) अधिक लोच होती है। मान लो, आज देश को एक हजार करोड़ रुपयों की आवश्यकता है। उसे अनेक निर्माणात्मक योजनाओं को, तथा कारबार को बढ़ाना है। इतनी मात्रा का सोना उसे कहाँ से मिले? यदि उस देश में नोटों का चलन हो तो यही काम बड़ी सरलतापूर्वक चल सकता है। सुवर्ण या रजत मुद्रा का प्रचलन रोक कर उससे धन बचाया जा सकता है और उस धन का उपयोग उन योजनाओं में किया जा सकता है। इन स्वयं-सिद्ध मुद्राओं के स्थान पर राज्य की सरकार नोट चालू कर सकती है, किन्तु वह अपनी आवश्यकतानुसार जितना चाहे उतना स्वयं-सिद्ध मुद्राओं का प्रचार नहीं कर सकती। (५) इन सबके अतिरिक्त जो गुण एक अच्छी मुद्रा या सिक्के के अन्दर पाए जाने चाहिए वे सब हमें इस प्रतीक मुद्रा में मिलते हैं।

जहाँ नोटों में हमें उपर्युक्त गुण दीख पड़ते हैं, वहाँ उनमें अनेक अवगुण भी हैं। (१) स्वयं-सिद्ध मुद्रा की कीमत तो उसमें स्वयं ही रहती है, कैसा ही कुअवसर या अराजकता क्यों न फैल जाय हमें अधिक या बिल्कुल भी हानि का भय नहीं रहता है। इसके विपरीत प्रतीक-मुद्रा की कीमत तो प्रसारक-बैङ्क की सुरक्षा पर ही निर्भर रहती है। अराजकता अथवा राज दुराजी के अवसर पर लोग सहज ही में उनसे विश्वास खो बैठते हैं और स्वयं-सिद्ध सिक्कों को दबाने अथवा उनका संग्रह करने लग जाते हैं। उदाहरण के लिये विगत महायुद्ध के समय फ्रांस के हारते ही भारतवर्ष में सर्व-व्यापी कोलाहल मच गया। सर्वत्र अशान्ति थी, चूँकि फ्रांस मित्र-पक्ष (फ्रांस, ब्रिटेन, रूस, अमेरिका इत्यादि) का साथी था, अतः फ्रांस की हार ब्रिटेन पर अवश्य पड़ती और भारत उससे अछूता कैसे बचता? लोगों का नोटों पर से विश्वास उठ गया। वे रुपयों को दबाने लग गये, यद्यपि भारतीय रुपये अब भी साढ़े नौ आना भर चांदी के हैं, फिर भी कागज़ के नोटों से भले हैं।

और हानियाँ

इस दृष्टि से हम कह सकते हैं कि स्वयं-सिद्ध मुद्रा की अपेक्षा प्रतीक मुद्रा में सबसे बड़ा दोष तो यह है कि प्रतीक-मुद्रा की कीमत के स्थायित्त्व के विषय में अथवा सुरक्षितता के बारे में घबराहट के समय में पूरा विश्वास कभी नहीं रहता, बल्कि अधिकांश में उठ ही जाता है।

(२) नोटों का प्रसार करना अत्यन्त सरल है। इसके लिए बस कुछ कागज़ की आवश्यकता होती है। आपत्ति काल में कई बार सरकार को जब कोई ऋण देने वाला नहीं मिलता तो उस समय नोटों का प्रसार कर दिया जाता है। कभी-कभी ऐसा भी हुआ है कि इस प्रकार सरकार ने उचित सीमा का भी उल्लङ्घन कर दिया है और उसने इस सीमा तक नोट बना लिये कि अन्त में उसका दिवाला तक निकल गया। नोटों का चलन बढ़ने पर वस्तुएँ महँगी हो जाती हैं, उसका (नोटों का) मूल्य गिर जाता है।

(३) प्रतीक मुद्रा का चलन तो केवल किसी देश की सीमा के अन्दर ही हो सकता है। विदेशियों के लिये तो उसका कुछ भी महत्त्व नहीं होता है। स्वयं-सिद्ध मुद्रा के लेने में कोई भी आपत्ति न करेगा।

भारतवर्ष में प्रतीक-मुद्रा प्रसार का आरम्भ सन् १८६१ में सर्व प्रथम हुआ

था। उस समय सरकार ने साख पत्री कागज़ी मुद्रा के सिद्धान्त का अवलम्बन किया था। कुछ काल तक इसी सिद्धान्त के अनुसार नोट बनते रहे; किन्तु जब सरकार को अधिक मुद्रा की आवश्यकता हुई तो उसने इस सीमा का उल्लङ्घन किया। उस समय सरकार को अपनी इस नीति में परिवर्तन करना पड़ा और अब जितने भी नोट बनाए जाते थे, उतना ही सोना-चाँदी जमा रखना पड़ता था। भारत में इङ्गलैण्ड से इस नियम की नकल की गई थी।

भारत में कागज़ी मुद्रा प्रसार की रीति

सन् १९३५ में जब भारतीय मुद्रा-प्रसारक संस्था (Reserve Bank) की स्थापना हुई तब इन नियमों में भी यथोचित् परिवर्तन हुए। इन नियमों के अनुसार अब कागज़ी मुद्रा-प्रसार का सम्पूर्ण भार इस संस्था के हाथ में आ गया है। किन्तु इन कागज़ी मुद्रा की जामिन (साक्षी) केन्द्रीय सरकार रहती है। यदि यह संस्था किसी कारणवश डूब भी जाय तो सरकार पर इन्हें सोने-चांदी के रूप में बदलने का दायित्त्व रहता है। आजकल इस संस्था के निम्न कीमत के नोट प्रचलित हैं—१); २); ५); १०); ५०); और १००)।

इस रिज़र्व-बैङ्क (मुद्रा-प्रसारक संस्था) को इन नोटों के बदले में कुछ पूँजी अवश्य जमा रखनी पड़ती है। यह पूँजी (सोना) नोटों की कीमत का ४० प्रतिशत भाग होती है। शेष ६० प्रतिशत भाग के लिये उसे रुपये जमा रखने पड़ते हैं। इस ४० प्रतिशत सुरक्षित रखने वाले धन के सिद्धान्त को हम आनुपातिक-सुरक्षित धन नियम कहते हैं। यह सिद्धान्त साख-पत्री कागज़ी मुद्रा के सिद्धान्त से अच्छा है। साख-पत्री सिद्धान्तानुसार यदि सरकार को १०००) रुपये के नोट चलाने होते थे तो उसे १०००) का सोना या चांदी सुरक्षित कोष में जमा रखना पड़ता था। किन्तु आधुनिक अथवा प्रचलित आनुपातिक सिद्धान्त के अनुसार यदि बैङ्क को १०००) की कीमत के नोट चलाने हैं तो उसे केवल ४००) की कीमत का सोना अथवा चाँदी सुरक्षित कोष में जमा रखना होता है। अतः प्रचलित नियम में फुलावट और गिरावट के लिये काफी लोच रहती है।

भारतीय प्रतीक-मुद्रा को हम दूसरे शब्दों में अ-विनिमय-साध्य कागज़ी मुद्रा भी कह सकते हैं। इसका प्रचलन राजाज्ञा के कारण होता है, चूँकि प्रत्यक्ष में इनका मूल्य स्वयं-सिद्ध मुद्रा से कम होता है—दूसरे शब्दों में यह भी कह सकते

हैं कि इसके अन्दर जितनी धातु लगी होती है उसकी कीमत उसके वास्तविक मूल्य से कम या बहुत कम होती है।

फुलावट और गिरावट

इस तरह थोड़े सोने की पूँजी को सुरक्षित कोष में रख कर अधिक परिमाण में कागज़ी मुद्रा प्रसार करने की नीति को फुलावट की नीति (Inflationary policy) कहते हैं; किन्तु जिस नीति के कारण इनके प्रसार की संख्या में कमी होने लगती है उसे हम गिरावट की नीति (Deflationary policy) कहते हैं।

कागज़ी मुद्रा प्रसारक संस्था, बिना सरकार की आज्ञा के अपने मर्ज़ी से तो फुलावट या गिरावट अधिक सीमा तक नहीं कर सकती है। अतः सरकारी इच्छा से जब यह नीति अपनाई जाती है तो उसका सहयोग मिलना भी स्वाभाविक हो जाता है। ऐसी अवस्था में जब फुलावट करना होता है तो सरकार जितना व्यय करती है उस अनुपात में कर लगा कर उसे उगाहती नहीं है। यह नीति केवल उसी अवस्था में अपनाई जाती है जब सरकार पर आर्थिक-सङ्कट आ पहुँचते हैं। किन्तु कभी-कभी इस नीति में एक दूसरा उद्देश्य होता है। वह देश के व्यवसायों की उन्नति और सुधार के लिये भी इस नीति का अनुकरण करती है। उस समय वह हुण्डी की दर गिराने के लिये ऐसा करती है जिसका फल यह होता है कि वस्तुओं की कीमत बढ़ जाती है, देश के व्यवसाय उन्नति करते हैं, तथा उत्पत्ति में वृद्धि होती है। विदेशी आयात को इससे धक्का पहुंचता है।

जब फसल कट कर मंडी में आने का समय होता है, उस समय रुपये की बहुधा तंगी होने लगती है। रुपये की कमी के कारण, व्यापारियों को कष्ट न हो

अल्पकालीन फुलावट

और बेचारे किसानों को अपनी उपज का उचित दाम मिल सके, इस कारण भी बैङ्क कभी-कभी स्वल्प मात्रा में फुलावट कर देती है। इस काल में सिक्के की कीमत में कोई परिवर्तन नहीं होता है। होता यह है कि नोट-प्रसारक बैङ्क इस समय बहुत सस्ते ब्याज पर रुपया देना शुरू कर देती है, जिसकी वजह से व्यक्तियों को अपने व्यवसाय में लगाने और लाभ उठाने की प्रेरणा मिल जाती है।

जब सरकार को गिरावट करनी होती है तो वह फुलावट की नीति के ठीक उल्टा चलती है अर्थात् कर अधिक वसूल करती है और खर्च कम, अथवा अधिक

ब्याज पर उधार लेकर बाज़ार से नोट खींच लेती है और गिरावट पैदा हो जाती है।

अर्थशास्त्री प्रायः फुलावट और गिरावट इन दो ही परिभाषाओं का प्रयोग करते हैं, किन्तु कभी-कभी स्वभाव से और उचित परिमाण से आवश्यकतानुसार जो नोटों के चलन में कमी या आधिक्य हो जाता है, उसे हम स्वाभाविक विस्तार या संकोच कहते हैं। अतः स्वाभाविक संकोच और गिरावट में भेद है और इसी प्रकार विस्तार तथा फुलावट में भी; किन्तु यह भेद यद्यपि अत्यन्त ही सूक्ष्म है, तथापि अधिक शास्त्रीय मालूम देता है। जहाँ फुलावट और गिरावट आवश्यकतानुसार किये जाते हैं, वहाँ विस्तार और संकोच स्वाभाविक रीति से होते हैं।

विस्तार और संकोच

द्रव्य के मूल्य में परिवर्तन (घटा-बढ़ी) के कारण बहुत अधिक और विभिन्न नहीं है। इसके सम्बन्ध में रिकार्डो नामक प्रसिद्ध अर्थशास्त्री का एक मत प्रचलित है जिसे द्रव्य परिमाण-मत कहते हैं। इस नियम के अनुसार द्रव्य के मूल्य में परिवर्तन (घटा-बढ़ी) होने पर दामों पर उल्टा ही असर होता है और उसी अनुपात में वे तेज़ या मन्दे होते हैं। मान लो आज किसी वस्तु की कीमत १) है, जिसमें १८० ग्रेन चांदी है, यदि रुपये का मूल्य घट कर आधा रह जाय अर्थात् १८० ग्रेन की बजाय ९० रह जाय (जो आजकल है) तो उस वस्तु का मूल्य १) से २) हो जावेगा।

रिकार्डो का द्रव्य-परिमाण-मत

द्रव्य के मूल्य में जो घटा-बढ़ी होती है, उसके कारण संक्षेप में निम्नलिखित हैं—

(१) द्रव्य के परिमाण का घटना-बढ़ना। (अ) खानों द्वारा यदि सोना-चांदी कम या अधिक मात्रा में निकले—अर्थात् पूर्त्ति की मात्रा के अनुसार भी द्रव्य के मूल्य में परिवर्तन होता रहता है। (आ) यदि सोने-चांदी के सिक्कों की बजाय कागज़ी मुद्रा चलती हो तो उनके परिमाण में परिवर्तन होने पर भी द्रव्य की कीमत में अन्तर आ जाता है।

(२) द्रव्य की मांग के अनुसार किसी-किसी अवस्था में लोग भुगतान के लिये चेक या हुण्डी का अधिकाधिक व्यवहार करने लगते हैं। ऐसी अवस्था में दाम ऊपर चढ़ते हैं।

३) वाणिज्य-व्यापार की वृद्धि के कारण इनमें वृद्धि होने के कारण लेन-देन बढ़ जाता है। यदि मांग के अनुसार पूर्ति न की जाय और द्रव्य की मात्रा न बढ़ाई जाय तो निश्चय ही द्रव्य का मूल्य बढ़ेगा।

विदेश के लोग हमारी प्रतीक-मुद्रा की कीमत के विषय में अन्धकार में नहीं रहते हैं। आधुनिक सम्वादवाहन के साधनों द्वारा उन्हें हमारे प्रतीक की कीमत में होने वाली दैनिक गति-विधियों का माप-तौल मिलता रहता है। विदेशी बाजार को एक प्रकार का दर्पण मानना चाहिये। इसके द्वारा हमें अपने प्रतीक की सही कीमत मालूम होती है। विदेशी लोग हमारे प्रतीक की क्या दर रखते हैं और उसकी कीमत का ठीक-ठीक ज्ञान हमें विदेशी बाज़ार से ही हो सकता है।

प्रतीक की कीमत और विदेशी बाज़ार

यदि हमें न्यूयार्क अथवा सिडनी से माल मंगाना है, तो उन्हें हमारे भारतीय नोटों की कोई आवश्यकता न होगी और न वे इसके बदले में हमें अपना माल ही देने को तैयार होंगे। इसके लिये हमें अपने रुपये को या तो डॉलर मुद्रा के अनुसार परिवर्तित करना पड़ेगा अथवा यदि हम सिडनी से माल मंगाते हैं तो आस्ट्रेलिया के सिक्कों से। हमारे देश के सिक्के का सम्बन्ध पौण्ड से है और हमें उसी के अनुसार उसका परिवर्तन करना पड़ता है। एक पौंड स्टर्लिङ्ग प्राप्त करने के लिये हमें लगभग १३॥-) देने पड़ते हैं, अर्थात् एक रुपया एक शिलिंग छः पेंस के बराबर है। इस प्रकार के विनिमय परिवर्तन को हम स्टर्लिङ्ग मान (Sterling exchange standard) कहते हैं।

सैंतालीसवाँ अध्याय

विदेशी विनिमय और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार

पिछले अध्यायों में हम यह बता चुके हैं कि भारतवर्ष की अपनी कोई निजी स्वर्ण-मुद्रा नहीं है। भारतवर्ष का लेन-देन इङ्गलैण्ड के पौंड सिक्के के द्वारा होता है। जब हमें किसी देश को रुपया देना होता है, तो पौंड के रूप में दिया जाता है, और इसी प्रकार जब रुपया लेना होता है तो वह भी पौंड के द्वारा ही हमको मिल पाता है। इङ्गलैंड का सुवर्ण-पौंड प्रामाणिक माना जाता है, अतः विदेशों में वह बदला जा सकता है। भारतवर्ष का चांदी का रुपया जो आजकल प्रचलित है, जैसा कि हम अपने विगत अध्याय में बता चुके हैं, केवल एक सांकेतिक सिक्का है। अतः अन्य देश वाले जहां कि चांदी के सिक्के प्रचलित हैं, हमारे इस रुपये को भारतवर्ष के प्रचलित मूल्य पर (अर्थात् एक रुपये में) कभी भी लेना स्वीकार न करेंगे।

अतः भिन्न-भिन्न देशों से व्यापार करते समय हमें पारस्परिक सिक्कों के अदल-बदल की आवश्यकता होती है। जिन देशों में सांकेतिक मुद्रा का प्रचलन होता है, वहां उनके मूल्य में प्रायः घटी-बढ़ी की सम्भावना रहती है, इसके विपरीत इङ्गलैण्ड और अमेरिका आदि देशों के प्रामाणिक सिक्कों की विनिमय दर में घट-बढ़ नहीं होती। अतः भारतवर्ष को जब विदेशों से व्यापार करना होता है तो विदेशी दर निश्चित करने में यह देखना पड़ता है कि हमारे रुपये, आने और पाई इङ्गलैण्ड के पौंड, शिलिंग और पेंस से किस भाव में बदले जा सकते हैं। इस प्रकार सांकेतिक और प्रामाणिक सिक्कों के अदल-बदल में निम्नलिखित बातों का ध्यान रखा जाता है।

विनिमय की दर

(१) यदि एक देश का सिक्का दूसरे देशों को भेजा जाय तो वहां तक पहुँचते-पहुँचते उसकी दर क्या रह जावेगी? और (२) उस सिक्के की टकसाली दर क्या है?

जिन देशों में सोने के प्रामाणिक सिक्के प्रचलित हैं, वहां के सिक्कों में लगे हुए असली सोने के परिमाण के पारस्परिक सम्बन्ध को टकसाली दर कहते हैं।

टकसाली दर

उदाहरण के लिये एक डॉलर में जितना सोना है, उसके परिवर्तन करने पर कितने पौंड मिल सकते हैं या उतना सोना कितने पौंड में पाया जायगा। इस प्रकार टकसाली दर केवल असली सोने का केवल पारिमाणिक सम्बन्ध ही है और जब तक कोई देश अपने प्रामाणिक सिक्के की धातु का परिमाण न बदल दे, उसके सिक्के की, अन्य देशों में टकसाली दर नहीं बदलती। किन्तु यदि एक देश का प्रामाणिक सिक्का सोने का हो और दूसरे का चांदी का तो वहां पारस्परिक टकसाली दर बदलती रहती है। इसका मुख्य कारण यह है कि चाँदी की सोने में कीमत बदलती रहती है।

पारस्परिक विनिमय और लेन-देन में यह आवश्यक नहीं होता कि भुगतान करते समय सदैव सिक्के एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजे जायँ। उदाहरण के

भुगतान की विधि हुंडी

लिये यदि हमें इङ्गलेण्ड के व्यापारियों से अपने कच्चे माल की कीमत लेनी है तो इस अवस्था में वहां की सरकार से भारत सरकार के नाम हुंडी आ जावेगी और दाम का भुगतान भारतीय बैंकों द्वारा हो जावेगा। इसी प्रकार भारतीय व्यापारी जब इङ्गलैंड से माल मँगाते हैं तो सरकार (भारत) से हुंडी खरीद कर इङ्गलैण्ड के व्यापारियों के पास भेज देते हैं, जो उसके बदले में सावरेन अथवा वहां की प्रचलित मुद्रा प्राप्त कर लेते हैं। ऐसी अवस्था में हुंडी भेजने का खर्च जोड़ दिया जाता है। उदाहरण के लिए यदि ब्रिटेन के किसी व्यापारी को २२५ रु० का भुगतान करना है और उसके भेजने में प्रति १५ रुपये पर ६ आने खर्च बैठता है तो उस २२५) की हुँडी को २३०॥≈) में लेने के लिये वहां की सरकार अथवा भारत-मंत्री तैयार हो जायगा।

भारत की विनिमय दर इङ्गलैण्ड के पौंड के साथ स्थिर की गई है। हमें, जैसा कि बता चुके हैं, एक पौंड प्राप्त करने के लिए लगभग १३॥-) देने पड़ते हैं

भारत की विनिमय दर और उसका प्रभाव

अर्थात् एक रुपया एक शिलिंग छः पेंस के बराबर है। यह दर भारतीय दृष्टिकोण से अधिक नहीं तो कम से कम दो पेंस अधिक अवश्य है, यानी १८ पेंस के बजाय १६ पेंस होनी चाहिये।

रुपये की विनिमय १८ पेंस की रहने से इस देश को अनेक हानियां होती हैं, जो संक्षेप में निम्नलिखित हैं—

(१) निर्यात को धक्का पहुंचता है—भारतवर्ष अधिकांशतः खेतिहर देश है, अतः यहां की मुख्य उपज कृषि-जन्य कच्चा माल है जो अधिकतर गांव में रहने वाले किसानों द्वारा उत्पन्न किया जाता है। विनिमय की दर बढ़ी होने के कारण अनेक योरोपीय देश हमारे यहां से माल खरीदने में हिचकते हैं और केवल वे ही माल खरीदने को बाध्य होते हैं जो उनको भारत के अतिरिक्त अन्य किसी भी देश से उपलब्ध नहीं हो पाता है। इस प्रकार हमारे देश के व्यापार को कड़ी ठेस पहुँचती है और हमें हानि उठानी पड़ती है। इसका विशेष प्रभाव गांव में रहने वाले उन निर्धन किसानों पर पड़ता है, जो इसे उपजाते हैं।

(२) विदेशी माल सस्ता होने के कारण उसकी खपत यहां बढ़ जाती है, और इस प्रकार स्वदेशी उद्योग-धन्धों को भी हानि उठानी पड़ती है।

(३) जो सोना यहां सरकारी कोष में रखा जाता है, उसका मूल्य घट जाने पर हमें करोड़ों रुपयों की हानि उठानी पड़ती है।

(४) जिन्हें विदेशों से रुपया लेना होता है, उन्हें अपने द्रव्य की अपेक्षाकृत कम धन प्राप्त होता है।

(५) अन्त में स्वदेशी माल महँगा पड़ने के कारण उसका उपभोग कम हो जाता है।

इसके पक्ष में (अर्थात् १८ पेंस का सिक्का रखने के पक्ष में) भी अनेक दलीलें पेश की जाती हैं, जो क्रमशः निम्नलिखित हैं—

(१) घरेलू-खर्च (होम-चार्जेज्) का भुगतान, थोड़े रुपयों में ही हो जाता है, अतः प्रतिवर्ष हमें कई लाख रुपयों की बचत हो जाती है।

(२) मशीनों और विलायती माल के मंगाने में कम खर्च करना पड़ता है, चूँकि उसके लिये धन का भुगतान करने में हमें कम खर्च करना पड़ता है।

(३) जिन भारतीयों को ब्रिटेन रुपया भेजना होता है, उन्हें अपेक्षाकृत कम द्रव्य खर्च करना पड़ता है।

(४) भारतवर्ष में अनेक ब्रिटेन की बनी हुई वस्तुओं का उपभोग होता है, जो उन्हें वहाँ से सस्ते मूल्य पर ही उपलब्ध हो जाती हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि लाभ हमें केवल इङ्गलैण्ड से व्यापार करने में ही होता है। अन्य देशों से व्यापार करने में हमें ये सुविधाएँ उपलब्ध नहीं होती हैं। अतः भारत सरकार को अब तक ब्रिटिश अधिकारियों की अवहेलना करने की क्षमता न होती थी और यही विनिमय दर श्रेष्ठ मानी जाती है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार

पिछले महायुद्ध के कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की गति में अनेक परिवर्तन हुए। व्यापारिक मार्ग और आयात-निर्यात की वस्तुओं में भी युद्ध के अनुसार परिवर्तन होने लगे। प्रजा की आवश्यकता वस्तुओं के व्यापार में कमी होने लगी और युद्ध की सामग्रियों का व्यापार तेजी से होने लगा। विदेशी विनिमय के लिये प्रामाणिक द्रव्य का उपयोग परिमित हो गया। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की दृष्टि से हमारे लिये युद्ध दो प्रकार का होता है—(१) जब क्षेत्र परिमित हो, और (२) जब क्षेत्र व्यापक हो। परिमित क्षेत्र होने पर आयात-निर्यात में विशेष बाधाएँ उपस्थित नहीं होती हैं, किन्तु व्यापक होने पर आयात-निर्यात घट जाता है। विगत महायुद्ध का क्षेत्र व्यापक था, अतः अनेक व्यापारिक कठिनाइयां प्रत्येक देश के सम्मुख आईं। भारतवर्ष में आरम्भ में तो इसमें कोई बाधा न आई, किन्तु बाद में आयात और निर्यात दोनों ही घट गये। द्रव्य की फुलावट के कारण अन्त में हमें लाभ होता अवश्य दिखाई दिया, जो निम्न अंकों के देखने से विदित हो जावेगा।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की गति और भारतवर्ष

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का चिट्ठा—

(मूल्य करोड़ रुपयों में)

	१९३८-३९	१९४३-४४	१९४४-४५
निर्यात	१६९	२१०	२२८
आयात	१५०	११९	२०१
कुल योग	३२१	३२९	४२९
शेष	+१७	+९१	+२७

निम्न कोष्ठक में हम भिन्न-भिन्न देशों से भारतवर्ष की व्यापारिक गति का अनुमान दिखाते हैं :—

(लाख रुपयों में) क

देश	१९३८-३९			१९४३-४४			१९४४-४५		
	आयात	निर्यात	शेष	आयात	निर्यात	शेष	आयाम	निर्यात	शेष
१ —ब्रिटेन	४६,४९	५५,५१	+९,०२	२९'५७	६०,०६	+३०,५१	४०,१७	६१,७१	+२१,५१
प्रतिशत	३०'५	३४'१	—	२५'१	३०'२	—	२०'०	२९'२	—
ब्रह्मा	२४३५	१००३	१४३२	२७३	—	—२७३	१३	—	—१३
लंका	११८	५०९	+३९१	३५०	१४३४	+१०८४	३७२	१९१६	+१५४४
आस्ट्रेलिया	२४१	२९७	+५६	४७७	१३२४	+८४७	१०२५	१४६७	+४४२
कनाडा	९१	२१४	+१२३	२५२	४८७	+२३५	३६५	६९०	+३२५
दक्षिण अफ्रीका	३५	१४९	+११४	२५९	१०,०१	+७४२	२९८	११८८	+८९०
साम्राज्यान्तर्गत व्यापार	८८५६	८५३०	—३१९	५६७५	१२८४६	+७१७१	७८००	१३७८९	+५९८८
कुल व्यापार का प्रतिशत भाग	५९'१	५२'४	—	४८'०	६४'५	—	३८'८	६५'३	—

(लाख रुपयों में) ख

देश	१९३८-३९			१९४३-४४			१९४४-४५		
	आयात	निर्यात	शेष	आयात	निर्यात	शेष	आयात	निर्यात	शेष
२—अन्य देश									
अमेरीका (यूनाइटेड स्टेट)	९७८	१३६८	+४१०	१८५७	४०११	+२१५४	५०४६	४४७९	५६७
प्रतिशत	६·४	८·५	—	१५·५	२०·२	—	२५·१	२१ २	—
जापान	१५४१	१४५९	—८२	—	—	—	—	—	—
मिश्र	२१९	१२३	—९६	११२७	२९८	—८२९	१७३८	३३६	—१४०२
ईरान	३४९	७८	—२७१	२७४९	१७२	—२५७७	४९३३	२७४	—४६५९
अन्यदेश	३६३९	४७७२	+११३३	३७०	३५७६	+३२०६	५८१	२२२६	+१६४५
अन्य देशों के व्यापार का कुल योग	६३७७	७७४२	+१३६५	६१०३	७०५७	+९५४	१२२९८	७३१५	—४९८३
कुल व्यापार का योग	१५२३३	१६२७९	+१०४६	११७७८	१९९०३	+८१२५	२००९८	२११०५	+१००७

उपरोक्त कोष्ठक के अंकों के देखने से विदित होता है कि हमारे व्यापार की गति साम्राज्यान्तंगत तो सदा अच्छी रहती है, किन्तु अन्य देशों के साथ व्यापार करने में निर्यात कम होता है और वहां से माल अधिक आता है।

व्यापार का स्वरूप

भारतवर्ष से अधिकतर कच्चा माल ही विदेशों को भेजा जाता है और बदले में मशीनें और ऐसी वस्तुएँ मँगाई जाती हैं जो इस देश में तैयार नहीं होतीं। निम्न कोष्ठक में हम संक्षेप में इस देश के आयात-निर्यात के अङ्कों का विवरण देते हैं :—

आयात

	१९३८-३९		१९४४-४५	
	करोड़ रुपयों में	प्रतिशत	करोड़ रुपयों में	प्रतिशत
खाद्य-पदार्थ	२४,००	१५·७	१८,८५	९·४
कच्चा माल	३८,१८	२१·७	११७,२६	५८·३
मशीन का तैयार माल	९२७९	६०·८	६२,४७	३१·८

निर्यात

खाद्य-पदार्थ	३९४३	२३·३	४९,८३	२०·९
कच्चा माल	७६,२८	४५·१	५८,१९	२५·६
मशीन का तैयार माल	५०,७२	३०·०	११६,२७	५१·५

आयात की वस्तुएँ—यों तो भारतवर्ष में अनेक वस्तुएँ बाहर से आती हैं, किन्तु हम यहाँ कुछ मुख्य वस्तुओं का ही विवरण देते हैं—

(हज़ार रुपयों में)

वस्तुएं	१९४२-४३	१९४३-४४	१९४४-४५	प्रतिशत
तेल	२७७६२५	३६४८०२	८०७०३३	४०·१४
कपास सूती वस्त्र इत्यादि	१६७८५२	१८८६२१	२५५५०५	१२·००
मशीन	१०५१७८	११३०८६	१६२९०८	८·१०
रंग	५४३१८	८२९६१	७९२३०	३·९३
रासायनिक पदार्थ	४६७२९	४९७२०	६८८२३	३·४२
ऊन व ऊनी सामान	३७८२०	४४६९८	३१४७३	१·५६
धातुएँ	६१८८३	४२३०१	६५२९९	३·२४
यन्त्रादि	३३५१६	३०१०८	४३८५७	२·१८
दवाएँ	१४६९५	२०८७३	२८७२४	१·४८
कागज़ व स्टेशनरी	२१५५९	१९६३३	२९०८२	१·४४
तम्बाकू	१३३१९	१५९७१	२९०२८	१·४४
मदिरा	११८९२	१२४०९	२४१५८	१·२०

आयात सम्बन्धी विशेष बातें रुई और सूती माल

तेल के बाद भारतवर्ष में रुई और सूती वस्त्रों के आयात-सम्बन्धी वस्तुओं में दूसरा स्थान है। यद्यपि अबतक भारतवर्ष में रुई काफी पैदा हो जाती थी, तथापि वह छोटे रेशे की होती थी। विभाजन के बाद इसके क्षेत्रफल में काफ़ी कमी आ गई है। निस्सन्देह यह हमारे लिये दुःख की बात है कि भारत जैसे कृषि-प्रधान देश को ऐसे साधारण कच्चे माल के लिए अन्य देशों पर निर्भर रहना पड़ता है। विभाजन के बाद इस परिवर्तित स्थिति में हमारी अवस्था और भी शोचनीय हो गई है। विदेशों पर रुई के लिये आश्रित होने का एक दूसरा कारण यह भी था कि हमारे यहाँ यातायात की अनेक असुविधाएँ रहती हैं। बम्बई की मिलों में पञ्जाब से रुई मँगाने से काफ़ी व्यय पड़ता है। इधर कुछ वर्षों से रुई की पैदावार भारतवर्ष में बहुत काफी कम हो गई है। अतः रुई का आयात भी

बढ़ गया है। १९४४-४५ में रुई के आयात में २० प्रतिशत वृद्धि थी, जो बढ़ कर अब लगभग ३५ प्रतिशत हो गई है।

भारत के औद्योगीकरण के लिए अब विशेष प्रयत्न हो रहे हैं। युद्धोत्तरीय प्रत्येक योजना में भारत के उद्योग-धन्धों की उन्नति की आकांक्षा प्रकट की गई है।

मशीनें

किन्तु खेती-बारी जिस पर देश की ८७ प्रतिशत जनता आश्रित है, उसकी जो अवहेलना की गई है, उसका अनुमान हम निम्न अङ्कों को देखकर कर सकते हैं।

लाख रुपयों में

मशीनें	१९४२-४३	१९४३-४४	१९४४-४५
बड़ी कारखाने की मशीनें	६०	६२	७६
बिजली से चलने वाली मशीनें	२०४	२२४	३०२
मशीनों के यन्त्र-पुर्जे	४७	२८	१४६
कपास के व्यवसाय की मशीनें	१८३	२४०	२२७
जूट के व्यवसाय की मशीनें	३५	२४	५५
अन्य कपड़ों की मशीनें	६०	५४	५६

इन अङ्कों की तुलना खेती-बारी से तथा उससे सम्बन्धित उद्योग-धन्धों की मशीनों के आयात के अङ्कों से कीजिये—

लाख रुपयों में

मशीनें	१९४२-४३	१९४३-४४	१९४४-४५
खेती-बारी की मशीनें	२३	३०	८
धान साफ़ करने तथा आटे की मशीनें	५	४	२
चीनी बनाने की मशीनें	४१	२०	८
चाय साफ करने की मशीनें	१६	११	१२

यद्यपि हम मानते हैं कि देश के उद्योग-धन्धों की प्रगति होनी आवश्यक है, किन्तु इसमें हम कब तक अपने देश का रुपया बाहर भेजते रहेंगे। दूसरी ओर खेती-बारी की एक दम उपेक्षा हो रही है। ऐसी नीनि अत्यन्त निरुत्साहजनक तथा हानिकर है।

निर्यात के पदार्थ

भारतवर्ष के निर्यात के पदार्थ विशेषकर कच्चे मालों से सम्बन्ध रखते हैं। यह देश के औद्योगीकरण के लिए अत्यन्त हानिकर है। हमारे देश से जो वस्तुएँ बाहर भेजी जाती हैं, उनका विवरण हम निम्न कोष्ठक में देते हैं—

सहस्र रुपयों में

पदार्थ	१९४२ ४३	१९४३-४४	१९४४ ४५	१९४५के निर्यात के मूल्य का प्रतिशत भाग
कच्चा जूट	९०१५७	८३२९१	७५००२	३·५२
तैयार जूट का माल	३६४०९३	४९४७१९	६०४२४२	२८·६२
कपास (रुई)	५३०५६	७४८७९	७७०१७	३·६१
रुई के वस्त्र या सूत	४६१९१०	४२६२४२	३७६०२०	१७·८१
चाय	३१९०१३	३७१८८२	३८११६९	१८·५०
बीज़ तिलहन इत्यादि	१०५१७१	१११४९२	१०५३३५	४·९९
चमड़ा	४७६०५	४३८४०	४२१२२	१·९९
खाल व हड्डियाँ	३३९८६	४१२८४	३९८५४	१·८७
फल व तरकारी	१९७०६	२२७५५	४५९१४	२·१२
अनाज, आटा इत्यादि	६९३२३	२३०८२	१२३२२	०·८७
तम्बाकू	१४९२०	७६४५	१४००१	०·७०
गोंद, चमड़ा, लाख	३२३६५	२७४८३	४७४७०	२·२०
ऊन कच्चा व तैयार	१६११२	२३४९८	३९०६८	१·८४
खली, चारा इत्यादि	६८६४	२१९८	३६६	०·३६

जसा कि हम ऊपर बता आए हैं देश का कच्चा माल बाहर जाना और फिर उन्हीं के बदले में तैयार माल प्राप्त करना देश के उद्योग-धन्धों के लिये घातक है और सबसे अधिक हानि की बात है। देश के ऐसे पदार्थों का बाहर जाना जो देश की उपज को बढ़ाने में सहायक होते हैं। उदाहरण के लिये तिलहन का निर्यात। तिलहन में तिल, अरंडी, सरसों, बिनौला और तीसी हैं। इनकी खली पशुओं के दूध को बढ़ाती है और फसलों को खाद का काम देती है। इसी प्रकार हड्डियों की खाद भी खेत में प्रस्फुरिक अम्ल के भाग की पूर्त्ति करने में सहायक होती है।

अड़तालीसवाँ अध्याय

खेती-बारी में साख और सहकारिता

इस अध्याय में हम खेती-बारी से सम्बन्धित बैंकों का विचार करेंगे। बैङ्कों का काम सदा साख पर चलता है और खेती-बारी एक ऐसा व्यवसाय है जो, जैसा कि हम पिछले अध्यायों में बता चुके हैं, अन्य व्यवसायों से नितान्त भिन्न है। भारतवर्ष में विशेषरूप से इसका महत्त्व है, चूँकि इस देश में खेती-बारी अन्य देशों की अपेक्षाकृत गिरी हुई दशा में है।

साख का अर्थ

साख का अर्थ है विश्वास करना। बैङ्कों को अथवा महाजन या साहूकार को धन उधार देते समय उस संस्था अथवा व्यक्ति की ऋण चुकाने की योग्यता और सामर्थ्य पर विश्वास करना पड़ता है। यदि विश्वास का अभाव हो तो वह कभी उसे धन उधार न दें। जिस व्यक्ति अथवा संस्था की साख जमी होती है (अच्छी होती है) उसे आसानी से और कम ब्याज की दर पर ऋण मिल जाता है, इसके विपरीत यदि उसकी साख बिगड़ी हुई होती है तो उसे कोई भी ऋण देने को तैयार नहीं होता। यदि कभी ऋण मिल भी जाय तो सूद की दर बहुत ऊँची होती है।

साख का महत्त्व

हर प्रकार के व्यवसाय में साख एक पूंजी का काम देती है। वह अपनी साख के बल-भरोसे पर चाहे जितना धन, स्वत्व या अधिकार प्राप्त कर लेता है। इतना धन सम्भवतः उसे अपनी पूंजी के बल-भरोसे पर कभी प्राप्त न होता। साख के प्रभाव से सोने-चांदी के सिक्कों की आवश्यकता बहुत कम रहती है और उनका अधिकांश काम हुण्डी आदि से चल जाया करता है।

भारतवर्ष में साहूकारी अथवा देशी बैंकिंग

लेन-देन एक अति प्राचीन व्यवसाय है। मनु के समय से आज तक कर्जदार की भलाई के लिए इस विषय में अनेकों नियम बन चुके हैं। प्राचीन काल में भारतवर्ष में साधारण दिनों में तो साहूकार लोगों की आवश्यकताएँ पूरी कर दिया करते थे, किन्तु दुर्भिक्ष अथवा बाढ़ और सूखा के दिनों में उनके पास लोगों की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये पर्याप्त धन नहीं रहता था, अतः इस कमी को शासक पूरा करते थे। वही प्रथा आज भी गांवों में प्रचलित है, अन्तर केवल इतना ही है कि ब्रिटिश सरकार इतनी प्रजा-प्रिय नहीं थी, अथवा जो कुछ भी सहायता ब्रिटिश सरकार या अन्य सरकारों से मिलती रही है, वह केवल आंसू पोंछने भर को थी। गांव की इस साहूकारी प्रथा को देशी बैंकिंग या इन्डीजीनस बैंकिंग कहते हैं। आधुनिक काल की बैंकिंग तथा साहूकारी में अन्तर केवल यही है कि बैङ्क औरों से ब्याज पर रुपया कर्ज लेकर भी ब्याज पर उठाता है, परन्तु साहूकार अपने ही अथवा दूसरों के रुपयों को जो कि ब्याज पर नहीं रखे गए, सूद पर उठाते हैं। अब तो कहीं-कहीं पर वे भी दूसरों से ब्याज पर रुपया उठाने के लिए ले लेते हैं।

साहूकार और महाजन लोग दूसरों का रुपया जमा करते हैं और हुण्डी-पुर्जों का व्यवहार करते हैं। ये लोग आभूषण गिरवीं रखकर रुपया उधार लेते देते हैं और सोने-चांदी आदि मूल्यवान धातुओं की वस्तु खरीदते हैं। छोटे-छोटे व्यापारियों और गांव के किसानों की, जिनकी पहुंच कि नगरों के बैङ्कों तक नहीं होती है, इन साहूकारों से ही समय-समय पर सहायता मिलती रहती है।

पिछले अध्यायों में हम किसानों की आर्थिक दशा का वर्णन कर चुके हैं। भारतवर्ष के लगभग प्रत्येक प्रान्त में किसानों के पास छोटे-छोटे खेत होते हैं, जो

बहुधा इधर-उधर बिखरे होते हैं। इन खेतों से जितना उसको लाभ होता है, इसे हम खेती-बारी की व्यवस्था वाले अध्यायों में स्पष्ट कर ही चुके हैं। ऐसी दशा में जो कुछ भी उसके पास शेष बचता है वह उसके भरण-पोषण के लिए भी पर्याप्त नहीं होता है। अतः अन्त में उसे खाद, बीज, यन्त्र, बैल की खरीद के लिए अथवा अपने बच्चों के मुण्डन, विवाह अथवा श्राद्ध के लिए जितने भी धन की आवश्यकता होती है, उसके लिये उसे अन्त में गांव के महाजन का ही पल्ला पकड़ना पड़ता है। इन महाजनों के सूद की दर अधिक होती है (प्रायः बहुत ही ऊँची होती है)। इतना ही नहीं, उसकी बेईमानी करने या हिसाब न रखने की भी बहुधा शिकायतें रहती हैं। वह नाना-प्रकार के गन्दे तरीकों और बेईमानियों से बेचारे अपढ़ और निर्धन किसानों को त्रस्त करता रहता है।

किसान और महाजन

भारतवर्ष में किसानों के ऋण के विषय में एक महत्त्वपूर्ण विचित्रता पाई जाती है। आज भी (चूंकि बहुतों का ऐसा विचार है कि अब किसानों की अवस्था में सुधार हो चुका है) अधिकांश किसान अपने जीवन का आरम्भ पैतृक ऋण के भार से दब कर करते हैं, अर्थात् उनके ऊपर पैतृक ऋण का बोझ होता है। अपने जीवन काल में भी उन्हें अनेक अवसरों पर काफी ऋण लेने की आवश्यकता पड़ती है। इस प्रकार अपने पैतृक ऋण के साथ ही साथ कुछ अपने जीवन काल में लिए गए ऋण के भार को वे अपनी सन्तान के चुकाने के लिए छोड़ जाते हैं। हमारे देश में किसानों की ऐसी अवस्था अति प्राचीन काल से चली आती है। विगत शताब्दी में और विशेषकर पिछले ५० वर्षों में यह अवस्था अत्यन्त शोचनीय हो गई है। केन्द्रीय-बैंकिंग-अन्वेषण समिति (Central Banking Enquiry Committee) ने अपनी खोज के अनुसार बताया था कि भारतवर्ष में किसानों के ऋण का योग लगभग ९०० करोड़ रुपया है। उसके बाद की खोजों में इस ऋण की मात्रा को १२०० करोड़ रुपया तक भी पहुंच गया बतलाते थे।

किसान और उनपर ऋण का बोझ

इस ऋण के विषय में विद्वानों के अनेक मत हैं, जो संक्षेप में निम्नलिखित हैं—

(१) भारतीय सामाजिक व्यवस्था जिनके कारण किसानों को समाज के नियमों को उल्लङ्घन करने में जातिच्युत होने का भय रहता है, विवाह और श्राद्ध

तो हमारे ग्रामीण जीवन के दो ऐसे मुख्य अवसर हैं जब कि हमें जाति या बिरादरी वालों को प्रीति-भोज देना ही पड़ता है। निर्धन किसानों के पास इतनी पूँजी नहीं होती कि वे इतने धन की व्यवस्था सरलतापूर्वक स्वयं कर सकें, अतः उनको ऋण लेना ही पड़ता है।

(२) अज्ञानता और अशिक्षितता—धर्मान्ध और अशिक्षित किसानों को भविष्य का कुछ भी ज्ञान नहीं होता। वे फसल कटने के समय जितना अधिक व्यय कर सकते हैं, करते हैं और भविष्य के लिये कुछ भी बचा कर रखने का प्रयत्न नहीं करते हैं। फल यह होता है कि उन्हें आड़े समय महाजन की शरण लेनी पड़ती है। अशिक्षित और भोलेपन का नाजायज़ फायदा महाजन उठाता है। वे रुपया देने से पूर्व रुक्के पर निशानी अंगूठा लगवा लेते हैं और बाद में धन-राशि तथा ब्याज की दर में मनचाहा परिवर्तन कर लेते हैं।

(३) खेती की विचित्रताएँ—इन सबके अतिरिक्त हमारे देश की खेती-बारी और जलवायु की भी अपनी विशिष्टताएँ हैं। जैसा कि विगत अध्यायों में हम देख चुके हैं कि हमारे देश की खेती अधिकतर वर्षा पर आश्रित है, और वर्षा के सम्बन्ध में भी हम देख चुके हैं कि यहां कभी अतिवृष्टि होती है, जिसके परिणाम स्वरूप बाढ़ आती है, और कभी अनावृष्टि के कारण सूखा और दुर्भिक्ष पड़ते हैं। इन सभी परिस्थितियों में किसान को विवश होकर ऋण लेना पड़ता है। भारतवर्ष की खेती के विषय में अब तक जो अनुभव किये गए हैं उन सबका निष्कर्ष यह है कि यहाँ हर पांच वर्षों में एक वर्ष तो अच्छी उपज होती है और एक वर्ष अत्यन्त खराब तथा शेष तीन वर्ष साधारण रहती है।

इन सब बातों के साथ-साथ किसानों को अपनी खेती-बारी की उन्नति के लिए ऋण लेने की आवश्यकता पड़ती है। उदाहरण के लिए पक्का कुँआ बनवाने, खेतों के घेरे रूँधने, नाली बनवाने, खाद, बीज, यन्त्र आदि खरीदने के लिये समय-समय पर उसको धन की आवश्यकता पड़ती रहती है। इन ऋणों को हम सरलतापूर्वक तीन श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं।

किसानों को ऋण की आवश्यकता

(१) अति अल्पकालीन ऋण, (२) अल्पकालीन ऋण और (३) दीर्घकालीन ऋण।

किसानों को ये ऋण प्रायः अपनी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्त्ति के निमित्त लेने पड़ते हैं। गाय-बैल, खाद, बीज और यन्त्र खरीदने, लगान और माल-गुजारी देने के लिए; मजदूरों को पारिश्रमिक देने तथा अपने कुटुम्ब और जानवरों के भोजन की व्यवस्था करने के लिये जो धन उधार लिया जाता है, उसकी गणना अति अल्प-कालीन तथा अल्पकालीन ऋण में की जाती है।

अति अल्पकालीन और अल्पकालीन ऋण

ये ऋण प्रायः आठ या नौ महीनों के लिए लिये जाते हैं और इनका भुगतान प्रायः फसल की उपज से किया जाता है। इन सामयिक ऋणों का मिलना किसानों के लिये अत्यावश्यक है और इन्हीं पर उसकी खेती-बारी की सफलता अवलम्बित है। यदि इन ऋणों के मिलने में विलम्ब हो जावे तो या तो वह खेती सर्वथा ही न कर सकेगा अथवा उसका सारा किया हुआ परिश्रम व्यर्थ चौपट हो जावेगा। साधारणतः इस प्रकार के ऋण उसे समय पर कम सूद पर मिल जाने चाहिए और यदि किसी कारणवश उपज अच्छी न हो तो इनके भुगतान की अवधि (मियाद) बढ़ जानी चाहिये।

दीर्घकालीन ऋण किसानों को भूमि खरीदने, कुंआ और नाली बनाने, खेतों की चकबन्दी अथवा महँगे यन्त्रों के खरीदने छोटे-मोटे उद्योग-धन्धों को चलाने के लिए आवश्यक होते हैं। कभी-कभी पुराने अथवा पैतृक ऋण चुकाने के लिये भी उधार लिया जाता है।

दीर्घकालीन ऋण

दीर्घकालीन ऋण की मात्रा व्यवसाय चलाने भर के लिए काफ़ी होनी चाहिए। दूसरे शब्दों में हम इस प्रकार कह सकते हैं कि दीर्घकालीन ऋण की मात्रा अधिक होनी चाहिये और यह कई वर्षों में प्रायः किश्तों द्वारा चुकाया जाता है। साधारण तौर पर इस प्रकार के ऋण पर सूद की दर अधिक रहती है।

भारतवर्ष में ऋण का बहुत कम हिस्सा खेती की स्थायी उन्नति में लगाया जाता है। अल्पकालीन और दीर्घकालीन दोनों प्रकार के ऋण का एक बहुत बड़ा भाग उनके निजी काम-काज में ही खर्च हो जाता है। लिनलिथगो कमीशन ने अपनी जांच के बाद जो राय प्रकट की थी वह निम्न प्रकार है—भारतवर्ष में जो बहुधा दीर्घकाल के लिए ऋण लिया जाता है। उसे किसान अपने खेतों को गिरवीं रख कर लेते हैं। पहिले जब जमीन सस्ती थी तो उसे रेहन करने पर अधिक

रुपया नहीं मिलता था, परन्तु अब चूंकि भूमि का मूल्य बढ़ चला है, इससे अनुमान किया जाता है कि उसके बदले में उसे काफ़ी धन उधार मिल जाता है। पञ्जाब में इस विषय में जांच करने पर मालूम हुआ है कि इस रेहन से प्राप्त हुए ऋण का एक बहुत थोड़ा अंश खेती-बारी में खर्च किया जाता है। यह बात जितनी सत्य पञ्जाब के विषय में है, उतनी सत्य और प्रान्तों के लिये भी है। जब ऋण का बोझ बढ़ जाता है तो किसान को रुपया मिलने में कठिनाई होने लगती है। इस कठिनाई को दूर करने तथा रुपया प्राप्त करने के लिए वह फिर बार-बार अपनी भूमि को रेहन रखने लगता है। स्मरण रहे कि अनुत्पादक कार्यों के लिए जो ऋण लिया जाता है उसके चुकाने में सदा विलम्ब होता है अथवा चुकाया ही नहीं जा सकता है और वह क्रमशः क्षीण होता जाता है और अन्त में किसान को अपनी भूमि से हाथ धोना पड़ता है।

महाजनी सूद की दर

प्रान्तीय-बैंकिंग समितियों की जांच के अनुसार हमें पता चलता है कि अनेक प्रान्तों में महाजन लोग १२ से ३७॥ प्रतिशत सूद पर ऋण लेते हैं। यह सूद की दर कई बातों पर निर्भर रहती है। (१) गिरवीं या रेहन रखने वाली वस्तु की मात्रा और अवस्था, (२) ऋण की मात्रा, और ऋण देने वालों की संख्या।

जब आभूषण गिरवीं रख कर ऋण दिया जाता है तो सूद की दर कम होती है। और बिना गिरवीं रखे जब ऋण दिया जाता है तो ऋण की दर अपेक्षाकृत बहुत अधिक रहती है, जो कभी-कभी ३०० प्रतिशत तक हो जाती है। सूद की दर इतनी अधिक ऊँची होने के निम्न मुख्य कारण होते हैं—

(१) अनेक गांवों में किसानों को ऋण देने के लिए महाजन के सिवाय अन्य दूसरा कोई नहीं होता है। ऐसी अवस्था में वे अपने एकाधिकार का लाभ उठाते हैं।

(२) बहुत से ऐसे भी गाँव होते हैं, जिनमें निकट के कई गांवों में भी कोई महाजन नहीं होता, जिससे कि किसान अपनी आवश्यकता के समय धन उधार ले सकें। ऐसी अवस्था में वे पास के जिस गाँव में भी महाजन होता है वहाँ से रुपये प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं। चूँकि उन किसानों से महाजन अपरिचित होता है, अतः वह जोखिम को पूरा करने के लिये सूद की दर को बढ़ा देता है।

(३) किसानों की मांग के अनुसार ऋण देने की व्यवस्था नहीं होती—अर्थात् ऋण देने वाले महाजनों की संख्या तथा उनके पास धन की मात्रा इतनी नहीं होती कि वे सबकी आवश्यकताएँ समयानुकूल पूरी कर सकें। अतः, सूद की दर अधिक ली जाती है।

(४) अज्ञानता, अन्ध-विश्वास और ऋण प्राप्त करने के लिये गिरवीं रखने के लिए उचित माल के अभाव में भी सूद की दर अधिक हो जाती है।

इस अधिक सूद की दर को रोकने व कम करने के लिए सन् १९१८ में एक नियम निर्धारित किया गया, जिसे हम ऋण पर अधिक सूद को रोकने वाला कानून (Usurious loans Act) कहते हैं। इसके अनुसार कचहरी में ऋण सम्बन्धी सब हिसाब-किताब की जांच-पड़ताल की जा सकती है और नियमानुसार यदि सूद की दर अधिक है तो वे दण्ड दे सकते हैं। भिन्न-भिन्न प्रान्तों में अधिक से अधिक सूद की दर नीचे लिखे अनुसार हो सकती है—

प्रान्त	जामिन-ऋण (जिनके लिए गिरवीं माल रखा जाता है)	अन्य (जिनके पाने के लिए कोई माल गिरवीं नहीं रखा जाता है)
मद्रास-ऋण-रक्षा कानून (१९३४)	९	१५
पञ्जाब का ऋण-रक्षक कानून (१९३४)	१२	१८ ३/४
मध्य प्रान्त का अधिक सूद को रोकने वाला १९३४ का कानून	१२	१८
उत्तर-प्रदेश का १९३४ का कानून	१२	२४
बिहार का महाजन सम्बन्धी कानून (१९३८)	९	१२
उड़ीसा ,, ,,	९	१२
बम्बई ,, ,,	९	१२
बंगाल ,, ,,	९	१५
आसाम ,, ,,	९॥	१२॥

यदि उपर्युक्त बताई गई दरों से सूद अधिक लिया गया हो तो न्यायालय उस धन-राशि को मूलधन में जमा करा सकते हैं। इसके अतिरिक्त यदि ऋण-ग्रस्त किसान चाहें तो अपने ऋण को कचहरी में जमा कर सकते हैं; किन्तु ऐसी व्यवस्था केवल बम्बई, बिहार, उड़ीसा, बंगाल व पंजाब में ही पाई जाती है।

महाजनों की दूषित वृत्तियाँ

केवल अधिक सूद की दर से ही महाजन सन्तुष्ट हो जाते हों सो बात नहीं है, वे इसके अतिरिक्त भी अन्य कई प्रकार की बेईमानी करते हैं और अनेक प्रकार की दूषित वृत्तियां प्रचलित रहती हैं, जो संक्षेप में निम्नलिखित होती हैं :—

(१) अग्रिम ब्याज के लिए धन मांगते हैं।

(२) सादे कागज या रुक्के पर निशानी अंगूठा लगवा लेते हैं, जिस पर वे बाद में मनचाहे परिवर्तन कर लेते हैं।

(३) हिसाब-किताब रखने में गड़बड़ी।

(४) जितना ऋण दिया जाता है, उससे अधिक रुपयों के लिए किसान से जबरन स्वीकृति पत्र लिखवा लेते हैं।

(५) ऋण देकर महाजन उनसे बेगार वसूल करते हैं।

(६) समय-समय पर महाजन के मुनीमों को प्रसन्न करने के लिए कुछ पुरस्कार किसानों को देना पड़ता है।

(७) कभी-कभी महाजन लोग किसानों से जबरन रुक्का लिखवा लेते हैं।

सहकारिता

भारतवर्ष में सहयोग और सहकारिता की उत्पत्ति

निर्धन किसान की सहायता करने के लिए सरकार ने उपर्युक्त कानूनों के अतिरिक्त अन्य कई और कानून और नियमों का निर्माण किया है। सहकारी बैङ्कों की स्थापना और सहकारिता की भावना उनमें से मुख्य हैं। यहाँ हम उनके विषय में भी कुछ विचार करेंगे। इन सहकारी बैङ्कों के विविध भेदों के विषय में ज्ञान प्राप्त करने से पूर्व हमें पहिले सहकारिता की उपयोगिता जान लेना

आवश्यक है। सच पूछा जाय तो सहकारिता की भावना भारतवर्ष के लिये कोई नवीन बात नहीं है। भारतवर्ष की ग्राम्य व्यवस्था और संगठन केवल इसी सिद्धान्त पर अवलम्बित है। खेती-बारी में हल जोतने, सिंचाई करने, निराई और गुड़ाई आदि सभी क्रियाओं में सर्वत्र सहयोग की भावना दृष्टिगत होती है। हमारे यहाँ गांवों में यह भावना अति प्राचीन काल से चली आई है। पञ्चायतों का निर्माण हमारी सहयोग और सहकारिता के अवशेष चिह्न अब भी हमें दीख पड़ते हैं। आधुनिक प्रकार की सहयोग की भावना और सहकारिता की उत्पत्ति विगत पचास वर्षों में हुई है। सरकार की ओर से अनेक सहकारी संस्थाएँ खोली गईं और उनके निर्माण करने के लिए विविध कानून बनाए गए। इन संस्थाओं का निर्माण निर्धन किसानों को सहायता पहुँचाने तथा गांवों की आर्थिक दशा सुधारने के दृष्टिकोण से किया गया है।

भारतवर्ष में सहयोगी संस्थाओं का आरम्भ सबसे पहिले उत्तर-प्रदेश में सन् १९०१ में हुआ था, फिर बाद में सन् १९०४ में केन्द्रीय सरकार ने सहयोगी-संस्थाओं के विषय में एक कानून पास किया। इस कानून के अनुसार भारतवर्ष में सहकारी साख-समितियां खोलने का निर्देश मिला। चूँकि जनता को पहिले सहयोगी संस्थाओं का अनुभव नहीं था। उक्त सरकार ने इसके सञ्चालन के लिए सरकारी अफसरों की ही नियुक्ति की। इन संस्थाओं का कार्य आरम्भ में केवल रुपया उधार देना मात्र ही था; किन्तु आलोचकों ने इस सरकारी नीति को न्यायोचित न ठहराया। अतः सन् १९१२ में एक दूसरा कानून बनाया गया जिसके अनुसार इन सहयोगी संस्थाओं का क्षेत्र और भी विस्तृत कर दिया गया। अर्थात् साख-सहकारिता के अतिरिक्त इनका कार्य उत्पादकों और उपभोक्ताओं को भी सहायता और सहयोग देना था। १९१४ की मैकलैगन कमेटी, १९२८ के शाही कृषि-कमीशन तथा केन्द्रीय और प्रान्तीय बैंकिंग समितियों की राय से अब सहयोगी संस्थाएँ सर्वाङ्गीण उन्नति के लिये निर्मित की गई हैं।

भारतवर्ष की सहयोगी संस्थाओं के विषय में तीन आवश्यक बातें जान लेनी आवश्यक है। पहिले इन संस्थाओं का काम केवल रुपया उधार देना ही निश्चित किया गया था। इसका कारण यह था कि जिस आधुनिक

भारतवर्ष में सहयोगी-संस्थाओं के विषय में कुछ जानने योग्य आवश्यक बातें

ढङ्ग से इनका प्रचार किया गया वह भारतवर्ष के लिये सर्वथा नवीन था। अतः जब तक इसका पूर्ण विकास न हो जाय तथा पूरा-पूरा अनुभव प्राप्त न हो, सरकार ने नियमित क्षेत्र में ही काम करना उचित समझा। उन दिनों भारतवर्ष में सहकारिता सम्बन्धी साहित्य की भी बहुत कमी थी। इस प्रकार ये संस्थाएँ आरम्भ में केवल खेती-बारी के व्यवसाय के लिये रुपया उधार देने के लिए ही खोली गई थीं।

इन सहयोगी संस्थाओं के विषय में दूसरी बात यह है कि ये संस्थाएँ जनता के आग्रह से नहीं खोली गईं। जापान की भांति यहाँ भी सरकार ने लोगों की अवस्था सुधारने के निमित्त हो इनको खोलने के लिये कानून बनाए। ब्रिटेन आदि पाश्चात्य देशों में जनता ने अपनी आवश्यकताओं को पूर्ण करने के उद्देश्य से स्वयं ही ऐसी संस्थाएँ खोलीं।

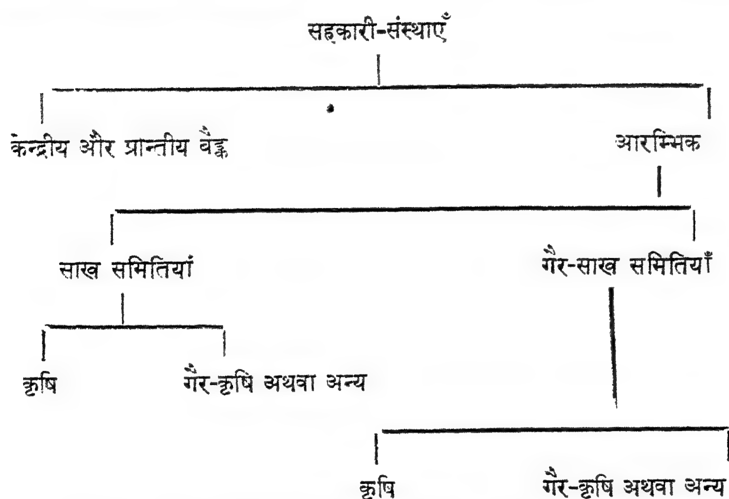
तीसरी बात यह है कि सरकार ने आरम्भ में केवल साख समितियाँ ही स्थापित कीं। अन्य प्रकार की आर्थिक उन्नति के प्रयत्न तो सन् १९१२ के बाद ही आरम्भ किये गए। धीरे-धीरे जनता का ध्यान सरकारी विभाग द्वारा इसके लाभों की ओर आकर्षित किया गया। जब इन संस्थाओं की उपयोगिता क्रमशः लोगों को प्रकट होने लगी तो इनके विकास और विस्तार में भी वृद्धि हुई।

सन् १९०१ से और आज तक सहयोगी संस्थाओं में जो वृद्धि हुई है उसका विवरण हम निम्न कोष्ठक में देते हैं—

पञ्चवर्षीय औसत	संस्थाओं की संख्या (सहस्रों में)	संस्था से संबंधित सदस्यों की संख्या (लाखों में)	लागत धन (मूलधन) का अनुमान (करोड़ रुपयों में)
१९१०-११ से १९१४-१५	१२	५.५	५.४८
१९१५-१६ से १९१९-२०	२८	११.३	१५.१८
१९२०-२१ से १९२४-२५	५८	२१.५	३६.३६
१९२५-२६ से १९२९-३०	९४	३६.९	७४.८९
१९३०-३१ से १९३४-३५	१०६	४३.२	९४.६१
१९४०-४१ से —	१४२	६४.०	१०९.३४

भारतवर्ष में सहयोगी संस्थाओं की वृद्धि विशेषतः प्रथम महायुद्ध के उपरान्त हुई और १९३५ के स्वायत्त-शासन के नियमों के बनने से इनकी प्रगति को और भी अधिक चेतना मिली।

सहकारिता का ढाँचा—निम्न चित्र द्वारा हम भारतवर्ष में भिन्न-भिन्न प्रकार की सहयोगी संस्थाओं को दिखाते हैं—



सहकारी साख-समितियों की केन्द्रीय संस्था को केन्द्रीय-बैंक कहते हैं। ये बैंक जिले की सहकारी समितियों की सहायता करते हैं। ये बैंक भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न प्रान्तों में तथा देशी रियासतों में स्थित हैं और इनका मुख्य कार्यालय जिले के सदर मुकाम में होता है। ये बैंक परिमित देवनागरी का काम करते हैं और इनकी पूँजी हिस्सों द्वारा प्राप्त होती है। इनके सदस्य सहकारी समितियों के अतिरिक्त जन-साधारण में से हो सकते हैं। ये सर्व साधारण की अमानतें मामूली ब्याज की दर पर जमा करते हैं। ये बैंक ग्राम-सहकारी संस्थाओं को कुछ अधिक ब्याज पर रुपया उधार देते हैं और इनसे जो इन्हें लाभ होता है, उसे अपने हिस्सेदारों में बांट देते हैं।

केन्द्रीय तथा प्रांतीय सहकारी बैंक

प्रान्तों के प्रान्तीय सहकारी बैंक केन्द्रीय बैंकों की सहायता तथा नियन्त्रण करते हैं और लोगों के आभूषण तथा सम्पत्ति गिरवीं और रेहन रख कर रुपया

उधार देते हैं। इसके अतिरिक्त ये हुण्डी और चेकों का भुगतान तथा अन्य व्यवसाय भी करते हैं। इन प्रान्तीय बैंकों का सीधा सम्बन्ध इम्पीरियल, रिज़र्व आदि बड़े बैंकों से रहता है। सहकारी-साख समितियों का प्रबन्ध प्रायः स्थानीय आदमी ही करते हैं।

सहकारी साख-समितियां

इन समितियों के ये प्रबन्धक व्यक्ति अपनी सेवाओं के बदले में कुछ भी पारिश्रमिक नहीं लेते हैं। सरकार भी इन बैंकों की आय पर आय-कर नहीं लेती है और स्टाम्प ड्यूटी आदि महसूलों से भी इनको मुक्ति मिली हुई है। यदि कोई किसान किसी सहकारी बैंक का ऋण न चुका सके, तो सरकारी लगान दे चुकने पर, बैंक का अधिकार उसकी सम्पत्ति पर सब लेनदारों से पहिले होता है। इन बैंकों से जो लाभ होता है, वे संक्षेप में निम्नलिखित हैं —

(१) इन बैंकों से निर्धन किसानों को कम सूद पर धन मिल जाता है।

(२) ये बैंक केवल उत्पादक कार्यों के लिए ही धन उधार देते हैं। अतः अपव्यय या फिजूलखर्ची के लिए उन्हें धन नहीं मिल पाता है।

(३) किसान और श्रमिक यदि चाहें तो अपनी बचत को इन बैंकों में जमा कर सकते हैं और अपने मूलधन पर अन्य स्थानों से अधिक ब्याज प्राप्त कर सकते हैं।

(४) सबसे महत्त्वपूर्ण लाभ जो इन बैंकों के सदस्यों को इनसे होते हैं वे ये हैं कि इन बैंकों से लोगों में परस्पर एक दूसरे के साथ विश्वास, सहायता दूरदर्शिता और मितव्ययिता के भाव विकसित होने लगते हैं।

इन संस्थाओं का मुख्य उद्देश्य किसानों को ऋणमुक्त करना ही है और इसके लिये वे समय-समय पर उनको ऋण देते रहते हैं। समिति की सहायता सभासद के अतिरिक्त, कुछ अंश में उसके कुटुम्ब को भी मिलती है।

भूमि बंधक बैङ्क

हम ऊपर बता ही चुके हैं कि किसानों को दीर्घकालीन ऋण की भी आवश्यकता हुआ करती है। ये ऋण प्रायः भूमि की चकबन्दी, नई भूमि खरीदने, अहाता या बाड़ बनवाने, उपयोगी यन्त्र आदि खरीदने के लिये आवश्यक होते हैं। अल्पकालीन ऋण की व्यवस्था तो सहकारी कृषि-साख-समितियां सरलतापूर्वक कर देती हैं, किन्तु इस दीर्घकालीन

ऋण के लिये भूमि बन्धक बैंक खोले गये हैं। ये बैंक किसानों की भूमि को रेहन रख कर कई वर्षों तक के लिये ऋण दे देते हैं, जो साधारण ब्याज पर छोटी छोटी किस्तों में वसूल किया जाता है। ये बैंक छोटी-छोटी रकमों के ऋण पत्रों (डिबैंचरों) द्वारा, जिन्हें साधारण स्थिति के व्यक्ति भी खरीद सकते हैं, अपने वास्ते धन संग्रह करते हैं। भूमि बन्धक बैंक प्रायः तीन प्रकार के होते हैं—(१) सहकारी, (२) अर्द्ध सरकारी, और (३) गैर-सरकारी। यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो ये बैंक भारत जैसे कृषि-प्रधान देश की आवश्यकतानुसार बहुत ही कम हैं। इन बैंकों की संख्या सन् १९४०-४१ तक केवल ४१ थी और कुल समितियों की संख्या २७१ थी।

ये बैंक परिमित देनदारी के होते हैं और लाभ के उद्देश्य से काम नहीं करते हैं, वरन् इनका लक्ष्य सूद की दर घटा कर किसानों को आर्थिक सहायता पहुंचाना होता है। भारतवर्ष में सहकारिता का अभी बहुत विस्तृत क्षेत्र है और प्रान्तीय सरकारें इस ओर बड़ी सतर्कता से काम कर रही हैं।

उनचासवां अध्याय

वितरण की समस्या

किसी वस्तु को उत्पन्न करने के लिए अनेक साधनों—भूमि, श्रम, पूँजी, व्यवस्था आदि की आवश्यकता हुआ करती है। उत्पत्ति करने के लिये इन सब साधनों का अनेक प्रकार से मेल और उपयोग किया जाता है। अधिकांशतः उत्पत्ति के इन साधनों का स्वामित्त्व भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के हाथ में रहता है, जिन्हें हम उत्पत्ति के साधक मानते हैं। अतः उत्पत्ति करने के लिये कदाचित् कोई ऐसा व्यक्ति (साधक) हो जो अपने साधनों का उपयोग बिना पुरस्कार, उजरत अथवा पारिश्रमिक लिये ही कर लेने दे। इस प्रकार यह एक अत्यन्त ही आवश्यक और महत्त्वपूर्ण प्रश्न है, कि इन साधकों को

वितरण का अर्थ

कितना पारिश्रमिक अथवा पुरस्कार दिया जाय ? उनका परस्पर क्या सम्बन्ध रहे तथा वे किस अनुपात में रहें ? ये सब उत्पत्ति की आय की मात्रा पर निर्भर रहते हैं; और इनका परस्पर सम्बन्ध तथा किस अनुपात में इनका वितरण हो, इन सब बातों का अध्ययन हम अर्थशास्त्र के इस अध्याय से करते हैं। इन बातों पर हम विस्तृत रूप से विचार तो अगले अध्यायों में करेंगे। यहां हम वितरण के महत्त्व, उसके विकास आदि समस्याओं पर प्रकाश डालना उचित समझते हैं।

वितरण का महत्त्व

इस संसार में प्रत्येक उत्पादन कार्य केवल इसलिये होता है कि उससे उत्पन्न वस्तु (या वस्तुओं) का उपभोग हो, जिससे कि मनुष्य की आवश्यकताएँ पूर्ण हो सकें। अस्तु ; उत्पत्ति के लिए उपभोग का होना अत्यन्त आवश्यक है और यही उत्पत्ति की जड़ अथवा आधार है। किन्तु किसी वस्तु का उपभोग बिना उसके वितरण के होना सम्भव नहीं है। जब कोई वस्तु उत्पन्न कर ली जाती है तो पहिले उसका वितरण किया जाता है और तभी उसका उपभोग किया जाता है। अतः उस वस्तु का उपभोग अन्त में वितरण पर अवलम्बित है। इस प्रकार हम देखते हैं कि किसी वस्तु की उत्पत्ति की मात्रा, उपभोग और उपभोग वितरण की गति पर निर्भर रहती है। इस दृष्टि से आज वितरण की समस्या अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है और इसके बिना उत्पत्ति तथा उपभोग असम्भव हैं।

वितरण का विकास क्रम

पूर्वकाल में, तथा भारतवर्ष में तो बहुधा अब भी, गाँवों में किसान तथा कारीगर, जैसे—बढ़ई, लुहार, चमार, कुम्हार इत्यादि—सभी अपना काम अपने हाथों किया करते थे। जो कच्चा माल प्राकृतिक साधनों से उन्हें मिल जाता था, उसी से घर के सब व्यक्ति मिलकर उत्पत्ति करते थे। अन्त में इस सामूहिक प्रयत्न से जो वस्तुएँ तैयार होती थीं उन्हें वे आस-पास की हाट में या वहीं उस गांव में बेच दिया करते थे। इस प्रकार विक्रय से जो दाम उनको मिलते थे, वही उस परिवार के व्यक्तियों की सम्मिलित आय होती थी और सब मिल-जुलकर ही उसका उपभोग कर लिया करते थे। अतः उस काल में चूँकि एक व्यक्ति और उसके आत्मज तथा स्त्री आदि ही सब काम (बहुधा अनेक भी—जैसे वही खेती करता था, सूत कातता और बुनता था तथा अपने छोटे-मोटे करघों से कपड़ा भी तैयार कर लेता था)

कर लिया करते थे, तो उन्हें किसी अन्य व्यक्ति को कुछ देने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती थी। अतः ऐसी अवस्था में वितरण के प्रश्न के उठने की भी सम्भावना नहीं होती।

किन्तु, ज्यों-ज्यों जनसंख्या बढ़ती गई, उनकी आवश्यकताएँ भी उन्हीं के अनुरूप बढ़ती गईं और उनकी बुद्धि में भी विकास होने लगा। नई-नई मशीनों का आविष्कार होने लगा। उत्पत्ति का क्रम भी बदलने लगा। इन मशीनों द्वारा कम परिश्रम करने पर ही, सस्ती कीमत में अधिक मात्रा में वस्तुएँ तैयार होने लगीं। इस प्रकार एक ओर सस्ता माल तैयार होता था तो दूसरी ओर उनकी बिक्री तथा खपत भी बढ़ने लगी। उत्पादकों का लाभ भी परिणाम-स्वरूप बढ़ने लगा।

अब ज्यों-ज्यों लाभ की मात्रा बढ़ती गई; त्यों-त्यों अधिक मात्रा में उत्पत्ति करने के लिये कुछ और अधिक भूमि खरीदी जाने लगी अथवा लगान या पट्टे पर उसका उपयोग होने लगा। पहिले की अपेक्षा पूँजी की मात्रा में भी वृद्धि करने की आवश्यकता हुई। यदि धन की कमी होती है तो सूद पर किसी साहूकार या पूँजी-पति से रुपया उधार ले लेते हैं। नई-नई मशीनों, अधिक श्रम आदि की व्यवस्था और प्रबन्ध के लिए प्रबन्धक और व्यवस्थापकों की नियुक्ति की जाने लगी है। मशीनों, यन्त्रों और कल-पुर्जों में जो घिसावट होती है, उसकी छीजन के लिए एक पृथक् कोष बना लिया जाता है, जिसमें कुल आय की एक निश्चित भाग की धनराशि जमा कर दी जाती है। इस प्रकार वे अधिक से अधिक लाभ बढ़ाने के लिए क्या नहीं करते? बीमा कराते हैं, कुशल कारीगर और अच्छी मशीनों को व्यवहार में लाते हैं, व्यवस्थापक लोग अपनी कुशाग्र बुद्धि द्वारा सारे कार्य का संचालन करते हैं। इस प्रकार उत्पत्ति से अब जो धन प्राप्त होता है उसमें से वे खाद, बीज आदि (अस्थायी मूलधन) का व्यय, शक्ति उपयोग की हो तो उसका खर्च, यन्त्रों, मकानों और पशु-सम्पत्ति पर घिसावट और छीजन का भाग, बिक्री और बीमा आदि का खर्च निकाल देते हैं। शेष जो रकम बचती है वही आय कहलाती है। इस आय का कोई व्यक्ति विशेष अधिकारी नहीं होता है, किन्तु इसमें :अनेक व्यक्ति साझीदार रहते हैं। इस प्रकार किसी देश के समस्त, श्रम, पूँजी और व्यवस्था द्वारा देश के प्राकृतिक साधनों पर काम करके

किसी एक निश्चित काल में जो उत्पत्ति की जाती है, उसे हम 'राष्ट्रीय आय' कहते हैं।

उपरोक्त वर्णन्न द्वारा हमने यह समझाने का प्रयत्न किया है कि किसी देश में उत्पत्ति के लिए अनेक साधनों का विविध अनुपात में आवश्यकतानुसार मिला कर उपयोग किया जाता है। इस तरह किसी वर्ष में जितनी भी वस्तुओं तथा सेवाओं की जो मात्रा उत्पन्न होती है उनके उत्पन्न करने में मशीनों, यन्त्रों, मकानों, पशुओं आदि का उपयोग किया जाता है। इनके उपयोग होने में घिसाई, टूट-फूट आदि होती है, बहुतों में मरम्मत करानी होती है। अस्थायी मूलधन की भी आवश्यकता होती है। इस तरह की लागत, क्षय, छीज, कमी उस वर्ष की उत्पत्ति में से पूरी कर देनी चाहिए। शेष जो कुछ भी बच रहता है, वही उस वर्ष की असली राष्ट्रीय आय है। इसी मूल निधि में से विभिन्न साधनों को पुरस्कार अथवा पारिश्रमिक दिया जाता है।

राष्ट्रीय आय और उसका माप

इस राष्ट्रीय आय को ज्ञात करने के निम्न उपाय होते हैं —

(१) एक वर्ष में कल-कारखानों में तथा खेती-बारी में जितनी मात्रा में भी जो फसलें उगाई जाती हैं, उन सबका अनुमान लगा लिया जाता है। उनके कुल मूल्य में से क्षय-छीज, टूट-फूट, लागत, कमी की रकम निकाल देने पर जो शेष बचता है, उसी की गणना राष्ट्रीय आय में होती है।

(२) इनकम टैक्स देने वालों की आय तथा जो लोग नहीं भी देते हैं, इन सब व्यक्तियों की आय को जोड़ लिया जाता है। यह भी राष्ट्रीय आय ज्ञात करने की दूसरी विधि है।

(३) इस तीसरी रीति से विभिन्न उत्पादन कार्यों में लगे हुए व्यक्तियों की आय अलग अलग करके जोड़ ली जाती है।

राष्ट्रीय आय को मालूम करने में निम्न बातों पर सावधानी रखनी पड़ती है। एक ही रकम अनेक बार न जोड़ ली जाय। इसके अतिरिक्त परोपकार वृत्ति से किए गए दान, धर्म, अभ्यागतों के लिए की गई सेवाएँ, भेंट, नज़राना, उपहार, पेंशन, घूस आदि की रकमें नहीं जोड़ी जातीं।

इस प्रकार से जो राष्ट्रीय आय किसी देश की होती है, उसी का उत्पत्ति में

राष्ट्रीय आय का ही वितरण होता है

भाग लेने वाले साधनों में वितरित कर दी जाती है। अन्य सब बातों के यथावत् रहने पर यह निश्चित है कि राष्ट्रीय आय की मात्रा जितनी ही अधिक होगी, उत्पत्ति के साधकों को उसमें से उतना ही अधिक भाग मिलेगा। राष्ट्रीय आय एक प्रकार की धारा है, जिसका प्रवाह सदा चलता रहता है।

विभिन्न साधनों में राष्ट्रीय आय का वितरण निम्न कोष्ठक में दिखाई गई विधि से होता है।

उत्पत्ति के साधन	उत्पत्ति के साधक		उनका पुरस्कार
(१) भूमि	जमींदार		लगान अथवा भाड़ा
(२) श्रम	श्रमिक		मजदूरी
(३) पूँजी	पूँजीपति	(महाजन या साहूकार)	सूद
(४) प्रबन्ध	प्रबन्धक	(गावों में तो बहुधा एक किसान ही इन दोनों का स्वामी स्वयं होता है)	वेतन
(५) साहस	साहसी		लाभ

भारतीय गाँवों में जैसा कि ऊपर दिखाया गया है किसान स्वयं ही अपनी खेती बारी की व्यवस्था करता है। वह अपनी फसल को उगाने के लिए इन

खेती बारी में वितरण क्रम

विभिन्न साधनों को मिलाता है और वह स्वयं ही उनके पुरस्कार आदि की दर निर्णय करता है। प्रत्येक व्यक्ति से वह अलग-अलग ठहराव करता है और उनको स्वयं ही पारिश्रमिक, सूद, लगान आदि देता है। यदि किश्तों के अनुसार ठहराव होता है तो उसी के अनुसार वह पैसा देता है, अथवा यदि दैनिक, साप्ताहिक या फसल कटने पर, तो उसी के अनुसार आचरण करता है। ठहराव करते समय वह फसल की उत्पत्ति के अन्तिम परिणाम को देखकर उजरत निश्चय नहीं करता। हाँ, यदि फसल दैवी आपत्ति के कारण बिलकुल अथवा बहुत अधिक नष्ट हो जाती है तो उसे कुछ छूट मिल जाती है। जमींदारों का लगान आदि बातों का वर्णन हम अगले अध्यायों में करेंगे। वितरण व्यक्तिगत रूप से होता है। अतः उत्पत्ति में योग देने वाले व्यक्तियों में उसकी आय का बँटवारा होता है, जो व्यक्तिगत रूप में ही किया जाता है।

आर्थिक जीवन में इतना विकास हो चुका है। उत्पत्ति के प्रत्येक स्तर में उन्नति दृष्टिगत होती है। सभ्यता और संस्कृति भी अपनी चरम सीमा पर है,

परस्पर-संघर्ष और वितरण

किन्तु अभी तक एक बात में मानव पशु से किसी भी भाँति कम नहीं हैं, हाँ, उससे भी अधिक बर्बर भले ही। आज भी एक ओर जहाँ अनेक व्यक्तियों की जान केवल भूख के कारण जाती है ; नन्हें-नन्हें शिशु तड़प-तड़प कर मर जाते हैं, स्त्रियों की लज्जा का अपहरण होता है, वहां दूसरी ओर अन्य देशों के सभ्य व्यक्ति अपनी उपज के अधिक भाग को जलाकर नष्ट कर देते हैं, माल सड़ रहा है, किन्तु उसका वितरण नहीं होता। इतना ही नहीं समाज का एक भाग दूसरे का शोषण करता है, और इतना अधिक कि वह सुख-शान्ति की श्वांस तक नहीं ले सकता। उस पर अत्याचार किए जाते हैं केवल अपने और अपनी सन्तान के आमोद-प्रमोद के लिये, उसको वेतन कम दिया जाता है इसलिए कि वह अपनी पूँजी को अधिक बढ़ा कर उसका और भी अधिक शोषण कर सके। ईमानदारी से परिश्रम करने का उन्हें अवसर ही नहीं दिया जाता। जमींदार और किसान, किसान और मजदूर, पूँजीपति (साहूकार आदि) तथा मजदूर और किसान, इन सबमें परस्पर संघर्ष होता है और हो रहा है और सदा से होता आया है— केवल वितरण के प्रश्न पर ! गम्भीरता बढ़ती ही जा रही है। इस समस्या का समाधान आवश्यक है।

पचासवां अध्याय

लगान

वितरण किसे कहते हैं, वह किन-किन साधनों में और किस प्रकार से होता है और उसका हमारे दैनिक-जीवन में क्या महत्त्व है, इन सब बातों का अध्ययन हम पिछले अध्यायों में कर चुके हैं। अब हम एक-एक करके उत्पत्ति के साधकों को उनके साधनों का उपयोग करने के फलस्वरूप, जो पुरस्कार अथवा उजरत मिलती है, उनका वर्णन करेंगे। यहाँ पहिले भूमि को उपयोग में लाने के लिए जो लगान दिया जाता है, उसका विचार करते हैं।

भूमि का वर्णन करते समय हमने यह बतलाया था कि भूमि को आवश्यकतानुसार घटाया और बढ़ाया नहीं जा सकता है। वह तो हमें प्रकृति से परिमित मात्रा में ही प्राप्त है। यह भी हम पहिले बता चुके हैं कि प्रत्येक प्रकार के व्यवसाय के लिए हमें एक आधार चाहिए। इसके लिए भूमि के अतिरिक्त कोई भी दूसरा साधन न है, और न हो ही सकता है। अतः पदार्थों की उत्पत्ति करते समय मनुष्य भूमि पर ही अपने सब कारबार चलाता है और भूमि के अन्तर्गत प्रकृति-दत्त तत्त्वों का उपयोग करता है। इस प्रकार भूमि, खेत, जंगल (अथवा खान भी) आदि को उपयोग में लाने के फलस्वरूप जो धन उनके अधिकारियों को दिया जाता है, उसे हम लगान कहते हैं।

लगान का अर्थ

लगान के भेद

अर्थशास्त्र में लगान के दो मुख्य भेद माने जाते हैं—पहला कुल लगान और दूसरा आर्थिक लगान। आर्थिक लगान को बहुत से शुद्ध लगान भी मानते हैं।

कुल लगान में आर्थिक लगान के अतिरिक्त भूमि में लगे हुए मूलधन का सूद और भूमि के स्वामी का अपना विशेष लाभ सम्मिलित रहता है। इसका कारण यह है कि जो भूमि आजकल हम अपने उपयोग में ला रहे हैं, वह नई भूमि की भांति शुद्ध नहीं है। अर्थात् प्रकृति से जो भूमि आरम्भ में हमें मिली थी उसके अनुरूप अब उसके गुण नहीं रहे हैं। मनुष्य ने निरन्तर उद्योग और परिश्रम करके, उसमें पूँजी का विविध रीतियों से उपयोग करके अनेक प्रकार के परिवर्तन उपस्थित कर दिए हैं और ऐसी भूमि पर ही आज हम अपनी खेती करते हैं, रहते हैं अथवा कल-कारखाने चलाते हैं। संसार में अब भी अनेक ऐसे भाग या स्थान हैं, जहां पर मनुष्य का निवास नहीं हुआ है। उन भागों की भूमि को हम विशुद्ध या नई भूमि मानेंगे। किन्तु यदि वहां जाकर मनुष्य बस जाय और उसका उपयोग करने लगे तो उसमें भी पूँजी और श्रम की आवश्यकता होगी, उसमें आवश्यक परिवर्तन करने पड़ेंगे। अतः जो भूमि आज हमें उपलब्ध है और जिस पर कि हम अपनी खेती-बारी करते हैं वह सहस्रों वर्ष की पुरानी है, उसमें पूर्वजों की अनन्त धन-राशि और श्रम का उपयोग हो चुका है। ऐसी भूमि के उपयोग के लिए जो धन हम लगान स्वरूप देते हैं

कुल लगान

वह कुल लगान माना जाता है। उसमें आर्थिक लगान के अतिरिक्त निम्न व्यय और सम्मिलित रहते हैं—

(१) भूमि के सुधार के लिए लगाई गई पूँजी का सूद; (२) भूमि में लगी पूँजी के निरीक्षण के लिए भूमि के अधिकारी या उसके प्रतिनिधियों के श्रम का वेतन, और (३) भूमि के अधिकारी के साहस का लाभांश।

साधारण बोल-चाल की भाषा में जिसे हम लगान कहते हैं, तथा आर्थिक दृष्टि से जो लगान माना जाता है उसमें बहुत अन्तर है। खेत की कुल उपज में से लागत खर्च घटा देने पर जो शेष बच रहता है, उसे आर्थिक लगान कहते हैं। आर्थिक लगान हम निम्न विधि से निश्चित कर सकते हैं :—

आर्थिक लगान

मान लो, सोहन जमींदार एक बीघे के खेत में पूँजी और श्रम की पहिली इकाई खर्च करके साढ़े दस मन अनाज पैदा करता है। इस एक इकाई (श्रम और पूँजी की) पर उसके १५) व्यय होते हैं। यदि क्रमशः वह इन इकाइयों को बढ़ा कर अपने खेत में लगाता है तो उसकी उपज निम्नलिखित ढंग से होती है।

पूँजी और श्रम की इकाइयां	१५ प्रति इकाई के हिसाब से खर्च	उपज मनों में	कुल उपज मनों में
१ ली	१५)	१०॥	१०॥
२ री	३०)	१८	२८॥
३ री	४५)	२२॥	५१
४ थी	६०)	२०	७१
५ वीं	७५)	१६॥	८६॥

अब मान लो उपज की बिक्री बाजार में २) प्रति मन के हिसाब से होती है, तो उस खेत में तीसरी इकाई तक श्रम और पूँजी लगाई जावेगी। चूँकि सीमान्त लागत खर्च और उसकी उपज का मूल्य इसमें बराबर हो जाते हैं। तीसरी इकाई को हम सीमान्त इकाई कहेंगे और उससे होने वाली उपज को खेत की सीमान्त उपज। इस खेत में जब पूँजी और श्रम की तीन इकाई लगाई जायँगी तो कुल लागत खर्च ४५) होगा और कुल उपज ५१ मन होगी। इस ५१ मन उपज का २) प्रति मन की दर से १०२) मूल्य होगा। यदि इस १०२) में से लागत खर्च के ४५) घटा

दिए जावें तो ५७) शेष बच रहता है। यह ५७ ही इस खेत का आर्थिक लगान होगा और होना चाहिए।

लगान कैसे निश्चय होता है ?

प्रसिद्ध अंग्रेज अर्थशास्त्री रिकार्डो के मतानुसार लगान भूमि की उर्वरा तथा अविनाशी और अक्षय होने वाली शक्तियों के कारण उत्पन्न होता है। उसका कथन है कि किसी नए देश में सबसे पहिले उपजाऊ भूमि पर ही खेती होती है, फिर ज्यों-ज्यों जनसंख्या में वृद्धि होने लगती है, कम उपजाऊ भूमि भी उपयोग में आने लगती है। इन दोनों प्रकार की भूमि की उपज में अन्तर होने से ही आर्थिक लगान का विकास होता है। यदि हम अधिकाधिक भूमि पर खेती करने चले जावें तो यह नियम अवश्य लागू होता है ; किन्तु यदि हम उसी भूमि पर अधिकाधिक लागत लगाते चले जायँ तो फिर पूँजी और श्रम की प्रति इकाई पर उपज घटती और कम होती चली जावेगी जैसा कि विगत उदाहरण से स्पष्ट प्रगट हो जाता है।

रिकार्डो का मत

वास्तव में यदि देखा जावे तो लगान की उत्पत्ति भूमि के परिमित होने के कारण ही होती है। जन-संख्या की वृद्धि होने पर जब अनाज की मांग बढ़ने लगती है तो सब प्रकार की भूमि पर अधिकाधिक श्रम, पूँजी लगाकर और उचित व्यवस्था द्वारा खेती-बारी करना आरम्भ हो जाता है। भूमि के परिमित होने के कारण ही क्रमागत-ह्रास नियम शीघ्र लागू होने लगता है। यदि भूमि सीमित न हो तो यह नियम ही लागू न हो और यदि यह नियम लागू न हो तो फिर किसान हर प्रकार की भूमि पर क्यों खेती करें। हम देखते हैं कि गांवों में कई श्रेणियों की भूमि पाई जाती है—गौहन, माँझा, हार, मटियार आदि जो क्रमशः गाँव से दूर होने के कारण कम उपजाऊ होती जाती हैं। इनमें से प्रत्येक भूमि का लगान उनकी स्थिति और उर्वरा-शक्ति के कारण भिन्न-भिन्न होता है। उदाहरण के लिए अ, ब, स, द, एक-एक एकड़ वाले चार खेत हैं, जिनमें प्रत्येक में गेहूं की उपज क्रमशः ३० मन, २५ मन, २२ मन और १७ मन होती है। अब मान लो इन खेतों के मालिक सभी एक से ही हलों से उन्हें ८ बार जोतते हैं, उतना ही खाद और बीज डालते हैं तथा सिंचाई भी प्रत्येक दशा में दो बार की जाती है और जलवायु में भी उन चारों खेतों के लिए कोई अन्तर नहीं आता। इस प्रकार

इतने परिश्रम, पूंजी और खाने-पीने में उन्हें ५१) खर्च करने पड़ते हैं। अब मान लो गेहूँ बाज़ार में तीन रुपया प्रति मन बिकता है तो उनकी लागत और बिक्री का मूल्य क्रमशः इस प्रकार होगा—

खेत	कुल लागत खर्च	कुल उपज (मनों में)	३) प्रतिमन की दर से कुल प्राप्त मूल्य
अ	५१)	३०	९०)
ब	५१)	२५	७५)
स	५१)	२२	६६)
द	५१)	१७	५१)

इस उदाहरण से हम देखते हैं कि अ खेत का किसान ५१) की लागत मूल्य लगाकर ९०) रुपये की उपज पैदा करता है; और ब उतना ही धन लगाकर ७५) की तथा स, ६६) की फसल पैदा कर पाता है। किन्तु द खेत के मालिक की उपज का मूल्य केवल उतना ही हो पाता है जितनी कि लागत उसने लगाई थी, अतः उसे कोई लाभ नहीं होता। इसके विपरीत उसी गांव के अन्य किसानों को जिन्होंने अ, ब और स खेतों पर खेती की है, क्रमशः ३९), २५) और १५) लाभ प्राप्त करते हैं। यह जो अतिरिक्त लाभ इन किसानों को होता है, इसी को हम आर्थिक लगान कहते हैं। ध्यान रहे, जैसा कि हम ऊपर बता आए हैं इन ५१) रुपयों में किसानों के खाने-पीने का खर्च और थोड़ा सा लाभांश भी सम्मिलित है। इस उदारहण में द खेत सीमान्त खेत और उसकी उपज सीमान्त कहलावेगी। अतः सीमान्त खेत की अपेक्षा जब लाभांश की मात्रा बढ़ जाती है तो उस अतिरिक्त भाग को अर्थशास्त्र में हम आर्थिक लगान कहते हैं। इस प्रकार आर्थिक लगान का निश्चय सीमान्त खेतों के लगान (लाभ) से तुलना करके मालूम किया जा सकता है।

यदि ऊपर के उदाहरण में अ, ब और स खेतों के मालिक किसान स्वयं ही हैं तो उन्हें किसी दूसरे व्यक्ति को लगान न देना पड़ेगा, इसे वे स्वयं ही रख लेंगे, किन्तु यदि जमींदार कोई अन्य व्यक्ति हैं तो अवश्य ही उन्हें वह लगान उन व्यक्तियों को देना पड़ेगा जो कि उन खेतों के वास्तविक मालिक हैं।

आर्थिक लगान और कुल लगान में अन्तर जान लेने के बाद अब हम उन सब बातों पर विचार करेंगे जिनका कि प्रभाव लगान पर पड़ता है। अर्थात् किसान लोगों को जो भिन्न-भिन्न मात्रा में लगान देना पड़ता है, इसके कारण क्या हैं ? लगान में ऐसे परिवर्तन अनेक कारणों से होते हैं, जो निम्नलिखित हैं—

लगान पर प्रभाव डालने वाली शक्तियां

कीमत का प्रभाव

कीमत की तरह ही लगान का प्रादुर्भाव होता है। भूमि के उपयोग के लिए जो कीमत दी जाती है उसी को हम लगान कहते हैं। जिस प्रकार कि अन्य वस्तुओं की कीमत का निर्णय मांग और पूर्त्ति के सिद्धान्तों के अनुसार होता है, उसी प्रकार लगान का निर्णय भी होता है। भूमि की मांग उस पर उत्पन्न होने वाली वस्तुओं की मांग पर निर्भर रहती है। और उन वस्तुओं की मांग उस समय की जनसंख्या और उनकी विभिन्न आवश्यकनाओं पर निर्भर रहती है। भूमि की उपज की मात्रा और बाज़ार में उसकी दर तथा उस दर से प्राप्त कुल धन की मात्रा लागत से कितनी अधिक बैठती है, उसी के अनुसार लगान भी होगा। जिस मात्रा में उस भूमि पर उपज होती है, यदि वह उपज सीमान्त उपज ही रह जाती है, अर्थात् लागत के बराबर ही उसकी उपज के दाम मिलते हैं, अथवा उससे भी कम मिलते हैं तो लगान उसी अनुपात में कम हो जायगा। और यदि उपज अधिक होती है और उसकी प्रचलित कीमत से अच्छा मूल्य मिल सकता है तो लगान अधिक होगा। अतः कीमत लगान के निर्णय करने में प्रभाव डालती है।

उर्वरा-शक्ति

लगान का निर्णय भूमि की उर्वरा-शक्ति पर भी निर्भर रहता है। यदि एक भूमि दूसरी से अधिक उपजाऊ है तो उसका लगान अनुपजाऊ भूमि की अपेक्षा अधिक होगा। यही कारण है गांव के निकट वाली भूमि जिसे गौहान कहते हैं, और जहां पर खाद का अंश दूर वाली भूमियों की अपेक्षा अधिक होता है, उसका लगान माँझा या मटियार से सदा अधिक होता है।

यदि कोई भूमि उपजाऊ तो बहुत हो पर वह ऐसी जगह पर स्थित हो जहां आना-जाना कठिन हो ; या जहां से बाजार या मंडी अथवा बस्ती दूर हो ; या जहां जंगली जानवरों, चोरों, लुटेरों आदि का भय रहता हो ;

स्थिति का प्रभाव

अथवा जहाँ पर स्वास्थ्य खराब होने की आशंका बनी रहे, तो खेती करने वाला किसान उस खेत से पूरा-पूरा लाभ न उठा पावेगा। ऐसी अवस्था में भूमि के उपजाऊ होने पर भी उसकी स्थिति खराब होने के कारण लगान कम हो जावेगा।

आवागमन के साधनों का प्रभाव

यदि आवागमन के साधनों में सुधार हो जाय और माल लाने तथा ले जाने में सुभीता हो जाय और ढुलाई का भाड़ा कम हो जाय तो मंडी के निकट वाली भूमि का लगान पहिले की अपेक्षा कम हो जावेगा। आवागमन के साधनों में सुधार हो जाने के कारण मंडी के पास वाली भूमि की विशेषता उतनी न रहेगी। चूँकि अब दूर-दूर के स्थानों से उपज मंडी में आ सकेगी। फलतः उन दूर के स्थानों की भूमि का लगान, जहाँ से पहिले माल लाने में अधिक खर्च होता था, अब लगान बढ़ जावेगा।

जन-संख्या और लगान

जन-संख्या के बढ़ने पर रहने तथा खेती के लिए भूमि की माँग बढ़ जाती है। इस कारण लगान भी बढ़ जाता है। जन-संख्या में वृद्धि होने पर खेती से उत्पन्न माल की माँग बढ़ जाती है। पदार्थों की बढ़ी हुई मांग की पूर्त्ति करने लिये उत्तम प्रकार की भूमि पर और गहराई से खेती की जाती है तथा साथ ही साथ निम्न श्रेणी की भूमि जो पहिले काम में नहीं लाई जाती थी, अब खेती-बारी के काम में लाई जाने लगेगी। दोनों ही अवस्थाओं में खेती की आन्तरिक और वाह्य सीमाएँ गिर जावेंगी। फलतः लगान पहिले की अपेक्षा बढ़ जावेगा। जन-संख्या के बढ़ने से रहने के लिए पहिले से अधिक भूमि काम में लाई जावेगी। माँग बढ़ जाने के कारण लगान बढ़ जावेगा।

रहन-सहन का स्तर और लगान

ज्यों-ज्यों समाज की सम्पत्ति बढ़ती जाती है, उसी के अनुसार रहन-सहन का स्तर भी बढ़ता जाता है और कुल आय के अनुपात में खाद्य-पदार्थों पर होने वाला खर्च भी घट जाता है। खाद्य-पदार्थों पर खर्च घटने पर लगान पर भी प्रभाव पड़ता है।

यदि खेती-बारी की व्यवस्था; यन्त्रों आदि में सुधार हो जाने पर अथवा अच्छे

बीज और खाद के काम में लाए जाने के कारण भूमि की कुल उपज बढ़ जाती है और मांग में उसके अनुपात में वृद्धि नहीं होती तो भाव गिर जायगा। दाम घट जाने पर पहिले के भाव पर जो सीमांत भूमि काम में लाई जाती थी उनकी उपज से लागत खर्च की पूर्त्ति न हो सकेगी और उस पर इस दशा में खेती होना बन्द हो जावेगा। फलतः लगान की दर भी कम हो जावेगी। किन्तु इन सुधारों का प्रभाव भिन्न-भिन्न श्रेणियों की भूमि और उनके लगान की मात्रा पर अलग-अलग पड़ेगा।

खेती-बारी के साधनों में सुधार और लगान

साधारणतः लगान का मूल्य निर्धारण करने में कुछ भी असर नहीं पड़ता है। बाज़ार में जितनी मांग है, उसी के सीमा में सीमान्त भूमि की उपज से किसान का केवल लागत खर्च आता है। लगान तो उस भूमि से होने वाली अधिक उपज होती है। अतः मूल्य का निर्धारण लगान से नहीं होता है। हाँ, लगान का निर्धारण मूल्य से अवश्य होता है। इसीलिये कहा गया है कि आर्थिक लगान मूल्य का अंश नहीं है, वह तो केवल उससे प्रभावित होता है। कुछ ऐसी परिस्थितियाँ अवश्य होती हैं जिनमें लगान का प्रभाव मूल्य के निर्धारण पर पड़ता है, जैसे—

लगान और कीमत का सम्बन्ध

(१) यदि किसी देश में अत्यधिक लगान लिया जाता हो तो उसका प्रभाव भी मूल्य निर्धारण पर पड़ेगा।

(२) यदि जमींदार परस्पर समझौता करके निकृष्ट भूमि का भी लगान लेने लगें तो किसान को उस लगान को अपन उपज के मूल्य में अवश्य ही जोड़ना पड़ेगा।

(३) यदि एक भूमि पर गेहूँ बोया जाता है और किसान उस पर गन्ना बोना चाहता है, जिसके लिये कि भूमि विशेष उपजाऊ नहीं है, तो ऐसी अवस्था में जमींदार कम से कम उतना लगान अवश्य लेगा जितना कि गेहूँ की फसल बोने के समय लेता था। फल यह होगा कि या तो किसान स्वयं ही इस हानि को सहन करेगा अथवा उसे अपनी उपज के मूल्य में जोड़ लेगा।

भारतवर्ष में कुल लगान लेने की प्रथा है, जो आर्थिक लगान से अधिक होता है। इस लगान के तीन भेद हैं—(१) बन्दोबस्त के समय सरकार द्वारा निश्चित

किया हुआ लगान जो नकद रुपया में लिया जाता है। (२) जमींदार की शर्तों द्वारा (इकरारनामा) किसी किसान को जमीन जोतने के लिए दे देता है और उसकी उजरत लेता है जो प्रायः नकद रुपयों में ली जाती है। (३) बटाई-प्रथा द्वारा। इसमें जमींदार अपनी भूमि को दूसरे किसी किसान को एक फसल बोने के लिये उठा देता है। वह किसान स्वयं अपने बैलों से उस भूमि को जोतता है और अपने पास से ही खाद और बीज डालता है और खेती करता है। जब फसल तैयार हो जाती है तो समझौते के अनुसार उसका बँटवारा हो जाता है। यह बँटवारा प्रायः 'आध-बँटाई' कहलाता है, अर्थात् अनाज को दो हिस्सों में बाँट लिया जाता है और भूसे को किसान स्वयं अपने पास ही रखता है।

भारतवर्ष में लगान की प्रथा

भूमि के गुणों के अनुसार लगान भिन्न-भिन्न होता है। आबादी और मांग के अनुसार उनके लगान में भी अन्तर होता जाता है, जो प्रतियोगिता की मात्रा पर निर्भर रहता है। भारतवर्ष में कहीं-कहीं दस्तूर के अनुसार भी लगान दिया जाता था और ऐसी अवस्था में वह अपनी इच्छा के विरुद्ध बेदखल नहीं कराया जा सकता था, किन्तु अब यह प्रथा प्रायः उठ-सी गई है। अब तो लगान सरकार द्वारा निश्चित होता है।

आबादी, स्पर्द्धा और दस्तूर का प्रभाव

इक्यावनवाँ अध्याय

ज़मींदारी और बन्दोबस्त की प्रथा

ज़मींदार शब्द ही हिन्दी भाषा का नहीं है, अतः इसकी उत्पत्ति भारतवर्ष में हिन्दूकाल में तो हो नहीं सकती, निस्सन्देह भारत में मुसलमानों के आकर बसने के बाद भले ही इसकी उत्पत्ति हुई है। यहाँ हम इसके आविर्भाव और उत्पत्ति के इतिहास जानने की चेष्टा करेंगे।

भूमि की व्यवस्था और जमींदारी की उत्पत्ति

भारतवर्ष में आदिकाल में तो मत्स्य न्याय प्रचलित था—अर्थात् जैसे कोई बड़ी मछली छोटी मछली को दबा लेती है, उसी प्रकार शक्तिशाली और ताकतवर व्यक्ति शक्तिहीन व्यक्तियों को दबा लेते थे, और अपना प्रभुत्व जमाये रखते थे। किन्तु; बाद में इस प्रथा में परिवर्तन हुआ। वैवस्वत मनु के समय से यहाँ अन्य प्रकार के करों के साथ खेती की उपज का छठां भाग राजा को दिया जाने लगा। राजा को यह भाग प्रजा की प्राण-रक्षा व अन्य भलाई और सुधार के काम करने के बदले में दिया जाता था। उस समय यह सिद्धान्त बड़े ही वैज्ञानिक ढंग का था और नैतिक दृष्टिकोण से सब प्रकार उचित था। जिस प्रकार सूर्य अपनी किरणों से भूमि के जल के कुछ भाग का शोषण अवश्य करता था, किन्तु बाद में उस जल को वर्षा के रूप में पुनः भूमि के लाभ के लिये ही लौटा देता था। इसी सिद्धान्त के अनुसार राजा को जो यह धन मिलता था उसको वह प्रजा की भलाई में ही खर्च करता था और कुछ भाग राज्य सञ्चालन में व्यय होता था। स्मरण रहे कि आपत्तिकाल अथवा युद्ध के समय राजा को उपज के चौथाई भाग तक को लेने का भी अधिकार दे रखा था, किन्तु यह सब प्रजा की इच्छानुसार ही होता था। भूमि पर प्रजा का ही सब तरह का अधिकार था। राजा तो केवल उसकी उपज ही लेता था।

हिन्दूकाल

आचार्य कौटिल्य के मतानुसार जो भूमि जिस कृषक के पास है, वह जीवन-पर्यन्त उसी के पास रहनी चाहिये और उसकी मृत्यु के बाद राजा उसे किसी अन्य व्यक्ति को दे सकता था। किन्तु, यदि किसी किसान ने बंजर भूमि को साफ करके खेती करना शुरू कर दिया हो तो वह भूमि उसी के पास रहेगी और वह उससे न ली जावेगी।

कौटिल्य के समय में

कौटिल्य के समय के बाद इस प्रथा में कुछ परिवर्तन हुआ और राजा को अपने लिए भी कुछ भूमि रखने का अधिकार मिल गया, किन्तु शेष भूमि किसानों के पास ही रहती थी।

मुगल काल में

मुसलमानों के समय तक भारतवर्ष में खेती-बारी के लिये मनुष्यों में इतनी स्पर्द्धा न थी। उस समय हमारे उद्योग-धन्धे पूर्ण रूप से विकसित थे और उन्नति की चरम सीमा पर थे, अतः खेती की ओर मनुष्यों की विशेष रुचि नहीं थी। वह व्यवसाय तो केवल उदर-पोषण के निमित्त

ही किया जाता था। फिर भी, आजकल की भाँति, मुगल काल में भी जमींदारी की प्रथा नहीं थी। आइन-ए- अकबरी के अनुसार ज़मींदार तो केवल राजकीय भूमि की मालगुज़ारी वसूल करने के लिए एक राज्य का कर्मचारी मात्र था। उसे अपने इस काम के लिए राज्य से वेतन मिलता था।

मुग़ल काल में भारतवर्ष की मालगुज़ारी और लगान लेने की प्रथा में जो परिवर्तन हुआ वह यह था कि टोडरमल ने जो कि अकबर के समय भूमि-व्यवस्था का मंत्री था, भूमि की पैमाइश कराई और भूमि की उपज के अनुसार लगान और मालगुज़ारी लेने की प्रथा चलाई। मुग़ल साम्राज्य का ह्रास होने पर ये कर्मचारी धीरे-धीरे स्वतन्त्र होते चले गये और इन्होंने अपना पैतृक अधिकार जमाना शुरू कर दिया।

ईस्ट-इण्डिया कम्पनी के स्थापित होने तक भारत की यही दशा रही—अर्थात् मुग़लकालीन वे राज कर्मचारी जो सरकारी लगान और मालगुज़ारी वसूल करके सरकारी खजानों में जमा करते थे, क्रमशः भूमि पर अपना प्रभुत्त्व स्थापित करने लगे। ये लोग मनमाना धन वसूल करते थे और राज्य को केवल निर्धारित रकम देते थे। सर्व-प्रथम इस प्रथा का प्रादुर्भाव बङ्गाल में हुआ और फिर यह प्रथा क्रमशः अन्य प्रान्तों में भी फैलने लगी।

ईस्ट इण्डिया काल

अठारहवीं शताब्दी के अन्त में ईस्ट-इण्डिया कम्पनी ने यहाँ की अव्यवस्थित परि-स्थितियों से लाभ उठाना आरम्भ कर दिया। सन् १७६५ में लॉर्ड क्लाइव ने दिल्ली के बादशाह से बङ्गाल, विहार और उड़ीसा की दीवानी प्राप्त की। इसके अनुसार कम्पनी को इन प्रान्तों से मालगुज़ारी वसूल करने का अधिकार मिल गया और शाहआलम को समझौते के अनुसार उस मालगुज़ारी का केवल एक निर्धारित अंश ही दिया जाता था।

उपरोक्त समझौते के अनुसार इन प्रान्तों के प्रत्येक ज़िले के किसी मुख्य नगर में नीलामी प्रथा के अनुसार भूमि के बन्दोबस्त की प्रथा आरम्भ हुई। जो व्यक्ति नीलाम में मालगुज़ारी की सबसे अधिक बोली बोलता था, उसे किसानों से लगान वसूल करने का अधिकार दे दिया जाता था। लगान वसूल करने का यह अधि-कार केवल एक वर्ष के लिये ही रहता था। अगले वर्ष यह क्रम फिर जारी होता था। अतः इस प्रथा के अनुसार लगान वसूल करने का अधिकार थोड़े से पूँजी-

पतियों के हाथ में चला गया। ये लोग किसानों से फिर मनमाने ढङ्ग से रुपया वसूल करते थे। कम्पनी को तो ये लोग केवल नीलामी बोली के अनुसार ही धन देते थे। ये व्यक्ति ही अन्त में जमींदार कहलाने लगे जो बरबस किसानों के सिर पर लादे गये हैं।

भारतवर्ष में भूमि का बन्दोबस्त

मालगुज़ारी और लगान वसूल करने के लिये ईस्ट-इण्डिया कम्पनी ने भूमि का बन्दोबस्त करना शुरू किया। जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं, आरम्भ में कम्पनी ने अपनी अड़चनें दूर करने के लिए, उन ज़िलों के कुछ लब्ध-प्रतिष्ठित व्यक्तियों को जो प्रायः पूँजीपति होते थे, भूमि को प्रति वर्ष ठेके पर उठाना शुरू किया। जो सबसे अधिक बोली बोलता था, उसी को भूमि दे दी जाती थी। इसका परिणाम कोई सन्तोषजनक न निकला। अतः उस समय के लगान का ९० प्रतिशत भाग मालगुज़ारी के रूप में प्रति वर्ष अदा करने की शर्त पर लार्ड कार्नवालिस ने उन्हीं व्यक्तियों के हाथ में कर दिया, जिन्हें वह जमींदार मानता था। उसका विचार था कि ऐसा करने से विद्रोह के समय में लोग उनके सहायक बने रहेंगे। अन्त में हुआ भी यही। इन्हीं व्यक्तियों के कारण कम्पनी वालों का प्रभुत्त्व स्थापित हुआ और अन्त में शान्ति तथा सुव्यवस्था स्थापित हो सकी। यह प्रथा सन् १७९३ से चालू हुई। इसके अनुसार यह भी निश्चय हो गया कि भूमि का सुधार हो जाने पर आय में जो वृद्धि होगी उस पर कम्पनी (सरकार) का भाग बढ़ाया न जा सकेगा और जितना भी अधिक लाभ होगा वह जमींदारों का ही होगा।

जमींदारी अथवा स्थायी बन्दोबस्त

इस प्रथा से अनेक हानियां हुईं जो क्रमशः निम्न हैं—(अ)—**किसानों को**

मुख्य हानियाँ

(१) बन्दोबस्त जमींदारों से किया गया न कि किसानों से, अतः उन्हें भूमि में सुधार करने की विशेष आवश्यकता न थी, उन्हें तो अपने लगान से ही मतलब रहता था।

(२) इस व्यवस्था से जमींदारों को किसानों से अधिक और मनमाना लगान वसूल करने का पूरा-पूरा अवसर मिल गया।

(३) भूमि अधिक मात्रा (क्षेत्रफल) में परती पड़ी रहने लगी और किसान भूखों मरने लगे।

(४) स्थायी बन्दोबस्त की दशा में लगान कड़ाई से लगाया जाता है।

(आ) **सरकार को**—(१) सरकार की आय सदा के लिए निश्चित और स्थायी हो गई, खेती-बारी में सुधार होने के कारण जो आय में वृद्धि होती है, सरकार को उस लाभांश से वंचित ही रह जाना पड़ता है।

(२) सरकार को जमींदार से जिन-जिन बातों की आशाएँ थीं, वे पूर्ण नहीं हो पाई—अर्थात् न तो जमींदारों ने सार्वजनिक शिक्षा और स्वास्थ्य की उन्नति में सक्रिय भाग लिया और न उसने खेती-बारी में विशेष सुधार ही करवाये।

स्थायी बन्दोबस्त किन भागों में है ?

स्थायी बन्दोबस्त की प्रणाली भारतवर्ष के निम्नलिखित भागों में पाई जाती है—पूरे बंगाल में, बिहार के लगभग ५/६ भाग में, आसाम के २/८ भाग में और उत्तर-प्रदेश के १/१० भाग में। चूँकि यह बन्दोबस्त सरकार जमींदारों से करती है, अतः इसे जमींदारी बन्दोबस्त भी कहते हैं।

अस्थायी बन्दोबस्त

कम्पनी का विचार पहिले यही था कि बंगाल की भांति अन्य प्रान्तों में भी स्थायी बन्दोबस्त की व्यवस्था कर दी जावे, किन्तु अन्त में उसे अपने इस निर्णय को त्याग देना पड़ा ; चूँकि भूमि की उपज में उत्तरोत्तर वृद्धि होती जा रही थी, अतः उसके साथ मालगुजारी भी बढ़ाई जा सकती थी। इस विचार से प्रेरित होकर उसने अस्थायी बन्दोबस्त की प्रथा को चलाना ही उचित समझा। अस्थायी बन्दोबस्त की व्यवस्था निम्न दो प्रकार से की गई—

(१) **जमींदारी अथवा ताल्लुकदारी या ग्राम्य**—जिसमें जमींदारों अथवा ताल्लुकदारों पर अपने हिस्से की, या मिलकर कुल गांव वालों की मालगुजारी सरकार को चुकाने का उत्तरदायित्व रहता है। उत्तरी भारत के लिए यही निश्चय हुआ कि भूमि से मालगुजारी (ताल्लुकदार या जमींदार) को जो लगान के रूप में आमदनी हुआ करे, सरकार उसका केवल ८३ प्रतिशत भाग अपने लिए ले ले और शेष को उनके वेतन स्वरूप अथवा लाभांश के रूप में छोड़ दे। किन्तु ये जमींदार लगान में से इतने बड़े भाग को सरकार को देने में असमर्थ रहे, अतः सन् १८८५ में सरकारी भाग घटा कर केवल ५० प्रतिशत ही कर दिया गया। आज-कल

जमींदार लोग सरकार को लगान का ४० से ५० प्रतिशत मालगुजारी के रूप में देते हैं।

बड़े-बड़े जमींदारों को तो इतना भाग सरकार को देने में अधिक कष्ट अनुभव नहीं होता है, किन्तु छोटे जमींदारों को यह परिमाण भी अखर जाता है, अतः मालगुजारी का इतना परिमाण निश्चित हो जाने पर अधिक लाभ तो बड़े जमींदारों को ही हुआ है।

अस्थायी बन्दोबस्त के दोष—स्थायी बन्दोबस्त की भांति इस प्रणाली में भी अनेक दोष पाए जाते हैं, जो संक्षेप में निम्नलिखित हैं —

(१) यद्यपि सरकार को भूमि में सुधार होने के कारण मालगुजारी बढ़ने की आशा रहती है, तथापि उसे बार-बार लगान वसूल करने में तथा उसकी मात्रा और परिमाण को निश्चित करने में बड़ी भारी असुविधाएँ होती हैं।

(२) इससे किसानों को अनेक असुविधाएँ हो जाती हैं, तथा नया बन्दोबस्त करने में पहिले की भाँति ही अत्यधिक खर्च बैठता है।

(३) बन्दोबस्त की अवधि के अन्तिम दिनों में लगान की वृद्धि से बचने के लिए किसान बड़ी उदासीनता दिखाते हैं। वे खेती-बारी की ओर अधिक ध्यान नहीं देते, जिसके परिणामस्वरूप फसल को बड़ी हानि होती है।

(४) मालगुजारी विभाग के कर्मचारी प्रायः स्वेच्छाचारी हो जाते हैं, जिसका प्रभाव किसानों पर अत्यन्त ही बुरा पड़ता है।

अस्थायी बन्दोबस्त की अवधि

अस्थायी बन्दोबस्त की व्यवस्था उत्तर-प्रदेश, मध्य-प्रान्त तथा पंजाब में पाई जाती है। उत्तर-प्रदेश में इस प्रणाली की व्यवस्था ३० वर्ष के लिए होती है और पंजाब और मध्य-प्रान्त में केवल २० वर्ष के लिए।

रैयतवारी प्रथा

बन्दोबस्त की इस प्रणाली में सरकार सीधे ही किसानों से अपना सम्पर्क स्थापित करती है। लगान का निश्चय और उसकी अवधि सरकार स्वयं ही किसान से तय करती है और किसान मालगुजारी खुद ही सरकार को देते हैं। सरकारी कर्मचारी प्रत्येक गाँव की जांच-पड़ताल (Survey) करते हैं। गांव की हर श्रेणी की भूमि पर उपज का अनुमान लगाया जाता है। ऐसा अनुमान लगाते समय वे भूमि की उर्वरा-शक्ति पर खास

तौर से विचार करते हैं। भूमि की उर्वरा-शक्ति के अनुसार उपज का निर्णय हो जाने के बाद बाजार की विगत कई वर्षों की औसत दर पर उन फसलों का मूल्य निर्धारण होता है। इस कुल मूल्य में से किसानों को उन फसलों के उगाने में जो लागत लगानी पड़ती है, उसे घटा दिया जाता है। जो शेष बचता है उसका लगभग आधा भाग मालगुजारी के लिए निश्चित किया जाता है। किन्तु मालगुजारी का परिणाम किसी भी दशा में ५० प्रतिशत से अधिक नहीं रखा जाता है। मद्रास प्रान्त में मालगुजारी निश्चित करने की यही रीति है।

बम्बई प्रान्त में इस नीति में थोड़ा-सा परिवर्तन करके मालगुज़ारी निश्चय की जाती है। वहाँ सबसे पहिले बन्दोबस्त के समय भूमि की भिन्न-भिन्न श्रेणियों का वर्गीकरण कर लिया गया था। फिर बाद के हर बन्दोबस्त के समय कर्मचारी प्रायः उन खेतों का प्रचलित लगान निश्चय करते हैं। उस प्रचलित लगान का कुछ भाग ही मालगुज़ारी के लिए निश्चय किया जाता है। इस प्रकार हर नये बन्दोबस्त के समय खेतों का लगान घटा या बढ़ा दिया जाता है।

रैयतवारी प्रथा के गुण और दोष

रैयतवारी प्रथा राज्य तथा प्रजा (किसानों) के बीच से एक मध्यस्थ कम हो जाने की दृष्टि से भले ही अच्छी जान पड़े; किन्तु सिद्धान्ततः वह किसी भी दूसरी अनुपस्थित जमींदारी प्रथा (Absentee landlordian) से अच्छी नहीं है। जिस तरह एक अनुपस्थित जमींदार (Absentee landlords) का प्रयोजन केवल लगान वसूल करना भर होता है; उसी प्रकार सरकार भी अपनी स्वार्थ-सिद्धि करती है। अर्थात् समय पड़ने पर वहां के लगान में वृद्धि करने की ही नीति रहती है। जब तक सरकार किसानों की अवस्था में सुधार करने की, उनकी खेती-बारी में उन्नति करने का उत्तरदायित्व तथा उनके जीवन-निर्वाह, स्वास्थ्य और शिक्षा की ओर समुचित ध्यान नहीं दे तो हम उसे जमींदारी प्रथा से किसी भी भाँति अच्छा नहीं मान सकते हैं।

रैयतवारी प्रथा कहाँ प्रचलित है तथा उसकी अवधि

भारतवर्ष में रैयतवारी बन्दोबस्त की प्रणाली मद्रास, बम्बई, सिन्ध, आसाम तथा बिहार प्रान्त के कुछ भागों में प्रचलित है। बम्बई और मद्रास-प्रान्त में बन्दोबस्त की अवधि प्रायः तीस वर्ष तक की रहती है और अन्य प्रान्तों में यह अवधि १० से ३० वर्ष तक चलती रहती है।

अस्थायी बन्दोबस्त वाले भागों में लगान निर्धारित करने की विधि और उनके दोष

सरकारी लगान प्रायः अब नकदी में ही ली जाती है। वर्षा न होने अथवा अति वृष्टि होने से जब फसल खराब हो जाने के कारण उपज घट जाती है तो मालगुज़ारी में छूट कर दी जाती है। साधारणतः जो कुछ भी मालगुज़ारी सरकार किसानों से वसूल करती है, वह आर्थिक-दृष्टि से कहीं अधिक होती है। भारतवर्ष में खेती प्रायः बेमुनाफे की ही होती है। अतः वे मालगुज़ारी अपने परिश्रम के लाभांश से ही देते हैं। फल यह होता है कि उन्हें ऋण लेकर अथवा भूखों रह कर दरिद्रता में ही अपना जीवन व्यतीत करना पड़ता है। आजीविका का कोई अन्य साधन न होने के कारण वे भूमि को छोड़ने में हिचकते हैं और उसी में येन-केन-प्रकारेण चिपटे रहते हैं।

सन् १९२६ की कर जांच समिति निम्न निष्कर्ष पर पहुंची थी कि "लगान निर्धारण के समय खेती के लागत खर्च में किसान और उसके कुटुम्बी जनों की मजदूरी सम्मिलित नहीं की जाती है।" यदि लागत-खर्च को उचित ढङ्ग से निकालने की चेष्टा की जावे तो कई सहस्र ऐसे खेत निकलेंगे, जिनसे लगान लेना किसी प्रकार भी न्यायोचित नहीं ठहराया जा सकता है।

बम्बई और मद्रास प्रान्त में मालगुज़ारी निर्धारित करने की विधि तो हम ऊपर बता ही चुके हैं। यहाँ हम अस्थायी बन्दोबस्त वाले अन्य भागों के विषय में भी थोड़ा-सा प्रकाश डाल देना उचित समझते हैं—

(१) उत्तर-प्रदेश में मौरूसी हक वाले किसानों से लगान और गैर-मौरूसी काश्तकारों द्वारा पिछले बन्दोबस्त के समय जमींदारों को दिए गए अनुसार ही लिया जाता है।

(२) मध्य-प्रान्त में लगान का निश्चय भूमि के गुण और स्थिति की जांच-पड़ताल करने के बाद ही होता है।

दोनों ही दशाओं में मालगुज़ारी लगान की लगभग आधी होती है। संक्षेप में भारतवर्ष में लगान के निर्धारण करने की व्यवस्था में अनेक दोष हैं। किसानों की निर्धनता में इनका भी मुख्य हाथ है। सरकार का किसानों से सीधा सम्बन्ध न होने के कारण उनकी वास्तविक अवस्था का ठीक-ठीक ज्ञान नहीं हो पाता है

और ऐसी दशा में जमींदार लाग मनमानी चलाते हैं। नाना प्रकार के नज़राने और बेगारा की प्रथाएं प्रचलित हैं। खेतों के छोटे-छोटे होने में लगान की इन दूषित प्रणालियों का बहुत बड़ा हाथ है। इन सब बातों का विस्तृत वर्णन हम अगले पृष्ठों में करेंगे।

बावनवां अध्याय

उत्तर-प्रदेश में जमींदारों और काश्तकारों के अधिकार

किसानों और जमींदारों के अधिकारों की दृष्टि से उत्तर-प्रदेश को हम चार भागों में विभक्त कर सकते हैं।

(१) बनारस डिवीज़न को छोड़ कर शेष आगरा प्रान्त।

(२) अवध।

(३) बनारस डिवीज़न (क्षेत्र)।

(४) कुमाऊँ डिवीजन।

उत्तर-प्रदेश के इस विभाग में मालगुज़ारी महालों से वसूल की जाती है। महालों के स्वामी एक ही पूर्वज के अनेक उत्तराधिकारी हो सकते हैं अथवा उसका स्वामी केवल एक ही व्यक्ति हो सकता है। महालों के इन स्वामियों को हम जमींदार कहते हैं। सरकार और किसानों के बीच में यही व्यक्ति मध्यस्थ होते हैं जिन पर किसानों से लगान वसूल करके सरकार को देने का उत्तरदायित्व रहता है।

बनारस डिवीज़न को छोड़कर शेष आगरा प्रान्त

मालगुज़ारी अस्थायी बन्दोबस्त द्वारा निश्चित होती है जिसकी अवधि ४० वर्ष की रहती है और आवश्यकता पड़ने पर ये जमींदार इसमें परिवर्तन भी कर सकते हैं। सन् १८८५ के सहारनपुर के नियमों के अनुसार सरकार इन जमींदारों से ४५ से ५५ प्रतिशत मालगुज़ारी का भाग वसूल करती है, किन्तु १९२६ के कानून द्वारा इस भाग को ४० प्रतिशत ही कर दिया गया है। कभी-कभी भूमि में सुधार करने वाले

किसानों और जमींदारों के लगान में छूट कर दी जाती है। इसके अतिरिक्त जब जमींदार स्वयं खेती करता है तो उसकी सीर पर भी कुछ रियायत कर दी जाती है। प्रान्त के इस भाग में जमींदार का भूमि पर अधिकार मालिक के समान ही होता है। अर्थात् हिन्दू और मुसलमानी कानून के अनुसार उत्तराधिकार का स्वत्त्व होता है, वे अपने इस स्वत्त्व को जब चाहें बेच सकते हैं। यदि उनका कोई कानूनी उत्तराधिकारी नहीं होता तो वे अपने इस स्वत्त्व को मान-पत्र या वसीयतनामा द्वारा दूसरों के नाम कर सकते हैं।

उत्तर-प्रदेश के इस भाग में जमींदारों के अधिकार निम्नलिखित प्रकार के होते हैं—

(अ) गैर-मुश्तर्का जमींदारी

इस प्रथा में महाल के सब किसानों से लगान वसूल करके सरकार को देने वाला केवल एक ही जमींदार होता है। मालगुज़ारी को वसूल करके सरकार को देने का उत्तरदायित्त्व केवल उसी एक व्यक्ति के ऊपर रहता है।

(आ) मुश्तर्का जमींदारी

एक ही पूर्वज की यदि कई सन्तानें उत्तराधिकारी हों तो वे परस्पर मिलकर उस महाल के अधिकारी हो जाते हैं। इन हिस्सेदारों में से सरकार एक को मुखिया बना देती है। इस मुखिया को ही भूमि की सारी मालगुज़ारी इकट्ठी करके सरकार को देनी पड़ती है।

पट्टीदारी

संयुक्त-जमींदारी जब बँटवारा होने के कारण छोटे-छोटे टुकड़ों में विभाजित हो जाती है, तो प्रत्येक पट्टी के हकदार को पट्टीदार कहते हैं। ये सब पट्टीदार लम्बरदार द्वारा अपनी मालगुज़ारी सरकार को देते हैं। जब लम्बरदार को दूसरे पट्टीदारों से भी लगान वसूल करना पड़ता है तो उसे ५ प्रतिशत भाग पुरस्कार स्वरूप (हक का) मिल जाता है।

भाईचारा अथवा भैयाचारा

इस प्रणाली में किसी विशेष भूमि के अधिकारी कई व्यक्ति एक साथ मिल कर होते हैं। बँटवारा हो जाने पर ये लोग अपना अधिकार अलग कर लेते हैं। भाईचारे के प्रत्येक हिस्सेदार के पास जो भूमि होती है, उसी के अनुसार उनका अधिकार भी अलग-अलग रहता है।

जिस प्रकार जमींदारों के भूमि सम्बन्धी कानून सरकार द्वारा बनाये गए हैं, उसी प्रकार किसानों की हित रक्षा के लिए समय-समय पर नियम तथा कानून बनते तथा बदलते रहे हैं। इस दिशा में सबसे पहिला कानून सन् १९०१ में बना था, उसमें सरकार ने आवश्यकतानुसार काफी परिवर्तन कर दिए। ये परिवर्तन सन् १९२६ में किये गये थे। अन्तिम संशोधन १९३९ में कांग्रेस सरकार द्वारा हुए थे। सन् १९२६ के कानून के आधार पर आगरा प्रान्त के किसानों को जो अधिकार प्राप्त हैं, उनका वर्णन हम यहाँ करते हैं और उसके बाद सन् १९३९ में किए गए संशोधनों पर विचार आगे चल कर करेंगे। किसानों के अधिकारों के आधार पर आगरा प्रान्त में निम्न प्रकार के काश्तकार पाये जाते हैं—

किसानों के अधिकार

साख्तुल-मिल्कियत काश्तकार

इस श्रेणी में उन सब किसानों की गणना की जाती है, जो:पहिले उसी महाल के जमींदार थे जिस महाल में कि आजकल उनकी भूमि है। ऐसे काश्तकारों ने अपने भूमि-स्वत्त्वों को बेच कर अथवा अन्य किसी भाँति खो दिया है और जिनके पास सन् १९२६ के कानून के पास होने के समय तक सीर का हक था अथवा जिसे वे लगातार १२ वर्षों से जोतते चले आये थे। दस या बारह वर्षों तक लगातार भूमि को जोतने पर इन्हें सीर का हक मिल जाता है। इन्हें साधारण दखिलकार काश्तकारों की अपेक्षा २५ प्रतिशत लगान कम देना पड़ता है और जब तक कोई इस श्रेणी का किसान लगान देता रहेगा उसे कोई भी बेदखल नहीं कर सकता है। इसके अतिरिक्त इन किसानों के लगान का परिमाण दस वर्षों तक बढ़ाया नहीं जा सकता है। इस श्रेणी के किसानों की भूमि पर उत्तराधिकार का हक होता है, किन्तु वह अपना यह स्वत्त्व अन्य किसी को बेच नहीं सकता है।

मौरूसी काश्तकार

सन् १९२६ के कानून के अनुसार जमींदार किसी भी किसान को मौरूसी अधिकार दे सकता है। मौरूसी अधिकार के अनुसार किसान को उत्तराधिकार का स्वत्त्व प्राप्त हो जाता है और वह दीवानी अथवा माल की कचहरी किसी से भी अन्य किसी व्यक्ति को नहीं दिया जा सकता है। निम्नलिखित अवस्थाओं में मौरूसी अधिकार टूट जाता है—

(१) जब किसान बिना किसी उत्तराधिकारी के मर जाय,

(२) जब उसे लगान न देने के कारण बेदखल कर दिया गया हो,

(३) जब भूमि को किसान ने किसी अन्य को दे दिया हो, अथवा किसी सार्वजनिक कार्य के लिए भूमि ले ली जावे।

इन्हें गैर-दखिलकार किसान भी कहते हैं। इस श्रेणी में प्रधानतः वे

गैर-मौरूसी काश्तकार

किसान ही आते हैं, जिनका भूमि पर कोई स्थायी स्वत्त्व नहीं होता है। इन किसानों को एक वर्ष के लिए खेती करने के लिए भूमि दी जानी है और वर्ष के अन्त में उसे बेदखल किया जा सकता है।

इस श्रेणी के काश्तकारों को हीन-हयात काश्तकार भी कहते हैं। सन् १९२६ के कानून के अनुसार इस श्रेणी के किसान यदि एक वर्ष भूमि को जोत-

कानूनी काश्तकार

बो लें तो उन्हें जमींदार अपनी इच्छानुसार बेदखल नहीं कर सकता है। लगान न देने पर उन पर कचहरी में डिगरी की जाती है और तभी ये बेदखल किए जा सकते हैं। इन किसानों पर यदि जमींदार लगान बढ़ाना चाहे तो इसका निर्णय केवल रोस्टर वर्ष (Roaster year) में ही हो सकता है। सीर की भूमि में इन किसानों का अधिकार नहीं होता है।

अवध में किसानों के अधिकार

प्रान्त के इस भाग में नामधारी जमींदार बहुत कम संख्या में मिलते हैं। उत्तर-प्रदेश के इस विभाग में जमींदारी स्वत्त्व ताल्लुक़दारी कहलाते हैं। ये ताल्लुक़दार अपनी भूमि के एक प्रकार से नवाब होते हैं और किसान उनके केवल दयापात्र होते हैं। आगरा प्रान्त की भाँति मालगुज़ारी निश्चित करने के लिए यहाँ महाल नहीं होते हैं, वरन् मालगुज़ारी ताल्लुक़ों पर लगाई जाती है। यहाँ मालगुज़ारी की दर चालीस वर्षों के लिये निश्चित की जाती है।

आगरा प्रान्त की तरह अवध में भी साख्तुल मिल्कियत और मौरूसी या दखिलकार काश्तकार होते हैं, किन्तु मौरूसी किसान अधिक संख्या में नहीं पाए जाते हैं। हाँ, विशेष परिस्थितियों में जमींदार अथवा ताल्लुक़दार शिकमी काश्तकार से नज़राना लेकर मौरूसी स्वत्त्व प्रदान कर सकता है। अवध में मौरूसी

किसानों को आगरा प्रान्त के कानूनी किसानों की अपेक्षा लगान १२॥ प्रतिशत कम देना पड़ता है।

सन् १९२३ में अवध का लगान सुधार कानून पास हुआ। इस कानून के अनुसार जिन किसानों के पास कानून के लागू होने से पहिले जो भूमि उनके अधिकार में थी, उस पर जब पिछली बार उनका लगान तय किया गया था अथवा उसमें जो भी परिव र्न किए गए थे, वे परिवर्तन दस वर्ष तक स्थिर रह सकेंगे और उसी निश्चित लगान पर किसान दस वर्ष तक भूमि को जोतते रहेंगे। यदि इस अवधि के अन्दर किसान मर जाता है तो शेष अवधि के लिए वह भूमि उन्हीं नियमों के अनुसार किसान के उत्तराधिकारी को मिल जाती है।

कुमाऊँ में किसानों के अधिकार

कुमाऊँ क्षेत्र में रैयतवारी प्रथा प्रचलित है। मालगुज़ारी वसूल करने के लिए क्षेत्र एक गांव होता है। गांव की मालगुज़ारी हिस्सेदारों को अलग-अलग या एक साथ देनी पड़ती है, जिसे वसूल करने के लिए उन हिस्सेदारों में से किसी को चुन लिया जाता है। इस प्रधान हिस्सेदार को मालगुज़ारी का कुछ भाग सरकार द्वारा उसके पुरस्कार स्वरूप छोड़ दिया जाता है। किसान अपनी इच्छानुसार यदि चाहे, तो अपनी भूमि का हिसाब कचहरी द्वारा पृथक् करा सकता है। हिस्सेदारी का अधिकार उसके उत्तराधिकारियों को मिल सकता है।

हिस्सेदारों के नीचे खैकार होते हैं, जो आगरा प्रान्त के मौरूसी किसानों के समान ही होते हैं। इनके अतिरिक्त गैर-मौरूसी किसानों की भांति यहाँ सिरतन कास्तकार भी होते हैं। इन किसानों का लगान बन्दोबस्त के समय निश्चित कर दिया जाता है और उस बन्दोबस्त की अवधि में उस लगान में कोई परिवर्तन नहीं किया जाता है। इन किसानों का हक उसके उत्तराधिकारी को दिया जा सकता है। यदि खैकार बिना किसी उत्तराधिकारी के मर जाय तो वह भूमि हिस्सेदारों की खुदकाश्त हो जाती है। अल्मोड़ा और नैनीताल में हिस्सेदारों को खैकारों से वसूल किए गये लगान का २५ प्रतिशत तथा गढ़वाल में २० प्रतिशत भाग मिलता है।

बनारस क्षेत्र में किसानों के अधिकार

उत्तर-प्रदेश के इस भाग में स्थायी बन्दोबस्त की प्रथा है, जो लार्ड कार्नवालिस

द्वारा १७९३ में शुरु की गई थी। इसके अनुसार यहां जमींदारों का अपनी भूमि पर स्थायी स्वत्त्व रहता है और उसका यह स्वत्त्व उसके उत्तराधिकारियों को मिल सकता है, अथवा वे उस पर लगाई हुई मालगुजारी की शर्त पर दूसरों को बेच या दान कर सकते हैं, सरकार को मालगुजारी देने के बाद लगान से जो कुछ शेष बच रहता है, वह जमींदार का होता है। • इसके अतिरिक्त यदि नदी के प्रभाव से कोई नई भूमि खेती के योग्य बन जाती है तो उसके लाभ का अधिकारी भी जमींदार ही होता है।

यहां भी जब तक कोई किसान लगान देता रहता है, तब तक जमींदार उसको बेदखल नहीं कर सकता है। इसके विपरीत यदि जमींदार समय पर निश्चित मालगुजारी को सरकारी खजाने में जमा नहीं कर देता तो सरकार को उसकी जमींदारी बेच देने का अधिकार है।

उत्तर-प्रदेश का सन् १९३९ का कानून

पिछली बार जब कांग्रेस दल ने प्रान्तीय सरकारों की शासन बागडोर अपने हाथों में ली तो किसानों की दशा सुधारने के लिए अनेक कानून बनाये गये। सन् १९३९ का लगान कानून सन् १९४० में लागू हुआ। इस कानून के अनुसार आगरा और अवध की लगान-प्रथा में कोई अन्तर नहीं रहा। इस कानून के अनुसार किसानों को नीचे लिखे अनुसार सुविधाएँ दी गई हैं—

(१) शिकमी या सीर के काश्तकारों को छोड़कर प्रत्येक काश्तकार को मौरूसी अधिकार होगा।

(२) किसी भी जमींदार को ५० एकड़ से अधिक सीर की जमीन रखने का अधिकार न होगा।

(३) बेदखली आसानी से न हो सकेगी। सीर के काश्तकार को ५ वर्ष से पूर्व बेदखल न किया जा सकेगा।

(४) किसानों को अपनी भूमि पर स्थायी सुधार करने का अधिकार मिल गया है। वे अपनी इच्छानुसार खेतों में पेड़ लगा सकते हैं तथा मकान, कुँआ अथवा पक्की नाली भी बनवा सकते हैं।

(५) लगान की दर केवल एक निश्चित अवधि के बाद ही बदली जा सकेगी।

(६) बकाया लगान के लिए बेदखल किये जाने से पूर्व काश्तकार को दो वर्ष का समय दिया जावेगा ; यदि इस बीच में काश्तकार पहिला शेष तथा उन दो वर्षों का लगान चुका देगा तो बेदखल नहीं किया जा सकेगा।

(७) जमींदार मनमाना लगान न ले सकेंगे—अर्थात् उसकी मात्रा पैदावार के पांचवें भाग से अधिक न होगी।

(८) जमींदारों को बेगार, भेंट या नज़राना लेना वर्जित है।

(९) किसानों को फसल के नष्ट होने पर उचित छूट मिल सकेगी।

(१०) यदि किसान को किसी कारणवश उस भूमि से बेदखल किया जाता है, तो उसके लिये उसे उचित मुआवजा मिलेगा।

(११) मौरूसी काश्तकार का लड़का अपनी पिता की भूमि का उत्तराधिकारी माना जावेगा।

भूमि व्यवस्था का आदर्श

अब तक हमने भारत में जमींदारी प्रथा की उत्पत्ति तथा जमींदारों और किसानों के अधिकारों के विषय में विचार किया है। अब हमें इस बात पर भी विचार करना आवश्यक है कि क्या हमारे देश में किसानों को भूमि सम्बन्धी अधिकारों से वास्तव में कोई सुख और समृद्धि की आशा है ? इस बात का विचार हम राष्ट्रीय दृष्टिकोण से करेंगे।

राष्ट्रीय लाभ पर राष्ट्र के सभी व्यवसायों की प्रगति और उन्नति निर्भर रहती है। आदर्श काश्तकारी प्रथा पर विचार करते समय हमें इस बात पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है कि उससे राष्ट्र के सभी व्यक्तियों को खेती के काम करने में पूरी-पूरी स्वतंत्रता मिले तथा खेती-बारी से संबंधित अन्य उद्योग-धन्धों में भी वे सफलता प्राप्त कर सकें और ऐसा न हो कि उनके कारण कार-बार में किसी प्रकार की बाधा या अड़चन पड़े, अथवा लाचार होकर किसी मनुष्य को अपना व्यवसाय छोड़ना पड़े।

ऊपर के अध्यायों में हम यह स्पष्ट कर आए हैं कि भारतवर्ष के जमींदार जो लगान किसानों से वसूल करते हैं, वह आर्थिक लगान से कहीं अधिक होता है। ऐसी अवस्था में बेचारे किसानों को अपने उदर-पूर्ति में जो बाधाएँ आती

हैं, वे सर्व विदित हैं। अपनी आय की कमी को पूरा करने के लिए उन्हें विवश होकर महाजनों से सूद पर रुपया लेना पड़ता है। इस प्रकार महाजन और जमींदार चक्की के दो पाटों की भांति उसे पीस डालते हैं। इस दिशा में अभी तक कोई कानून नहीं बना।

वर्तमान काश्तकारी कानूनों के अनुसार काश्तकार अथवा जमींदार के मर जाने के उपरान्त भूमि का विभाजन उसके उत्तराधिकारियों में हो जाता है। बँटवारे की इस विधि से प्रत्येक उत्तराधिकारी को थोड़ी-बहुत भूमि खेती के लिए अवश्य मिल जाती है। इस प्रथा से बहुत से ऐसे टुटपुंजिये जमींदारों की उत्पत्ति हो जाती है, जिन्हें अपनी इस छोटी जमींदारी की आय से पेट भर सकना भी कठिन हो जाता है। अतः विवश होकर वे नगरों में अन्य व्यवसायों को करने के लिए चले जाते हैं। शहरों में जाकर वे अपनी खेती-बारी की ओर विशेष ध्यान नहीं देते। उन्हें उससे जो कुछ भी मिल जाता है, उसी से वे सन्तुष्ट रहते हैं। ऐसे जमींदार का ध्येय केवल लगान वसूल करना ही रहता है।

खेती-बारी के व्यवसाय में उन्नति करने के लिए यह परमावश्यक है कि किसान के पास उसकी भूमि लगातार बनी रहे। ऐसा होने पर किसान उस भूमि में उन्नति करने के लिए अधिकाधिक परिश्रम करेगा और उसमें पैसा लगावेगा।

तिरपनवां अध्याय

जमींदारी प्रथा का अन्त

ईस्ट इण्डिया कम्पनी अथवा बाद में ब्रिटिश सरकार ने भूमि का जो बन्दोबस्त किया था, उसमें उनका यही विचार था कि भूमि के समुचित प्रबन्ध का भार तो भारत के आदि निवासियों पर ही छोड़ दिया जावे और वे उनमें से किसी एक व्यक्ति को इसका उत्तरदायित्व देकर उससे केवल अपने लिए मालगुजारी वसूल करें। जब ब्रिटिश लोग भारतवर्ष में आए थे, उस समय वे यहां की सामाजिक राजनीति से सर्वथा अनभिज्ञ थे, वस्तुतः उन्हें यही मार्ग श्रेयस्कर लगा। बड़े-बड़े जमींदार

और ताल्लुकदारों को भूमि से मालगुजारी वसूल करने का जो भार सौंपा था, उसमें दो भावनाएँ ही निहित थीं। एक तो किसी भी विद्रोह के समय उन्हें उनकी सहायता पर विश्वास रहना था और दूसरे उन्हें यह भी पूर्ण विश्वास था कि वे किसानों को अपने परिवार का ही एक अंग समझेंगे और देश-हित के लिए समाज का नेतृत्त्व ग्रहण करने वाले होंगे। ब्रिटिश सरकार ने जमींदारों अथवा ताल्लुक-दारों को जो प्रमाण-पत्र (सनद) दिए उनमें सिर्फ यह लिखा है कि—"तुम भरसक अपनी भूमि की उन्नति करना और उस पर पहिले जो कुछ अधिकार काश्तकारों के थे, उन सबकी तुम रक्षा करोगे और मानोगे।" किन्तु वास्तव में इन जमींदारों और ताल्लुकदारों ने जो कुछ भी किया वह सर्व विदित है। हम यहां उनका संक्षेप में ही वर्णन कर देना उचित समझते हैं।

अधिकांश जमींदारों ने अपनी इस योग्यता और उपयोगिता का कोई भी परिचय नहीं दिया। ग्राम-सुधार करने के बजाय वे नगरों में आकर बस गये हैं और वहां रह कर उन्होंने विलासी जीवन बिताना आरम्भ कर दिया है। वहां रह कर वे नाना-प्रकार के आमोद-प्रमोदों में व्यस्त रहते हैं, घुड़दौड़ों में बाजी लगाते हैं अथवा मदिरा-पान करते हैं और शौक-मौज करते हैं। इसके अतिरिक्त हिन्दुओं और मुसलमानों के उत्तराधिकार के नियमों के अनुसार भारतवर्ष में भूमि के बँटवारे की भी प्रथा प्रचलित है। इस प्रथा के कारण बहुत से ऐसे टुटपुंजिए जमींदारों की भी उत्पत्ति हो गई है जिन्हें अपनी थोड़ी सी भूमि पर जीवन-निर्वाह कर सकना दूभर हो जाता है। वे अपनी छोटी-छोटी जमींदारी को थोड़ी सी आय पर जीवन-निर्वाह न कर सकने के कारण गाँवों को छोड़ कर नगरों में जाकर रहने लगते हैं। ऐसी अवस्था में किसानों की उन्नति करने की उनसे क्या आशा की जावे और न उन्हें भूमि में सुधार करने की ही आकांक्षा रहती है। उनका भी बड़े जमींदारों की ही भांति लगान वसूल करना एक ध्येय रह जाता है। अतः आज जो जमींदारी प्रथा हमारे देश में प्रचलित है वह केवल अनुपस्थित जमींदारी का ही एक रूप है। इनसे देशोन्नति की कोई भी आशा नहीं की जा सकती, वरन् इसके विपरीत इस प्रथा के जो मुख्य दोष हैं, वे संक्षेप में निम्नलिखित हैं—

ये जमींदार प्रायः जो धन पाते हैं, उसके लिए उन्हें तनिक भी कोई परिश्रम नहीं करना पड़ता है, अतः वे समाज के अंग का जोंक की भाँति ही शोषण करते

हैं। फिर, जो समाज व देशोन्नति की इनसे आशा की गई थी उसे वे पूरा नहीं करते, प्रत्युक अपने व्यक्तिगत सुख और विलासप्रिय जीवन के आमोद-प्रमोदों में उसका व्यय होता है।

ये जमींदार किसानों से जो लगान वसूल करते हैं, वह आर्थिक लगान से कहीं अधिक होता है, फलतः बेचारे किसानों को भूमि से अधिक लाभ नहीं होता, वरन् अनेक दशाओं में उन्हें हानि ही होती है, जिसके कारण किसान प्रायः ऋण-ग्रस्त रहते हैं।

इतने लगान वसूल करने पर भी प्रायः उन्हें सन्तुष्टि नहीं होती है और कारिंदों द्वारा वे अपने वास्ते मनमाना लगान वसूल कराते हैं, तथा ग़ैर-मौरूसी काश्तकारों को बेदखल करने की सदा धमकी देते हैं।

ये जमींदार विवाह, श्राद्ध, मुण्डन अथवा अन्य किसी उत्सव या त्यौहार के अवसर पर किसानों को भेंट अथवा नजराना देने के लिए बाध्य करते हैं। समय-समय पर उनसे बेगार व रसद भी लेते हैं।

जमींदारी प्रथा के आविर्भाव के कारण किसानों में मुकद्दमेबाजी का शौक बढ़ चला है। एक ओर तो सरकार ने किसानों की हित रक्षा के लिए विविध कानून बना रखे हैं और दूसरी ओर ये जमींदार अपनी मनमानी चलाते हैं, फल यह होता है कि किसानों और जमींदारों में मुकद्दमेबाजी चलती रहती है।

जमींदारों ने अब तक शायद ही किसी राष्ट्रीय आन्दोलन में सहयोग दिया हो। इसके विपरीत उन्होंने यथाशक्ति उसे दबाने के लिए जन, धन और बल से सहायता की है। अतः राष्ट्रीय योजनाओं में सक्रिय सहयोग की इनसे कोई भी आशा नहीं की जा सकती है।

सबसे अन्तिम किन्तु अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण बात यह भी है कि सरकार को राष्ट्र निर्माण के कार्यों के लिए जब अधिक रुपयों की आवश्यकता होती है तो उसे या तो अन्य किसी से ऋण लेना पड़ता है अथवा आबकारी कर बढ़ाना पड़ता है। राष्ट्र की एक बड़ी जनसंख्या—किसानों पर न तो वह लगान ही बढ़ा सकती है। क्योंकि वे तो वैसे ही उसके बोझ से लदे हुए पड़े हैं और न उनकी आय पर किसी प्रकार का कर ही लगाया जा सकता है, क्योंकि वे प्रायः बेमुनाफ़े की खेती करते हैं। जमींदारी प्रथा के अन्त होने पर यह सब सम्भव है और सरकार इस

ओर बड़ी गम्भीरतापूर्वक विचार कर रही है। जमींदारी प्रथा को उठाने तथा किसानों की आय कर सम्बन्धी बिल भी पास हो रहे हैं।

कांग्रेस सरकार ने पिछले निर्वाचन के समय इस प्रथा को अन्त करने की भी एक शर्त रखी थी। किसानों को इस बात का आश्वासन दिया गया था कि अपने देश में अपना राज्य स्थापित होते ही वे उनकी सुख संमृद्धि के लिये जी तोड़ कर परिश्रम करेंगे और इस दिशा में कुछ उठा न रखेंगे। फलतः प्रान्तीय सरकारों ने शासन की बागडोर सँभालते ही जमींदारी प्रथा विनाशक बिल पास कर दिया है। अब प्रश्न यह उठता है कि जमींदारी प्रथा उठा देने पर देश में किस परिपाटी का अनुसरण करना अति उपयोगी होगा और जमींदारों से ज़मीन छीन लेने पर उन्हें क्या मुआवजा मिलेगा ? इन विषयों पर हम कांग्रेस करकार के कुछ पदाधिरियों के मत उद्धृत करते हैं।

चौधरी चरन सिंह के प्रस्ताव

चौधरी चरन सिंह ने जमींदारी प्रथा के अन्त करने के विषय में अभी एक पुस्तक प्रकाशित कराई है, उसमें उन्होंने अपने कुछ प्रस्ताव रखे हैं जो संक्षेप में निम्नलिखित हैं, पुस्तक में चौधरी साहेब ने जमींदारी प्रथा का अन्त करके उसके स्थान पर क्या प्रबन्ध करना चाहिए इस विषय पर जो अपनी सम्मतियां दी हैं, वे इस प्रकार हैं—

(१) खेती करने वाले किसानों को भूमिपति किसान माना जाय।

(२) उसकी भूमि का क्षेत्रफल सवा छः एकड़ से कम और साढ़े बारह एकड़ से अधिक न होगा।

(३) वह अपनी भूमि किसी दूसरे व्यक्ति को न उठा सकेगा।

(४) उत्तराधिकार के कानून को बदला जाय। यदि किसी मनुष्य के मरने पर उसकी भूमि वारिसों में बराबर-बराबर बाँटने पर प्रत्येक का भाग सवा छः एकड़ भूमि से कम हो जाता है तो पूरी जमीन एक ही वारिस को मिलेगी तथा दूसरे वारिस को कुछ भी जमीन न मिलेगी। अतः यदि किसी किसान के पास साढ़े बारह एकड़ से कम भूमि है तो वह उसके वारिसों में नहीं बाटी जा सकती है, बल्कि सारी भूमि एक ही वारिस को मिल जावेगी और बाकी उत्तराधिकारियों को कुछ न मिलेगा। इसी प्रकार यदि किसी किसान के पास साढ़े बारह एकड़ भूमि है, तो वह केवल दो ही उत्तराधिकारियों में बांटी जा सकेगी, चूँकि दो से अधिक

भागों में विभाजित करने पर प्रत्येक टुकड़े का क्षेत्रफल सवा छः एकड़ से कम हो जावेगा।

(५) अपनी भूमि का खाता किसी दूसरे के नाम करने का अधिकार बहुत कम होगा—अर्थात् यदि कोई किसान अपनी ज़मीन किसी अन्य व्यक्ति को उठा देगा तो सरकार को उससे भूमि ले लेने का अधिकार होगा।

(६) भूमि को बेच कर, रेहन रख कर अथवा कुर्की करा कर कर्ज़ वसूल करने का अधिकार सिर्फ सरकार को या सरकार से मंजूर की हुई कर्ज़ देने वाली संस्थाओं को ही रहेगा। कोई अन्य व्यक्ति यह सब करने का अधिकारी नहीं हो सकेगा।

अभी हाल ही में सरकार की ओर से एक जमींदारी-विनाशक समिति बैठाई गई थी, उसने अपने निम्न सुझाव सरकार के सम्मुख रखे हैं—

उत्तर-प्रदेशीय जमींदारी-विनाशक समिति के विचार—(१) सरकार और किसानों के बीच जितने भी मध्यस्थ हैं, उन्हें दूर कर देना चाहिए। इसके निमित्त सरकार को १३७ करोड़ रुपये मुआवजे के लिये चाहिए।

(२) जमींदार अपने जीवन-निर्वाह के वास्ते सीर और खुदकाश्त के लिये कुछ भूमि रख सकेगा और इस पर उसके वे ही अधिकार होंगे, जो अन्य किसानों के हैं। इसके अतिरिक्त वे बाग आदि भी लगा सकते हैं अथवा जिनके पास ऐसे कोई बाग हैं, उन्हें वे रख सकते हैं।

(३) जो भूमि सीर और खुदकाश्त के रूप में किसानों को दे रखी है, उनका निर्णय उत्तर-प्रदेशीय काश्तकारी कानून के अनुसार होगा।

(४) जंगलों, बागों, ऊसरों, आबादी, मार्गों, सामाजिक कुँओं, बाज़ारों, नालियों आदि का प्रबन्ध पञ्चायतों द्वारा किया जावेगा, उस पर जमींदारों का एकाधिपत्य न रह सकेगा।

मुआवजा

मुआवजे के विषय में इस प्रान्तीय समिति की राय है कि जमींदारों को उनकी मालगुज़ारी के अनुपात में धन दिया जावे। जो जमींदार १०,०००) से अधिक मलागुज़ारी, देते हैं, उन्हें १०,०००) तक आठगुना मुआवज़ा तथा शेष पर तीन गुना ही मिलेगा; किन्तु जो जमींदार कम मालगुज़ारी देते हैं, उन्हें क्रमशः इसी प्रकार २५ गुना तक मुआवज़ा दिया जा

सकेगा। इस प्रकार जमींदारों को कुल १२७ करोड़ रुपया मुआवज़ा मिल सकेगा। मुआवजे का यह ४० वर्षों में रुक्कों द्वारा चुकाए जाने की समिति की राय है और इन रुक्कों पर सरकार प्रति वर्ष ढाई प्रति सैकड़ा के हिसाब से सूद देगी। इस प्रकार कुल ब्याज का अनुमान साढ़े पाँच करोड़ रुपये होता है।

जमींदारों को मुआवज़ा सरकारी कोष से तिमाही, अथवा छःमाही किश्त के रूप में मिल सकेगा। इसका अभिप्राय यह है कि बदलने वाली अवस्था में यह रकम भत्ते के रूप में दी जावे, ताकि जमींदार अपने को परिवर्तित वातावरण के अनुकूल ढाल सकें।

जमींदारी प्रथा को अन्त करने में सरकार को इस समय कुछ विषम परिस्थितियों का सामना करना पड़ रहा है। सबसे मुख्य बात जो इस दिशा में ध्यान देने योग्य है, वह यह है कि अभी देश की आन्तरिक परिस्थितियां तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति भी सन्तोषजनक नहीं है।

उत्तर-प्रदेश में जमींदारों के विषय में कुछ जानने योग्य आँकड़े

जमींदारी प्रथा के अन्त कर देने के विषय में हम सरकारी मत तथा वर्तमान जमींदारी-विनाशक समिति के विचारों को ऊपर बता चुके हैं। यहाँ हम अपने इस प्रान्त में जमींदारों की संख्या का अनुमान तथा वे कितनी मालगुज़ारी देते हैं, इसका वर्णन करते हैं —

प्रान्त	मालगुज़ारी की मात्रा	जमींदारों की संख्या
(१) आगरा	१००) या उससे कम मालगुज़ारी देने	९,८४,७३३
अवध	वालों की संख्या	१,३१,४०६
(२) आगरा	१०१) से २५०) तक मालगुज़ारी	६२,०६४
अवध	देने वालों की संख्या	१३,१४४
(३) आगरा	२५१) से ५००) तक मालगुज़ारी	२१,०००
अवध	देने वालों की संख्या	५,२८१
(४) आगरा	५०१) से १,०००) तक मालगुज़ारी	७,४७७
अवध	देने वालों की संख्या	२,४६३
(५) आगरा	१,०००) से अधिक मालगुज़ारी	६,४१७
अवध	देने वालों की संख्या	१,५३६
आगरा-प्रान्त में	जमींदारों की कुल संख्या का अनुमान	१०,८१,७९१
अवध-प्रान्त	,, ,,	१५३,९२९
कुल योग		१२,३५,६२०

उपरोक्त अंकों को देखने से यह विदित होता है कि हमारे प्रान्त में अधिकांश जमींदार केवल नामधारी ज़मींदार ही हैं। उनके पास भूमि की मात्रा बहुत कम होती है और उसे वे खुद ही काश्त करते हैं। कुछ जमींदारों को (कदाचित् २५०) तक मालगुज़ारी देने वालों को) काश्तकार बनने के अधिकार दिए जाने की व्यवस्था की जा रही है। इससे दिए जाने वाले मुआवजे की रकम भी पहिले की अपेक्षा कुछ कम हो गयी है तथा इससे यह भी आशा की जाती है कि जमींदारी प्रथा के विरोधियों की संख्या कम रह जावेगी और इस प्रथा को अन्त करने में आसानी हो सकेगी।

चौवनवां अध्याय

मज़दूरी

परिश्रम अथवा मिहनत करने वाले को उसके श्रम के बदले में जो धन दिया जाता है, उसे मज़दूरी कहते हैं। छोटे-छोटे मज़दूरों को जो उनके पारिश्रमिक के बदले में रुपया दिया जाता है, उसे प्राय: लोग मज़दूरी कहते हैं। उनकी यह मज़दूरी अधिकांश रूप में दैनिक, साप्ताहिक अथवा पाक्षिक होती है। पढ़े-लिखे और शिक्षित कर्मचारियों या अफ़सरों को उनके परिश्रम के बदले में जो धन दिया जाता है, उसे वेतन कहते हैं। वेतन अधिकांशतः मासिक होता है। जन-साधारण में प्राय: वेतन शब्द अधिक आदरसूचक माना जाता है, किन्तु अर्थशास्त्र के दृष्टिकोण से इन दोनों में वास्तविक कोई भी भेद नहीं है। अर्थशास्त्र की दृष्टि से तो ये दोनों पर्य्यायवाची शब्द ही हैं।

मजदूरी का अर्थ

संसार के अधिकांश व्यक्ति अपनी आय के लिए किसी न किसी प्रकार का परिश्रम करते हैं, अतएव उन सबकी गणना श्रमजीवी श्रेणी में की जाती है। प्रत्येक व्यक्ति की उन्नति और सुख-समृद्धि बहुत कुछ उसकी आर्थिक-स्थिति पर निर्भर रहती है। और आर्थिक-स्थिति का मुख्य आधार आय होती है। इस प्रकार समाज के इन अधिकांश व्यक्तियों की सम्पन्नता और उनका सुख उनकी आय पर ही निर्भर है; जो बदले में उनके श्रम और श्रम के प्रतिफल में मिलने वाली मज़दूरी पर निर्भर रहती है। अतः मज़दूरी का प्रश्न अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है। दरिद्रता और वर्ग-संघर्ष शान्ति-अशान्ति के प्रश्न मज़दूरी से ही संबंधित हैं।

सामाजिक सुख-समृद्धि में मजदूरी का महत्त्व

आजकल अधिकांश मज़दूरों को उनके श्रम का प्रतिफल प्रायः द्रव्य में ही दिया जाता है। इसे नकद मज़दूरी कहते हैं। द्रव्य विनिमय का माध्यम है, अत: उस प्राप्त द्रव्य से श्रमजीवी अपनी आवश्यकता के पदार्थ खरीदते हैं। किन्तु यदि मज़दूरी अन्न, वस्त्रादि पदार्थों के रूप में दी जाती है, तो पदार्थों के इस परिमाण को असली मज़दूरी कहा जावेगा। इस प्रकार मज़दूरी के दो मुख्य भेद माने जाते हैं।

मजदूरी के भेद

(१) नकदी मज़दूरी। और (२) असली मज़दूरी।

गांवों में खेती-बारी में काम करने वाले मज़दूरों को प्रायः असली मज़दूरी ही दी जाने की प्रथा है। अब समय की प्रगति के साथ-साथ कुछ नकदी मज़दूरी भी मिलने लग गई है, किन्तु इस नकदी मज़दूरी के साथ भी उन्हें अनेक प्रकार की सुविधाएँ दी जाती हैं, इन सब सुविधाओं के योग के परिमाण को असली मज़दूरी कहते हैं। इसी प्रकार नगरों में भी अब बड़े-बड़े मिलों के मालिकों की ओर से श्रम-जीवियों को नकदी के अतिरिक्त रहने का स्थान, शिक्षा और मनोरंजन के साधनों का भी प्रबन्ध कर दिया जाता है। ऐसी दशा में इन वस्तुओं और सुविधाओं का योग असली मज़दूरी होगा।

श्रमिक की आर्थिक स्थिति का ठीक-ठीक अनुमान नकदी मज़दूरी से नहीं लगाया जा सकता है, इसका ठीक निर्णय तो असली मज़दूरी से ही होता है। उदाहरण के लिए यदि कानपुर में एक श्रमिक को १।) दैनिक मज़दूरी मिलती है जहां पर कि गेहूँ का भाव एक रुपये का पौने दो सेर है और दूसरी ओर इटावा में एक श्रमिक को केवल १) प्रति दिन मज़दूरी मिलती है, किन्तु वहां गेहूं का भाव साढ़े तीन सेर प्रति रुपया है। ऐसी अवस्था में यद्यपि कानपुर के श्रमिक को नकदी मज़दूरी अधिक मिलती है तथापि असली मज़दूरी इटावा के श्रमिक को ही अधिक मिलती है। इसी प्रकार यदि दोनों को अपनी विविध आवश्यकताओं का सामान बराबर-बराबर मिलता है, किन्तु यदि कानपुर में श्रमिक को रहने के लिए स्थान, बच्चों की शिक्षा और मनोरंजन के पर्याप्त साधनों का प्रबन्ध कर दिया जाता है तथा श्रमिक को काम करने वाले घंटों में अवकाश दे दिया जाता है जो इटावा के किसी श्रमिक को नहीं दिये जाते हैं तो स्पष्ट है कि कानपुर के श्रमिक की असली मज़दूरी उससे कहीं अधिक होगी।

नकद वेतन में इस बात का विचार नहीं किया जाता है कि वह श्रमजीवी के गुजारे के लिए प्रर्याप्त होगी अथवा नहीं और न वेतन के द्रव्य के उपयोग पर ही किसी प्रकार का नियंत्रण रहता है—अर्थात् इस बात पर तनिक भी ध्यान नहीं दिया जाता है कि वह उससे अपने लिए जीवन-रक्षक पदार्थ खरीदेगा अथवा विलासिता के पदार्थ।

असली मज़दूरी का परिमाण नीचे लिखी हुई बातों पर निर्भर रहता है —

असली मज़दूरी पर प्रभाव डालने वाली बातें

(१) **द्रव्य की क्रयशक्ति**—जब मज़दूरी धन में मिलती है तो, यदि किसी स्थान पर वस्तुएँ महँगी मिलती हैं तो नकद मज़दूरी अधिक मिलने पर भी वहाँ दूसरे स्थानों की अपेक्षाकृत (जहां वस्तुएँ सस्ती मिलती हैं) कम होगी, कारण कि उस स्थान पर उपभोग के पदार्थ उतनी मज़दूरी में कम परिमाण में प्राप्त हो सकेंगे।

(२) **नकद मज़दूरी के अतिरिक्त प्राप्त होने वाले पदार्थ और सुविधाएँ इत्यादि**—यदि कृषि-श्रमी को नगर के किसी फार्म में रहने के लिए एक मकान और उसके बच्चों की शिक्षा और स्वास्थ्य की व्यवस्था कर दी जाती है तो ऐसी अवस्था में नकद मज़दूरी कम होने पर भी उसकी असली मज़दूरी से अधिक होगी।

(३) **काम का बराबर और लगातार मिलना**—जो काम बराबर और लगातार मिलता रहता है, उसके लिए अपेक्षाकृत कम मज़दूरी लेना भी उचित माना जाता है, चूँकि ऐसी हालत में उसे कुल मिलाकर अधिक मज़दूरी मिल जाती है। उदाहरण के लिए यदि एक कृषि-श्रमी को एक जमींदार १८) प्रति माह नकद मज़दूरी देता है और साथ ही कभी-कभी उसे उत्सवों पर कुछ और आठ आना या एक रुपया दे देता है, किन्तु इस कृषि-श्रमी को वह वर्ष भर अपने यहां रखता है। दूसरी ओर यदि वही जमींदार एक दूसरे श्रमिक को १।) दैनिक मज़दूरी पर अपने यहां रख कर कुछ दिन काम कराके निकाल देता है तो ऐसी अवस्था में इस मज़दूरी में बीच-बीच की बेकारी के समय के भरण-पोषण का व्यय भी एक प्रकार से शामिल रहता है। इसी सिद्धान्त के अनुसार नगरों में चीनी की मिलों तथा राजों को उनके काम के लिए मज़दूरी दी जाती है, चूँकि ये व्यवसाय वर्ष भर नहीं चलते। चीनी की मिलें वर्ष में ६-७ महीने काम करती हैं और राज या मज़दूरों का वर्षा के दिनों में मकान बनाने का काम लगभग बन्द ही रहता है।

(४) **पूरक आय के साधन**—कभी-कभी यदि एक व्यवसाय के करने में मज़दूरी कम मिले, किन्तु उसे दूसरे पूरक व्यवसाय करने का अवसर मिल जावे, जिससे कि वह अपनी कुल आय को बढ़ा सके तो ऐसी अवस्था में लोग उसे स्वीकार कर लेते हैं। गांवों में किसान को इसी सिद्धान्त पर कम मज़दूरी मिलती है, चूँकि वे अपने जमींदार के यहां काम करने के बाद अन्य पूरक व्यवसाय

करने के लिए स्वतंत्र रहते हैं और इस प्रकार वे अपनी कुल आय को बढ़ा लेते हैं।

(५) **व्यावसायिक व्यय**—अनेक ऐसे व्यवसाय होते हैं, जिनके चलाने में विशेष प्रकार के साज-सामान, साधन या ऐसी ही अनेक वस्तुओं की आवश्यकता होती है। इनके लिए उन्हें कुछ पृथक् खर्च करना पड़ता है। इन पर किया गया व्यय नकदी या कुल आय में से घटाकर ही असली आय मालूम की जा सकती है। उदाहरण के लिए डाक्टरों को मोटर अथवा तांगा रखना पड़ता है, वकील और बैरिस्टरों को आरामकुर्सी तथा क्लर्क रखने पड़ते हैं इत्यादि। नकदी आय अधिक होने पर भी यदि व्यावसायिक व्यय अनुपात में अधिक करना पड़े तो असली आय अपेक्षाकृत कम हो जावेगी।

व्यवसाय भेद और मज़दूरी

भिन्न-भिन्न व्यवसायों के करने वालों को अलग-अलग मज़दूरी मिलती है। इसके कारण प्रसिद्ध अर्थशास्त्री आदम स्मिथ ने निम्नलिखित बतलाए हैं —

(१) **रुचिकर या अरुचिकर व्यवसाय**—बहुत से ऐसे व्यवसाय होते हैं, जिन्हें करना साधारण मनुष्यों की रुचि के विपरीत होता है। उदाहरण के लिए प्रत्येक व्यक्ति घिनौने या अप्रिय हिंसा कार्य नहीं कर सकते। फलतः कसाइयों को एक रसोइए से अधिक मजदूरी मिलती है।

(२) **व्यवसायप्रियता**—बहुत से ऐसे व्यवसाय भी होते हैं, जिनके करने में उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा होती है और उसे वे अच्छा मानते हैं, भले ही उनके करने में उन्हें कम वेतन मिले। कचहरी या दफ्तर के बाबू बनने में वेतन कम मिलता है, किन्तु ढोर डॉक्टरी या ऐसे अन्य व्यवसायों को करने में वे अपनी प्रतिष्ठा भंग होना समझते हैं।

व्यावसायिक शिक्षा

बहुत से ऐसे भी व्यवसाय होते हैं, जिनके सीखने में विशेष खर्च करना पड़ता है और शिक्षा प्राप्त करने में भी कठिनाई होती है। ऐसे व्यवसायों को करने-वालों की संख्या भी परिमित होती है। उदाहरण के लिये डॉक्टरी और इंजीनियरिङ्ग। इनके सीखने में साधारणतः ५-६ वर्ष लग जाते हैं। ग्रेजुएट होने के बाद भारतवर्ष (या अन्य देशों में भी) जैसे निर्धन देश के निवासी इतना समय और धन व्यय

करना अनुचित समझते हैं; परिणामस्वरूप इनका वेतन भी अन्य व्यवसायों की अपेक्षाकृत अधिक होता है।

व्यावसायिक विश्वसनीयता तथा अन्य गुण

अनेक ऐसे भी व्यवसाय होते हैं, जिनमें विशेष शिक्षा अथवा अधिक समय लगाने की आवश्यकता तो नहीं होती; किन्तु ईमानदार और विश्वासपात्र व्यक्ति होना परमावश्यक है। उनके ऐसे गुणों के कारण ही उन्हें अधिक वेतन दिया जाता है। उदाहरण के लिये किसी संस्था के खजांची को ही ले लीजिए, उसे अन्य कार्यकर्त्ताओं की अपेक्षा अधिक वेतन दिया जाता है।

व्यावसायिक सफलता और प्रसिद्धि

बहुत से व्यक्ति एक ही प्रकार के व्यवसाय करते हैं, फिर भी उनका वेतन या आय एक नहीं रहती है। अतः प्रसिद्धि और सफलता-प्राप्त व्यक्तियों की आय अन्य की अपेक्षाकृत अधिक होती है। उदाहरण के लिये डॉक्टर; वकील इत्यादि।

मज़दूरी किस तरह निश्चित होती है ?

इस विषय में अर्थशास्त्रियों ने अनेक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है।

जीवन-निर्वाह सिद्धान्त

जीवन-निर्वाह के सिद्धान्त के अनुसार मज़दूरी, मज़दूर और उसके कुटुम्ब-पालन के खर्च से विशेष अधिक या कम नहीं रह सकती है। यदि मजदूरी अधिक होगी तो जनसंख्या की वृद्धि होगी, जिससे आपस में स्पर्द्धा और प्रतियोगिता बढ़ने के कारण वह पुनः कम हो जावेगी। इसके विपरीत यदि मज़दूरी कम होगी तो श्रमिक भूखों मरने लगेंगे और इस प्रकार जन-संख्या घटने लगेगी, अतः मज़दूरी फिर से बढ़ कर अपनी पुरानी सीमा तक पहुँच जावेगी। अर्थशास्त्री इस सिद्धान्त को अपूर्ण मानते हैं, चूंकि इसमें मज़दूरों की मांग की उपेक्षा होती है और उनकी कार्य-कुशलता पर किंचित् भी ध्यान नहीं रखा गया है।

मजदूरी-कोष-सिद्धान्त

इस सिद्धान्त में यह मान लिया गया है कि व्यवसायी लोग पारिश्रमिक या उजरत देने के लिए पूंजी में से एक अलग कोष कर लेते हैं। मज़दूरी की मात्रा, इस कोष में संचित धन तथा इस व्यवसाय में अपनी आजीविका खोजने वाले मज़दूरों की सख्या द्वारा निश्चित होती है। यदि कोष के धन के अनुपात में व्यवसाय करने वाले मजदूर

कम संख्या में आते हैं, तो उनका पारिश्रमिक या उजरत अधिक होता है। किन्तु यदि अधिक संख्या में आते हैं तो उसी अनुपात में उनकी मजदूरी भी घट जावेगी। कोष की वृद्धि व्यावसायिक बचत के ऊपर भी निर्भर रहती है; किन्तु इस पर मजदूरों का अपना कोई वश नहीं रहता। अतः मजदूरी बढ़ाने के लिए मजदूरों को अपनी संख्या कम करनी पड़ेगी? इस दृष्टि से इस सिद्धान्त का भी तीव्र विरोध हुआ है।

इस सिद्धान्त के अनुसार व्यवस्थापक सदा इस बात की खोज में रहता है कि उत्पत्ति के जिस साधन की सीमान्त उपयोगिता उसे किसी दूसरे साधन से अधिक

सीमांत-उत्पादकता सिद्धान्त

से अधिक जान पड़े, उसे वह कम वाले साधन के स्थान पर उपयोग करने का प्रयत्न करता है। अतः जो व्यवस्थापक जितनी अधिक से अधिक मजदूरी देगा वह उसकी सीमान्त उत्पादकता होगी, जिससे अधिक वह न दे सकेगा। किन्तु यदि किन्हीं कारणों से मजदूर की उत्पादकता बढ़ जाय तो व्यवस्थापक उसे और अधिक मजदूरी देने में भी न हिचकेगा। क्योंकि इससे व्यावसायिक लाभ होने की संभावना होगी। इस सिद्धान्त में एक सबसे बड़ा दोष यह है कि इसमें मजदूरों की मांग पर ही विचार किया गया है और उनकी पूर्त्ति की ओर किञ्चित्मात्र भी ध्यान नहीं दिया गया। दूसरे यह कि मजदूर की सीमान्त उत्पादकता कितनी है, यह ज्ञात करना कोई सरल कार्य नहीं है।

कॉर्ल मार्क्स के विचार से किसी वस्तु के उत्पादन में श्रम का एक बहुत बड़ा स्थान है, किन्तु मजदूरों के पास अपनी कार्य-कुशलता के अतिरिक्त और कुछ भी

कॉर्ल मार्क्स का सिद्धान्त

नहीं होता है। वह तो विवश होकर कार्य के लिए (रोजगार) किसी पूंजीपति के पास पहुंचता है, जो उसके श्रम का एक प्रकार से ग्राहक होता है। ऐसी अवस्था में वह पूंजीपति उसे उसके श्रम का पूरा मूल्य कभी भी नहीं देता है। मार्क्स का इस सम्बन्ध में यह विचार है कि वस्तुओं के निर्माण में सबसे अधिक श्रेय मजदूर का ही रहता है, अतः वितरण का अधिक भाग उसी को मिलना चाहिए। किन्तु; इस सिद्धान्त की भी समय-समय पर बड़ी आलोचनाएँ हुई हैं।

इस सिद्धान्त के अनुसार मजदूरी का निर्णय पूंजीपति और मजदूरों के पारस्प-

रिक भाव-ताव से होता है। पूंजीपति यह जानता है कि एक मजदूर की सीमान्त

मांग और पूर्त्ति का सिद्धान्त

उत्पादकता कितनी है, अतः वह उसकी मज़दूरी उस सीमा से अधिक कभी न लगावेगा। दूसरी ओर मजदूरों की रहन-सहन का भी एक दर्जा होता है। यह दर्जा मजदूरों की आवश्यकताओं के अनुसार होता है। यदि उसे उन आवश्यकताओं की पूर्त्ति के योग्य भी वेतन न दिया जावेगा तो उसे वह लेना स्वीकार ही न करेगा। अतः मजदूरों के रहन-सहन की आवश्यक वस्तुओं के मूल्य की दृष्टि से कम से कम मजदूरी की सीमा तथा पूंजीपति द्वारा निश्चित सीमान्त उत्पादकता की दृष्टि से अधिक से अधिक मजदूरी की, इन दो सीमाओं के अन्दर ही मजदूरों को पारिश्रमिक दिया जाता है। उदाहरण के लिये एक मजदूर अपनी रहन-सहन का स्तर स्थिर रखने (दूसरे शब्दों में हम यों कह सकते हैं कि अपने उचित भरण-पोषण के लिए) के लिए १) दैनिक वेतन उचित समझता है; किन्तु उत्पादक सीमा के विचार से उसका कार्य १॥) प्रति दिन के हिसाब से बैठता है, तो पूंजीपति अथवा मालिक उसे १) या अधिक से अधिक १।) तक दे देने को तैयार हो जावेगा। वर्तमान समय में अधिकांशतः यही सिद्धान्त लागू रहता है। इसके अनुसार यदि मजदूरों की मांग बढ़ जाय तो कुछ समय के लिए उनके वेतन में वृद्धि हो जावेगी। वेतन में वृद्धि हो जाने पर अन्य व्यवसायों के मजदूर भी इस ओर आकृष्ट होने लगेंगे, किन्तु ज्यों ही श्रम की पूर्त्ति हो जावेगी, त्यों ही पुनः मजदूरी अपनी पुरानी सीमा पर आने लगेगी।

गतिशीलता और मज़दूरी

जब मजदूर एक व्यवसाय को छोड़ कर कोई दूसरा व्यवसाय अपना लेते हैं अथवा एक स्थान को छोड़ कर अन्य स्थानों को आने जाने लगते हैं तो इस प्रतिक्रिया को हम गतिशीलता कहते हैं। हमारे देश के विभिन्न व्यवसायों की मजदूरी की दर में जो भिन्नता दृष्टिगत होती है, उसका कारण मजदूरों की गतिशीलता ही है। यदि मजदूरों में एक स्थान को छोड़ कर दूसरे स्थान में जाने की अथवा एक व्यव-साय को छोड़ कर दूसरे व्यवसाय को करने की क्षमता आ जावे तो निश्चय ही मजदूरी में इतनी विषमता न दीख पड़े। यद्यपि हमारे देश में विगत वर्षों में

शिक्षा-प्रसार, यातायात तथा आवागमन के साधनों में सुधार और राज्य की ओर से विभिन्न व्यवसायों की अनेक शिक्षा सम्बन्धी योजनाएँ विकसित हुई हैं और समय-समय पर पत्र-पत्रिकाओं द्वारा भी इस दिशा में काफ़ी प्रोत्साहन दिए गए हैं; तथापि सामाजिक बन्धन, जात-पाँति के भेद-भाव, निरक्षरता और अज्ञानता, गाँव और घर का मोह, जलवायु, बोल-चाल में भेद-भाव; निर्धनता तथा यातायात के सस्ते साधनों के अभाव ने इस दिशा में काफी बाधा डाली हैं। गाँवों के किसान जब अत्यधिक ऋणग्रस्त अथवा त्रस्त हो जाते हैं, अथवा दुर्भिक्ष पड़ने या जनसंख्या में वृद्धि होने के कारण ही गाँवों से भागने का उपक्रम करते हैं। इन्हीं सब कारणों की वजह से हमारे गाँवों और नगरों में साधारणतः मजदूरी की दर कम होती है।

रहन-सहन का स्तर और मज़दूरी

रहन-सहन का मजदूरी पर दो तरह से प्रभाव पड़ता है। एक तो मांग पर और दूसरा पूर्त्ति पर।

रहन-सहन और श्रम की पूर्त्ति—रहन-सहन का मजदूरी पर कोई सीधा प्रभाव नहीं पड़ता है। जिन व्यक्तियों को रहन-सहन के स्तर गिरने की संभावना होती है, वे विवाह करना स्थगित कर देते हैं, अथवा सन्तति-निरोध द्वारा परोक्ष रीति से मजदूरों की संख्या में वृद्धि होने से रोकते हैं। फल यह होता है कि जनसंख्या कम रहती है तो मजदूरी की दर ऊँची बनी रहती है। इसके विपरीत जिन व्यक्तियों का रहन-सहन गिरा हुआ होता है, वे न तो सन्तति-निरोध के ही उपक्रम करते हैं और न विवाह ही देर में करते हैं; फलस्वरूप जनसंख्या में वृद्धि होती चली जाती है और मजदूरों की संख्या बढ़ने के कारण मजदूरी की दर गिर जाती है। भारतवर्ष के किसानों को कम मजदूरी मिलने का एक यह कारण भी है।

रहन-सहन और श्रम की मांग—रहन-सहन का कार्य-कुशलता पर गहरा प्रभाव पड़ता है। जितना ही अधिक ऊँचा रहन-सहन का स्तर किसी व्यक्ति का होगा, उतने ही अधिक परिमाण में वह स्वास्थ्यवर्द्धक भोजन करेगा, अच्छे वस्त्र पहिनेगा तथा अच्छे और हवादार मकान में रहेगा। इन सबका प्रभाव उसके स्वास्थ्य और मानसिक प्रवृत्तियों पर पड़ेगा, वह अधिकाधिक परिश्रम कर सकेगा

तथा अधिक परिश्रम करने पर भी उसे अधिक थकान अनुभव न होगी। अधिक परिश्रम करने की क्षमता के कारण उसकी मजदूरी की दर भी बढ़ जावेगी। इसके अतिरिक्त अच्छे रहन-सहन के कारण सन्तान स्वस्थ तथा तन्दुरुस्त रहेगी, वस्तुतः अच्छे मजदूर मिल सकेंगे।

अस्तु; रहन-सहन के स्तर का मजदूरी की दर निश्चय करने में विशेष प्रभाव पड़ता है। इसी प्रकार मजदूरी की दर का रहन-सहन पर प्रभाव पड़ता है। मजदूरी की दर जितनी ही अधिक होगी रहन-सहन का ढङ्ग उतना ही ऊँचा होगा और जितनी कम मजदूरी मिलेगी रहन-सहन का दर्जा उतना ही कम होगा। भारतवर्ष के उदाहरण में हम बता ही चुके हैं। चूँकि यहाँ के रहन-सहन का स्तर गिरा हुआ है, फलतः मजदूरी की दर भी कम रहती है। इसके विपरीत अमेरिका और ब्रिटेन में रहन-सहन का स्तर ऊँचा होने के कारण मजदूरी की दर भी ऊँची रहती है।

मज़दूरी और सामाजिक प्रथाएँ

भारतवर्ष की प्रचलित सामाजिक प्रथाओं का भी मजदूरी की दर निर्णय करने में विशेष प्रभाव पड़ता है। ये प्रथाएँ उत्पत्ति, कार्यक्षमता, श्रम की पूर्त्ति, श्रम की गतिशीलता और प्रतियोगिता आदि बातों पर अपना प्रभाव डालती हैं।

संयुक्त-कुटुम्ब प्रणाली

संयुक्त-कुटुम्ब प्रणाली में प्रत्येक व्यक्ति को अपनी योग्यता प्रकट करने का अवसर कम मिलता है। फिर एक या दो व्यक्ति ही कमा-कर खिलाने वाले होते हैं तथा आश्रितों की संख्या बढ़ जाती है। ऐसी अवस्था में कार्य करनेवाले व्यक्तियों के उत्साह में कमी पड़ जाती है।

अल्पायु में विवाह प्रणाली

शीघ्र अथवा छोटी आयु में विवाह हो जाने के कारण सन्तानोत्पत्ति शीघ्र ही होने लगती है, तथा बच्चों की संख्या बढ़ जाने के कारण वे अपनी आय का उचित उपभोग नहीं कर पाते हैं, फलतः रहन-सहन का स्तर ऊँचा करने में भी बाधा पड़ती है।

यद्यपि अब जाति-भेद का बन्धन शिथिल होता जा रहा है, तथापि ये भेद-भाव जहाँ कहीं भी विद्यमान हैं, मज़दूरी पर अपना विशेष प्रभाव डालते हैं। जाति

बन्धनों के कारण अब भी अनेक ऐसे व्यक्ति हैं, जो अपनी इच्छा व रुचि के अनुसार पेशे नहीं बदल सकते। जिसका परिणाम यह होता है कि उन्हें विवश होकर उन्हीं व्यवसायों में उद्यम करना पड़ता है जिनमें कि वे अपनी कार्य-क्षमता का पूर्ण उपयोग नहीं कर पाते और इस प्रकार उन्हें मजदूरी भी कम ही मिल पाती है।

जाति-भेद

प्रत्येक देश व जाति के अपने पृथक्-पृथक् रीति-रिवाज, उत्सव व त्यौहार होते हैं और इस भिन्नता के अनुसार वे उन पर धन व्यय करते हैं। भारतवर्ष में कुछ ऐसी परिपाटी चली आ रही है कि विवाह, श्राद्ध व मुण्डन इत्यादि अवसरों पर दिल खोलकर धन खर्च किया जाता है। विविध उत्सवों पर भी काफी अपव्यय होता है। इन सबका परिणाम यह निकलता है कि हम लोगों में से अधिकांश ऋण-ग्रस्त हो जाते हैं। ऋण चुकाने के लिये हमें अपने जीवन-रक्षक पदार्थों में कमी करनी पड़ती है, जिसका प्रभाव हमारी कार्य-क्षमता पर पड़ता है।

सामाजिक रीति, रस्म तथा उत्सव इत्यादि

इस प्रकार हम देखते हैं कि मजदूरी के निर्धारित करने में अनेक बातों का प्रभाव पड़ता है। प्राचीन भारत में तो सामाजिक परिपाटियों के अनुसार ही मजदूरी दी जाती थी; किन्तु अब तो इसका निर्णय स्पर्धा और प्रतियोगिता द्वारा भी होता है।

पचपनवाँ अध्याय

सूद

पूँजी को उपयोग में लाने के लिए अथवा पूँजी का व्यवहार करने के बदले में पूँजीपति को जो धन दिया जाता है, उसे हम सूद अथवा ब्याज कहते हैं। बहुत से व्यक्ति अपने उत्पन्न धन में से कुछ भाग अपनी तत्कालीन आवश्यकताओं में से बचाकर रख लेते हैं। इस संचित धन को या तो वे अपनी भावी आवश्यकताओं के लिए रखते हैं अथवा

सूद का अर्थ

धनोत्पादन में लगाते हैं। अज्ञान, अराजकता अथवा संचित करने के समुचित प्रबन्ध होने पर बहुधा अनेक व्यक्ति अपने धन को भूमि में गाड़ देते हैं अथवा उसके आभूषण बनवा डालते हैं। किन्तु, अब ऐसी प्रथा सभ्य समाज तथा नगरों से लुप्त होती जा रही है, उसे वे या तो बैंकों में जमा करते हैं अथवा स्वयं दूसरों को व्यवसाय चलाने के लिए सूद पर दे देते हैं।

आधुनिक युग में बहुत से व्यक्ति अपनी तत्कालीन इच्छाओं और आवश्यकताओं से कुछ धन बचाते हैं—वे अपने अनेक सुखों का त्याग करते हैं। इसके प्रतिफल-स्वरूप उन्हें अपनी पूँजी पर सूद मिलता है। सूद पर रुपया देना साधारणतया लाभदायक नहीं होता, किन्तु भूमि में गाड़ने अथवा आभूषण आदि बनवाने से तो, जहाँ वह व्यर्थ पड़ा रहता है, सूद पर रुपया देना लाभदायक रहता है। इससे दूसरों की धन-संबंधी आवश्यकताएँ पूर्ण की जा सकती हैं और अनेक व्यापार तथा व्यवसायों को चलाने में सहायता दी जा सकती है। इस प्रथा से पूँजीपति का भी धन बढ़ता है और जिसे रुपया उधार दिया जाता है, उसकी भी आवश्यकता की पूर्त्ति हो जाती है।

सूद का महत्त्व

यद्यपि पूँजी अकेले ही बिना भूमि और श्रम के उत्पत्ति नहीं कर सकती है, तथापि अनेक कारणों से आधुनिक युग में पूँजी अन्य सभी साधनों से अधिक महत्त्वपूर्ण हो गई है। जिस व्यवसाय में जितनी ही अधिक पूँजी लगाई जावेगी, उससे उतना ही अधिक लाभ होगा तथा माल सस्ता और अच्छा तैयार होगा। अतः इस युग में उत्पादन कार्य अधिकांशतः पूँजी पर ही निर्भर रहते हैं। व्यापारिक तेजी अथवा मंदी ; सामाजिक सुख-संमृद्धि या दरिद्रता सभी कुछ इस पूँजी पर ही निर्भर हैं। अतः पूंजी के प्रतिफल सूद का भी प्रश्न कमशः पेचीदा और महत्त्वपूर्ण होता जा रहा है। यदि वह स्वयं अपने धन को व्यापार में लगाकर जोखिम न उठाना चाहे तो दूसरों को सूद पर धन उठाकर लाभ प्राप्त कर सकता है।

सूद के दो भेद—अर्थशास्त्रियों की दृष्टि से सूद दो प्रकार का माना गया है—एक तो कुल सूद, और दूसरा वास्तविक अथवा असली सूद।

असली सूद—किसी ऋण के लिए जो सूद लिया या दिया जाता है, उसमें वास्तविक सूद के अतिरिक्त अन्य रकमें भी सम्मिलित रहती हैं, जो क्रमशः निम्नलिखित रहती हैं—(अ) वास्तविक सूद, (आ) पूंजीपति के जोखिम उठाने

का प्रतिफल, (इ) ऋण की व्यवस्था करने का खर्च, और (ई) पूंजीपति की अनेक असुविधाओं का प्रतिफल।

जोखिम प्रायः दो प्रकार के होते हैं—एक तो व्यापारिक, और दूसरा वैयक्तिक। वस्तुओं को तैयार करते समय, अथवा तैयार हो जाने के बाद, कभी-कभी उन वस्तुओं की मांग घट जाती है, अथवा विविध प्रकार के सुधार हो जाने के कारण या आविष्कारों के फलस्वरूप उनकी कीमत गिर जाती है। इन परिवर्तनों के कारण पूंजीपति को कभी-कभी अपने मूलधन के प्राप्त करने में अनेक असुविधाओं का सामना करना पड़ता है, ऐसी उथल-पुथल व्यापारिक जोखिम के अन्तर्गत मानी जाती हैं।

व्यापारिक जोखिम के अतिरिक्त कभी-कभी रुपया लेने वालों (ऋण लेने वालों) की नीयत में भी परिवर्तन हो जाता है, वे रुपया लौटाने में देरी करते हैं अथवा नहीं देना चाहते, या कभी-कभी ऋण लेने वाले की ऋण चुकाने से पहिले ही असामयिक मृत्यु हो जाती है। अतः ऋण के डूबने अथवा न मिलने के जो भय या जोखिम होते हैं, वे वैयक्तिक जोखिम कहलाते हैं। ऐसी ही अनेक असुविधाओं और जोखिमों से बचने के लिए पूंजीपति प्रायः वास्तविक सूद से सूद की दर अधिक लेते हैं। इसी को हम कुल सूद कहते हैं। व्यावहारिक भाषा में कुल सूद को ही सूद कहते हैं।

प्राचीन काल में प्रायः सभी देशों में सूद लेने का विरोध किया जाता था। धार्मिक अथवा नैतिक दृष्टिकोण से भी यह निन्दनीय माना जाता था। मुसलमानों के यहां तो इसकी एकदम ही मनाही है। भारतवर्ष में भी अति प्राचीन काल से सूदखोरी को बुरा माना गया है। इसका कारण है। उस समय अभाव के कारण घोर विपत्ति में पड़े हुए व्यक्ति ही अपने भरण-पोषण और जीवन-रक्षा के लिए ऋण लेते थे, अतः उनसे ऋण लेना निर्दयता या बेरहमी का कार्य समझा जाता था। किन्तु ज्यों-ज्यों सामाजिक संगठन और सुरक्षा के साधन बढ़ते चले गए और उद्योग-धन्धों में वृद्धि होने लगी त्यों त्यों ऋण पर ब्याज लेना और देना सर्वथा अनुचित न ठहराया जा सका। अतः बाद में मनु ने सुरक्षित ऋण पर १५ प्रतिशत वार्षिक और अरक्षित ऋण पर २४ प्रतिशत वार्षिक सूद लेने की अनुमति दे दी। इस प्रकार हम देखते

सूद क्यों ली-दी जाती है?

हैं कि जब व्यापार और व्यवसाय में लाभ उठाने के अभिप्राय से धन उधार लिया जाने लगा तो सूद लेना उचित ही नहीं आवश्यक माना जाने लगा। चूँकि मान लो, यदि कोई उत्पादक ८ प्रतिशत की दर से रुपया उधार लेकर अपने व्यापार में २४ प्रतिशत का लाभ पैदा कर लेता है तो ऐसी अवस्था में उससे ८ प्रतिशत की दर से ब्याज लेना अनुचित न होगा। इसके अतिरिक्त पूंजीपतियों के दृष्टिकोण से यदि धन पर ब्याज न लिया जावे तो लोगों में त्याग करने की भावना जाग्रत ही न हो और इस प्रकार धन संचित करने की भावना ही नष्ट हो जावेगी। इससे उद्योग-धन्धों के चलाने में बड़ी कठिनाई होगी।

सूद की दर का निर्णय

जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं, सूद पूंजी की उजरत है अथवा पूंजी के उपयोग की कीमत है, अतः अन्य सभी प्रकार की कीमतों के अनुसार सूद का निर्णय भी मांग और पूर्त्ति की शक्तियों के घात-प्रतिघात द्वारा निश्चित होता है। आय को अपनी आवश्यकता के पदार्थों पर खर्च करने की व्यग्रता तथा संचित करने की आकांक्षा इन दोनों के सम्मिलित प्रभाव के कारण ही सूद की दर निश्चित होती है।

पूंजी की पूर्त्ति और मांग के कारण

पूंजी की मांग के अनेक कारण हो सकते हैं। एक कारण तो यह भी हो सकता है कि सभी व्यक्ति धन के वर्तमान समय के उपयोग को, भविष्य के उपयोग से अधिक अच्छा समझते हैं, अतः वे अपनी तत्कालिक वस्तुओं की आवश्यकताओं पर ही उसको खर्च कर डालते हैं। दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि वर्तमान उत्पादनों को काम में लाने और उत्पादन के उन्नतिशील तरीकों का आश्रय लेने से उत्पादक की आय भविष्य में पहिले की अपेक्षा अधिक बढ़ जाती है, अतः उत्पादक उत्पादन के लिए वस्तुएँ तथा कच्चा माल खरीदे। अपव्यय एक तीसरा कारण है। अनेक व्यक्ति अपनी संपूर्ण आय को तत्कालिक वस्तुओं में ही खर्च कर डालते हैं, जब कि उसमें से वे कुछ भाग शेष बचा कर भविष्य के लिए संचित कर सकते थे। अतः यह मानना ही पड़ेगा कि पूंजी की कुल मांग उस समय, उस देश में विभिन्न कारणों से उत्पन्न हुई विभिन्न मांगों के योग से मालूम होती है।

चूँकि पूंजी की उत्पादकता के कारण उत्पादन कार्य के लिए जो मांग होती है, वह कुल मांग का एक अंशमात्र ही होती है। अतः यह नहीं कहा जा सकता है कि पूंजी की मांग का एकमात्र कारण व्यवसाय की उत्पादकता ही है अथवा केवल उत्पादन कार्य के लिए ही पूंजी की मांग होती है। चूंकि उत्पादकता के कारण उत्पादन कार्य के लिए पूर्त्ति की जो मांग होती है, उसके अतिरिक्त भी अन्य कार्यों के लिए पूंजी की मांग होती है। किन्तु फिर भी यह ध्यान देने योग्य बात है कि उत्पादन कार्य के लिए जो पूंजी की मांग होती है, वह कुल पूंजी की मांग का एक बहुत बड़ा अंश होता है और कुल मांग पर उसका बहुत ही व्यापक प्रभाव पड़ता है।

इसी प्रकार धन की पूर्त्ति दो बातों पर निर्भर रहती है, एक तो बचाने और संचय करने की शक्ति पर और दूसरे उसके लिए व्यग्रता पर। धन के बचाने और संचय करने की शक्ति व्यक्तिगत मनुष्य की आय पर निर्भर रहती है और उसकी व्यग्रता, दूरदर्शिता, कौटुम्बिक प्रेम आदि बातों पर अवलम्बित रहती है।

सूद का निर्णय करने में पूंजी की माँग और पूर्त्ति दोनों का ही विचार किया जाता है। किसी कारखाने का व्यवस्थापक तभी पूंजी मांगेगा जब उसकी अन्तिम इकाइयों की सीमान्त उत्पादकता उत्पत्ति के अन्य साधनों की सीमान्त उत्पादकता से कम न हो। यदि कम होगी, तो कम मात्रा में मांगेगा और यदि अधिक हुई तो अधिक मात्रा में मांगेगा। पूंजी की पूर्त्ति करने वाले पूंजीपति पूंजी का संचय करते समय सूद की दर पर अवश्य विचार करते हैं। दर जितनी ही अधिक होती है, उतना ही वे बचाने का प्रयत्न करते हैं। इस मांग और पूर्त्ति के साम्य का निर्धारण सूद की दर से होता है। यदि सूद की दर अधिक होती है तो लोग अधिक बचाते हैं और मांग कम होती है। यदि सूद की दर कम होती है तो लोग कम बचाते हैं और पूंजी की मांग अधिक होती है। पूंजी की मांग उपभोग के लिए नहीं होती तो उसकी दर का निर्णय उसकी उत्पादकता पर निर्भर रहता है। जितनी ही अधिक उसकी उत्पादकता होगी उतनी ही अधिक उसकी मांग और सूद की दर बढ़ेगी। विपरीत होने पर दर और मांग का परिमाण भी विपरीत ही होगा।

सूद की विभिन्न दरें

यदि सूक्ष्मता से देखा जाय तो विभिन्न देशों में तथा एक ही देश के भिन्न-भिन्न भागों में सूद की दरों में अन्तर रहता है। सूद की दर में जो अन्तर रहता है, उस पर प्रभाव डालने वाली अनेक शक्तियां होती हैं, जो क्रमशः निम्नलिखित हैं—

(१) देश की सम्पन्नता अथवा निर्धनता

जो देश सम्पन्न अथवा धनी होते हैं, वहाँ पूँजी के आधिक्य के कारण सूद की दर कम होती है। उदाहरण के लिए अमेरिका और इंग्लैंड को ले लीजिए। इन देशों में पूँजी अथवा धन का बाहुल्य है, फलतः सूद की दर भी कम होती है। इन देशों में मांग की अपेक्षा पूर्त्ति करने वालों की संख्या काफी है। इसके विपरीत भारत या चीन जैसे निर्धन देशों में जहां धनवान व्यक्तियों अथवा साहूकारों की कमी तथा ऋण लेने वालों की संख्या अधिक है, ऋण पर मिलने वाले धन के सूद की दर भी अधिक होती है।

(२) जोखिम का प्रभाव

यदि ऋण लेने वाला किसी की जमानत दे सकता है, अथवा स्वयं ही मकान, दूकान, भूमि या आभूषण गिरवीं रख सकता है तो ऐसी दशा में उसे कम सूद पर ही रुपया उधार दिया जा सकता है, चूंकि इन अवस्थाओं में पूँजीपति को मूलधन न मिलने का भय कम हो जाता है। यदि उसे मूलधन न भी मिले तो वह इन गिरवीं रखी हुई वस्तुओं को बेंचकर अपना रुपया चुकता कर सकता है।

(३) पूँजी को गतिशीलता

पूँजी गतिशील होती है। यदि किसी स्थान पर शान्ति, सुरक्षा और सुव्यस्था होती है तो पूँजी वहाँ पर अधिक स्थिर रहती है। ऐसी अवस्था में सूद की दर भी कम ही होती है।

(४) स्थान-परिवर्तन में सुविधाएँ

जब पूँजी के स्थान परिवर्तन की सुविधाएँ होती हैं तो उस अवस्था में पूँजी की गतिशीलता बढ़ जाती है। डाक, तार द्वारा मनिऑर्डर, पोस्टल ऑर्डर, बैङ्क, हुण्डियां इत्यादि सरलतापूर्वक एक स्थान से दूसरे स्थान तक भेजे जा सकते हैं, वस्तुतः इनका प्रभाव भी पूँजी की मात्रा के घटाने-बढ़ाने और इस तरह सूद की दर के घटाने बढ़ाने पर पड़ता है।

ऋण की अवधि के कारण भी सूद की दर घटती और बढ़ती रहती है।

(५) ऋण की अवधि जब ऋण काफ़ी समय के लिए लिया जाता है तो जोखिम की अवधि भी बढ़ जाती है, अतः सूद की दर भी बढ़ा दी जाती है। इसके विपरीत यदि कम समय के लिए ऋण लिया जाय तो सूद की दर भी घट जाती है।

(६) **ऋण लेने का समय**—जब व्यापारिक तेज़ी होती है, उस समय ऋण लेने पर सूद की दर भी अधिक होती है और जब व्यापारिक मंदी हो जाती है तो सूद की दर भी घट जाती है।

साहूकार अथवा महाजन सूद की दर निश्चय करने में इस बात पर भी विचार

(७) ऋण वसूल करने में खर्च करते हैं। यदि उन्हें रुपया वसूल करने में अनेक असुविधाएँ उठानी पड़ें, उसके वसूल करने में मुकदमा लड़ना पड़े अथवा कर्मचारियों की नियुक्ति करनी पड़े, तो उस अवस्था में वे सूद की दर बढ़ा देते हैं।

भारतवर्ष में सूद की ऊँची दर

भारतवर्ष में महाजन, साहूकारों तथा किसानों का जो सम्बन्ध रहता है तथा किसानों को ऋण कब लेने की आवश्यकता होती है, और वे अपने इस ऋण को कहां से प्राप्त करते हैं, इन सब बातों का वर्णन तो हम पिछले अध्यायों में कर ही आए हैं। यहां हम उनके ऋण पर जो ऊंची दर से सूद लिया जाता है, उनके कारणों पर विचार करते हैं।

(१) किसान जब ऋण लेते हैं, तो जमानत के रूप में जो भूमि, आभूषण अथवा जानवर गिरवीं रखते हैं, वे या तो क्षमशील होते हैं अथवा उचित परिमाण में नहीं होते हैं। अतः इन वस्तुओं के बदले में जो धन दिया जाता है, उस पर महाजन सूद की दर ऊंची कर देते हैं। इसके अतिरिक्त महाजन किसान का ऋण चुकाने की शक्ति से पूर्ण परिचित रहता है, अतः यदि ये वस्तुएं उचित परिमाण में भी हों तो भी महाजन लम्बी अवधि में मूलधन मिलने के कारण सूद की दर बढ़ा देते हैं।

(२) महाजन यह अच्छी तरह जानता है कि किसान को धन की आवश्यकता

अनुत्पादक कार्यों के लिए ही बहुधा हुआ करती है। अर्थात् शादी-विवाह, मुण्डन, श्राद्ध आदि अवसरों के लिए ही किसान महाजन के पास रुपयों के लिए पहुँचता है। अतः एक तो चूंकि उस समय किसान को रुपये की अत्यन्त आवश्यकता होती है और दूसरे वह धन अनुत्पादक कार्य में व्यय किया जावेगा, इसलिये महाजन सूद की दर बढ़ा देता है, चूंकि अनुत्पादक व्यय कठिनाई से ही चुकाया जा पाता है।

(३) गाँवों में किसानों को ऋण देने के लिये अन्य कोई ऐसी संस्था नहीं होती है, जो उसे कम सूद पर उत्पादक और अनुत्पादक दो प्रकार के कार्यों के लिये उसकी आवश्यकता के समय रुपया दे सके, अतः महाजन उसकी इस असहायावस्था से भी लाभ उठाता है और सूद की दर को बढ़ा देता है।

सूद और लगान

(१) समाज की प्रगति के साथ ही साथ पूंजी की मात्रा में भी वृद्धि होती है, फलतः सूद की दर कम हो जाती है। इसके विपरीत ज्यों-ज्यों जनसंख्या में वृद्धि होती है, भूमि का क्षेत्रफल बढ़ती हुई जनसंख्या के लिये कम हो जाता है, अतः लगान में सूद के विपरीत वृद्धि होती चली जाती है।

(२) वास्तविक सूद की गति तो साम्यावस्था में आने की रहती है, किन्तु लगान की गति भूमि की स्थिति, उर्वरता आदि परिवर्तनों के कारण बदलने की रहती है।

(३) लगान की कीमत निश्चित करने में प्रभाव नहीं पड़ता है। इसके विपरीत सूद का इसके निश्चय करने में बड़ा ही महत्त्वपूर्ण भाग रहता है, चूंकि हम एक बार बिना लगान की भूमि की कल्पना कर भी सकते हैं, किन्तु बिना सूद के पूंजी की नहीं अथवा अनुपयोगी और निरर्थक पूंजी की नहीं।

(४) सूद की दर पूँजी का मात्रा (पूर्त्ति) पर प्रभाव डालती है, किन्तु लगान के घटने अथवा बढ़ने से भूमि की पूर्त्ति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है, वह तो सदा ही परिमित मात्रा में रहती है।

छप्पनवां अध्याय

लाभ

साहसी अथवा जोखिम उठाने वाले को उत्पादन कार्य से जो कुछ आय होती है, उसमें से उत्पादन-व्यय निकाल देने पर जो अतिरिक्त आय बच रहती है, वही उस साहसी का प्रतिफल अथवा उजरत होती है, और उसी को हम लाभ कहते हैं। जिस तरह किसी एक उत्पादन कार्य में जमींदार को भूमि का लगान; मज़दूर को उसके श्रम के लिए पारिश्रमिक; पूँजीपति को उसकी पूँजी के लिए सूद दिया जाता है, उसी प्रकार उत्पादन के विविध साधनों को एकत्रित करके उचित सहयोग द्वारा उनसे काम लेने, और हर तरह के जोखिम को वहन करने का साहस, सफलता और असफलता की आशा-निराशा जो कोई व्यक्ति अपने सिर पर लेता है, उसके एवज़ में जो कुछ भी उसे प्राप्त होता है, वही लाभ कहलाता है। यदि साहसी को अपने जोखिम के बदले में कुछ भी उजरत, पुरस्कार अथवा लाभ न मिले तो व्यर्थ ही वह उस व्यवसाय को न करेगा। अतः सूद, लगान, पारिश्रमिक (वेतन) की भाँति ही लाभ भी उत्पादन कार्य का एक महत्त्वपूर्ण अङ्ग है।

लाभ का अर्थ और उसका महत्त्व

वर्तमान युग में किसी भी व्यवसाय अथवा कारबार के चलाने में जोखिम उठाना आवश्यक माना जाता है—अर्थात् उत्पत्ति का जोखिम एक आवश्यक और महत्त्वपूर्ण अङ्ग माना गया है। प्रत्येक कारबार में उत्पत्ति सदा उपभोग के अनुमान के अनुसार की जाती है, किन्तु यह अनुमान सर्वदा ठीक निकले इसका निश्चय करना सरल नहीं होता। अतः सम्भव है कि उत्पन्न की हुई वस्तु न खप सके तो उस व्यवसाय से जो हानि उठानी पड़ेगी उसे कोई एक व्यक्ति या व्यक्तियों का समूह अथवा संस्था सहन करेगी। जब तक इस प्रकार के जोखिम को उठाने का बीड़ा कोई न लेगा तब तक किसी प्रकार का भी उत्पादन कार्य नहीं हो सकता है। इसके विपरीत यदि तैयार की हुई वस्तु ऊँची कीमत पर और शीघ्र ही खप गई

जोखिम और लाभ की आवश्यकता

तो उससे जो आय होगी वह जोखिम उठाने वाले को ही मिलेगी। इसी को हम जोखिम उठाने वाले का पुरस्कार अथवा लाभ मानते हैं। यह लाभ जोखिम उठाने वाले को अवश्य मिलना चाहिए चूँकि वह व्यवसाय को चलाने से पूर्व ही जमींदार को लगान (अथवा किराया); पूँजीपति को सूद, मज़दूरों को पारिश्रमिक तथा प्रबन्धक को वेतन आदि देने का बीड़ा और ज़िम्मेदारी लेता है, बल्कि व्यवसाय को आरम्भ करने से पूर्व ही उसे बहुत-सा धन खर्च भी करना पड़ता है। उदाहरण के लिए मज़दूरों को दैनिक, साप्ताहिक, पाक्षिक अथवा मासिक पारिश्रमिक; प्रबन्धक को वेतन इत्यादि। अतः यदि यह लाभ उसे न मिले तो वह उत्पादन कार्य ही न करेगा।

किन कारणों से जोखिम उठाया जाता है ?

उत्पादक जब कोई उत्पादन कार्य अपने हाथ में लेता है तो वह उत्पादक साधनों का उचित ढङ्ग से समीकरण करता है और तभी उस कार्य का ऐसी विधि से सञ्चालन करता है कि उसे कुछ लाभ शेष बच रहे। किन्तु भविष्य तो सदा अनिश्चित माना गया है। उत्पत्ति तो केवल अनुमानतः ही की जाती है; किन्तु माल के तैयार होने तक अथवा तैयार होते-होते परिस्थितियाँ बदल सकती हैं, जिनका प्रभाव वस्तु की कीमत पर पड़ता है। सम्भव है माल के तैयार होते-होते उसके लिये कच्चे माल का अभाव हो जाय; अथवा फैशन और उनके प्रचलन में कोई अन्तर आ जाय या उनकी कोई पूरक वस्तु निकल आवे; यह सम्भव है कि नवीन आविष्कारों के कारण उसकी मांग ही न रहे, अथवा यातायात के साधनों में सुधार हो जाने के कारण अन्तर्राष्ट्रीय बाजारों से उस वस्तु का आयात हो जाने से मांग घट जावे। मज़दूर हड़ताल कर दें, अथवा देश में राजनीतिक उथल-पुथल हो जाने का प्रभाव पड़े। यह भी सम्भव है कि दैवी प्रकोपों के कारण—भूकम्प, बाढ़, सूखा, आग इत्यादि—उत्पत्ति का क्रम ही भंग हो जाय, या सरकार द्वारा उसकी उत्पत्ति पर कोई विशेष कर लगा दिया जाय। ये और ऐसे ही अनेक कारण होते हैं, जो एक साहसी को उत्पत्ति करने से पूर्व सोचने पड़ते हैं, किन्तु फिर भी व्यावसायिक लाभ का एक ऐसी तीव्र आकांक्षा होती है, जो उन्हें उस व्यवसाय को करने के लिये विवश करती है। अतः कोई व्यवसायी पूर्व हानि लाभ का भली-भांति विचार करके ही किसी व्यवसाय को

चालू करता है। फिर भी समाजवादी दृष्टिकोण से लाभ को न्यायानुमोदित लूट ठहराया गया है।

लाभ के दो भेद—अर्थशास्त्र की दृष्टि से लाभ के दो भेद माने जाते हैं—एक तो वास्तविक लाभ, और दूसरा असली लाभ।

वास्तविक लाभ

किसी पदार्थ की कीमत मे उसके उत्पादन का सब खर्च—कच्चे माल का मूल्य, सञ्चालन शक्ति का खर्च, लगान, सूद, मजदूरी, यंत्रों की घिसाई, टूट-फूट, विज्ञापन, बीमा खर्च इत्यादि—निकाल देने पर जो शेष बच रहता है, उसे हम वास्तविक लाभ कहते हैं।

कुल लाभ

किन्तु साधारण तौर पर जिस रकम की गणना लाभ में की जाती है, वह यथार्थ में वास्तविक लाभ नहीं होता, उसमें अन्य अनेक प्रकार की रकमें सम्मिलित रहती हैं। उदाहरण के लिए—(क) साहसी की वैयक्तिक पूंजी का सूद; (ख) उसकी अपनी भूमि का लगान (अथवा किराया, भाड़ा); (ग) बीमे आदि का खर्च; और (घ) साहसी की विशेष सुविधाओं से होने वाला लाभ इत्यादि।

प्रायः ऐसा भी देखा जाता है कि एक व्यवसायी अपने कारबार में अपनी वैयक्तिक पूंजी, भूमि आदि का उपयोग करता है तथा स्वयं ही परिश्रम भी करता है, और उत्पादन कार्य से जो आय बच रहती है, उसकी गणना लाभ के रूप में की जाती है, किन्तु यह लाभ वास्तविक लाभ नहीं होता है। चूँकि यहाँ इस बात पर ध्यान देना आवश्यक है कि यदि उस व्यक्ति के पास अपनी भूमि और पूंजी न हुई होती अथवा उसने व्यक्तिगत परिश्रम न किया होता तो उसे हर हालत में अन्य व्यक्तियों पर आश्रित रहना पड़ता—वह जमींदार को लगान देता ही; पूंजीपति को पूंजी के लिए सूद देता तथा मज़दूरों को उनके श्रम का पारिश्रमिक। इसी प्रकार बहुत से व्यवसायी, उदाहरण के लिए जैसे किसान—अपने यंत्रों, मशीनों और मकानों को उत्पादन कार्य में लगाते हैं। ऐसी अवस्था में उन यंत्रों की क्षय-छीज, पूर्ति की रकम कुल आय में से घटा देना आवश्यक होता है। और यदि वह निरीक्षण, व्यवस्था आदि का भी काम स्वय ही करता है तो उन पर होने वाला व्यय (यदि वह अन्य शक्ति रखता तो) भी कुल आय में से घटा देना चाहिए। इस प्रकार हम देखते हैं कि व्यवसाय की कुल आय में से भूमि का

लगान; पूंजी का सूद; मज़दूरों का पारिश्रमिक; मशीनों की टूट-फूट, क्षय-छीज, पूर्ति रकम, व्यवस्था, प्रबन्ध और निरीक्षण आदि के व्यय निकाल देने पर जो रकम शेष बच रहती है, उसी को हम वास्तविक लाभ अथवा असली लाभ कहते हैं।

लाभ की घटी-वढ़ी के कारण

यदि वास्तविक जीवन में हम सूक्ष्मतः देखें, तो हमें विदित होगा कि प्रत्येक व्यवसाय में सभी को समान रूप से लाभ नहीं हुआ करता है। कोई एक व्यक्ति किसी व्यवसाय से अत्यधिक लाभ उठा लेता है और अन्य उसी से कम लाभ उठा पाता है, इस विषमता के अनेक कारण हैं, जो संक्षेप में निम्निलिखित हैं—

यदि किसी क्षेत्र में एक ही व्यवसायी को एकाधिपत्य प्राप्त है तो उसके लाभ की मात्रा सदैव अधिक होगी; किन्तु यदि आपस में प्रतिस्पर्द्धा की भावना जागृत होने लगती है तो लाभ की दर भी उसी अनुपात में कम होने लग जाती है। यदि किसी व्यवसाय में अधिक लाभ होने लगता है तो अन्य उद्योगों के व्यवसायी अपने कम लाभ से असन्तुष्ट होकर उधर ही झुकने लगते हैं, वे वहुधा अधिक पूंजी लगाकर उस व्यवसाय को आरम्भ करते हैं। अधिक कार्य कुशल होने के कारण उनके लाभ की मात्रा भी अधिक बढ़ने लगती है। वे कम कीमत पर अपनी वस्तुएँ बेच कर अयोग्य व्यवसायियों को व्यापार के क्षेत्र से बाहर निकाल फेंकते हैं। कार्य-कुशलता के कारण वे पहिले से ही अपना कार्य क्षेत्र ऐसे स्थान पर बनाते हैं, जहाँ उन्हें आवश्यक सुविधाएँ सरलता से और सस्ते मूल्य पर मिल जावें। उदाहरण के लिए कम लगान पर भूमि, कम सूद पर काफी धन और सस्ते तथा आवश्यकतानुसार मज़दूर। जहाँ पर व्यवसाय के निमित्त कच्चा माल सरलतापूर्वक और कम दामों पर बाहर से मँगाया जा सके अर्थात् उनका कार्य क्षेत्र ऐसे स्थान पर हो जहाँ रेल अथवा सड़क की सुविधाएँ मिल सकें।

इसी प्रकार व्यवस्थापक की प्रबन्ध करने की योग्यता और क्षमता का भी लाभ के साथ घनिष्ठ संबंध रहता है। शिक्षा की उन्नति और विकास के कारण ऐसे व्यवस्थापकों की संख्या बढ़ रही है, इससे स्वभावतः लाभ की दर गिर रही है, किन्तु देश की औद्योगिक उन्नति और पूंजी में वृद्धि हो रही है। इसके साथ-साथ जिस देश में शिक्षा का विकास न हुआ होगा वहां शिक्षित मजदूरों की कमी के कारण मजदूर-सभाओं की स्थापना नहीं होती, फलतः लाभ अधिक होता है।

इस विषय में यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि उत्पादन व्यय की विविध मदों में जितना ही अधिक खर्च होगा उतना ही लाभ कम होना चला जावेगा। इसी प्रकार लाभ और समय का भी सम्बन्ध घनिष्ठ रहता है। तैयार वस्तुएँ जितनी ही शीघ्र बिकेंगी उतना ही अधिक लाभ होगा।

भारतवर्ष में खेती-बारी के कार्य करने वालों का ही आधिक्य है। यहां के अधिकांश निवासी इस व्यवसाय को स्वयं ही अपनी वैयक्तिक भूमि पर करते हैं, वे स्वयं ही उसका प्रबन्ध और निरीक्षण भी करते हैं, तथा व्यवसाय के लिए उनकी अपनी ही पूंजी तथा यन्त्रादि होते हैं, ऐसी अवस्था में यहां प्रबन्ध की कमाई तथा साहस के प्रतिफल अर्थात् लाभ भिन्न-भिन्न व्यक्तियों को न मिलकर एक ही व्यक्ति को मिलते हैं, फिर भी यहां अधिकांश ऐसे ही किसान देखने को मिलते हैं, जिनको अपने व्यवसाय से अधिक लाभ नहीं होता है, अथवा केवल इतना ही होता है कि वे किसी प्रकार जीवित भर रह सकते हैं। बहुत से ऐसे किसान भी होते हैं, जिन्हें लाभ सर्वथा ही नहीं होता है। ऐसे किसानों में उनकी ही गणना मुख्यतः होती है, जिनके खेत छोटे-छोटे और इधर-उधर छितरे रहते हैं तथा जो गैर-मौरूसी या शिकमी-दर-शिकमी काश्तकार होते हैं। इस श्रेणी के किसानों के पास खेती के अतिरिक्त आजीविका का अन्य कोई दूसरा साधन भी नहीं होता है।

भारतवर्ष में खेती-बारी के व्यवसाय में लाभ की दशा

भारतवर्ष के अधिकांश किसान तो, जैसा कि हम ऊपर के अध्यायों में वर्णन कर आये हैं, ऐसे होते हैं जिनके पास वैयक्तिक कोई पूंजी नहीं होती है और जिनके पास जो थोड़ी या बहुत होती भी है, उसे हम पूंजी नहीं कह सकते हैं। ऐसी दशा में पूंजी प्राप्त करने के लिए उन्हें दूसरों पर ही आश्रित रहना पड़ता है, वे ऋण लेते हैं। अतः ऋण-ग्रस्त होने के कारण उनके लाभ का एक बहुत बड़ा भाग उन व्यक्तियों के हाथ में चला जाता है, जो उसके परिश्रम में किसी प्रकार का भी सहयोग नहीं देते हैं।

पूंजी के अध्यायों में हम यह बता आए हैं कि हमारे देश में वैज्ञानिक खादों तथा यंत्रों की बड़ी भारी कमी है। इसी प्रकार उत्तम और उन्नतिशील नसल के बीजों तथा पशुओं की भी नितान्त कमी और अभाव बना ही रहता है। यदि

इन बातों का भी उचित प्रबन्ध हो सके तो निस्सन्देह भारतवर्ष में इस व्यवसाय से काफी लाभ हो सकता है। पूंजी के अभाव तथा साहसियों की कमी के कारण अब भी हमारे देश में बहुत सी ऐसी कृषि-योग्य भूमि व्यर्थ पड़ी हुई है, जिसका उपयोग करने पर काफी लाभ हो सकता है।

अन्त में शिक्षा के अभाव के कारण तथा किसानों के अन्धविश्वास और संकुचित विचारों के कारण भी उन्नति में काफी बाधाएं उपस्थित हो रही हैं। यही कारण है भारतवर्ष में पीढ़ी दर पीढ़ी अनेक वर्षों से बेमुनाफे की खेती करते आ रहे हैं। सन्तोषी वृत्ति के कारण जो कुछ भी उन्हें मिलता है, उसी में वे सन्तुष्ट रह कर अपना जीवन-यापन कर रहे हैं।

लाभ और आदर्श

हमारे आर्यों का तो सदैव "वसुधैव-कुटुम्बकम्" का आदर्श रहा है। वे सीमित दृष्टिकोण से किसी कार्य को नहीं करते थे, किन्तु उनका उद्देश्य सदा और सर्वदा दूसरों का उपकार करना रहता था। अनेक देश विजय किए—विदेशों में अपना झंडा ले जाकरगाड़ा—किन्तु पराधीन न किया। उन्हें उन्नति करने का पूरा-पूरा अवसर दिया गया और उनसे मित्रता और समता का व्यवहार रखा। उनसे व्यापारिक समझौते किए, परन्तु धोखेबाजी और बेईमानी की नींव पर नहीं, बल्कि सत्यता और परोपकार की नींव पर ही। आधुनिक युग में ये सब बातें स्वप्नवत और व्यर्थ करार कर दी गई हैं। अब तो किसी कार्य की उपयोगिता उससे प्राप्त होने वाले द्रव्य की कसौटी पर कसने से मालूम की जाती है। अब तो सुख और शान्ति के लिए भोजन और वस्त्र तथा कुछ आवश्यक धन माना जाता है। दुःख है भारतवर्ष में जहाँ किसी समय इतना ऊंचा आदर्श था, आज इन आवश्यक पदार्थों के लिए भी दूसरों की ओर निहारते हैं।

सत्तावनवां अध्याय

कर और उसके सिद्धान्त

राजस्व का अर्थ प्रायः राज्य की आय और व्यय से लगाया जाता है, किन्तु कुछेक लेखक राजस्व में केवल आय को ही सम्मिलित करते हैं। इधर कुछ समय से नवीन विचार धारा के अर्थशास्त्री राज्य की विविध साधनों से होने वाली आय तथा उसके खर्च करने की रीति का भी राजस्व के अन्तर्गत ही विचार करते हैं।

राजस्व का अर्थ

देश की सुव्यवस्था, सुसंगठन और प्रजा की सुख-समृद्धि के लिए राजा (सरकार) को सदा कुछ न कुछ धन की आवश्यकता पड़ती है। यदि देश में उचित राज-प्रबन्ध न हो तो हर समय वहां चोर, डाकू और लुटेरों का ही भय बना रहे; कपटी और छली व्यक्तियों का बोलवाला हो जाय। आत्मा-रक्षा के अभाव में प्रजा सदा त्रस्त और दुखी रहे और धनोत्पत्ति में बाधा पड़ने लग जाय। अतः प्रजा के जान और माल को सुरक्षित बनाए रखने के लिए, सुख और शान्ति की समृद्धि के लिए प्रत्येक देश में राज्य की ओर से फौज, पुलिस तथा शासन-व्यवस्था के लिए कर्मचारी नियुक्त रहते हैं।

राज्य-व्यवस्था

इसके अतिरिक्त नागरिकों की नैतिक तथा आर्थिक अभिवृद्धि के लिए उनके स्वास्थ्य और उचित शिक्षा की ओर भी राज्य को प्रयत्नशील होना पड़ता है। यदि सरकार की ओर से ये व्यवस्थाएँ उपलब्ध न हों तो जनता अशिक्षा के निबिड़ अन्धकार में पड़ी रहे और वहाँ के व्यक्तियों को अपने स्वास्थ्य-साधनों की किंचित् मात्र भी चिन्ता न रहे। आए दिन वे नाना-प्रकार के रोगों से पीड़ित रहें, मृत्यु-संख्या में वृद्धि हो जाय और स्वास्थ्यहीन जन-समुदाय के कारण उत्पत्ति में बाधा पड़ने लगे। यही कारण है कि उचित राज-प्रबन्ध में इस ओर विशेषरूप से जागरूक रहना पड़ता है। इस सम्बन्ध में राज्य की ओर से अनेक योजनाएँ रहती हैं।

देश की व्यावसायिक उन्नति के लिये भी देश को अनेक प्रकार के निर्माणात्मक कार्य करने पड़ते हैं। व्यापार की सुविधा तथा नागरिकों के लाभ के लिए डाक, तार, रेल आदि की व्यवस्था होती है। उत्पत्ति के क्षेत्र में फसलों की उपज बढ़ाने के लिए नहरों का प्रबन्ध होता है, कुँए खोदे जाते हैं इत्यादि। इसी प्रकार अन्य व्यवसाय और उद्योग-धन्धों में भी सरकार बड़ी मात्रा में पूंजी लगाकर प्रजा को सहायता पहुँचाती है। विद्युत्-शक्ति, आवागमन के साधनों में उन्नति आदि की योजनाएँ इस दृष्टि से इसके कुछ उदाहरण माने जा सकते हैं।

उपर्युक्त सभी कार्यों के करने के लिए सरकार को धन की आवश्यकता होती है, और उसे उसकी व्यवस्था भी करनी पड़ती है। आज कल राज्य की आय निम्नलिखित साधनों द्वारा होती है–

राज्य की आय के साधन

(१) सरकारी अधिकृत क्षेत्रों से तथा प्रबन्धित सम्पत्ति से। उदाहरण के लिये सरकारी जंगलों से आय, आवश्यकता पड़ने पर उनके विक्रय द्वारा तथा अन्य नजूल साधनों द्वारा। बहुत से व्यापारों में सरकार का एकाधिकार होता है।

(२) फीस और शुल्क—रजिस्टरी या पेटेंट करने, मोटरों का पट्टा, न्यायालयों की फीस, शिक्षा-सम्बन्धी सनदों की शुल्कों की आय।

(३) महसूल और किराए-भाड़े से होने वाली आय। रेल, जहाज, तार, डाक, नहर आदि पर अनेक देशों में राज्य का अधिकार होता है। सरकार जनता से इनके उपयोग के लिये महसूल लेती है।

(४) बिना उत्तराधिकारी छोड़े हुए व्यक्तियों की सम्पत्ति।

(५) स्वेच्छा से दिया हुआ धन और जब्त की हुई धन-सम्पत्ति।

(६) विविध प्रकार के कर।

यहां हमें राज्य की आय तथा वैयक्तिक आय के सम्बन्ध में भी कुछ बातें जान लेनी आवश्यक हैं। मनुष्य को अपनी व्यक्तिगत आय के सम्बन्ध में अनेक बातों पर ध्यान देना आवश्यक होता है। यदि आय के अनुपात में खर्च बढ़ जाता है, तो उस व्यक्ति को अपने खर्चा को कम करना पड़ता है। किन्तु, इसके विपरीत यदि राज्य के खर्चों में वृद्धि की संभावना होती है, तो वहां खर्चा के

वैयक्तिक आय तथा राजस्व (सरकारकी आय) में अन्तर

साधनों से आय में वृद्धि करने की चेष्टा करती है। नाना प्रकार के कर लगाये जाते हैं और अनेक साधनों पर एकाधिकार जमाने के भी प्रयत्न किये जाते हैं। यदि मनुष्य की आय और व्यय में साम्य नहीं हो पाता है तो वह निराश हो जाता है और उस समय उसकी अवस्था अत्यन्त शोचनीय हो जाती है, किन्तु सरकार को अपनी आय के बढ़ाने के अनेक साधन हैं। वह उपरोक्त बातों के अतिरिक्त विदेशों से पूंजी उधार ले सकती है, मुद्रा-प्रसार के नियमों द्वारा कागजी मुद्रा अथवा प्रतीक-मुद्रा का प्रचलन कर सकती है। अतः संक्षेप में एक व्यक्ति को अपनी आय के अनुसार खर्च करना पड़ता है और राज्य को इसके विपरीत खर्च के अनुसार आय की वृद्धि करनी पड़ती है। इस प्रकार व्यक्तिगत आय-व्यय तथा सरकारी आय-व्यय में बहुत अन्तर रहता है।

यहाँ हम पहिले कर सम्बन्धी सिद्धान्तों का विचार करेंगे—

कर—जैसा कि हम ऊपर लिख आये हैं, राज्य की अधिकांश आय कर द्वारा ही होती है। अतः कर सरकार के उन कार्यों के लिये बाध्य-रूप से दिया हुआ धन है, जो अन्ततः सार्वजनिक उपयोग के कार्यों में लगाया जाता है। कर के विषय में निम्न बातें और ध्यान में रखनी चाहिए—

(१) कर स्थानीय कार्यों के उपयोग में भी लिया जाता है, अतः इसके संग्रह करने वाले कर्मचारी, केन्द्रीय के अतिरिक्त, प्रान्तीय अथवा स्थानीय भी हो सकते हैं।

(२) कर द्वारा एकत्रित धन का व्यय किसी विशेष जाति, व्यक्ति अथवा व्यक्ति समूह के लिए नहीं होता। उसका उपयोग तो निष्पक्ष होकर सार्वजनिक कार्यों में ही किया जाता है।

(३) कर की मात्रा और समय निश्चित रहती है। उतनी मात्रा में वह तो निश्चित समय पर देना उन्हें आवश्यक रहता है। अतः कर देने के लिए कोई भी व्यक्ति अथवा व्यक्ति-समूह स्वतन्त्र नहीं होता। इस प्रकार कर देना अनिवार्य होता है और इसीलिए कर, 'बाध्य-रूप से दिया हुआ धन' माना गया है।

कर, किसी देश की जनता से उनकी भलाई के लिए ही, वसूल किए जाते हैं। अतः उसे यह जानने का अधिकार रहता है कि कर द्वारा कितना धन एकत्रित किया गया है और वह किन-किन कामों में तथा कैसे उपयोग में लाया गया है।

राज्य-कार्य के सुसंचालन के लिए कर लेने की परिपाटी अति प्राचीन काल से चली आती है। समय और देश की स्थिति के अनुसार कर विषयक नियमों में भी परिवर्तन होता रहा है। किन्तु, इस प्रकार के परिवर्तनों में जो विशेष अथवा मुख्य थे, वे प्राय: सब अठारवीं शताब्दी में आकर बन्द हो गये। आधुनिक कर-पद्धति के आदि प्रवर्त्तक आदम-स्मिथ माने जाते हैं।

कर के सिद्धान्त

कर-सम्बन्धी उनके चार नियम प्रचलित हैं। आरम्भ में इन नियमों पर काफ़ी तर्क-वितर्क हुए, तथापि ऐसा माना जाता है कि इनके पालन करने में राजा और प्रजा दोनों को ही लाभ होते हैं और कर देने वालों पर कम से कम भार पड़ता है। आदम-स्मिथ के प्रचलित चार नियम निम्नलिखित हैं—

(१) समानता—जनता के प्रत्येक व्यक्ति को अपनी सामर्थ्य के अनुसार राज्य-कोष के लिए कुछ कर देना चाहिए। कर का अनुपात उतना होना चाहिए जितना कि संरक्षण वे राज्य से प्राप्त करते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक कर-दाता को स्वार्थ-त्याग का समान अवसर मिलता है। इसलिये आय की कर-दर वर्द्धमान रखी जाती है। अर्थात् कर-दाता की आय जितनी अधिक हो, उस पर कर की दरें भी उतनी ही ऊँची कर दी जाती हैं। यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक कर ही वर्द्धमान हो। विविध प्रकार के सब करों को मिलाकर हिसाब लगाने में ही इस नियम का व्यवहार किया जा सकता है।

भारतवर्ष में किसानों पर भूमि कर का भार इतना अधिक होता है कि उसे देने के बाद बेचारे के पास अपने उचित जीवन-निर्वाह के लिए भी धन नहीं बचता। वह आयु-पर्यन्त ऋण-ग्रस्त बना रहता है; और अपनी आने वाली सन्तान के लिए वह अपने पूर्वजों के ऋण में कुछ अपना भाग मिला कर पैतृक सम्पत्ति के रूप में छोड़ जाता है। इसके विपरीत कृषि-आय के शोषकों (जमींदार और ताल्लुकदारों से) से, जो बिना श्रम किए ही धन प्राप्त करते हैं, कर बहुत कम लिया जाता है। इसी प्रकार साहूकार और महाजनों को भी कर की मात्रा बहुत कम देनी पड़ती है। अतः समानता के आधार पर भारतवर्ष की कर-प्रणाली दूषित ठहरती है। भूमि-कर को घटा कर यदि भूमि-आय कर लगाया जाय तथा गाँव के जमींदार, ताल्लुक़दार

किसानों पर इस नियम का व्यवहार

और साहूकारों पर यदि कर की मात्रा में वृद्धि कर दी जाय तो यह असामनता बहुत अंशों में दूर हो सकती है।

(२) निश्चितता—कर की मात्रा और उसके देने का समय निश्चित होना चाहिए। वह अंधाधुंध न हो। कर देने की मात्रा, देने का समय, कर वसूल करने वाले की इच्छानुसार बदलना उचित नहीं है। यदि कर की मात्रा स्पष्ट और निश्चित न होगी तो वसूल करने वाले अधिक वसूल करके स्वयं खा सकते हैं। इसी तरह यदि कर का समय निश्चित न होगा तो कर दाता उस समय तक अपने कर का प्रबन्ध न कर सकेगा। ऐसी अवस्था में कर्मचारियों का समय नष्ट होगा और कर-दाता को भी भारी असुविधाओं का सामना करना पड़ेगा। इस नियम के अनुसार हर प्रकार की भेंट, उपहार तथा अवैध कर वर्जित रहते हैं। भारतवर्ष में यदि सूक्ष्मतः देखा जावे तो विदित होगा कि इन प्रत्यक्ष करों के अतिरिक्त अन्यान्य कई प्रकार के कर वसूल किए जाते हैं, जिनकी मात्रा प्रत्यक्ष कर से लगभग ५० प्रतिशत से भी अधिक होती है।

(३) सुविधा—प्रत्येक कर ऐसे समय और इस तरह से वसूल किया जाना चाहिये कि दोनों पक्षों को यथेष्ट सुविधा रहे; और विशेषरूप से कर दाता की सुविधाओं पर ध्यान रखना आवश्यक है। इस नियम के अनुसार थोक पदार्थों पर ही कर लगाया जाता है, चूंकि इससे कर वसूल करने में अत्यन्त सुविधा रहती है। इसलिये पदार्थों पर लगाया हुआ कर उपभोक्ताओं से न लेकर विक्रय करने वालों से लिया जाता है। यद्यपि अन्ततः यह कर उपभोक्ताओं को ही वहन करना पड़ता है, तथापि इस प्रथा से कर के एकत्रित करने में अत्यन्त सुविधा रहती है। किसानों से यदि कर लिया जाय तो उसके लिए सबसे अधिक सुविधा फसल के तयार हो जाने पर होती है।

(४) मितव्ययिता—प्रजा से एकत्रित किया हुआ धन (कर) अधिक से अधिक भाग में सरकारी राज-कोष में जमा हो जाना चाहिए। इसके लिए यह आवश्यक है कि कर-संग्रह करने में हर प्रकार की सुव्यवस्था चाहिए। कम से कम कर्मचारी अधिक से अधिक मात्रा में धन संग्रह कर सकें। भारतवर्ष में इस मद में काफी अपव्यय होता है। अन्यान्य सभ्य देशों में कर-संग्रह में काफी बचत हो जाती है और वहाँ किसी प्रकार का अपव्यय अधिक अंशों में नहीं हो पाता

है। इसके विपरीत भारतवर्ष में कर-संग्रह में लगभग दुगुना खर्च होता है। इसके दो कारण हैं—एक तो कर-संग्रह करने वाले कर्मचारियों का वेतन बहुत अधिक है, और दूसरे थोड़ी-थोड़ी मात्रा में अनेक व्यक्तियों से कर एकत्रित करना होता है।

इस दृष्टि से, आदम-स्मिथ के सिद्धान्तानुसार, आदर्श कर वही माना जा सकता है जो सामर्थ्य के अनुसार हो, जिसे देने में सुविधा तथा सुभीता हो और जो अन्य किसी व्यक्ति पर नहीं डाला जा सकता है तथा जिससे कोई भी व्यक्ति छुटकारा नहीं पा सकता है। यदि कर के कारण व्यवसाय को हानि उठाने की सम्भावना हो, उस पर अनुचित दबाव पड़े और जिसके कारण कि धन वितरण पर कोई घातक असर पड़ने की आशङ्का हो, अर्थशास्त्र की दृष्टि से उसे हम आदर्श कर या उत्तम कर नहीं मान सकते हैं। जिस दशा में सामूहिक लाभ बढ़ने की सम्भावना अधिक रहती है, वही आदर्श कर माना जाता है।

आदर्श कर

कर सम्बन्धी कुछ अन्य नियम—आदम स्मिथ के उपर्युक्त चार नियमों के अतिरिक्त भी कुछ नियमों का और प्रचलन होता है, जो मुख्यतः निम्नलिखित हैं—

(अ) करों की संख्या अधिक होने पर उनका भार अपेक्षाकृत कम मालूम पड़ता है। यदि अधिक आय प्राप्त करनी हो तो करों की संख्या बढ़ा देना श्रेय-स्कर होता है। किन्तु स्मरण रहे कि बहुत छोटे-छोटे करों की संख्या बढ़ा देने पर कर संग्रह में अधिक व्यय होता है।

(आ) देश, काल और परिस्थिति के अनुसार करों में परिवर्तन होते रहना भी आवश्यक है। जिस सिद्धान्त तथा नियम से सबसे अधिक देश की आय और उससे उसकी सुख-समृद्धि हो, वही नियम उसके लिए अतीव हितकर होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि कर निर्धारण करने में सिद्धान्तों का लोचदार होना अतीव आवश्यक है। किसी कर-विशेष का भार इतना न हो कि वहन करना ही असह्य जान पड़े।

महसूल, जिसे कि व्यावसायिक आय कहते हैं, सरकार की उस पूंजी के प्रति-फल स्वरूप दिया जाता है, जिसका कि उपयोग जनता करती है। सरकार जनता के लाभ के लिए कुछ ऐसे निर्माणात्मक कार्य करती है, जिसे व्यक्ति-विशेष सरलतापूर्वक नहीं कर सकते हैं। इन कार्यों

महसूल

में प्रायः पूंजी की मात्रा अधिक लगनी है और जो व्यक्ति इनसे लाभ उठाते हैं उन्हें महसूल देना पड़ता है, ऐसे कार्य सरकार के मुख्य कार्य नहीं हुआ करते, किन्तु ये प्रायः जनता के लाभ के उद्देश्य से ही किए जाते हैं। कमी-कभी बड़ी कम्पनियों को ठेका दे दिया जाता है और कुछ काल उपरान्त वे राज्य की ही सम्पत्ति बन जाते हैं। रेल, डाक, तार, नहर आदि इनके उदाहरण हैं। ऐसे साधनों को जब जनता उसे उपयोग में लाती है तो उस लाभ के लिए जो प्रतिफल सरकार को दी जाती है, उसी को हम महसूल कहते हैं।

अट्ठावनवाँ अध्याय

करों के भेद

अपने विगत अध्याय में हम कर-सम्बन्धी सिद्धान्तों का विवेचन कर चुके हैं, यहाँ हम करों के विभिन्न भेदों के बारे में जानने का प्रयत्न करेंगे। आधुनिक कर-पद्धति में इस बात पर विशेष रूप से ध्यान दिया जाता है कि करों से राज्य को यथेष्ट आय हो जावे, किन्तु साथ ही साथ कर-दाताओं को कर-भार विशेष न अखरे। इस विचार से हम कर को दो भागों में विभक्त कर सकते हैं—(१) प्रत्यक्ष कर, और (२) परोक्ष कर

परोक्ष कर उस कर को कहा जाता है, जिसको उसे चुकाने वाले औरों पर डाल देते हैं। व्यापारी और व्यवसायी सरकारी करों का भुगतान पहिले तो स्वयं कर ही देते हैं, किन्तु अन्त में उस कर को वे लोग ग्राहकों से वसूल कर लेते हैं। इस प्रकार जब सरकार द्वारा वास्तविक कर-दाताओं के बीच में एक संस्था अथवा व्यक्ति-विशेषों का समावेश कर दिया जाता है, जो उपभोक्ताओं से कर वसूल करते हैं, तो इन करों को हम परोक्ष कर मानते हैं। सेल्स कर इसका एक उदाहरण हैं। दूकानदार इस दशा में कर पहिले सरकार को चुका देते हैं, किन्तु बाद में उसे वे उपभोक्ताओं पर डाल देते हैं।

परोक्ष कर

इसी प्रकार जब व्यापारी आयात की वस्तुओं पर कर देते हैं, तब उसे माल बेचने के समय वे अपने ग्राहकों से वसूल कर लेते हैं। अतः अपने दैनिक व्यवहार में आने वाले पदार्थों पर,—जैसे शक्कर, नमक, तेल, दियासलाई, अफीम इत्यादि—जो कर लिया जाता है वे सब परोक्ष कर के उदाहरण हैं। यद्यपि इन करों को देने में प्रजा को किसी प्रकार के विशेष कष्ट नहीं होते हैं, तथापि सरकार को इनके व्यापार और विक्रय के सम्बन्ध में अनेक नियमों को बनाना पड़ता है।

परोक्ष करों से जो मुख्य लाभ होते हैं, वे निम्नलिखित हैं —

परोक्ष-कर से लाभ

(१) कर दाता को ये कर बहुत कम अखरते हैं। यदि इनकी मात्रा अत्यधिक न हो तो प्रजा को इनके देने में तनिक भी हिचकिचाहट नहीं होती है, और ऐसी साम्यावस्था रहने पर प्रजा को राज्य के विरुद्ध विद्रोह करने का बहुत कम अवसर रहता है। अतः अर्थसचिव के दृष्टिकोण से कर की यह रीति श्रेयस्कर रहती है।

(२) प्रत्येक व्यक्ति पर उसकी सामर्थ्यानुसार कर लगाया जा सकता है। उदाहरण के लिए जीवन-रक्षक पदार्थों का उपभोग तो प्रायः सभी करते हैं; कोई अधिक, तो कोई कम। अतः प्रत्येक व्यक्ति से कर लेने की सुविधा रहती है। उदाहरण के लिए—दियासलाई, शक्कर, नमक इत्यादि। साधारण वस्तुओं का उपभोग प्रत्येक परिवार में होता है। सरकार ऐसे पदार्थों पर थोड़ा-बहुत कर अपनी आय को बढ़ाने के दृष्टिकोण से लगाती है, और राज्य के दृष्टिकोण से ये न्यायसंगत माने जाते हैं। चूँकि इन पदार्थों के उपभोग से प्रत्येक थोड़ा-बहुत लाभ अवश्य होता रहता है।

(३) परोक्ष करों के लगाने से कभी-कभी जनहित भी होता है। उदाहरण के लिए राज्य की ओर से शराब, अफीम, गाँजा, भांग, तम्बाकू, चाय आदि मादक पदार्थों पर महसूल बढ़ा देने से इन वस्तुओं के दामों में वृद्धि हो गई है। फलतः इनका व्यवहार घट जायगा और सामाजिक उन्नति होगी।

इन तीन मुख्य कारणों के अतिरिक्त परोक्ष कर के कुछ साधारण लाभ भी होते हैं, यथा —

(अ) परोक्ष कर ऐसे समय वसूल किए जाते हैं, जो कर-दाताओं के लिए सुविधाजनक होता है, और

(आ) इनसे होने वाली आय को सुविधानुसार घटाया और बढ़ाया भी जा सकता है।

इनसे होने वाली हानियाँ—परोक्ष करों के लगाने से कुछ हानियाँ भी दृष्टिगत होती हैं, जिनमें से मुख्य निम्न हैं—

(१) इन करों से कर-दाताओं में नागरिक-चेतना की जागृति नहीं हो पाती। यद्यपि उपभोग के पदार्थों को खरीदते समय उन्हें कर के रूप में उनका मूल्य अधिक देना पड़ता है, तथापि उन्हें इस बात का ज्ञान नहीं होता कि वस्तुओं के दाम में जो वृद्धि हुई है, उसका कारण परोक्ष कर है।

(२) समानता का भाव लुप्त हो जाता है। पिछले अध्याय में हम बता चुके हैं कि करों का एक आवश्यक सिद्धान्त समान होने का भी है। जीवन-रक्षक पदार्थों पर जो महसूल दिया जाता है, वहाँ यह सिद्धान्त ओझल हो जाता है। उदाहरण के लिए शक्कर, दियासलाई, चाय आदि का उपभोग निर्धन और अमीर परिवारों में समान रूप से होता है, और इनमें से बहुत से तो ऐसे पदार्थ हैं, जिनका उपभोग की निर्धन परिवारों में ही अधिक होता है। फलस्वरूप निर्धन व्यक्तियों को ये कर अधिक मात्रा में वहन करने पड़ते हैं।

(३) जिन वस्तुओं पर परोक्ष कर अधिक लगा दिए जाते हैं, उनके उद्योग-धन्धों के नष्ट होने की सम्भावना हो जाती है।

(४) करों से बचने के लिये लोगों में माल छिपाने की प्रवृत्ति बढ़ जाती है, जो सामाजिक दृष्टिकोण से अत्यन्त हानिकर है।

परोक्ष कर निम्न रीतियों से लगाए जाते हैं —

(१) आयात निर्यात कर—इसके लगाने के दो मुख्य उद्देश्य रहते हैं। निर्यात कर में तो कर का भार विदेशियों को सहन करना पड़ता है, और आयात कर का भार विदेशों से आने वाली वस्तुओं पर पड़ता है, अतः अपने देशवासियों को देना पड़ता है। जब विदेशी माल की खपत रोक कर स्वदेशी उद्योग-धन्धे और व्यवसायों की उन्नति करनी होती है तो विदेशी माल पर कर बढ़ा दिया जाता है, जिससे कि उनके मूल्य में इतनी वृद्धि हो जाती है कि वे स्वदेशी माल की अपेक्षाकृत बहुत अधिक महँगे पड़ते हैं, फलतः स्वदेशी वस्तुओं की उत्पत्ति को प्रेरणा मिलती है। इस प्रकार के करों को 'संरक्षण कर' कहते हैं।

निर्यात कर लगाते समय अपने देश की आय की वृद्धि को बढ़ाने का सिद्धान्त निहित रहता है। प्रत्येक देश की अपनी कुछ ऐसी उपज होती है, जिनकी आवश्यकता अन्य देश वालों को रहा करती है। उदाहरण के लिए अमेरिका और इङ्गलैण्ड की मशीनों और मशीन से तैयार माल की; जर्मनी के रासायनिक पदार्थों की, जापान के सस्तेखिलौने, छाते और रेशमी वस्त्रों की, और भारतवर्ष के तिलहन, चाय, जूट और रूई की। ऐसे पदार्थों पर ये देश परिस्थिति अनुसार कर में वृद्धि अथवा कमी करते रहते हैं। फल यह होता है कि इन करों का भार अन्य देश के निवासियों पर पड़ता है, जो इन पदार्थों का उपभोग करते हैं, अथवा अपनी उपज की वृद्धि के लिए खरीदते हैं।

(२) देशी माल पर कर—बहुधा नैतिक दृष्टिकोण से लगाए जाते हैं, अथवा भोग-विलास के पदार्थों पर लगाए जाते हैं, जिनका भार अमीर व्यक्तियों पर पड़ता है। नैतिक दृष्टिकोण से ऐसे स्वदेशी पदार्थों पर कर लगाए जाते हैं, जो मादक होते हैं, अथवा जिनके उपभोग बढ़ने पर प्रजा के स्वास्थ्य को हानि पहुंचने की संभावना होती है। उदाहरण के लिए—शराब, गांजा, भाँग, तम्बाकू, चाय, कहवा इत्यादि। इसी प्रकार जब भोग-विलास के पदार्थों का आधिक्य हो जाता है तो उसे कम करने के लिए भी परोक्ष करों का अवलंबन करना पड़ता है। इस सम्बन्ध में यह बता देना भी उचित है कि जब ऐसे पदार्थों पर कर लगाये जाते हैं तो विदेशों से आने वाले इसी श्रेणी के पदार्थों पर भो कर की मात्रा को बढ़ाना पड़ता है। मान लो, यदि देशी शराब या तम्बाकू पर कर की मात्रा में वृद्धि की जाती है, तो साथ ही विदेशी शराब और तंबाकू पर भी कर बढ़ाना पड़ेगा अन्यथा अभीष्ट उद्देश्य की पूर्त्ति न हो सकेगी।

प्रत्यक्ष कर

प्रत्यक्ष कर प्रायः वही माना जाता है, जिसका भार स्वयं उसको वहन करना पड़ता है, जो कर देता है। परोक्ष कर की भाँति प्रत्यक्ष कर अन्य किसी के मत्थे नहीं मढ़ा जा सकता है। कर-दाता कर देते समय इस बात का अनुभव करता है कि वह अमुक धन-राशि राज-कोष के लिए दे रहा है। इस प्रथा के अन्तर्गत निम्न श्रेणी के कर सम्मिलित रहते हैं—आयकर, पूंजी या जायदाद पर प्रत्यक्ष कर तथा मालगुजारी।

इसके अन्तर्गत प्रायः यह सिद्धान्त निहित रहता है कि जितनी आय कि जीविका-निर्वाह के योग्य हो उस पर कर न लगाया जाय, और जैसा कि हम बता आए हैं, सब करों की कुल मात्रा वर्द्धमान होनी चाहिए, अर्थात् ज्यों-ज्यों आय बढ़ती जाय, उस पर कर की कुल मात्रा का अनुपात भी बढ़ा दिया जाय। अतः जीविका-निर्वाह के अतिरिक्त जितनी भी आय में वृद्धि होती है, पूरी आय पर ही कर लगाया जाता है, यह नहीं की जितनी इससे अधिक हो केवल उसी भाग पर लगाया जाय।

आय कर

अतः यह कर विशेषरूप से वेतन पर तथा व्यावसायिक लाभ पर ही लगाया जाता है। व्यावसायिक लाभ अनिश्चित होने के कारण इस पर कर लगाने में विशेष असुविधा उठानी पड़ती है, फलस्वरूप कभी कर की मात्रा किसी व्यक्ति विशेष पर अधिक पड़ जाती है और अन्य किसी को कम कर देना पड़ता है।

पूंजी दो प्रकार की होती है—एक तो स्थिर पूंजी, और दूसरी अस्थिर पूंजी। स्थिर पूँजी पर कर लगाने में विशेष असुविधा नहीं हुआ करती, जितनी की अस्थिर पूंजी पर लगाने में होती है। अस्थिर पूंजी के सम्बन्ध में जो एक मुख्य दोष है वह यह कि इसका बहुत् सा भाग प्रायः लोग छिपा लिया करते हैं। पूँजी कर के लगाने में एक बात पर ध्यान अवश्य रखा जाता है। कर की मात्रा इतनी अधिक न हो जाय कि संचय करने की भावना पर घातक प्रभाव पड़े।

पूँजी कर

मालगुजारी, भूमि से लिए जाने वाले कर को कहते हैं। अन्य करों की अपेक्षा यही सबसे प्राचीन और महत्त्वपूर्ण भी होता है। मालगुजारी कई रीतियों से लगाई जाती है। कभी-कभी तो भूमि की अवस्था के विचार से मालगुजारी ली जाती है, और कभी-कभी भूमि के क्षेत्रफल के विचार से। किन्हीं-किन्हीं देशों में कर की मात्रा भूमि की उपज के एक निश्चित अनुपात में ली जाती है और कहीं पर भिन्न-भिन्न प्रकार की फसल वाली भूमि पर क्षेत्रफल के अनुपात से कर की दर अलग-अलग निश्चित कर दी जाती है। भूमि पर यह प्रत्यक्ष कर भूमि के मालिक पर ही पड़ता है और इसे वह अन्य किसी व्यक्ति पर भी नहीं डाल सकता है और न इसके कारण वह फसल के मूल्य

मालगुजारी

को ही बढ़ा सकता है, चूंकि फसल का मूल्य तो बाज़ार की प्रचलित दर के अनुसार ही निर्धारित हुआ करता है।

प्रत्यक्ष करों से होने वाला मुख्य लाभ निम्नलिखित है—

प्रत्यक्ष कर से लाभ

(१) परोक्ष कर के विपरीत इससे उसकी नागरिक-चेतना की जागृति होती है। चूंकि इस प्रणाली में कर-दाता को स्वयं ही इसका भार वहन करना पड़ता है और उसे यह निश्चयात्मक रूप से मालूम होता है कि कितना कर उसे किस समय देना है। जनतन्त्र राज्य में वह सरकार की कर सम्बन्धी आय का सूक्ष्म विवेचन कर उसके गुणवगुणों का विवेचन कर उनके दामों को व्यक्त कर सकता है।

(२) चूंकि सरकार को कर-दाताओं का निश्चय रहता है, अतः कर-विभाजन में भी सुगमता रहती है। ऐसी अवस्था में कर का वितरण समानता के सिद्धान्तानुसार हो सकेगा। अमीर व्यक्तियों पर, जो कि अधिक कर देने में समर्थ हैं, कर की मात्रा निर्धन परिवारों की अपेक्षाकृत कम रहेगी। अतः इस प्रणाली से केवल उन्हीं व्यक्तियों को अधिक कर देना पड़ता है, जो इसके योग्य होते हैं।

(३) प्रत्यक्ष कर प्रणाली का तीसरा मुख्य लाभ मितव्ययिता है। प्रत्यक्ष कर का वसूल करने में अधिक सुगमता भी रहती है।

इससे होने वाली हानियां—जहाँ प्रत्यक्ष कर प्रणाली के उपर्युक्त तीन लाभ हैं, वहाँ इस प्रथा की कुछ हानियां भी हैं, जो निम्नलिखित हैं—

(१) सबसे मुख्य हानि तो यह है कि यदि कारणवश जब कर की मात्रा में वृद्धि कर दी जाती है तो जनता में भारी असन्तोष फैल जाता है।

(२) कर-दाता को ये कर बुरे लगते हैं, अतः मनुष्यों में कर से बचने की भावना जागृत हो जाती है, और वे छल-कपट तथा विविध साधनों द्वारा इससे दूर रहने तथा बचने की चेष्टा करते हैं। बहुत कम ऐसे व्यक्ति मिलेंगे, जो स्वतः ही अपनी आय के ठीक-ठीक परिमाण को बता दें।

(३) साधारणतः सब व्यक्तियों पर, और विशेष रूप से निर्धन परिवारों पर इस प्रणाली द्वारा कर लगाना कठिन हो जाता है, अतः प्रत्येक व्यक्ति राज्य कोष में धन एकत्रित करने में सहयोग नहीं दे पाता।

(४) इस कर प्रणाली से होने वाली आय को घटाने अथवा बढ़ाने की संभावना बहुत कम होती है।

(५) यदि कर की मात्रा में आशातीत वृद्धि कर दी जावे तो प्रजा में धन के बचत करने की भावना कम हो जाय।

प्रत्यक्ष-कर तथा परोक्ष कर प्रणाली के दोषों को दूर करने की गरज़ से मिश्रित कर प्रणाली का आयोजन किया गया है। आधुनिक समय प्रत्येक सभ्य राष्ट्र में इसी सिद्धान्त के अनुसार कर लगाने की प्रथा प्रचलित है। इस प्रणाली से होने वाले लाभ मुख्यतः तीन हैं—

मिश्रित कर प्रणाली

(१) राज्य के प्रति जो विद्वेष और अप्रियता की भावना प्रत्यक्ष कर प्रणाली द्वारा होती थी, वह इस पद्धति से दूर हो जाती है।

(२) उस प्रथा द्वारा बिना विशेष असुविधा के ही आय को घटाने और बढ़ाने की संभावना बनी रहती है।

(३) परोक्ष करों द्वारा जो उद्योग-धन्धों के नष्ट होने का भय रहता था, वह इस प्रणाली द्वारा दूर हो जाता है।

उनसठवाँ अध्याय

व्यय के सिद्धान्त और उनका वर्गीकरण

प्राक्कथन

सरकार के मुख्य कार्यों का वर्णन तो हम पिछले अध्यायों में कर ही आए हैं। यहाँ हम राज्य की आय के खर्च करने की प्रणाली पर विचार करेंगे। प्रत्येक मद में कितनी धन-राशि खर्च की जावे, इसका वर्णन भी राजस्व शास्त्र के अन्तर्गत ही होता है।

साधारणतः व्यय के दो भेद किए जाते हैं। एक तो साधारण, और दूसरा

असाधारण। सरकार जो प्रति वर्ष खर्च करती है उसकी गणना तो साधारण व्यय में की जाती है; किन्तु कभी-कभी दुर्भिक्ष, बाढ़, युद्ध आदि के अवसरों पर भी सरकार को विशेष खर्च करने पड़ते हैं। ऐसे खर्चों का परिमाण और समय प्रायः अनिश्चित ही रहता है। सरकार के ये खर्च असाधारण श्रेणी में माने जाते हैं।

व्यय के भेद

साधारण व्यय को पुनः हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं,—(१) पूंजी-सम्बन्धी व्यय, और (२) आय में से होने वाला व्यय।

प्रायः सरकार के ऐसे उत्पादक होते हैं; किन्तु कभी-कभी ऐसी बातों पर भी खर्च करना पड़ता है, जो उत्पादक नहीं होते। जब एक बार खर्च करने पर सरकार को भविष्य में आय होती रहती है तो ऐसे खर्चों को हम उत्पादक मानते हैं। उदाहरण के लिए सरकार नहरें, डाक, तार, रेल आदि बनवाती है। इनमें एक बार तो सरकार को पूंजी लगानी पड़ती है, किन्तु भविष्य में इनसे आय होती रहती है। परन्तु जैसा कि हम बता चुके हैं, इन साधनों से सदा आय होती रहे यह आवश्यक नहीं है। नहरों को ही ले लीजिए, जैसा कि हम सिंचाई वाले अध्याय में स्पष्ट कर चुके हैं। अनुत्पादक नहरों के बनवाने में सरकार धन खर्च करती है। इसी प्रकार पहाड़ी भागों में रेलें अनुत्पादक ही रहती हैं, चूंकि उनसे जो आय होती है, वह खर्च के अनुपात में सदा कम होती है।

सरकार का पूंजी सम्बन्धी व्यय

इनके अतिरिक्त सरकार को अपनी आय में से कुछ ऐसे भी खर्च करने पड़ते हैं, जो बार-बार होते रहते हैं। इस कोटि में सरकारी कर्मचारियों के वेतन आदि सम्मिलित रहते हैं, तथा कुछ ऐसे भी होते हैं, जो केवल एक बार ही करने पड़ते हैं, जैसे विशेष इमारतों पर किए गए खर्च आदि। सरकार को ये खर्च प्रति वर्ष अथवा बार-बार नहीं करने पड़ते हैं।

आय में से होने वाला व्यय

असाधारण खर्च तो केवल आपत्तिकाल में ही होते हैं, अतः उनके कोई विशेष सिद्धान्त नहीं होते। यहाँ हम केवल साधारण व्यय के सिद्धान्तों पर ही विचार करेंगे। इस सम्बन्ध में निम्न बातें ध्यान में रखी जाती हैं —

व्यय सम्बन्धी सिद्धान्त

इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक मद के खर्च की सीमान्त उपयोगिता जहाँ तक सम्भव हो समान ही रहनी चाहिए। कहने का अभिप्राय यह है कि प्रत्येक मद में किए जाने वाले रुपयों की अन्तिम इकाई से जनता का समान लाभ होना चाहिए। व्यवहार में इस नियम का उपयोग बहुधा कठिनाई से ही हो पाता है, चूंकि किस मद से जनता को कितना लाभ होगा इस अनुमान का निश्चय करना सरल नहीं है। लोगों की रुचि भी प्रायः अलग-अलग और बदलती रहती है तथा लाभ भी कुछ अवस्थाओं में प्रत्यक्ष रूप से दृष्टिगत हो जाते हैं, और अनेक में नहीं भी होते हैं।

(१) समान उपयोगिता

सरकारी खर्चों में भी मितव्यय होना आवश्यक है। इस सिद्धान्त के अनुसार अल्पतम व्यय से अधिक लाभ तथा अपने उद्देश्य को पूरा कर लेना होता है। मितव्यय कई रीतियों से हो सकता है। प्रथम तो जहां जक बन पड़े देश की सम्पत्ति व्यर्थ ही बाहर न भेजी जाय और आवश्यकतानुसार सब सामान स्वदेश में ही बनाने की चेष्टा होनी चाहिए। दूसरी ओर शासन कार्य में नियुक्तियां योग्यतानुसार होनी चाहिए और अयोग्य व्यक्तियों को हटा कर कुशल कर्मचारी रखने चाहिए।

(२) मितव्यय

व्यय का अनुमान पहिले से ही ठीक रखना चाहिए और उसको जनता के सम्मुख इस प्रकार से रखा जाना चाहिए कि वह सर्व साधारण की समझ में सरलतापूर्वक आ जाय और उस पर जनपक्ष के व्यक्ति आवश्यकतानुसार दोषों अथवा अपव्यय के विषय में अपनी आलोचनात्मक टीका-टिप्पणियाँ दे सकें। इसके अतिरिक्त प्रत्येक मद में खर्च करने से पूर्व जनता के प्रतिनिधियों की स्वीकृति वांछनीय है तथा स्वीकृति के अनुसार ही व्यय भी होना चाहिए।

(३) स्पष्टता और स्वीकृति

भारतवर्ष एक ऐसा अभागा देश है, जो सभ्यता और प्रगति के इस युग में बहुत पिछड़ा हुआ है। अन्य चाहे जिस दृष्टिकोण से हम समुन्नत हों, अथवा पूर्वकाल में रहे हों; किन्तु आज हमारी दशा जीवन के प्रत्येक स्तर में शोचनीय है। विदेशी सत्ता को इस दिशा में हम बहुत कुछ दोषी ठहरा सकते हैं, उसने हमारी उन्नति की ओर उदासीनता दिखाई और वे सदा इसकी अवहेलना ही करते

भारतवर्ष में इन सिद्धान्तों का पालन

रहे। खैर, वे तो अब जा चुके। हमारी अशिक्षा, निर्धनता, अज्ञानता तथा अन्ध-विश्वास कुछ ऐसे कारण हैं, जो हमारी यथेष्ट उन्नति में बाधक हैं।

सरकारी व्यय के सिद्धान्तों का भी भारतवर्ष में पालन नहीं किया जाता है। मितव्यय के स्थान पर अब तक अपव्यय ही होता था; चूंकि विदेशी सरकार का मत था कि भारतवासी प्रायः अशिक्षित हैं और वे राज्य-कार्य और विशेष तौर से राजस्वशास्त्र में कुशल तथा निपुण नहीं होते। इसी तरह जब किसी निर्माणात्मक योजना में व्यय होता था तो इङ्गलैण्ड से ही मशीनें, कुशल कारीगर, वस्तुएँ आदि मँगाई जाती थीं। जनता के प्रतिनिधि यदि टीका-टिप्पणी अथवा आलोचना करते थे तो भी उस पर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता था और गवर्नर-जनरल की विशेष-अनुमति से बिल पास हो जाते थे। राजभाषा भी विदेशी ही थी, अतः जन-साधारण को पढ़ने में ही कठिनाई होती थी, समझना तो दूर रहा।

व्यय का वर्गीकरण

सरकारी व्यय का वर्गीकरण पिछले अध्यायों में बताये गए क्रम के अनुसार ही होता है। अतः इस दृष्टिकोण से खर्च के मदों का वर्गीकरण निम्न प्रकार होना चाहिए—

(१) रक्षा-कार्य —सेना,—स्थल, जल और वायु सेना पर।

(२) शान्ति और सुव्यवस्था पर—इसमें न्याय, शासन, पुलिस और जेल के व्यय सम्मिलित रहते हैं।

(३) सामाजिक तथा अन्य जन-हितकारी कार्य-उद्योग-धन्धों पर, निर्माण कार्य, कृषि, शिक्षा, स्वास्थ्य तथा चिकित्सा, मुद्रा, मुद्रा-प्रसार, टकसाल आदि।

भारतवर्ष में व्यय का वर्गीकरण

भारतवर्ष में राज्य-व्यवस्था का भार मुख्यतः केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारें करती हैं। अतः शासन-सम्बन्धी विषयों के भी दो भाग हैं—एक तो केन्द्रीय जिसका संबंध कि अखिल भारतवर्ष से रहता है, और दूसरा प्रान्तीय जिसका क्षेत्रफल उसी प्रान्त पर रहता है। इसी वर्गीकरण के आधार पर भारत-सरकार और प्रान्तीय-सरकार के कार्यों तथा उनकी आय के विभिन्न श्रोतों के भी विभाग किए जाते हैं। केन्द्रीय विषयों का उत्तरदायित्व भारत सरकार पर है, जो देहली से सारे भारत का नियन्त्रण करती है। सेना, रेल, डाक, तार, मुद्रा, टकसाल आदि कार्य जो समूचे देश के लिये आवश्यक होते हैं, इन मदों पर केन्द्रीय सरकार ही खर्च करती है। किन्तु

प्रान्त भेद के अनुसार भी भिन्न-भिन्न प्रकार की पद्धतियां प्रचलित हैं, अतः प्रान्त विशेष में खर्च उसकी स्थिति, वातावरण और आवश्यकता के अनुसार होते हैं। इसके अन्तर्गत स्वाथ्य, शिक्षा, न्यायालय, पुलिस, कृषि, उद्योग-धन्धे और वाणिज्य तथा व्यापार आते हैं। इनके अतिरिक्त एक तीसरे प्रकार का व्यय और होता है जिसे हम स्थानीय व्यय कहते हैं। जो कार्य किसी नगर, ग्राम अथवा ग्राम-समूह के लिये ही आवश्यक हों, उनके लिये किये जाना वाला व्यय स्थानीय व्यय माना जाता है। उदाहरण के लिये—प्रारंभिक शिक्षा, सफ़ाई, रोशनी आदि का उचित प्रबन्ध।

भारतवर्ष में सरकार अपने व्यय के अनुमान पत्र में खर्च की विविध रकमें निम्न प्रकार से दिखाती है—

१. कर वसूल करने का खर्च—रजिस्ट्रेशन टिकट या स्टाम्प (अ) अदालती, (आ) अन्य तथा गैर-अदालती, आय कर, आबकारी कर ; मालगुज़ारी तथा आयात-निर्यात कर।

२. रेल

३. डाक, तार

४. ऋण

५. टकसाल और विनिमय

६. निर्माण कार्य

७. सेना

८. आबकारी

९. न्याय और शासन

१०. केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों का पारस्परिक लेन-देन

११. विविध खर्च—पेंशन, छपाई, बीमा, भत्ता, दुर्भिक्ष आदि।
